# द्विवेदीयुगीन काव्य

DWIVEDIYUGEEN KAVYA

Published by Madhya Pradesh Hindi Granth Academy under
the Centrally Sponsored Scheme of Production of
Books and Literature in Regional Languages at the
University Level, of the Government of India in
the Ministry of Education and Social Welfare
(Department of Culture), New Delhi.

# द्विवेदीयुगीन काव्य


**पूनमचन्द्र तिवारी**

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

शासकीय महाविद्यालय

पन्ना (म०प्र०)


मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

# द्विवेदीयुगीन काव्य

DWIVEDIYUGEEN KAYYA
by
Punam Chandra Tiwari

प्रकाशक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
९७, मालवीय नगर, भोपाल-३

⊙



⊙

प्रथम संस्करण
१९७२

⊙

मूल्य
पुस्तकालय संस्करण : २० रुपये
साधारण संस्करण : १६ रुपये

⊙

मुद्रक
धारा प्रेस, ६०९ कटरा, इलाहाबाद-२

# प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का युग भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से कैशोर्य का काल माना जाता है। भारतेन्दुबाबू के समय की हिन्दी अब अपने पाँवों पर खड़ी हो गयी थी। भले ही उसमें, वह माधुर्य, वह सौकुमार्य एव वह अभिरामता न रही हो, किन्तु बँगला, संस्कृत और अंग्रेजी अनुवादों के सहारे चलना छोड़कर अब वह अपने बल-बूते पर अपना स्थान बना रही थी। द्विवेदी जी ने इसे और सशक्त बनाया, सँवारा और पौरुष प्रदान किया। जिस तरह बालक के जीवन में १२ और १६ वर्ष के बीच का काल बड़ा महत्वपूर्ण होता है, उसी तरह हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए द्विवेदी काल था। इस आयु में बालक के पथभ्रष्ट होने और बिगड़ने की आशंका बनी रहती है। इसलिए बड़े लोग उस पर कड़ी दृष्टि रखते, उसके हर क्रिया-कलाप का निरीक्षण करते और उसे सन्मार्ग की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। उसी प्रकार द्विवेदी जी और उनके समकालीन गुरु-जनों ने भाषा पर दृष्टि रखी, उसके एक-एक शब्द और एक-एक वाक्य को व्याकरण-संगत बनाने का प्रयत्न किया, और लेखन के विषय में विविधता एवं व्यापकता को स्थान दिया। द्विवेदी जी की दृष्टि से सम्पूर्ण लेखन का सोद्देश्य होना आवश्यक था, और यह उद्देश्य देश, समाज एवं व्यक्ति का कल्याण ही हो सकता था। फलतः उन्होंने राष्ट्रभक्ति, समाज सुधार एवं सदगुणों के प्रेरक काव्य को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने लेखकों को अँगुली पकड़-पकड़ कर चलाया। गलत मार्ग पर जाने वालों को समझाया, बुझाया और न समझने पर प्रताड़ना भी दी। जिन लोगों ने इस समय के 'सरस्वती' के अंक देखे हैं, वे इस बात से भलीभाँति परिचित हैं, कि किस प्रकार द्विवेदी जी ने एक-एक शब्द के लिए पूरे-पूरे लेख लिखे। अनस्थिरता और सराहनीय जैसे शब्दों की चर्चा उस युग में लोगों की जुबान पर थी। यह युग व्रजभाषा काव्य के प्रायः अवसान और

खड़ी बोली के उदय का था। श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा' एवं 'ऊजड़ग्राम' आदि ने लोगों का मन मोह लिया था, किन्तु उन्हीं के पास खड़े थे श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी और रामअवध उपाध्याय जैसे कवि, जो खड़ी बोली के खड़ेपन में लोच लाने का प्रयत्न कर रहे थे। द्विवेदी जी की भाषा में माधुर्य था। देखिये :

> सुन्दरता की रूप-राशि,
> तुम दयालुता की खान चमेली,
> तुम-सी कन्याएँ भारत को,
> कब देगा, भगवान चमेली।

इस काल के लेखक, कवि, निबन्धकार और समीक्षक एक साथ थे, समीक्षा का प्रारम्भ भी हमें इसी युग से मानना चाहिए। स्वयं द्विवेदी जी इन तीनों के साथ-साथ निबन्धकार भी थे। यह राष्ट्रीय आन्दोलनों का आरम्भिक काल था। इन आन्दोलनों के फलस्वरूप न केवल राजनीतिक अपितु सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना को भी बल मिला था। इसलिए इस युग का काव्य प्रायः सुधारात्मक अथवा उपदेशात्मक अधिक है। समीक्षकों ने इसे इतिवृत्तात्मक कहा है। सूक्ष्म कल्पनाओं, अपार्थिव उड़ानों और कसीदाकारी के लिए इस समय कवि को अवकाश नहीं था। ब्रजभाषा के स्थूल श्रृंगार में ऊबे हुए मन की यही स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो सकती थी। यद्यपि भारतेन्दु ने श्रृंगार के कलुष-कर्दम को दबाकर स्नेह की सरिता को बहुत कुछ निर्मल करने का प्रयत्न किया था फिर भी प्रणय-वर्णन की एकरसता तो बनी ही हुई थी। द्विवेदी युग ने इस स्त्रैणता को पीछे ढकेल कर अग्रिम पंक्ति में पौरुष की प्रतिष्ठा की। इस युग ने भाषा और साहित्य को विशिष्ट और सम्भ्रान्त घरानों से निकाल कर खुली सड़क पर जन-सामान्य के बीच प्रतिष्ठित किया। उन्हें इस योग्य बनाया कि वे सीना तान कर राष्ट्र के हर क्षेत्र में उन्मुक्त विचरण कर सकें। आज हम हिन्दी भाषा और साहित्य का जो प्रसाद देखते हैं, उसकी भित्तिताँ द्विवेदी युग के प्रस्तरों पर खड़ी हुई हैं। इसलिए इस युग के काव्य और साहित्य के महत्व को एक साँस में नकार देना बड़ी कृतघ्नता होगी।

यह प्रसन्नता की बात है कि द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया में आने वाले छायावाद का चाकचम्य कम हो जाने पर, अब इस काल की सर्जना पर निरपेक्ष दृष्टि डालना सम्भव हो गया है। हिन्दी के बहुश्रुत विद्वान् एवं कवि श्री पूनम चन्द्र तिवारी ने इस दृष्टि से द्विवेदी युग को देखा और परखा है,

और सही ढंग से उसका स्वरूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। श्री तिवारी जी ने इस ग्रंथ में पाठक को पर्याप्त सामग्री देने का यत्न किया है। मेरा विश्वास है कि व्यापक अध्ययन के आधार पर प्रस्तुत की हुई इस कृति का हिन्दी जगत् में उचित स्वागत होगा।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

(डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री)
संचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
भोपाल

# प्राक्कथन

हिन्दी काव्य—खड़ी बोली—के विकास-क्रम में द्विवेदीयुगीन काव्य का ऐतिहासिक महत्व है। १८५७ ई० से आज तक हिन्दी काव्य-धारा को इतने निर्णयात्मक अनुशासन और निर्देशात्मक अभिप्रायों में से नहीं गुजरना पड़ा, जितना द्विवेदी युग में। काव्य के रूपात्मक क्षेत्र में हो या रंग विधान की प्रक्रिया में, द्विवेदी युग की हिन्दी कविता, अपने विशिष्ट अनुष्ठान के कारण, एक ओर भारतेन्दु काल और दूसरी ओर छायावादी काल से नितान्त भिन्न और सृजनात्मक कवचों से परिपूर्ण प्रतीत होती है। आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे प्रहरी और सूत्रधार को पाकर, एक लोकमान्य गद्य की भाषा, जिसे भारतेन्तु-मण्डल के कवि पद्य की भाषा नहीं बना सके, देखते-देखते उनके प्रयासों से काव्य-भाषा बन गयी। ब्रजभाषा को अपदस्थ करके वह काव्य का माध्यम बन गयी। यह एक सीधी और छोटी घटना तो अवश्य दिखायी देती है, किन्तु इसे एक महाक्रान्ति और महान घटना माना जाना चाहिए, क्योंकि आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण स्थान दिलाने का श्रेय द्विवेदीजी के उन अथक प्रयासों को ही है।

काव्य के क्षेत्र में द्विवेदी युग एक ऐसी काल-चेतना है, जिसके प्रदेय स्वरूप हिन्दी काव्य को छायावादी, प्रगतिशील, प्रयोगवादी, अस्तित्ववादी प्रतीकवादी, अभिव्यंजनावादी और अधुनातन समस्त वादों-प्रवादों की जीवन दृष्टियाँ प्राप्त हुईं। अनेक साहित्यिक आन्दोलनों के काव्याकांक्षी क्षितिज एक के बाद एक सामने आते गये। यह द्विवेदी युग की अपनी आत्मशक्ति थी, जिसने अपने पूर्ववर्ती भारतेन्दु युग की समस्त क्षेत्रों में व्याप्त भावात्मक प्रतिद्वन्द्विता को न केवल चुनौती रूप में स्वीकार किया, बल्कि उसमें अपने युग की माँग के अनुकूल परिष्कारों को नयी धार देकर, भाषा, विषय-वस्तु और शैली में एक नया आत्मविश्वास, मंगलमय संस्कार, विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण, दीक्षित प्रगति-

शीलता और प्रेरणाएँ, असम्पृक्त अनुकरण तथा अनिवार्य एवं सार्थक प्रतिमानों से सम्पुष्ट ऐसी केन्द्रीयता उत्पन्न कर दी कि हमें कहना पड़ता है कि हिन्दी काव्य के विकास, संगति-स्थापना और अक्षय कीर्ति के मूल में द्विवेदी युग का अमृतघट ही एकमात्र आग्रह है।

द्विवेदी युग ने इतिहास की शक्तियों को झकझोरकर अपने सांस्कृतिक वैभव, स्वाभिमान, राष्ट्रीयता, मर्यादा, आदर्श और नैतिकता को तत्कालीन काव्य में प्रतिबिम्बित किया। सामाजिक प्रयोजन के लिए जीवन प्रदत्त करने वाली इस काल-पट की पुनरुत्थानवादी दृष्टि का ऋण हिन्दी संसार पर अनन्त काल तक बना रहेगा। द्विवेदी युग, प्रतिरोधी परिस्थितियों से प्रतिक्षण जूझ कर विजय प्राप्त करने वाली कला का काल-खण्ड है। काव्य-भाषा के स्वरूप को गढ़ कर तथा विषय और शिल्प के नवीन उपकरणों से सजाकर, अपराजेय और अटट संकल्प के साथ उसे प्रतिष्ठित करने का श्रेयस्कर कार्य जिस युग में हुआ और खड़ी बोली को संघर्ष की जिस भूमिका से तत्कालीन परिस्थितियों में तैरा कर आगे बढ़ाया गया, उस युग की काव्यगत व्यावहारिक आवश्यकताएँ, व्यवधान, प्रतिक्रियाएँ, पीड़ाएँ, स्वप्न, शंका, समाधान, घटनाओं और चेष्टाओं का सम्पूर्ण चित्र जब तक सामने नहीं आता, तब तक वह महान देन समझ में नहीं आ सकती। आवश्यक है कि सबसे पहले द्विवेदी युग का काल निर्धारण करते हुए उसके समस्त प्रेरक तत्वों का विधिवत निरूपण किया जाये।

यह भी आवश्यक है कि तत्कालीन जन-जीवन की परिधि में आने वाले समस्त वैविध्यपूर्ण काव्य-चित्रणों के सामयिक प्रभावों, प्रवृत्तियों, उपलब्धियों तथा भाषागत परिप्रेक्ष्यों के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाय। द्विवेदी युग के काव्यात्मक पक्ष की इतनी लम्बी दूरियाँ नापना कोई सहज काम नहीं है। अनेकों भ्रम और भटकाव बीच में हैं और वह एक सत्य की तरह दूर, आँखों से उसी प्रकार ओझल है, जैसे ईशावास्योपनिषद की इस अनुपम व्यञ्जना से प्रकट होता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

(सत्य का मुख हिरण्यमय पात्र से ढँका हुआ है। हे पूषन्, उसे दूर करो, जिससे वह देखा जा सके।)

यहाँ पर यही कामना समीचीन होगी कि काव्य-भाषा की समर्थता के प्रयास और रूपान्तर के जो प्रयोग द्विवेदी युग की पृष्ठभूमि में भरे पड़े हैं और जो संघर्ष, विद्रोह या प्रतिक्रियाएँ उसे झेलनी पड़ी हैं या जिस निर्जीव-निष्प्राण-अनावश्यक तत्व को उसे निष्कासित करने के लिए जन-चेतना के सहारे उठना पड़ा है, उन सभी मूल्यवान विशेषताओं का अनुशीलन करने के लिए समय के पिछले कई पर्दों को हटाकर उस काल खण्ड पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। उस आलोच्य काल के काव्य का उचित मूल्याङ्कन करना ही इस प्रबन्ध का लक्ष्य है।

—लेखक

• •

# अनुक्रमणिका

चतुर्थ अध्याय



पंचम अध्याय

●

प्रथम अध्याय

# काल-निर्धारण

द्विवेदी-युगीन काव्य, खड़ी बोली हिन्दी काव्य के विकासक्रम में आज एक वास्तविक धरातल है। भारतेन्दु-युग के सिरहाने ही एक तेज करवट के साथ नयी संवेदनाओं और ऐतिहासिक अनिवार्यताओं ने काव्य का स्वरूप आग्रहपूर्वक ग्रहण किया। उनका रूप-रंग और गोत्रीय सम्बन्ध यद्यपि द्विवेदी-कालीन काव्य से कुछ-कुछ मिलता-जुलता सा था, किन्तु उनकी विशिष्ट प्रवृत्ति और दृष्टि में एक नये निर्माणकारी युग की ईमानदार छटपटाहट थी। द्विवेदी जी की जागरूक चेष्टा ने, भारतेन्दु के निधन (सन् १८८५ ई०) के पश्चात् से १९०० ई० के बीच के संक्रान्ति काल को, इतने साहस और क्षमता के साथ आत्म-परीक्षण-सिद्ध अनुभूतियों और अन्वेषिणी दृष्टि में उतारा कि सम्पूर्ण अतीत का काव्य नये सन्दर्भ और मूल्यों के सूत्र में ग्रथित होकर एकदम मौलिक तथा विशेषीकृत हो उठा। यही कारण है कि द्विवेदीयुगीन काव्य, जो परवर्ती हिन्दी काव्य की पृष्ठभूमि है, जिसकी पीठ पर छायावाद, प्रयोगवाद या नयी कविता के आश्वासन लदे हुए हैं, तथा जिसने मुक्ति पाने के लिए छटपटाती भाषा को सँवार कर सुन्दर, आकर्षक, युग-स्वीकृत सौन्दर्य-बोध और सांस्कृतिक सन्दर्भों से परिवेष्टित करके नये परिवेश में प्रस्तुत किया, आज उस महत्व तथा सम्मान का अधिकारी है जो उसकी तस्वीर को सन्देहहीन दृष्टि से सबके सामने रख सके। द्विवेदीयुगीन काव्य के जन्म और उसकी उपलब्धियों को समझने के लिए सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक एवं समस्त बौद्धिक विघटनों तथा अराजकताओं के परिप्रेक्ष्य भी परखने के विषय हैं। निस्सन्देह द्विवेदीयुगीन काव्य के काल-निर्धारण की समस्या और समाधान भी परीक्षण, तर्क और विश्लेषण की अपेक्षा रखते हैं।

## काव्य और सत्य

काव्य की एक शाश्वत माँग रही है। वह है सत्य और अखण्ड सत्य का प्रकाशन। निश्चय ही यह सत्य मस्तिष्क और हृदय के सन्धिपत्र पर उद्घाटित होता है। सत्य की प्राप्ति के लिए सौन्दर्य आवश्यक है और विकास के लिए अपेक्षित सभी जीवन-स्पर्शों में इस सौन्दर्य की ही भूमियाँ भीतर-बाहर काम करती हैं। ध्वंस और निर्माण में केवल चिरन्तन सत्य ही जीवन के परिचायक बनकर शेष रह जाते हैं। इसी सत्य की नींव पर टिका हुआ साहित्य काल की सीमा में बँधा रहकर भी एकदेशीय तथा युगविशेष की सीमाओं को लाँघकर अनेकदेशीय तथा युगयुगान्तों तक संवेदनशील बना रहता है। विशेषतः काव्य, जो मस्तिष्क और हृदय के सन्धिपत्र पर लिखा जाता है तथा जो शाश्वत चेतना से सम्बद्ध है, कालविशेष में बँधने के बाद भी अपनी संवेदनशील प्रतिष्ठा की आँच से उस युग के बहुत आगे तक प्रभावशील रहता है। फिर भी उस कालावधि को निर्धारित करने की ऐतिहासिक माँग ज्यों-की-त्यों बनी है। युग विशेष के स्पर्श की यही विडम्बना है।

## काव्य और इतिहास का सत्य

द्विवेदीयुगीन काव्य का काल-निर्णय करते समय साधारणतः इतिहास का सत्य अपने बाह्य रूप में अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है। यदि भारतेन्दु का निधन १८८५ ई० में हुआ और द्विवेदीजी को सरस्वती का सम्पादन १९०३ में प्राप्त हुआ तब क्या इतिहास के कठोर बन्धन को स्वीकार करके द्विवेदीयुगीन काव्य का प्रारम्भ १९०३ ई० से माना जाये? खड़ी बोली में भारतेन्दु के पूर्व भी महन्त सीतलदास ने और सन् १८७६ में बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने 'भारत दुर्दशा' पर १० छन्द लिखे थे। १८८ ई० में भारतेन्दु ने 'भारतमित्र' में खड़ी बोली में कविता लिखने का असफल प्रयास किया था। १८८४ ई० में भावदेव ने ये पंक्तियाँ लिखी थीं :

> उठो अब नींद को त्यागो, बहुत सोये हो अब जागो।
> मेरी यह बात मानो, तुम दशा भारत की जानो।[१]

सन् १८८६ में श्रीधर पाठक की 'एकान्तवासी योगी' और सन् १८८८ ई० में अयोध्या प्रसाद खत्री की 'खड़ी बोली का आन्दोलन' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई। द्विवेदीजी की 'काव्यमंजूषा' जो सन् १९०२ में प्रकाशित हुई,

---

१. डॉ० केसरी नारायण शुक्ल, आधुनिक काव्यधारा, पृ० ११३

उसमें १८९७ ई० से १९०२ ई० तक की ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। १९ अक्टूबर १९०० में 'बलीवर्द' तथा १९ नवम्बर १९०० में प्रकाशित 'द्रौपदी वचन वाणावली' खड़ी बोली की रचनाएँ हैं। स्पष्ट है कि सन् १९०० ई० द्विवेदीजी की खड़ी बोली रचनाओं का केन्द्रीय विन्दु है। १९०३ में सरस्वती के सम्पादकत्व का भार ग्रहण करके एक शिक्षक, शासक, गुरु, मार्गदर्शक, भाषा-परिष्कारक और संस्कारक के नाते वह सामने आये। सन् १८८१ ई० से खड़ी बोली के काव्य-प्रयास शुरू हो गये थे। भारतेन्दु ने 'कालचक्र' में लिखा है कि "१८७३ ई० से हिन्दी नये चाल में ढली"। इतिहास की चेतना तो दैनन्दिन तिथियों में बलपूर्वक सुरक्षित रखी जाती है। काव्य के सत्य को इस कठोर बन्धन से कुछ दूर ही रखना होता है। द्विवेदीजी को हम १८९७ ई० से १९०३ ई० के बीच और उधर १८८५ ई० से १९०३ ई० के बीच तथा हिन्दी आन्दोलन में १८८१ ई० से १९०० ई० के बीच में काव्य-भाषा को लक्ष्य करके कहाँ रखें ?

इतिहास हमें बतलाता है कि क्या हो चुका है, पर काव्य यह बतलाता है कि सम्भवतः क्या होगा। एक भूतकाल की ओर दृष्टि रखता है, पर दूसरे का लक्ष्य भविष्य का निर्माण है। काव्य का महत्व भी इसी से इतिहास की अपेक्षा अधिक है। काव्य का व्यापक सत्य और सार्वलौकिकता, इतिहास की अपेक्षा कहीं अधिक सम्भावित तथा व्यावहारिक हैं। तिथियों के कठोर बन्धनों को काव्य की युगसीमा के निर्णय में शिथिल और रंजित करना सम्भाव्य है।

## काल-निर्णय की सापेक्षता

इस प्रकार एक युग-निर्माता का साहित्य और उस साहित्यकार का निजी विशिष्ट चरित्र, उसकी विचारशीलता, तप, त्याग, आचरण, सन्देश, संघर्षों का स्तर, और उसके द्वारा विरचित साहित्य का स्तर जब तक युग-प्रवर्तक नहीं होगा, तब तक उससे प्रेरणा प्राप्त साहित्यकारों का साहित्य न तो सामाजिक उपादेय की कसौटी पर खरा उतरता है और न कालजयी ही होता है। फलतः लेखक और कवि अनुकर्ता मात्र रह जाते हैं और साहित्य में ऊब, कृत्रिमता और बासीपन आ जाता है। सामाजिक विषमता को पाटने के लिए एक गहरी क्षमता से सम्पन्न सूत्रधार ही युग-प्रवर्तक बन सकता है। द्विवेदीजी इस दृष्टि से रचनात्मक दृष्टिकोण को अपना कर चले थे। वह भीड़ नहीं बने, 'व्यक्ति' बनकर रहे। उन्होंने ब्रजभाषा का दहेज बनना स्वीकार नहीं किया। खड़ी बोली हिन्दी के काव्यांग का उन्होंने जिस साधुतापूर्ण निश्चित

धारणाओं तथा व्यवस्थाओं के साथ मार्गदर्शन किया एवं जिस प्रकार गुणों की सराहना और निकृष्टताओं का जिस कठोर शासनपूर्वक निष्कासन किया, उसे देखकर यही प्रतीत होता है कि द्विवेदीजी का युग एक विशेष कालखण्ड में प्रतिबोधित किया जा सकता है। मैथिलीशरण गुप्त से लेकर छायावादी काव्य के पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी तक कितने कवि आये—सैयद अमीर अली 'मीर', कामताप्रसाद गुरु, लोचनप्रसाद पाण्डेय, गिरधर शर्मा, जनार्दन झा, कन्हैयालाल पोद्दार, लोकमणि, सत्यशरण रतूड़ी, सनातन शर्मा सकलानी, रूपनारायण पाण्डेय, ठा० गोपालशरण सिंह, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सियारामशरण गुप्त, मन्नन द्विवेदी, रामचरित उपाध्याय, मुकुटधर पाण्डेय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, शिवकुमार त्रिपाठी, हरिऔध, श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, पन्त, निराला, आदि—और एक ऐसा दर्पण सबके सामने द्विवेदीजी ने रख दिया कि देखते-देखते बहुत कम अन्तर से, सब-के-सब एक पीढ़ी के बन गये। द्विवेदी जी आचार्य थे, नायक थे, द्रष्टा थे। उनके शिविर में एक से बढ़कर एक कर्मठ हिन्दीसेवी, दृढ़व्रती साधक और सरस्वती के उपासक थे। निश्चय ही द्विवेदीजी का युग काल-निर्धारण की क्षमता से सम्पन्न है।

द्विवेदीयुगीन काव्य एक ऐसा वातायन है जिसकी दीवारों से घिरे कक्ष के भीतर भारतेन्दु के वायुमण्डल की ब्रजभाषामयी ललित परिणति है और बाहर छायावादी स्वरों की कोमल कल्पनाशील रसात्मकता है।

१८६८ ई०—१८८५ ई० भारतेन्दु-युग
१८८५ ई०—१९०० ई० संक्रान्ति-युग

और १९०० ई० सरस्वती के प्रकाशन से १९२० ई० तक यदि हम द्विवेदी-युग मानें तो १९२० से १९४० तक का युग छायावाद युग है। ये सम्भावित वर्ष फिलहाल इसलिए मान लीजिए कि जिससे द्विवेदीजी के पीछे भारतेन्दु और आगे छायावादी युग के दृश्य साफ दिखाई दे जायें। द्विवेदी युग स्वयं द्विवेदीजी की अपनी छाया है जो कि वामन के त्रैलोक्यमापी पग के समान गद्य और पद्य के लिए एक ही भाषा—हिन्दी खड़ी बोली—के प्रयोग हेतु किये गये उनके अथक प्रयासों का परिणाम है। यह उनकी मर्यादा और आदर्शों की स्थापना का युग है। इस युग की दृष्टि पुनरुत्थानवादी है। अपनी प्राचीन विरासत को राष्ट्रीय चेतना और नवनिर्माण के तत्वों से समन्वित करके लोक-मंगल, समाजसुधार सामयिक समस्याओं के परिहार, व्यष्टि तथा समष्टि के

पुनर्संस्कार एवं पश्चिमी प्रभावों से जन-मानस को बचाने वाले आदर्शों तथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, एवं देशभक्ति की संगति-स्थापना का कार्य इस युग में जितने कौशल से द्विवेदीजी की छत्र-छाया में हुआ, सम्भवतः अन्य किसी युग में ऐसी मौन संक्रान्ति नहीं हो सकी। ऐसे युग का सुनिश्चित काल-निर्धारण आवश्यक ही है।

## भारतेन्दु की विवेकी भूमिका

भारतेन्दु ब्रजभाषा के कवि थे। उनका युग साहित्य-सुरुचि और संस्कार का युग था। स्वाभाविकता, नैतिकता सम्पन्न काव्य का सृजन, राष्ट्रीय चेतना, देशभक्ति, राजभक्ति, तत्कालीन समस्याओं पर व्यंग्यात्मक प्रकाश, धर्म, दर्शन, जातीय संस्कार आदि की चर्चा तथा समाज-सुधारों की संकल्प-विकल्प, निश्चय-अनिश्चयमयी परिस्थितियों के वर्णनों की जोरदार कशिश उनका और उनके समकालीन कवियों का लक्ष्य रहा है। भारतेन्दु ने खड़ी बोली का जानबूझ कर केवल परीक्षात्मक प्रयोग किया था, परन्तु कोई सशक्त प्रयास नहीं किया। गद्य की भाषा तो खड़ी बोली थी, परन्तु पद्य की भाषा ब्रजभाषा थी। यह अस्वाभाविक स्थिति और विडम्बना आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कठोर अनुशासन तथा साहित्य-निर्देशन से ही समाप्त हो सकी। भारतेन्दु एक ओर खड़ी बोली में काव्य सृजन करने में समर्थ नहीं थे, दूसरी ओर स्वयं उनके और उनके सहयोगियों द्वारा रीतिवादी तथा परम्परावादी काव्य-सृजन का मोह-भंग भी नहीं हुआ था। स्वयं भारतेन्दु की 'प्रेम मालिका' में उनका प्रथम पद भक्तिकालीन प्रभावों को लिये हुए है:

> हम तो मोल लिये या घर के।
> दास दास श्री बल्लभ कुल के चाकर राधावर के॥

ठाकुर जगमोहनसिंह, बदरीनाथ चौधरी प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, रामकृष्ण वर्मा, 'बलवीर', सुधाकर द्विवेदी और राधाकृष्णदास आदि भारतेन्दु-मण्डल के सभी कवि रीतिकालीन प्रभावों से मुक्त नहीं हो सके थे। यह सत्य है कि अंग्रेजों की चाल को उर्दू के पक्ष में सही-सही समझ कर भारतेन्दु ने हिन्दी के लिए संघर्ष किया। तब उसका प्रारूप काव्य में ब्रजभाषा और गद्य में खड़ी बोली के बीच बँटा हुआ था। भारतेन्दु जानते थे कि उत्तर भारत का सांस्कृतिक विकास हिन्दी के माध्यम से ही सम्भव था। "सन् १९२८ में स्वर्गीय ख्वाजाहसन निजामी ने कुरानशरीफ का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित कराया तो उन्होंने भूमिका में

स्पष्ट किया कि उत्तर भारत के अधिकांश मुसलमान हिन्दी जानते है उर्दू नहीं। उन्हीं के लाभ के लिए उन्होंने प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद कराया था।"[१] भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों ने ब्रज, अवधी, भोज-पुरी, मैथिल जैसी समृद्ध जनपदीय बोलियों के मिठास भरे शब्दों का भी व्यवहार किया और हिन्दी का हित किया। बनारस अनेक जनपदीय बोलियों का केन्द्र ही था। भारतेन्दु शुद्ध व्यावहारिक हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ हिन्दी से अधिक व्यावहारिक मानते थे। वे तेज, तीखे और बेधड़क लेखक थे। वे राज-भक्त होकर भी 'भारत दुर्दशा' के पहले अक में योगी के मुख से कहलाते हैं :

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।

और अंग्रेजी राज्य के सच्चे कटु आलोचक की हैसियत से भी उनके काव्य का विश्लेषण किया जा सकता है। भारत की राष्ट्रीय चेतना अंग्रेजों के प्रतिरोध से और जल्दी पनप उठी। भारतेन्दु इस दिशा में सतर्कतापूर्वक हिन्दी को ले जा रहे थे और देश की संस्कृति की रक्षा तथा विकास को लक्ष्य बनाकर काव्य-निर्माण में जुटे हुए थे। इन सब वस्तुस्थितियों की चर्चा अगले अध्याय में की गयी है। यहाँ यह देखना है कि भारतेन्दु का काल जो मूलत: १८८५ ई० में उनके दिवंगत होने के साथ-साथ समाप्त हो जाता है, क्या द्विवेदी युग को १९०० ई० के पूर्व तो नहीं खींच लाता ? खड़ी बोली हिन्दी में भारतेन्दु ने रचनाएँ की हैं यद्यपि कम संख्या में। अन्यथा रीति-कालीन कवियों की चाल पर लिखे गये उनके श्रृंगारी छन्द, सूर और मीरा से प्रभावित भक्ति के पद, लोक कवियों की चाल पर लावनी और मुकरियाँ, उर्दू की चाल पर गजलें ('रसा' उपनाम से) तथा समस्यापूर्तियाँ आदि लिखते हुए भी भारतेन्दु मूलतः ब्रजभाषा के कवि ही थे और अपने युग पर पूरी तरह छाये रहे थे। भारतेन्दु युग में प्राचीनता-पोषक और जनजीवन-सम्बद्ध काव्य एक साथ लिखा गया। राजभक्ति, देशभक्ति, गौरवपूर्ण अतीत का गुणगान, दीनहीन वर्तमान पर विक्षोभ, और भविष्य की मंगल-कामनाओं से युक्त यह युग भारतेन्दु-मण्डल के काव्य में व्यक्त हुआ। भारतेन्दु ने सं० १९३१ में 'उर्दू का स्यापा' लिखा। यह सब होते हुए भी रीतिवादी, भक्तिवादी, और परम्परा-वादी काव्य-सृजन के कारण वह आदर्श निष्ठा और चारित्रिक निष्पक्षता नहीं

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १२५

आ पायी, जिसका श्रेय आगे चलकर द्विवेदीजी को मिला। द्विवेदीयुगीन काव्य में खड़ी बोली हिन्दी के परिष्कार, परिमार्जन, व्याकरण, काट-छाँट, साज-सँवार और वर्ण्य विषयों की नवीन भरावट की जो परिस्थितिजन्य ताजगी थी, वह बात भारतेन्दु काल में नहीं थी। वह घनीभूत केन्द्रण, जो भाषा का कायाकल्प कर दे, भावों को युगीन मुद्राओं में अंकित करे और तत्कालीन शापग्रस्त समाज को शब्दवेधी बाण दे, द्विवेदीजी ही करा सके थे। द्विवेदीजी ने अपना 'दो टूक' रास्ता अपनाया, इसकी अपेक्षा कि वे अपने मन को राज-भक्ति और देशभक्ति दोनों से बाँध लेते।

## द्विवेदीजी की आत्म-शक्ति

भाषा के क्षेत्र में मानना होगा कि भारतेन्दु के ही साहित्यिक कार्य को और अधिक साफ तथा खुले रूप में द्विवेदीजी ने किया। उन्होंने अर्थसौरस्य का समर्थन किया, काव्यक्षेत्र को स्वच्छ बनाया और नैतिक, सात्विक, तथ्य-निरूपित, सरल, स्पष्ट व स्वाभाविक प्रवृत्तियों को प्रकाश में लाने की प्रेरणा दी। वे काव्य के गुणों में 'सादगी', 'असलियत' और 'जोश' को महत्व देते थे। उन्होंने पिछले युग की परम्परावादी दृष्टि को, रीतिवादी संस्कारों को और विलासमयी भूमिकाओं को अपने कठोर, स्पष्ट, निर्भय और साहसी निर्देशों से न केवल पूरी तरह दबाया ही, बल्कि काव्य के वर्ण्य विषय, भाषा, भाव, कवि की विचारधारा, कल्पना, दर्शन और तत्कालीन परिस्थितियों आदि का जिस ढंग से निरूपण, समायोजन तथा मार्गदर्शन किया, उससे प्रकट होता है कि उन्होंने काव्यक्षेत्र पर अपने व्यक्तित्व की गहरी छाप डालकर काव्य को एक सोद्देश्य वस्तु और रंजक रचना का रूप देने में पूरी सफलता भी प्राप्त की। उन्होंने भारतेन्दुकालीन तथा उनके पूर्ववर्ती कवियों के रीति-निष्ठ तथा परम्परावादी काव्य में रुचि नहीं ली और न छायावादी छलाँगों को ही महत्व दिया।

भारतेन्दु युग १८५७ की क्रान्ति के बाद पूर्वी और पश्चिमी विचारों के समन्वय का युग था। नयी अवधारणाओं के विवेक का वह सूर्योदय था। द्विवेदी युग प्राचीनता का निर्मोक छोड़कर नये प्रयोगों की आधार-भूमि बना। यह पुनरुत्थानवादी युग था। आज उन संवेगों का प्रवाह समाप्त हो गया है। द्विवेदी युग में आर्य समाज, सनातन धर्म, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि भारतेन्दु युग में जन्मी संस्थाओं के सांस्कृतिक नारों की नैतिक स्वस्थ संवेदनाओं को स्थापित किया गया। संस्कृत साहित्य से सीधे-सीधे

प्रभाव ग्रहण करके आदर्श चरित्रों और नैतिक मापदण्डों के आधार स्वरूप भारत की पराधीन आत्मा को मुक्ति, स्वातन्त्र्य, देशभक्ति, स्वभाषा-स्वाभिमान, तथा मर्यादावादी सन्देश देने का कार्य द्विवेदीजी ने काव्य के माध्यम से सम्पादित किया। भविष्य की दृष्टि सामने रखते हुए अपनी पूरी शक्ति से उन्होंने खड़ी बोली के हिन्दी काव्य को प्रतिष्ठित करने पर ध्यान केन्द्रित किया। इस विषय में तू-तू मैं-मैं की कमी नहीं है। तुलसी ने रामचरित मानस के बालकाण्ड में लिखा है कि :

जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि, नारि विरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमित बुद्धि अति मोरि॥ (१०८)

स्त्री के विरह में सुधबुध खोकर भटकने वाला राजकुमार ब्रह्म कैसे माना जाय? इसी प्रकार स्वयं अनेकों काव्य-दोषों और प्रयोगों से युक्त काव्य करने वाले द्विवेदीजी को एक युग-प्रवर्तक या कालव्यापी व्यक्ति कैसे माना जाय? कुछ विद्वान द्विवेदी युग को १८९५ ई० से १९४० ई० तक या कुछ इन्हीं वर्षों के भीतर १९००, १९०१, १९०३, या १८९७ ई० से प्रारम्भ करके १९१४ ई०, १९१९ ई०, १९२० ई०, १९२५ ई०, १९३० ई० और १९४० ई० तक स्थिर कर रहे हैं। हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहासों में द्विवेदी-युगीन काव्य की वैज्ञानिक पकड़ कम, भावुकता अधिक मिलती है। द्विवेदी-युगीन काव्य की प्रवृत्तियों, परिस्थितियों, काव्य-कृतियों का अध्ययन पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य का काव्यगत अनुशीलन, प्रभाव, परिप्रेक्ष्य आदि का विशेष विश्लेषण-परीक्षण, तर्कसिद्ध स्थापनाओं के पश्चात ही यह सम्भव है। धर्मकीर्ति ने कहा है :

शैलेर्बन्ध्यति स्म वानर हृतै र्वाल्मीकिरम्भोनिधि
व्यासः पार्थ शरैस्तथापि हि तयोर्नात्युक्तिरुद्भाव्यते।
वागर्थौ तुलया धृतावपि तथाप्यस्मात्प्रबन्धानयं
लोको दूषयितु प्रसारितमुखस्तुभ्यं प्रतिष्ठेनमः॥[१]

"वाल्मीकि ने वानरों से समुद्र पर पुल बँधवाया, व्यास ने अर्जुन के वाणों से छप्पर छवा दिया, पर कोई माई का लाल न निकला जो कहे कि ये बूढ़े बातों में अति कर रहे हैं। इधर शब्द और अर्थों को तौलकर रखने पर भी लोग गलती निकालने को मुँह बाये खड़े हैं। लोकरूढ़ि तुझे नमस्कार है।"

---

१. आलोचना विशेषांक, अंक ९, पृ० ३०

तात्पर्य यह है कि द्विवेदी काल की सीमाएँ किन्हीं के कहे जाने के कारण स्वीकार न करके, स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर ही सिद्ध करनी चाहिए।

### विभिन्न विद्वानों के मतानुसार द्विवेदी युग की मान्य तिथियाँ

(१) डॉ० दीनदयाल गुप्त (१९०१ ई०—१९२० ई०)

"हिन्दी साहित्य क्षेत्र में द्विवेदीजी का इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी साहित्य-सेवा का काल (१९०१ ई०—१९२० ई० तक) 'द्विवेदी युग' के नाम से प्रख्यात हो गया। यह उस समय उस हिन्दी भाषा के विकास और उत्कर्षोन्मुखता का समय था जो आज भारत की राष्ट्रभाषा है। भाषा और काव्य को नये पथ की ओर प्रगति के साथ चलानेवाले सारथी रूप में द्विवेदी जी का कार्य महान् है। वे वस्तुतः युगान्तरकारी सूत्रधार हैं।"[१]

(२) डॉ० उदयभानुसिह (१९०३ ई०—१९२५ ई०)[२]

"सं० १९६० में वे 'सरस्वती' के सम्पादक हुए। उन्होंने एक प्रभविष्णु और सफल सेनापति की भाँति हिन्दी के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। यहीं से अराजकता युग का अन्त और द्विवेदी युग का प्रारम्भ हुआ।"[३]

(३) डॉ० सुधीन्द्र (१९०१ ई०—१९२० ई०)

डॉ० सुधीन्द्र ने 'हिन्दी कविता में युगान्तर' के प्रास्ताविक के 'क' पृष्ठ पर लिखा है कि "इसी बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के दो दशकों की कविता का यह अध्ययन प्रस्तुत करते हुए मुझे आन्तरिक प्रसन्नता हो रही है। बीसवीं शताब्दी के ये बीस वर्ष वस्तुतः खड़ी बोली कविता के विकास के बीस वर्ष हैं—उस खड़ी बोली के, जो आज हिन्दी भाषा का दूसरा नाम है।"[४] प्रास्ताविक के 'ग' पृष्ठ पर वे लिखते हैं "प्रस्तुत प्रबन्ध में मेरा प्रयत्न वर्तमान काल की हिन्दी कविता में सन् १९०१ से १९२० का पुनरुत्थान आलेखित करना है। १९वीं शताब्दी की कविता की मूलधारा ब्रजभाषा में ही थी, २०वीं शताब्दी से ही वह खड़ी बोली हो सकी और ब्रजभाषा एक उपधारा रह गयी।"[५]

---

१. डॉ० उदयभानुसिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, उपोद्घात 'आ'

२. वही, पृ० २६४

३. वही, पृ० २६५

४. डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी काव्य में युगान्तर, पृ० प्रास्ताविक 'क'

५. वही, पृ० प्रास्ताविक ग

पृष्ठ ४० पर डॉ० सुधीन्द्र ने लिखा है कि "भारतेन्दु यदि हिन्दी के आकाश के इन्दु थे तो आचार्य द्विवेदी बीसवीं शताब्दी के हिन्दी के साहित्य-गगन के उदयादित्य थे। भारतेन्दु-मण्डल ने प्राचीन भाषा में भावकल्प के द्वारा कविता में एक परिवर्तन की सृष्टि की, परन्तु आलोच्यकाल (१९०१ से १९२० ई०) तो वस्तुतः नवीन हिन्दी ('खड़ी बोली') की कविता के जन्म और विकास का काल ही है। इस नवीन हिन्दी कविता ने इस काल में शैशव और बाल्य, कौमार्य और कैशोर्य की अवस्थाएँ पार कीं और यौवन के सिंहद्वार पर चरण-निक्षेप किया।"[१]

(४) "१९०० ई० के जनवरी मास में नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से 'सरस्वती' प्रतिष्ठित हुई और तभी से आचार्य द्विवेदी अपनी कृतियों द्वारा कविमन को प्रभावित करने लगे।"[२]

(५) "ईसा की बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण (१९००—१९२०) द्विवेदी काल की हिन्दी कविता द्विवेदीजी के इसी 'कविकर्तव्य' स्वप्न की पूर्ति है।"[३]

डॉ० सुधीन्द्र ने अपने 'हिन्दी कविता का क्रान्तियुग' और 'हिन्दी कविता का युगान्तर' ग्रन्थों में एक वर्ष का अन्तर द्विवेदी-काल के आरम्भ के लिए निरूपित किया है। 'हिन्दी कविता का क्रान्तियुग' जो १९४६ में प्रकाशित हुई उसमें १९०० ई० से द्विवेदी काल का आरम्भ माना गया है और 'हिन्दी कविता में युगान्तर' (नवीन हिन्दी कविता के विकास का अध्ययन १९००–१९२०) में लिखने के बाद भी आलोच्य काल प्रास्ताविक 'ग' में १९०१–१९२० ई० ही दिया है, परन्तु कई स्थानों पर खड़ी बोली कविता के विकास के बीस वर्ष के रूप में १९००—१९२० ई० को ही माना है।

(६) डॉ० श्रीकृष्णलाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१९००—१९२५) इसी 'साहित्यिक क्रान्ति का युग' या द्विवेदीयुगीन अध्ययन के लिए लिखा है। वे लिखते हैं कि "किन्तु २५ वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वन खण्ड के स्थान पर महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यानक काव्य (Ballads), प्रेमाख्यानक काव्य (Matrical Romances), प्रबंध काव्य, गीति काव्य और गीतों (Songs) से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा।"[४]

---

१. डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी काव्य में युगान्तर, पृ० ४०
२. डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता का क्रान्तियुग, पृ० ६४
३. वही, पृ० ६९
४. डॉ० श्रीकृष्णलाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० २

(७) इसी प्रकार डॉ० केसरी नारायण शुक्ल 'आधुनिक काव्य धारा' में (१८८५ से १६४०) इस काल का अनुशीलन प्रस्तुत करते हैं। पृष्ठ १०१ पर द्वितीय उत्थान के अन्तर्गत वे लिखते हैं "भारतेन्दु-युग अथवा दूसरे शब्दों में प्राचीन आवरण में नवीन विचारों की कविता का युग समाप्त हो चला। इसके अन्तिम वर्षों में काव्य के इस प्राचीन माध्यम का स्पष्ट विरोध भी लक्षित हुआ। ...धीरे-धीरे ब्रजभाषा का पक्ष दुर्बल पड़ता गया और खड़ी बोली के समर्थक विजयी हुए। सन् १६०० में 'सरस्वती' (जिसका उद्देश्य खड़ी बोली का उत्थान था) के जन्म से यह विजय स्थायी हो गयी। खड़ी बोली के पद्य-भाषा बन जाने से नवीन हिन्दी कविता के नूतन उत्थान का आरम्भ होता है।"[१] इस प्रकार केसरी नारायण शुक्ल के मत में इस द्विवेदी काल का आरम्भ भी १६०० ई० से हुआ। "इसलिए १६२० से आगे का कविता काल 'वर्तमान युग' कहा जा सकता है। सुभीते के लिए इसे तृतीय उत्थान भी कह सकते हैं।"[२]

स्पष्ट है कि केसरी नारायण शुक्ल द्विवेदीयुगीन काव्य की काल-सीमा १६०० ई० से १६२० ई० ही मानते हैं।

(८) डॉ० रामसकल राय शर्मा (१६०० ई० से १६२० ई०)

"सन् १६०० ई० से सन् १६२० ई० तक के काल को कविता के क्षेत्र में हम द्विवेदी युग मानते हैं और आगे चलकर इसी काल के काव्य का अनुशीलन अभीप्सित है।"[३]

(९) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (१८६३ ई० से १६१८ ई०)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्रकरण २ नई धारा, प्रथम उत्थान, संवत् १६२५-१६५० और द्वितीय उत्थान सं० १६५० से १६७५ (सन् १८६३ ई०—१६१८ ई०) तक माना है। गद्य साहित्य का प्रसार, द्वितीय उत्थान, पृ० ४६० पर वे लिखते हैं कि "व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदीजी ही थे। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में उन्होंने आयी हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा-दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया।...गद्य की भाषा

१. डॉ० केसरी नारायण शुक्ल, आधुनिक काव्य धारा, पृ० १०१
२. वही, पृ० २०२
३. डॉ० रामसकल राय शर्मा, द्विवेदी युग का हिन्दी काव्य, पृ० २५

पर द्विवेदीजी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जायगी तब तक बना रहेगा।"[१]

"इस द्वितीय उत्थान के आरम्भकाल में हम पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को पद्यरचना की प्रणाली के प्रवर्तक के रूप में पाते हैं।...खड़ी बोली के पद्य-विधान पर भी आपका पूरा-पूरा असर पड़ा।"[२]

(१०) आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि "संक्षेप में यही इस शताब्दी के आरम्भिक बीस वर्षों के साहित्य की साधारण रूपरेखा है। एक पीढ़ी समाप्त हो रही थी और दूसरी का उदय हो रहा था। नये के आगमन का पूर्वाभास और पुराने की बिदाई की विलम्बित छाया कभी-कभी कुछ वर्षों का समय घेर लेती है। इस कारण हमें नये के आगमन और पुराने के अवसान की ठीक तिथि निर्धारित करने में कठिनाई भी हो जाती है। परन्तु सन् १९१९ ई० में समाप्त होने वाला प्रथम महायुद्ध और सन् १९२० ई० के आस-पास भारतीय राजनीति में गाँधीजी का प्रवेश, दो ऐसे स्मारक हैं, जिनके आधार पर इन्हीं वर्षों को नये साहित्यिक उन्मेष की तिथि मान लेने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है।"[३]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी द्विवेदी युग की सीमा १९००-१९२० ई० ही मानते हैं।

(११) श्यामसुन्दरदास और रायकृष्णदास के नाम से छपी हुई नन्ददुलारे वाजपेयी लिखित 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' की प्रस्तावना में सन् १९३३ ई० तक द्विवेदी युग स्वीकार किया गया है।[४]

(१२) "सन् १८९६ से (जब उन्होंने प्रथम बार लेखनी चलायी थी) सन् १९३८ तक (जब उन्होंने इस संसार से बिदा ली) का समय द्विवेदी युग कहा जाता है।"[५] —श्रीनाथ सिंह, सारंग, मई २२, १९४४ ई०

इस प्रकार श्रीनाथसिंह के मत से १८९६ ई० से १९३८ तक तथा श्यामसुन्दरदास और रायकृष्णदास के मत से १९३३ तक द्विवेदी युग का प्रसार माना गया है।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९०
२. वही, पृ० ५१०
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ० २०
४. डॉ० उदयभानु सिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० २६६
५. वही, पृ० २६६

(१३) डॉ० शम्भूनाथ सिंह (१९०० ई०—१९२० ई०)

"इस युग की सामान्य प्रवृत्ति सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ओर थी। अतः इसे पुनरुत्थान युग भी कहा जा सकता है।"[१]

आगे वह लिखते हैं कि "इस काल में काव्य भाषा भी खड़ी बोली हो गयी।"[२]

(१४) डॉ० रामरतन भटनागर (१९०३ ई०—१९१८ ई०)

"इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदी युग (१९०३-१९१८ ई०) में काव्य की भाषा शैली का बड़ा विकास हुआ।"

"आधुनिक हिन्दी साहित्य का सबसे पहला युग यही 'भारतेन्दु-युग' (१८५०-१९००) है।"[३]

(१५) डॉ० रामचन्द्र मिश्र (१९२५ ई० तक द्विवेदी युग)

"हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन् १८७५ ई० से १९२५ ई० तक का समय अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इस पचास वर्ष के काल-खण्ड में भारतेन्दु और द्विवेदीजी के नाम से दो युग आते और व्यतीत होते हैं।"[४]

(१६) प्रो० डॉ० सत्येन्द्र (१९०० ई० से प्रारम्भ)

डॉ० सत्येन्द्र का कथन है कि "द्विवेदी युग सरस्वती के साथ आरम्भ हुआ और उसने हिन्दी में एक वास्तविक क्रान्ति उपस्थित कर दी।"[५]

(१७) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

"साहित्य का सबसे बड़ा समालोचक काल है"। (साहित्य सन्देश, भाग २, अंक ८, अप्रैल १९३९, पृ० ३१३) इसी अंक के पृ० ३१६ पर वे लिखते हैं कि द्विवेदीजी के जाने के बाद एक युग ही समाप्त हो गया। सच तो यह है कि द्विवेदीजी स्वयं ही एक युग थे। आज का सारा आधुनिक साहित्य उन्हीं की सेवा का फल है। उनके व्यक्तित्व ने समग्र साहित्य पर अपना प्रभाव स्थापित किया था। "मेघ की तरह उन्होंने विश्व से ज्ञानराशि को संचित कर और उसकी वर्षा कर समग्र साहित्योद्यान को हरा-भरा कर दिया। वर्तमान साहित्य उन्हीं की साधना का फल है।"[६]

---

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका, पृ० १७३
२. वही, पृ० १७३
३. डॉ० रामरतन भटनागर, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३३०
४. डॉ० रामरतन भटनागर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १४
५. डॉ० सत्येन्द्र, साहित्य सन्देश, भाग २, अंक ८, अप्रैल १९३९, पृ० ३०६
६. पुदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, साहित्य सन्देश, भाग २, अंक ८, अप्रैल १९३९, पृ० ३१६

(१८) डॉ० गंगाधर झा (१९०० ई०—१९२० ई०)

"१९०० ई० से १९२० ई० तक हिन्दी का द्विवेदी युग है।"[१]

इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी द्विवेदी युग की सीमाएँ निर्धारित की हैं—

(१९) डॉ० भोलानाथ (१९०० ई०—१९२०)
(आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि १९००–१९५०, पृ० ८२)

(२०) डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी (१९०० ई०—१९२० ई०)
(हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३३४)

(२१) ओंकारनाथ शर्मा (१९०० ई०—१९२० ई०)
(हिन्दी निबन्ध का विकास, पृ० १३७, १७७)

(२२) डॉ० शैलकुमारी (१९०० ई०—१९२० ई०)
(आधुनिक हिन्दी कविता में नारी भावना, पृ० ४३)

(२३) डॉ० रवीन्द्र भ्रमर (१९०१ ई०—१९१३ ई०)
(हिन्दी के आधुनिक कवि, 'दो शब्द', पृ० ४)

(२४) डॉ० शितिकण्ठ मिश्र (१९०० ई०—१९२५ ई०)
(खड़ी बोली का आन्दोलन, पृ० २६८)

(२५) डॉ० सत्यकाम वर्मा (१९०१ ई०—१९१८ ई०)
(हिन्दी का आधुनिक साहित्य, पृ० १)

(२६) दान बहादुर पाठक (१९००—२०-२५, ई०)
(मैथिलीशरण गुप्त और उनका साहित्य, पृ० २२)

(२७) श्री फूलचन्द्र जैन सारंग (१८९३ ई०—१९२५ ई०)
(हिन्दी और उसके कलाधर, पृ० २०५)

इनके अतिरिक्त लगभग सभी इतिहास सम्बन्धी पुस्तकों में या तो शुक्लजी का अनुसरण किया गया या डॉ० सुधीन्द्र या डॉ० उदयभानु सिंह का। तात्पर्य यह कि द्विवेदीयुगीन काव्य की सामान्य काल-सीमा अधिकांश विद्वानों ने—१९०० से १९२० ई० ही मानी है। कुछ ने १९०१ से १९२०, कुछ ने १९०३-१९२५, आचार्य शुक्ल ने १८९३ से १९१८ ई०, १९००-१९२५, १९००-१९३३, १८९६-१९३८, डॉ० रामरतन भटनागर १९०३-१९१५,

---

१. डॉ० गंगाधर झा, आलोचना, काव्यालोचन विशेषांक, आधुनिक राष्ट्रीय चेतना का विकास, पृ० २५९

डॉ० रवीन्द्र भ्रमर १९०१-१९१३ ई०, डॉ० सत्यकाम वर्मा १९०१-१९१८, और फूलचन्द्र जैन १८९३-१९२५ ई० तक द्विवेदी युग का विस्तार मानते हैं।[1] इन्हीं तथ्यों के आधार पर कुछ परिणाम निकाले जा सकते हैं।

## कुछ अन्य महत्वपूर्ण तिथियाँ

१. भारतेन्दु का निधन—५ जनवरी १८८५ ई०

२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना—१६ जुलाई १८९३ ई०

३. 'सरस्वती' का प्रकाशन (सचित्र हिन्दी मासिक पत्रिका 'सरस्वती')—१९०० ई०। पहले वर्ष इसकी सम्पादन-समिति में ५ सदस्य थे :

कार्तिक प्रसाद खत्री
किशोरीलाल गोस्वामी
जगन्नाथदास, बी० ए०
राधाकृष्णदास
श्यामसुन्दरदास

श्यामसुन्दरदास १९०१ से १९०२ तक सरस्वती के सम्पादक रहे।[2] १९०३ में द्विवेदीजी ने इसका सम्पादन आरम्भ किया।

| | |
|---|---|
| ४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन | १८९७ ई० |
| ५. सरस्वती के सम्पादक द्विवेदीजी | १९०३ ई० |
| ६. स्वदेशी आन्दोलन | १९०६ ई० |
| ७. रायकृष्णदास तथा बालमुकुन्द की मृत्यु | १९०७ ई० |
| ८. 'इन्दु' (काशी) का प्रकाशन | १९०९ ई० |
| ९. मर्यादा (प्रयाग) का प्रकाशन | १९१० ई० |
| १०. रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि पर नोबल पुरस्कार | १९१३ ई० |
| ११. प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात | १९१४ ई० |
| १२ पूर्णजी की मृत्यु | ३० जून, १९१५ ई० |
| १३. सत्यनारायण कविरत्न की मृत्यु | १९१८ ई० |
| १४. तिलक का स्वर्गवास | १ अगस्त, १९२० ई० |
| १५ असहयोग का आरम्भ तथा चौरीचौरा काण्ड | १९२० ई० |
| १६. मॉडर्न रिव्यू का प्रकाशन | जनवरी, १९०७ ई० |
| १७. उत्तर प्रदेश में नागरी अक्षरों का प्रचार | १८ अप्रैल, १९०० ई० |
| १८. हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना | १०, ११, १२ अक्टूबर, १९१० ई० |

१९. खड़ी बोली आन्दोलन (अयोध्याप्रसाद खत्री) सं० १९४५
२०. आगरा की नागरी प्रचारिणी सभा सं० १९६९
२१. गुजराती, मराठी साहित्य सम्मेलनों द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करना सं० १९७२
२२. वृहत् कवि सम्मेलन सं० १९९२
२३. हिन्दी विद्यापाठ की स्थापना सं० १९७५

## काल-निर्णय के आधार

द्विवेदीयुगीन काव्य के काल-खण्ड की सीमाएं निर्धारित करते समय हमें कुछ बातें जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है :

१. द्विवेदीजी की प्रथम और अन्तिम कृति ।
२. द्विवेदीजी के द्वारा परिवर्तित साहित्यिक धारा ।
३. नयी शैली के आगमन का काल ।
४. द्विवेदीयुगीन साहित्य-धारा की प्रतिष्ठा-सिद्धि ।

**खड़ी बोली काव्य का विकास**—काव्य में खड़ी बोली की कृतियाँ यद्यपि भारतेन्दु काल से ही लिखी जा रही थीं, परन्तु उन्हें सायास काव्य की भाषा मान्य करके लिखने-लिखाने का कार्य द्विवेदीजी ने ही किया। भारतेन्दु ने सितम्बर १८८१ के 'भारतमित्र' में प्रकाशित अपने ३ दोहों के साथ एक पत्र छपवाया था ।

दोहे—बरसा सिर पर आ गई, हरी हुई सब भूमि ।
बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमरगण भूमि ।।
खोल खोल छाता चले, लोग सड़क के बीच ।
कीचड़ में जूते फँसे, जैसे अघ में नीच ।।
(भारतेन्दु युग, रामविलास शर्मा, पृ० १६९)

'प्रात समीरण' अक्टूबर १८७४ पयार छन्द में काशी का प्रभात वर्णन :

जागैं नारी नर लगैं निज निज काम ।
पंछी चह चह बोलैं ललित ललाम ।।
कोई भजे राम राम कोई गंगा न्हाय ।
कोई सज वस्त्र अंग काज हेत जाय ।।
सड़क सफाई होत करि छिड़काव ।
कभी बैठि हवा खाते आवैं उमराव ।। आदि

इसमें खड़ी बोली का प्रयोगात्मक स्वरूप द्रष्टव्य है।

भारतेन्दु की पहली खड़ी बोली की रचना—

१ १८८१ में 'भारतमित्र' में उनके तीन दोहे छपे थे।

२ प्रात समीरण—बंगला के पयार छन्द में है। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में अक्टूबर १८७४ में प्रकाशित हुई थी।

इसमें उन्होंने खड़ी बोली की काव्योपयुक्तता पर अपने विचार प्रकट किये थे। वे लिखते हैं कि "प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है। देखियेगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के आलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है।... मेरा विचार इससे सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा की क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है। मैंने कहीं-कहीं सौन्दर्य के हेतु दीर्घ मात्राओं को लघु करके पढ़ने की चाल रखी है। लोग विशेष इच्छा करेंगे और स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे तो मैं और भी लिखने का यत्न करूँगा।"[1] इस पत्र से यह तो स्पष्ट ही है कि १८८१ ई० से भारतेन्दु बाबू ने खड़ी बोली में कविता लिखने का असफल प्रयास किया। १८८१ ई० से पहिले की उनकी खड़ी बोली की रचनाएँ इस प्रकार हैं—

प्रेम तरंग—८०, ८१, ८२, ८७, ८९ लावनियाँ
प्रेम प्रलाप—५४, ५६ लावनियाँ, ६७

१८८१ ई० के बाद की उनकी खड़ी बोली की रचनाएँ—

मधु मुकुल—५६ लावनी
वर्षा विनोद—६, ६० लावनी
विनय प्रेम-पचासा—३८, ३९, ४०, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४८, ४९, ५०

परन्तु ये सभी प्रयोग लचर और ढीलीढाली खड़ी बोली के हैं। उनकी 'दशरथ विलाप' नाम की एक कविता खड़ी बोली में इस ढंग की है :

कहाँ हो हे हमारे राम प्यारे।
किधर तुम छोड़कर हमको सिधारे॥

१. किशोरीलाल गुप्त, भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० ३३६ (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, ब्रजरत्नदास, पृ० २५२)

बुढापे में ये दुख भी देखना था।
इसी के देखने को मैं बचा था।।

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५९६)

वास्तव में खड़ी बोली में रचनारम्भ का समय महन्त सीतलदास (जन्म संवत् १७८०) से माना जाता है। आप वैष्णव धर्मावलम्बी रट्टी सम्प्रदाय के महन्त थे। उन्होंने चार भागों में 'गुलजार चमन' नामक ग्रन्थ लिखा। प्रेमी के हृदय के प्यार का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं :

"हमदर्द मन्द मुशताक रहे, तुम बिन उर दूना दुरा नहीं।
तीखी चितवन का जख्म लगा, दिल में सो अब तक पुरा नहीं।
तुम हुए तलख में ए दिलवर, कुछ हम लोगों का कुरा नहीं।
बिहंसन के मोल बिकाते हैं, सीतल इन मोलों बुरा नहीं।।"

सीतल से पूर्व कबीर, नामदेव, नानक, रहीम, भूषण, सूदन और घनानन्द आदि की खड़ी बोली में कुछ रचनाएँ हैं। खुसरो अथवा कबीर की रचनाओं में खड़ी बोली का रूप स्पष्टतः व्यक्त है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १८०-८१) खुसरो के गीतों और दोहों की भाषा में शब्द ब्रजभाषा के और कारक चिह्न खड़ी बोली के मानकर उनकी भाषा को खड़ी बोली ही माना है। यही मत डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का है। मुंशी सदासुख निसार देहलवी (जन्म सं० १८००), भगवत रसिक (जन्म सं० १७६५), सहचरीशरण, ललित किशोरी (सं० १९२० के लगभग) आदि की खड़ी बोली की रचनाएँ मिलती हैं। 'रानी केतकी की कहानी' के रचयिता इंशाअल्लाखाँ ने भी कहानियों में थोड़े-से पद्य भी रखे हैं। नजीर अकबराबादी, तुकनगिरी, और रसालगिरि के नाम खड़ी बोली के कवियों में उल्लेखनीय हैं। काशीगिरि उपनाम 'बनारसी' ने खड़ी बोली में लावनी लिखी थीं :

"दिल में प्यारे वो दीदार बंसीवट के।
सिर मोरमुकुट कटि करने जरी के पटके।
कहे देवीसिंह हैं अजब खेल नटखट के
कहे 'बनारसी' हम आशिक नागर नट के।"

कदर पिया की ठुमरी :

"बारे बलम ने बहिया मरोर डारी।
कदर पिया तुम बड़े हो रसीले
लपट झपट चुरियाँ तोर डारी सारी।।"

और फरहत की रचना :

"मन कौन भरोसे फूला है, मोरी सुन नादान क्यों भूला है।"

आदि रचनाओं से खड़ी बोली के काव्य का मार्ग प्रशस्त हुआ है। चूंकि गद्य में खड़ी बोली का ज्यादा प्रसार था, इससे कुछ साहित्यकार, रासधारी, नौटंकीवाले आदि मनोरंजन और नाच-गानों के अवसर पर जन-प्रचलित भाषा को पद्यों में प्रयुक्त करके खड़ी बोली का मार्ग अनजाने ढंग से प्रशस्त कर रहे थे। १८७६ ई० में बाबू लक्ष्मीदास पाण्डे ने खड़ी बोली में भारत की दुरावस्था पर १० छन्द लिखे थे और गोल्डस्मिथ कृत 'हेरमिट' का 'योगी' के नाम से अनुवाद किया था। १८८१ ई० में पटना के बाबू महेशनारायण ने 'स्वप्न' शीर्षक एक राष्ट्रीय रचना खड़ी बोली में लिखी। १८८६ ई० में श्रीधर पाठक की 'एकान्तवासी योगी' और १८८८ ई० में अयोध्याप्रसाद खत्री की 'खड़ी बोली का आन्दोलन' पुस्तक का दो भागों में प्रकाशन हुआ। तात्पर्य यह है कि खड़ी बोली काव्य का आरम्भिक प्रयास १८८१ ई० में भारतेन्दु ने किया था। नित्यानन्द ने 'होली में खड़ी बोली' में लिखा है :

"बोलचाल की भाषा में है कविता करना खेल नहीं।
अविकृत शब्दों का छन्दों से मिलता मेल नहीं।
भारतेन्दुजी तक ने इसको इसीलिए था छोड़ दिया।
हार मानकर अब हमने भी है इससे मुँह मोड़ लिया॥"

यह कविता बदरीनारायण भट्ट द्वारा मार्च १९१३ की सरस्वती में प्रकाशित खड़ी बोली की कविता से उद्धृत की गयी है।

बदरीनाथ भट्ट ने 'खड़ी बोली की कविता', सरस्वती मार्च १९१३, में स्पष्ट लिखा था, "अब ब्रजभाषा के दिन बीत गये। इसलिए संस्कृत की भाँति उसका मान तो अवश्य करना चाहिए पर उसे राष्ट्रभाषा बनाने की और नायिका-भेद और अलंकार शास्त्र बढ़ाने की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए।" भारतेन्दु की मुकरियों में खड़ी बोली के प्रयोगों का आधिक्य है :

"सब गुरुजन को बुरो बतावै।
अपनो खिचड़ी अलग पकावै॥
भीतर तत्व न झूँठी तेजी।
क्यों सखि सज्जन ? नहीं अंग्रेजी॥"[१]

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, नये जमाने की मुकरी, पृ० ८१०-८११

खड़ी बोली के समर्थन में प्रतापनारायण मिश्र के प्रतिवाद-स्वरूप श्रीधर पाठक ने लिखा कि "हम यह नहीं कहते कि नवीन हिन्दी की कविता ब्रजभाषा की कविता से मधुर होती है। हमारा तो केवल इतना ही मन्तव्य है कि नवीन हिन्दी में जैसे गद्य हैं वैसे पद्य भी होना चाहिए।...यह कभी भूल से मत बोलना कि खड़ी हिन्दी कविता के उपयुक्त नहीं है।...गद्य और पद्य की भिन्न भाषा होना हमारे लिए उतना अहंकार का विषय नहीं है, जितना लज्जा और उपहास का है कि जिस भाषा में हम गद्य लिखते हैं, उसमें पद्य नहीं लिख सकते।"[१] श्रीधर पाठक ने १८८६ में 'एकान्तवासी योगी' की सफल अनूदित रचना प्रस्तुत की जो कि खड़ी बोली काव्य के विकास में एक बहुत महत्वपूर्ण मील का पत्थर है :

> "प्राणपियारे की गुन गाथा, साधु कहाँ तक मैं गाऊँ।
> गाते गाते चुके नहीं वह चाहें मैं ही चुक जाऊँ॥
> विश्व निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर।
> बलिहारौं त्रिभुवनधन उस पर वारौं काम करोर॥"[२]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि "चम्पारन के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान और वैद्य पं० चन्द्रशेखरधर मिश्र, जो भारतेन्दुजी के मित्रों में थे, संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी में भी बड़ी सुन्दर और आशु कविता करते थे। मैं समझता हूँ कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में संस्कृत वृत्तों में खड़ी बोली के कुछ पद्य पहले पहल मिश्रजी ने ही लिखे।"[३] श्रीधर पाठक की यही 'एकान्तवासी योगी' कृति अपनी सार्वभौमिक मार्मिक कथा के कारण स्वच्छन्दतावादी धारा में प्रमुख स्थान रखती है।

यह सब लिखने का उद्देश्य केवल इस बात का संकेत करना है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के पूर्व ब्रजभाषा और खड़ी बोली—दो काव्य-भाषाएँ अधिक और कम रूप में हिन्दी काव्य में व्यवहृत होती थीं। स्वयं द्विवेदीजी ने १९०० ई० के पूर्व ब्रजभाषा में रचनाएँ लिखी हैं। भाषा की दृष्टि से द्विवेदीजी के कविता-काल के तीन विभाग किये जा सकते हैं (१) १८८९ ई० से १८९२ ई० तक की रचनाएँ—विनय विनोद (१८८९ ई०), विहार वाटिका

---

१. श्रीधर पाठक, 'हिन्दुस्तान', ८ मार्च १९८८

२. वही, एकान्तवासी योगी

३. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५९९

(१८९० ई०), स्नेहमाला (१८९० ई०), महिम्नस्तोत्र (१८९१ ई०), ऋतु तरंगिणी (१८९१ ई०), गंगालहरी (१८९१ ई०) और देवीस्तुति शतक (१८९२ ई०)। ये सब ब्रजभाषा की रचनाएँ हैं। द्विवेदीजी ने इस समय में अधिकतर अनूदित साहित्य तैयार किया। (२) १८९७ ई० से १९०२ ई० तक के समय की उनकी प्रतिनिधि संकलित रचनाओं का संग्रह 'काव्य-मंजूषा' है जो १९०३ ई० में प्रकाशित हुआ और जिसमें ब्रजभाषा, खड़ी बोली तथा संस्कृत तीनों को ही कविता का माध्यम बनाया गया। संस्कृत की प्रभात वर्णनम्, अयोध्याधिपस्य प्रशस्ति और समाचार पत्र-सम्पादक स्तवः, आदि कविताएँ संस्कृत में हैं। ११ मार्च १८९७ के 'हिन्दोस्थान' में प्रकाशित 'भारत दुर्भिक्ष' की भाषा ब्रजभाषा-मिश्रित है :

"गली गली कंगाल पेट पर हाथ दोउ धरि धावैं।
अन्न-अन्न पानी-पानी कहि शोर प्रचण्ड मचावैं।
बालक युवा जरठ नारी नर भूख-भूख कहि गावैं।
अविरल अश्रुधार आँखिन तैं बारंबार बहावैं॥"[1]

जून १८९८ में 'नागरी, तेरी यह दशा' नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुई :

"कल्याणि ! नागरि ! तो विनती सुनीजै।
माता ! दयावति ! दया न कमी करीजै।
हूजै अधीर जनि, यद्यपि होति देरी।
सेवा अवश्य करिहैं अब सर्व तेरी॥"[2]

'बाल विधवा विलाप' ७ अक्टूबर १८९८ के 'भारतमित्र' में प्रकाशित रचना है :

"रंडे तुही अवशि मत्सुत लीन खाई,
स्वन्मातुनाथ ! जब तजिहि यों रिसाई।
ह्वै है इहै तब मदीय मताऽधिकाई
पृथ्वी फटै त्वरित जाहुँ तहाँ समाई॥"[3]

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्य माला, भारत दुर्भिक्ष, पृ० १७४
२. वही, नागरी तेरी यह दशा, पृ० २००
३. वही, बाल विधवा विलाप, पृ० २१४

२६ अगस्त १८६८ को 'हिन्दी बंगवासी' में 'गर्दभ काव्य' प्रकाशित हुआ :

"हरी घास खुरखुरी लगै अति भूसा लगै करारा है,
दाना, भूल पेट यदि पहुँचै, काटै अस जस आरा है।
लच्छेदार चीथड़ा कूड़ा जिन्हें बुहारि निकारा है,
सोई, सुनो सुजान शिरोमणि ! मोहनभोग हमारा है ॥"[१]

७ अप्रैल १८६६ को श्री 'वेंकटेश्वर समाचार' में 'प्रार्थना' प्रकाशित हुई :

"हा ! हन्त ! हिन्दी सुइ तासु कन्या
सर्व प्रकार व्यवहार अन्या
गली-गली आजु मलीन दीना
मारी फिरै है अवलम्ब हीना ॥"[२]

'नागरी का विनय पत्र', १५ मई १८६६ के 'भारत जीवन' में प्रकाशित की भाषा का यह नमूना है :

"मेरे प्रचार हित यत्न भये अनेका
पै हा ! अभाग्यवश सिद्ध भयो न एका ॥"[३]

२५ दिसम्बर १८६६ के 'भारतमित्र' में श्रीधर पाठक की प्रशंसा में सात पद प्रकाशित कराते हुए वे कहते हैं :

"जाकी कवित्व पद कोमलता अधिकाई
आबाल वृद्ध जन चित्त लयो चुराई।
सोई कवीन्द्र विजयी जयदेव आई,
लीन्ह्योवतार कह श्रीधर देह पाई।"[४]

श्रीधर पाठक के प्रति द्विवेदीजी की श्रद्धा इस पद में प्रकट होती है। १६०० में 'अध्योध्या का विलाप' 'कृतज्ञताप्रकाश' और तब 'बलीवर्द' (१६ अक्टूबर १६०० के श्री वेंकटेश्वर समाचार में प्रकाशित) रचनाएँ सामने

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्य माला, गर्दभ काव्य, पृ० २१६
२. वही, प्रार्थना, पृ० २२४
३. वही, नागरी का विनयपत्र, पृ० २४१
४. वही, श्रीधर सप्तक, पृ० २६१

आयीं। 'बलीवर्द' काव्य द्विवेदीजी के खड़ी बोली-प्रयोग की सफलता का प्रमाण है :

> "विश्वनाथपुर में जब कोई विश्वनाथ को जाता है,
> सम्मुख वहीं देख तुमको वह कम्पित हो घबड़ाता है ॥"[१]

नवम्बर १९०० की सरस्वती में प्रकाशित 'द्रौपदी वचन वाणावली' भी ऐसी ही रचना है :

> "कपटी कुटिल मनुष्यों से जो जग में कपट न करते हैं,
> वे मतिमन्द मूढ़ नर, निश्चय, पाय पराभव मरते हैं ॥"[२]

'काककूजितम्' जून १९०१, 'विधि विडम्बना', मई १९०१ और तब 'हे कविते' (जून १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित) रचना द्रष्टव्य हैं :

> "सुरम्यरूपे ! रसराशि रंजिते,
> विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गयी ?
> अलौकिकानन्द विधायनी महा-
> कवीन्द्रकान्ते ! अहो कहाँ ?"[३]

× × ×

> "अभी मिलेगा व्रज मण्डलान्त का,
> सुभुक्त भाषामय वस्त्र एक ही,
> शरीर संगी करके उसे सदा,
> विराग होगा तुझको अवश्य ही।"[४]

१९०२ में 'कुमारसम्भवसार' रचना के द्वारा द्विवेदीजी खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने में समर्थ हुए। इसमें कालिदास की कृति 'कुमारसम्भव' के पाँचो सर्गों का खड़ी बोली में सफल अनुवाद किया गया है :

> "वह इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता है
> भुवनत्रय उससे त्रस्त नाथ ! रोता है।

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्य माला, बलीवर्द, पृ० २७३
२. वही, द्रौपदी वचन वाणावली, पृ० २८२
३. वही, हे कविते, पृ० २९१
४. वही, पृ० २९४

उपकार न खल को कभी शान्त करता है,
अपकारमात्र तद्गर्व सर्व हरता है ।।"[१]

× × ×

"निशा शशी के संग, दामिनी घन के जाती,
संग गमन की रीति जड़ों में भी दिखलाती ।
हे वसंत ! अतएव कृपा करिए यह मुझ पर,
प्राणनाथ के पास भेजिए मुझे भस्म कर ।"[२]

१९०२ के पश्चात की रचनाओं में 'प्यारा वतन' (फरवरी १९०६) रचना की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है :

"प्यारे वतन हमारे प्यारे
आजा, आजा पास हमारे
या तू अपने पास बुलाकर
रख छाती से हमें लगाकर ।।"[३]

'कान्यकुब्ज अबला विलाप' सितम्बर १९०६ में प्रकाशित रचना है । 'सन्देश' हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन में पढ़ी गयी हिन्दी भाषा का सन्देश सुनानेवाली रचना है । इसकी मार्मिकता, भाषा का साजसँवार और व्यंग्य द्रष्टव्य है :

"अर्थ यथार्थ मातृभाषा का यदि तुम सबने जाना है,
मेरे अन्तर्गत भावों को यदि तुमने पहचाना है ।"[४]
"कई करोड़ बोलनेवाले हैं मेरे भारतवासी,
हतभागिनी हाय तिस पर भी मरती मैं भूखी प्यासी ।।"[५]

द्विवेदीजी की इन रचनाओं में, हिन्दी के खड़ी बोली स्वरूप को परखने की दृष्टि से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द्विवेदीजी 'बलीवर्द' १९०१ रचना के समय से अपनी काव्य-भाषा को लगातार माँज रहे थे । 'कुमार-

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्य माला, कुमारसम्भवसार, पृ० ३१७
२. वही, पृ० ३३६
३. वही, प्यारा वतन, पृ० ३९०
४. वही, सन्देश, पृ० ४४४
५. वही, पृ० ४४७

सम्भवसार' में एक 'स्टैण्डर्ड' या मानक भाषा की रूपरेखा प्रस्तुत करके हिन्दी का वे एक विशेष स्वरूप प्रचलित करना चाहते थे। द्विवेदीजी के इस प्रयास को तीन पक्षों का आग्रह वहन करना पड़ा, यथा—

१. खड़ी बोली के पक्षपाती—श्रीधर पाठक
अयोध्या प्रसाद खत्री
महावीर प्रसाद द्विवेदी

२. ब्रजभाषा के पक्षपाती—प्रताप नारायण मिश्र
पं० अम्बिकादत्त व्यास
राधाचरण गोस्वामी

३. विषयानुरूप भाषा के पक्षपाती—रायकृष्ण दास
बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'
श्रीधर पाठक
देवी प्रसाद पूर्ण
नाथूराम शर्मा,

आदि ने ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को अपनाकर भारतेन्दु के प्रयोगों को भाषागत स्थिरता देने का प्रयास किया।

खड़ी बोली काव्य के विकास के साथ-साथ, हिन्दी वालों की सफलता और विशेषकर बाबू श्यामसुन्दर दास तथा पं० मदनमोहन मालवीय के अथक प्रयासों के फलस्वरूप १८ अप्रैल १९०० की तिथि हिन्दी संसार के लिए एक वरदान बन कर आयी। उस दिन उत्तर प्रदेश के न्यायालयों में हिन्दी को प्रथम बार प्रवेश मिला। इसके पहले न्यायालयों में फारसी भाषा और फारसी अक्षरों का प्रचार था। १८३७ ई० के नवम्बर मास में हिन्दोस्तानी या उर्दू को यह स्थान मिला था। सन् १८६८ में न्यायालयों में फारसी अक्षरों के स्थान में सरकारी न्यायालयों में नागरी अक्षरों के प्रचार हेतु सरकार से प्रार्थना की गयी थी। १८ अप्रैल १९०० को लेफ्टिनेंट गवर्नर सर एन्टनी मेकडानल्ड ने यह आज्ञा प्रसारित की कि "(१) सम्पूर्ण मनुष्य प्रार्थनापत्रों को और अर्जीदावों को अपनी इच्छा के अनुसार नागरी व फारसी के अक्षरों में दे सकते हैं। (२) सम्पूर्ण सम्मन, सूचना पत्र और दूसरे प्रकार के पत्र जो सरकारी न्यायालयों व प्रधान कर्मचारियों की ओर से देशभाषा में प्रकाशित किये जाते हैं, फारसी और नागरी अक्षरों में जारी होंगे और इन पत्रों के उस भाग की खानापुरी भी हिन्दी में इतनी ही होगी जितनी फारसी अक्षरों में की जाय। (३) अंग्रेजी आफिसों को छोड़कर आज से किसी न्यायालय में कोई मनुष्य उस समय तक

नहीं नियत किया जायेगा जब तक वह नागरी व फारसी के अक्षरों को अच्छी तरह से लिख और पढ़ न सकेगा।"[१] राधाकृष्णदास ने १८९७ ई० में इस कार्य के लिए लाट साहब की प्रशंसा में 'पुष्पांजलि' लिखी :

"धन मेकडानल्ड लाट प्रजा के दुःख निवारे।
कचहरिया लीला से सबके प्रान उबारे॥
धन उनइस सौ सन धन-धन यह मास एपरिल।
धन तारीख अठारह जन-हिय-कमल गये खिल॥
जब लौं हिन्दू हिन्दी रहै वह शुभ दिन न बिसरिहैं।
मेकडानल्ड नाम पवित्र यह नित सादर उच्चरिहैं॥"

सन् १९०० में सरस्वती का प्रकाशन और नागरी का न्यायालयों में प्रवेश दो बड़ी घटनाएँ एक ही वर्ष में घटीं। सरस्वती के प्रथम अंक से ही द्विवेदीजी उसके लेखकों में से थे। १९ अक्टूबर १९०० ई० को द्विवेदीजी की 'बलीवर्द' और १९ नवम्बर १९०० को आरम्भिक 'द्रौपदी वचन वाणावली' खड़ी बोली की रचनाएँ सरस्वती में प्रकाशित हुईं। द्विवेदीजी जो पहले केवल ब्रजभाषा में, फिर मिश्रित ब्रज, अवधी और खड़ी बोली की खिचड़ी भाषा में लिखते थे, १९०० ई० से लगभग खड़ी बोली में ही रचना करने लग गये। उन्होंने आगे चलकर इसी भाषा में दृढ़ता से लिखने के लिए अपने सभी सहयोगियों को प्रेरित किया। धीरे-धीरे वह कवि से अधिक मार्गदर्शक, शिक्षक, शासक और युगनिर्माता हो गये। द्विवेदी युग की खड़ी बोली हिन्दी का केन्द्रविन्दु हो गयी। १८८५ ई० में द्विवेदीजी के कवि का जब प्रथम उन्मेष हुआ, तब कुछ ही समय पूर्व भारतेन्दु का ६ जनवरी १८८५ को देहावसान हुआ था। भारतेन्दु युग प्राचीन और नवीन का सन्धि-काल था। इस युग की मौलिकता, उमंग, जोश, और जिन्दादिली ने हिन्दी साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों को सुस्थिर कर दिया। द्विवेदीजी ने भारतेन्दु काल के इस उत्साह, वर्ण्य विषयों की विविधता और हिन्दी के प्रचार, प्रसार, आदि की बेचैनी का सदुपयोग किया।

## विद्वानों के मतों का परीक्षण

१. अधिकांश विद्वान द्विवेदीयुगीन काव्य का आरम्भ १९०० ई०, १९०१ ई० या १९०३ ई० से मानते हैं। इसमें भी १९०० ई० को माननेवाले

---

१. सप्तम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जबलपुर, कार्य विवरण, दूसरा भाग, लेख-माला, पृ० १८८

अधिक हैं। ऊपर लिखा जा चुका है कि कई कारणों से जैसे हिन्दी नागरी के प्रचार, मान्यता, सरस्वती के प्रकाशन तथा द्विवेदीजी द्वारा खड़ी बोली में प्रमुख कवि के रूप में अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराने के कारण यह १९०० ई० एक ऐसा मोड़ है, जहाँ से द्विवेदीयुगीन काव्य का आरम्भ माना जा सकता है।

२. डॉ० दीनदयाल गुप्त का यह मत द्रष्टव्य है— "द्विवेदीजी का साहित्य क्षेत्र में आना, हिन्दी खड़ी बोली के इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित करने वाली घटना हुई थी। उनका आगमन मानो हिन्दी साहित्य कानन में वसंत का आगमन था। उस समय साहित्यिक जीवन में एक नवीन स्फूर्ति आ गयी।...हिन्दी साहित्य क्षेत्र में द्विवेदीजी का इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी साहित्य-सेवा का काल (१९०१-१९२०) द्विवेदी युग के नाम से प्रख्यात हो गया।"[१]

३. डॉ० सुधीन्द्र ने 'हिन्दी कविता में युगान्तर' ग्रन्थ में जो 'नवीन हिन्दी कविता के विकास का अध्ययन' प्रस्तुत किया है वह १९०१ ई० से १९२१ ई० तक का काल ही है। वे लिखते हैं—"बीसवीं शताब्दी के ये बीस वर्ष वस्तुत: खड़ी बोली कविता के विकास के बीस वर्ष हैं, उस खड़ी बोली के जो आज हिन्दी भाषा का दूसरा नाम है।"[२] यहाँ द्विवेदी युग के काव्य का ही निर्देश है। डॉ० सुधीन्द्र ने 'हिन्दी कविता में युगान्तर' के अन्त में द्विवेदी काल चक्र में द्विवेदीजी के समय की उल्लेखनीय कृतियों और महत्वपूर्ण घटनाओं की तालिका दी है और यह टिप्पणी की है कि "बुद्ध चरित (शुक्ल), चुभते चौपदे (हरिऔध), आदि कुछ काव्यों का प्रकाशन पीछे होते हुए भी उनका रचना-काल प्राय: द्विवेदी काल ही है।" 'द्विवेदी' शब्द यहाँ काल-विशेष का द्योतक है।

४. इस प्रकार १९०० ई० या १९०१ ई० के सम्बन्ध में उपरोक्त दोनों मत उपलब्ध हैं। डॉ० सुधीन्द्र ने अन्यत्र "प्रस्तुत प्रबन्ध में मेरा प्रयास वर्तमान काल की हिन्दी कविता में सन् १९०१ से १९२० ई० का पुनरुत्थान आलेखित करना है," लिखा है। डॉ० सुधीन्द्र स्वयं कहते तो प्रथम दो दशक हैं पर गणना

---

१. डॉ० दीनदयाल गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डॉ० उदयभानु उपद्‌घात, पृ० अ, आ

२. डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता में युगान्तर, प्रास्ताविक 'क'

करते हैं १६०१ से १६२० तक। वस्तुतः यह १६०१ से लिखा गया मोड़ १६०० के वजन पर ही स्थिर है। द्विवेदीजी का साहित्य-क्षेत्र में आगमन तो १६०० ई० में हो चुका था। अस्तु, डॉ० दीनदयाल गुप्त का मत १६०० ई० से १६२० ई० तक स्वीकार करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

५. डॉ० उदयभानु सिंह का मत कि "सं० १६६० से सं० १६८२ तक के काल (१६०३ ई० से १६२५ ई०) को द्विवेदी-युग कहने का केवल यही कारण नहीं है कि उस युग की गद्यात्मक और पद्यात्मक रचना द्विवेदीजी की ही शैली पर हुई। उसका महत्तर कारण यह है कि उस युग की अधिकांश देन स्वयं द्विवेदी जी, उनके शिष्यों और उनसे प्रभावित साहित्यकारों से ही है।"[१] स्पष्ट है कि इधर डॉ० उदयभानु १६०३ ई० से १६२५ तक का काल द्विवेदी काल मानते हैं। यह ठीक नहीं प्रतीत होता। सरस्वती का प्रकाशन १६०० ई० में हुआ। द्विवेदीजी १६०३ ई० में सरस्वती के सम्पादक हुए। क्या द्विवेदीजी के सम्पादकत्व के दण्डधारण की तिथि ही खड़ी बोली के हिन्दी साहित्य के विकास की तिथि माननी चाहिए या उनके कृतित्व की निर्माणकारी रचना 'बलीवर्द' को ध्यान में रखकर १६०० ई० माननी उचित होगी। यदि इधर सरस्वती के सम्पादन की तिथि मानें तो उसको छोड़ने की १६२० की तिथि भी माननी चाहिए, पर १६११ ई० के बाद द्विवेदीजी की रचनाएँ यदाकदा ही दिखायी देती हैं और वे केवल एक निर्देशक के समान ही काव्यक्षेत्र पर पूरी तरह छाये रहते हैं। अस्तु, १६०० ई० से १६२० ई० की अवधि को द्विवेदी काल मानना चाहिए, न कि १६०३ ई० से १६२५ ई० तक के समय को। १६२५ ई० के बहुत पहले १६१७ ई० से ही परिवर्तन की सूचना अपने पूरे वेग के साथ सुन पड़ रही थी।

| | |
|---|---|
| निराला— | जुही की कली (१६१७ ई०) |
| प्रसाद— | चित्राधार (१६११ ई०) |
| | करुणालय (गीतिनाट्य) (१६१२ ई०) |
| | कानन कुसुम (१६१३ ई०) |
| | प्रेमपथिक, झरना (प्रथम) (१६१४ ई०) |
| | महाराणा का महत्व (१६१५ ई०) |
| गुप्त— | जयद्रथ वध (१६१०), किसान (१६१७) |
| | भारत भारती (१६१२) |

१. डॉ० उदयभानु सिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० २६६

| | |
|---|---|
| पन्त— | वीणा (१६१८), ग्रन्थि (१६१६), पल्लव (१६२०-२१), गुंजन (१६१६-१६३२) |
| हरिऔध— | प्रियप्रवास (१६१४ ई०) |
| सियारामशरण गुप्त | अनाथ (१६१७) मौर्य विजय (सं० १६७१ या सन् १६१४ ई०) |
| गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' | कृषक क्रन्दन (१६१६ ई०) |
| रामनरेश त्रिपाठी | पथिक (१६२० ई०) |

इन रचनाओं की छायावादी और स्वच्छन्दतावादी वह प्रवृत्ति, जो श्रीधर पाठक से प्रारम्भ हुई थी तथा द्विवेदीजी के कठोर और निर्मम शैली युक्त अनुशासन में आबद्ध काव्य की इतिवृत्तात्मकता से छिटक कर पुनः प्रबल हो उठी थी, १६२० ई० में अपनी लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, भावाभिव्यंजकता और मार्मिकता के कारण एक विभाजन-विन्दु बन गयी। १६०३ ई० से १६२५ ई० के स्थान पर १६०० ई० से १६२० ई० को ही उपयुक्त मानना चाहिए। १६०० ई० में हिन्दी खड़ी बोली का वेग से प्रसार, द्विवेदीजी की सशक्त खड़ी बोली की रचनाएँ, न्यायालयों में प्रवेश आदि और १६२० ई० में छायावाद की चन्दन-गन्ध से सुवासित नये युगारम्भ की सूचना के कारण द्विवेदीयुगीन काव्य का काल १६००-१६२० ई० ही माना जा सकता है। गाँधीजी का भारत की राजनीति में आना और १६२० ई० में तिलक का अवसान तथा १६१६ ई० में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति नयी पीढ़ी के उदय का समय था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह मत समीचीन प्रतीत होता है कि "संक्षेप में यही इस शताब्दी के आरम्भिक बीस वर्षों के साहित्य की साधारण रूप-रेखा है।...परन्तु सन् १६१६ ई० में समाप्त होने वाला प्रथम महायुद्ध और सन् १६२० ई० के आस-पास भारतीय राजनीति में गाँधी का प्रवेश, दो ऐसे स्मारक हैं कि जिनके आधार पर इन्हीं वर्षों को नये साहित्यिक उन्मेष की तिथि मान लेने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है।"[१] डॉ० उदयभानु सिंह सम्भवतः वाजपेयीजी के इस वाक्य से कि "हमारे साहित्य में द्विवेदी युग अब समाप्त हो रहा है, यद्यपि उसके नाम का जादू अब भी काम कर रहा है।"[२] कुछ भ्रमित होकर

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ० २०
२. वही, हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी (नवीन संस्करण), पृ० १८

१९२५ ई० तक द्विवेदीयुगीन कालखण्ड को खींच कर ले जाते हैं। अतः सन् १९०० से १९२० ई० तक का समय द्विवेदी युग की काल-सीमा सिद्ध होता है। स्वयं शुक्लजी ने द्विवेदीजी को पद्य-रचना-प्रणाली का प्रवर्तक माना है और व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक के रूप में उन्हें महत्व दिया है। वे युग-प्रवर्तक नहीं कहते क्योंकि जब शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिख रहे थे, तब द्विवेदीजी जीवित थे और साथ ही इतनी सूक्ष्मता से शुक्लजी ने शायद सोचा नहीं था। उन्होंने तो समस्त आधुनिक युग को प्रथम, द्वितीय और तृतीय उत्थान में बाँट दिया था।

सन् १९३३ ई० के आरम्भ में द्विवेदीजी के जीवित रहते हुए 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' की प्रस्तावना के रूप में प्रकाशित 'श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी' लेख के अन्तिम अवतरण में वाजपेयीजी ने लिखा है :

> "हमारे साहित्य में अब द्विवेदी युग समाप्त हो रहा है, यद्यपि उनके नाम का जादू अब भी काम कर रहा है और उनके अनुयायी अब भी क्रियाशील हैं।"[१]

इससे भ्रम होता है कि सन् १९३३ के आस-पास द्विवेदी युग समाप्त हो रहा था। परन्तु पूरा लेख पढ़ने पर यह भ्रामक वाक्य अन्य अर्थ देता है। इसी निबन्ध की ये पंक्तियाँ भी देखिये :

> "जब यह बात सच है कि जो लोग द्विवेदीजी के सम्पर्क में आये, उन्होंने उनका मंत्र ले लिया, और जिन पर द्विवेदीजी की लेखनी चल गयी, वे कला की शब्दावली में 'द्विवेदी कलम' के लेख हो गये तब क्यों न बीस वर्षों की सम्पादित सरस्वती पर द्विवेदी काल का लेबल लगाकर रख दिया जाय? ये ऐसे-वैसे सम्पादक नहीं थे, सिद्धान्तवादी और सिद्धान्तपालक सम्पादक थे।"[२]

साफ है कि द्विवेदीजी के द्वारा सम्पादित सरस्वती के २० वर्षों का काल वाजपेयी जी की दृष्टि में द्विवेदी काल है और तब यह १९०३ ई० से बीस वर्ष याने १९२३ ई० तक माना जाना चाहिए। और १९३३ ई० के आरम्भ में उनका वह वाक्य कुछ थोड़े से समीक्षकों को भ्रम में डाल गया। बीस वर्षों की सम्पादित सरस्वती का अर्थ १९०० से १९२० तक ही तो हो सकता है।

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ० १९
२. वही, पृ० ३

क्योंकि १९२० के बाद १९२३ तक तो द्विवेदीजी ने सरस्वती का सम्पादन किया ही नहीं था। उनका सम्पादन-काल १९०३ से १९२० ई० तक ही है, १९२३ तक नहीं। अस्तु, वाजपेयीजी की दृष्टि में द्विवेदी काल १९०० ई० से १९२० ई० तक ही है। डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा का मत है—"द्विवेदीजी के सम्पादन-काल (१९०३-१९२०) में सरस्वती स्वयं एक संस्था बन गयी थी। उसने खड़ी बोली को काव्य का माध्यम बनाने के लिए इस बीच बड़े महत्व का कार्य किया। वास्तव में २०वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में हिन्दी साहित्य के विकास का इतिहास इस समय की सरस्वती का ही इतिहास है।"[1] वे लिखते हैं—"आधुनिक हिन्दी काव्य के विकास का दूसरा चरण १९०३ में महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सरस्वती का सम्पादन भार ग्रहण करने के समय से आरम्भ होता है। १९०३ के परवर्ती १५ वर्षों में हिन्दी काव्य-धारा पुनः एक नयी दिशा में अग्रसर हुई।"[2] इससे प्रकट होता है कि वर्माजी १९०३ से १९१८ तक और १९२० तक द्विवेदी काल मानते हैं। आगे वे लिखते हैं—"द्विवेदी युग अर्थात् २०वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में, प्रतिवर्तन की भावना प्रबल हो रही थी।"[3] पृष्ठ ५५ पर भारतेन्दु युग १८६७ से १९०३ तक लिखकर वे १९०३ से १९२० या १९१८ ई० तक द्विवेदी युग का समय स्थिर करते हैं पर अन्यत्र इस काल-सीमा का इतनी कड़ाई से निर्वाह न कर सकने के कारण उनकी तुला १९०० ई० की ही ओर झुकी दीख पड़ती है। वर्माजी 'कवि वचन सुधा' (१८६७) के प्रकाशन से सरस्वती के प्रकाशन-काल तक का समय भारतेन्दु युग और १९०३ से १९२० तक का काल द्विवेदी काल मानते हैं। अधिक सरल ढंग से वह प्रथम दो दशकों को १९०० ई० से १९२० के समय को द्विवेदी काल मानते हैं। अस्तु, वर्माजी का मत भी इधर-उधर लचीला होकर केवल १९०० ई० के केन्द्र-विन्दु पर आ जाता है।

द्विवेदीजी एक कृती व्यक्ति थे, जिन्होंने भाषा को माँज-घिसकर उपयुक्त बनाया और वह भी इतने कम समय में। यह शायद एक घटना थी जिसकी मिसाल विश्व-साहित्य में मिलनी कठिन है। "भाषा को युगानुरूप, उच्छ्वास-हीन, स्पष्टवादी और वक्तव्य अर्थ के प्रति ईमानदार बनाकर जो काम द्विवेदी जी कर गये हैं, वही उन्हें हिन्दी साहित्य में अद्वितीय स्थान का अधिकारी

---

१. डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा, हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, पृ० ८७
२. वही, पृ० ८६
३. वही, पृ० ११९

बनाता है।"[१] द्विवेदीजी कवि से अधिक कवि-निर्माता थे। जो चेतना राज-नीतिक क्षेत्र में हमें बापू ने दी वही विकासमयी चेतना द्विवेदीजी ने भी हिन्दी साहित्य को दी। वे एक अश्वत्थ थे जिनकी डाल पर हजारों पक्षी आश्रय पाते रहे। वे हिन्दी कविता के सच्चे मार्गदर्शक थे। वे आधुनिक साहित्य के महावीर थे। भारतेन्दु वर्तमान हिन्दी के जनक थे तो टकसाली हिन्दी के काव्य के प्रचलन का श्रेय द्विवेदीजी को ही सम्प्राप्त है। अन्ततः उनका युग १६०० से १६२० तक ही मानना समीचीन है।

## निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में द्विवेदीयुगीन काव्य का काल १६०० से १६२० ई० तक माना जाना चाहिए, न कि १६०१ से १६२० तक, १६०३ से १६२५ तक, १८६३ से १६१८ तक। १६०० ई० सरस्वती का प्रकाशन-काल है, १६२० ई० सरस्वती से द्विवेदीजी के पृथक् होने का समय है। उनके काव्यगत प्रभावों का आलोच्य काल यही है और यही द्विवेदी युग की काल-सीमा है।

● ●

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य सन्देश, अप्रैल १६३६, द्विवेदीजी की देन—शैली, पृ० ३२०

द्वितीय अध्याय

# पूर्ववर्ती काव्य-युगों का प्रसार

द्विवेदीयुगीन काव्य का काल-निर्णय करते समय स्पष्ट किया जा चुका है कि सन् १९०० ई० से १९२० ई० तक द्विवेदीजी ने जिस दृढ़ता, क्षमता, निष्ठा, लगन और संकल्पबद्ध भाव से हिन्दी साहित्य में विशेषकर काव्य-भाषा-परिमार्जन, संस्कार, सुधार, व्याकरणगत शुद्धता वर्ण-वृत्त-छन्द-अलंकार आदि के क्षेत्र में जो क्रान्तिकारी प्रवर्तन किया, तथा साहित्यकारों को रचना करने की प्रेरणा दी और अपने सहयोगियों से साहित्य लिखवाया और काव्य की खड़ी बोली हिन्दी को जिस प्रकार सम्पुष्ट किया, उस ऋण को चुका सकने की सामर्थ्य आज किसी में नहीं है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा का संस्कार सम्पन्न किया। हिन्दी को उन्होंने युगवाणी के जो शब्दबेधी बाण सौंपे उसी से आज तक लक्ष्यभेद होता आ रहा है। खड़ी बोली के तत्कालीन और वर्तमान रूप में अन्तर हो सकता है लेकिन उसकी सुदृढ़ता के पीछे द्विवेदीजी की कर्मठता अवश्य है।

प्रथम अध्याय में दिखाया जा चुका है कि भारतेन्दु युग से ही खड़ी बोली का संगठित आन्दोलन जड़ पकड़ रहा था। ब्रजभाषा में अभिव्यक्ति के समस्त धरातलों का स्पर्श करके चलने वाले भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवि, एकाएक खड़ी बोली के दीर्घ तुकान्त और उर्दू के प्रति अधिक झुकती हुई प्रतीत होने वाली उस अभिव्यंजना शैली से मानसिक रूप से सम्पृक्त नहीं हो सकते थे। वह युग ही ऐसा था। मुसलमानी शासन की क्रूर विषमताओं और अत्याचारों से मुक्ति पानेवाला भारतीय मानस, अंग्रेजी शासन की महारानी विक्टोरिया की घोषणा (१८५८ ई०) में व्याप्त धर्मनिरपेक्षता के समक्ष, अरबी, फारसी और इनके तत्सम रूपों से गठित उर्दू से यों ही बिचकता

हो तो उसे स्वाभाविक प्रतिक्रिया ही मानना चाहिए। अस्तु. ब्रज भाषा के मधुर और मधुचर्य्या-मिश्रित रंगीन शिल्प से परिवेष्टित भाषा का आकर्षण बना रहना भी आश्चर्य की बात नहीं है। १८५० ई० से १८८५ ई० तक अथवा १८५७ ई० की क्रान्ति के समय से पैंतीस वर्षीय अटूट विकास-क्रम में भारतेन्दु-युगीन काव्य की ऐसी कनकप्रभा उजागर हुई है, कि उसके आगे का १९०० ई० तक का काल, जो वस्तुतः भारतेन्दु-मण्डल के अन्य सहयोगियों के—प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, पूर्ण, बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक आदि—द्वारा रंगों में दीप्त बना रहा और फिर जिसे १९०० ई० से 'सरस्वती' में लिखकर तथा १९०३ ई० से पूर्णतः 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथ में लेकर मार्गदर्शन करते हुए स्वयं द्विवेदीजी ने सम्भाला, आज हिन्दी काव्य के विकास के इतिहास की सुनहली सीढ़ियों के समान हिन्दी के काव्य-संसार को गगनचुम्बी मीनार पर ले जाने वाला मार्ग बन गया है। १८५७ ई० की एक क्रान्ति १८८५ ई० में, भारतेन्दु के निधन के समय संस्थापित 'इंडियन नेशनल काँग्रेस' रूपी दूसरी क्रान्ति और सरस्वती का प्रकाशन तीसरी क्रान्ति है, जिनके बीच में भारतेन्दु और महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे दो महान क्रान्तिकारी विभूतियाँ हैं, जिनका हिन्दी के विकास में अपना अविस्मरणीय कृतित्व उपलब्ध होता है।

## संक्रान्ति-युग

कुछ समीक्षकों ने १८८५ ई० से १९०० ई० के बीच के युग को संक्रान्ति-काल, या अराजकता का युग कहा है। पन्द्रह वर्ष की यह अवधि अनेक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, भाषिक या अन्यान्य विवादों से ग्रस्त है, परन्तु परिणाम की दृष्टि से इन सारे विवादों में भी एक सौन्दर्य है जो द्विवेदीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व से जगमगा उठा है। वैसे भारतेन्दु का ही प्रभाव इस विराम-युग पर भी सुस्थिर रहा। इसी के प्रवाह को मोड़ने में द्विवेदीजी ने अपनी शक्ति, प्रज्ञा और अपने आप को पूरी तरह से होम कर दया। भारतेन्दु काल की वह राष्ट्रीय चेतना, देशभक्ति, सामाजिक और आर्थिक उत्क्रान्तिजनक अभिव्यक्ति के जलधर मँडराते हुए द्विवेदीयुगीन काव्य के आकाश में नील नीरद बन गये थे। अन्तर यह था कि अब ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली की बिजलियाँ उन्हें चमक-चमक कर मार्ग सुझा रही थीं।

आवश्यक यह है कि द्विवेदीयुगीन काव्य की प्रकृति और प्रभाव जानने के पूर्व भारतेन्दुयुगीन काव्य के आचरण और साध्य-साधनपरक समस्त उपकरणों का विकास प्रवृत्तियाँ, परिस्थितियाँ, शैलीगत प्रस्थापनाएँ, और उपलब्धियाँ

आदि का एक सूक्ष्म अध्ययन होना चाहिए ताकि द्विवेदीजी की श्रमसाध्य गहराइयों तक हमारी दृष्टि जा सके।

निष्कर्ष रूप में—

१८५० ई० से १८८५ ई० तक और विशेषकर १८६८ ई० से १८८५ ई० तक का समय भारतेन्दु युग है।

१८८५ ई० से १९०० ई० या 'सरस्वती' के प्रकाशन तक का काल-खण्ड वह सन्धिकाल है, जिसमें संक्रान्ति से गुजरते हुए भारतेन्दु का प्रभाव-क्षेत्र धीरे से द्विवेदीजी के हाथों में पहुँच जाता है और एक कठिन प्रशासक, गुरु, मार्ग-दर्शक, या नेता के हाथों में पहुँची हुई वस्तु के समान परिचालित होने लगता है। यहीं से द्विवेदीजी के भाषा-संस्कार के कार्य का विशेष अध्ययन प्रारम्भ होता है।

## आधुनिकता का बोध और भारतेन्दु युग

द्विवेदी युग की वस्तुस्थिति ने भारतेन्दु युग की भावात्मक सत्ता, मनोदृष्टि, विचार, परम्पराएँ और अभिव्यक्ति हेतु भाषाविधान को तोड़ दिया था। फिर भी द्विवेदी और भारतेन्दु के मध्य कोई जोड़ की जगह अवश्य है और जहाँ जोड़ है वहीं पर वे सारी चेष्टाएं भी हैं जो अपने पूर्ववर्ती युग की प्रवृत्तियों को अपदस्थ करके स्वयं आरूढ़ होने की आतुरता में उजागर हो उठी हैं। भारतेन्दु युग स्वयं ही एकदम आधुनिकता का बोध देने वाला तद्युगीन नाम है। आधुनिक काव्य के नूतनता-विधायक प्रथम युग का वह प्रतीक है। १८६८ ई० से १८८५ ई० के बीच यह प्रवर्तन स्वयं भारतेन्दु की वैचारिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ था। भारतेन्दु के ठीक पहले रीतिकाल है और इसके पहले भक्तिकाल है, परन्तु भारतेन्दु के समय में रीतिकाल और भक्तिकाल की भावनात्मक, विचारात्मक, धार्मिक, आर्थिक और राष्ट्रीय मनोदृष्टियाँ बड़ी सीमा तक टूटती नजर आती हैं। भाषा तो वही रीतिकालीन ब्रजभाषा है। परन्तु उस पर भारतेन्दु के हस्ताक्षर परिवर्तन की आँच देते प्रतीत होते हैं। आगे चल कर ब्रजभाषा ने जब खड़ी बोली को अपने सारे अधिकार सौंपे तब भारतेन्दु के भी हस्ताक्षरों की स्याही में जो आँच कम हो गयी थी वह नये ढंग से चिनगारियाँ फेंकती दिखायी देने लगी।

## रीतिकालीन काव्य—विकास, प्रवृत्तियाँ, विशेषताएं

यह सत्य है कि संस्कृतियाँ अपनी बाह्य रूपरेखा बदलती हैं। किसी जाति की पैरों तले की भूमि और सिर का आकाश या वायुमण्डल जब तक पूरी

तरह न छीन लिया जाय तब तक संस्कृति का अन्तर्जगत् नहीं बदलता। भारतीय जीवन में ११वीं शताब्दी से विदेशी आक्रमणों के परिणामस्वरूप १७वीं शताब्दी तक वीरगाथाकाल-भक्तिकाल की धाराएँ अन्त में १७वीं शताब्दी से एक नयी दरबारी सभ्यता का रूप ले बैठीं।

रीतिकालीन काव्य उच्छृंखलता और भोगविलास की वासनामयी सामग्री के भार से दबा हुआ था। प्रेम, वासना, भोग, शृंगार, राधाकृष्ण के नाम पर अपनी स्वयं की या आश्रयदाता की अथवा दरबारियों की वासनाओं की तुष्टि करने वाली रचनाओं तक ही काव्यदृष्टि सीमित हो गयी थी। शिशिर, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ऋतुएँ और प्रकृति के सभी उपादान, इसी वासनामयी प्रवृत्ति के उद्दीपन में मात्र सहायता देते दिखायी पड़ते हैं। विरह, विप्रलम्भ, विषाद—बस यही सब कुछ धर्म की आड़ में प्रेम का संकुचित कवच पहिने खड़े थे। रीतिकाल के कवियों ने भक्तिकाल की भाषागत पद्धति और छन्द, अलंकारों का पूरा उपयोग किया था। युग-चेतना की फोटोग्राफी तो दूर, सामयिक लोकचेतना के भी अच्छे-भले स्नेपशाट्स इस रीतिकालीन काव्य में दिखायी नहीं देते। युगीन दायित्व-बोध और ऐतिहासिकता के अभाव से रोगग्रस्त यह कुंठित वासना का प्रवाह केवल स्थूल शारीरिक बाँधों में रुका पड़ा रहा और फिर धीरे-धीरे तब तक गँदला होता रहा, जब तक बाँध को खोलकर गन्दे पानी को बहाने के लिए विवश नहीं किया गया। बिहारी, भूषण, घनानन्द इस आरोप के अपवाद रूप भी हो सकते हैं। केशव, देव, पद्माकर, मतिराम आदि इस युग के वरिष्ठ कवि थे। रीतिकाव्य अभिजात्यपरक काव्य है। लोकस्पर्श और जनचेतना की उसमें कमी है।

भक्तिकाल में तो 'संतन को कहा साकरी सों काम'—एक सम्मानजनक नारा था। भक्तों ने अपने जीवन का स्वानुभूत दर्द बराबर उस अर्थ तक जाने दिया है कि जनता उसमें एक रस हो गयी। परन्तु रीतिकालीन कविता मुख्य रूप से कवियों के लिए आजीविका की साधन थी। जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब का समय रीतिकाल के ही अन्तर्गत आता है। उस समय अलंकार, रस, रीति, ध्वनि, आदि का दरबारों में प्रदर्शन-सा होता था, जो रजतखण्डों द्वारा खरीदा जाता था। मुसलमानी शासन भारतीय संस्कृति के वृत्त से दूर-दूर छिटका रहने के कारण उस काल में भी विदेशी शासन बना हुआ था और तब भूषण, लाल, सूदन आदि के मुक्ति के काव्य के अतिरिक्त अन्य कवियों की रसीली तथा रोमानी दृष्टि से राष्ट्रीय चेतना का काव्य उपेक्षित-प्राय ही रहा।

१८५७ ई० की क्रान्ति ने, अचानक ही पश्चिम से सम्पर्क प्राप्त,

और विशेष रूप से अँग्रेजों से प्रभावित देश की साहित्यिक गतिविधि को उसके पिछले विन्दु से झकझोरकर आगे की ओर ढकेल दिया। क्रान्ति में छटपटाहट थी, विखराव था, करवट थी, और थी एक अन्तर्जगत तथा बहिर्जगत की मुक्ति की माँग। भारतीयों को अपनी क्षमता का ध्यान आया। आत्मसम्मान, देश-प्रेम, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के तिरस्कार, तथा नये संशोधनों की ओर कवियों ने आग्रहपूर्वक अपने भावरथों को मोड़ा। अंग्रेजों के सम्पर्क ने जागरण की नयी चेतना का प्रसार किया। धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक और जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में एक आधुनिक जीवन-दृष्टि को स्वीकार करने की प्रवृत्ति तथा लोकजीवन की महत्वपूर्ण स्वीकृति की ईमानदार झलक दिखायी देने लगी। भारतेन्दु युग इसी लोकचेतना, जनचेतना, यथार्थ के आग्रह और साहसपूर्ण अभिव्यक्ति के परीक्षण का युग है। नये मूल्यों को साहित्य में पिरोने का युग है। महँगाई, अकाल, टैक्स, धन का विदेश जाना, बहुदेववाद, मतमतान्तरों के विवाद, जाति-पाँति, खान-पान, ऊँच-नीच के भेद, बाल-विवाह, आलस्य, वेश-भूषा, दासता, भाषा के देशी-विदेशीपन का विवाद, आदि अनेकों समस्याओं पर भारतेन्दु ने न केवल स्वयं लिखा, बल्कि अपने साथी कवियों को लिखने की प्रेरणा भी दी है। क्रान्ति के दबाव में उत्पन्न परिस्थितियों में साधारण या असाधारण, प्रच्छन्न या खुलकर, अभिधा या व्यंग्य - सभी प्रकार से अभिव्यक्ति करने की काव्य-सामर्थ्य दी।

भारतेन्दु और उनका कवि-मण्डल, अपने युग के काव्य के आकार और प्रवृत्तियों में अधिक खुला हुआ है, अधिक मुखर है, अधिक स्पष्ट तथा ईमानदार है। न उनमें हीनता थी, न ग्लानि। वे सब एक संघर्ष की खुरदुरी भूमिका में विशेष लक्ष्य की सिद्धि के लिए जी रहे थे।

## रीतिकाल की झलक

रीतिकालीन साहित्य का दृष्टिविन्दु शुद्ध सामाजिक उत्थान या कर्तव्य की उज्ज्वल सीमाएँ प्रकट करना न होकर पाण्डित्य-प्रदर्शन, कवि-कर्म और आचार्य-कर्म का एक साथ निर्वाह करना प्रतीत होता है। भक्ति, लोकजीवन, धार्मिक प्रचार या राजनीतिक सुधारों की अपेक्षा कला और शुद्ध कला की अभिव्यक्ति ही काव्य की सार्थकता बन गयी थी। शुक्लजी सं० १७०० से सं० १६०० तक के काल को रीतिकाल मानते हैं। कई विद्वान इसे अलंकरण-काल, अलंकृत-काल, कला-काल, या शृंगार-काल के नाम से पुकारते हैं। सं० १७७५ में रोगग्रस्त शाहजहाँ और फिर औरंगजेब का निरंकुश शासन, उसके नपुंसक

उत्तराधिकारी, जीर्णशीर्ण केन्द्रीय शासन के विरुद्ध जाटों, राजपूतों, मराठों, और सिक्खों की बगावत, नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण और अन्त में अंग्रेजों द्वारा शाहआलम की बक्सर की लड़ाई में पराजय, सम्राट जहाँदाराशाह का विलासी शासन और लालकुँवर वेश्या से उसका सम्बन्ध, सम्राट मुहम्मदशाह रंगीले का नाच-गान भरा दरबार, मदिरापान और वेश्या ऊधमबाई से उसका सम्बन्ध—चारों ओर वेश्याओं-हिजड़ों का महलों में शासन, देशी नरेशों के महलों में भी वेश्याओं, रक्षिताओं, नर्तकियों और हिजड़ों का जमाव, रखैलों की भरमार, परिचारिकाओं की भीड़, मद्यपान, द्यूतक्रीड़ा, यौनशास्त्र और तंत्र-मंत्र का प्रभाव, सुन्दर दासियों की माँग, बहुविवाह का जोर, ये सब-कुछ रीतिकाल के समय महलों, जागीरदारों, और अभिजात्यवर्ग के इर्द-गिर्द फैली हुई नैतिकता की झाँकी है। तब काव्य-स्थिति में इसी संकीर्ण और विलासी प्रवृत्ति के आयाम, बिना देशकालगत यथार्थ को पहचाने इतनी अधिक प्रबलता के साथ पनपे हैं तो उसमें आश्चर्य की क्या बात है।

उस युग में साधारण जनता अशिक्षित थी। धर्म के स्थान पर रूढ़ियाँ, बाह्याडम्बर, अन्धविश्वास, ज्योतिषियों की वाणी, राधा-कृष्ण की आड़ में कामुकता की अभिव्यक्ति, सूफियों और निर्गुणियों तक में रस, वासना, कामुकता, शृंगार, नखशिख-वर्णन तथा नायिका-भेद आदि का समावेश दिखायी देने लगा। कला बाजारू हो गयी। संगीत शृंगारपरक, रोमानी और चमत्कारप्रधान हो गया। साहित्य में रसिकता, रंगीनमिजाजी, और प्रशस्तिगान की प्रवृत्ति बढ़ी। फारसी के दरबारी कवि की होड़ में यह मांसलता, चांचल्य, अलंकरण की अतिशयता और स्थूल चित्रण की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। वात्स्यायन के कामसूत्रों का भी इस काल के कवियों ने खुलकर उपयोग किया। सामन्ती वातावरण में पली रीतिकालीन काव्यधारा नारी-शरीर के रूप-चित्रण का पर्याय बन गयी। लौकिक प्रेम की तीव्र, अतिरंजित और कलात्मक अभिव्यक्ति ने सामयिक जीवन को गति नहीं दी, कोई दिशा नहीं दिखायी। साँचे में ढला हुआ स्पन्दनहीन और जीवन-परमाणुओं से रिक्त यह काव्य केवल पार्थिव, इन्द्रियासक्ति तथा लौकिक, शृंगारी भावनाओं को महत्व देता है। देव का यह पद :

> "स्वेद बढ्यो तन, कम्प उरोजनि,
> आँखिनि आँसू, कपोलनि हाँसी।"

पद्माकर का कथन :

> "पैरे जहाँ ही जहाँ वह बाल
> तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिवेनी।"

या—

"छलिया छबीलो छैल छाती छ्वै चलो गयो।"

आदि उदाहरणों से तत्कालीन विचारधारा और काव्य की अवस्था का आभास हो सकता है। अलंकारों के लक्षण और उदाहरण, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमक, और अनुप्रासों का बहुल प्रयोग तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियों और अतिरंजनाओं के प्रयोग जिस तर्क के साथ हुए वह भी पठनीय हैं :

"आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानो है।"

भक्ति के बाने में सुकविताई को स्थापित करने की धारणा भी कितनी भयानक थी ! रीतिकालीन भक्ति भी शृंगार का ही प्रतिरूप थी। यह सामाजिक कवच और मानसिक शरण-भूमि दोनों का काम देती थी। राजा-रईसों, दरबारियों और रसिकजनों को सन्तुष्ट करने वाली रचना कवियों के दंगल में उतर आयी और रस के छींटों की अल्पकालिक फुहार देने वाली रचनाएँ मुक्तकों के रूप में हिन्दी साहित्य में फैल गयीं। कवित्त, सवैये, दोहे, छप्पय, बरवैं, हरिपद आदि में रचनाएँ बहुत मात्रा में हुईं। ये छन्द ब्रजभाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल थे। रीतिकाल में ब्रजभाषा की मसृणता, नागरिकता और उसकी रंगोज्ज्वल शब्दावली तथा उसका माधुर्य संगीत में पिरोया गया-सा प्रतीत होता है। ब्रजभाषा की चरम उन्नति इसी काल में हुई। "वर्णमैत्री, अनुप्रास, ध्वन्यात्मकता, शब्दगति, शब्दशोधन, अनेकार्थता, व्यंग्य आदि की विशेषता इस काव्य में प्रचुर मात्रा में मिलती है।"[१] ब्रजभाषा में इतना माधुर्य, निखार और प्रांजलता आ गयी थी कि इस पर रीझ कर बंगाली, मुसलमान और अन्य प्रान्तों के कवि भी ब्रजभाषा में लिखने लगे। अवधी, राजस्थानी, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी और अरबी-फारसी तक के शब्दों का इसमें प्रवेश हो गया। रसखान और घनानन्द की ब्रजभाषा, परिनिष्ठित ब्रजभाषा थी। बिहारी की भाषा टकसाली थी। इस युग में वीर रस का काव्य कम लिखा गया। प्रकृति का आश्रय रूप में अथवा स्वतन्त्र रूप में चित्रण भी कम हुआ। इसमें तो भाषा की चित्रात्मकता और अभिव्यंजना के सुन्दर चित्र भरे पड़े हैं। नारी के रूप-सौन्दर्य के सामने हरि, राधिका और तीर्थ भी महिमा-रहित हो गये थे :

---

१. शिवकुमार शर्मा, हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० २९५

"तजि तीरथ हरि राधिका
तन दुति करु अनुरागु।"

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन सत्य है कि "यहाँ नारी कोई व्यक्ति या समाज के संगठन की कोई इकाई नहीं है, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बन्धन से यथासम्भव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है।" देव की दृष्टि में नारी आकर्षण का केन्द्र थी :

"कौन गनै पुर वन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक को चित्त हरै कर प्रीति ॥"

इस प्रकार रीतिकालीन काव्य में उन्मादक चेष्टाओं और शारीरिक या मांसल चित्रों में बँधी-बँधाई लीक पर चलने वाली यान्त्रिकता, रूढ़िबद्धता तथा जीवन की स्फूर्तिदायिनी शक्तियों से हीन रसिकप्रधानता का ही विशेष स्थान है। रीतिकाल में बहुत छोटे-से कैनवास पर केवल नारी और उसके विलासमय अंकन की प्रचुर झाँकियाँ फैली हुई दिखायी देती हैं।

## रीतिकालीन काव्य की सामान्य विशेषताएँ

१. रीतिकालीन काव्य शृंगारप्रधान, ऐन्द्रियप्रधान और रसिकताप्रधान काव्य है।

२. प्रदर्शनप्रधान प्रवृत्ति की मुख्यता के कारण काव्य में रस के स्थान पर अलंकार प्रधान हो गये।

३. भक्ति और नीति के पद, दोहे या छन्दांश केवल पूरक हैं, विराम-सूचक हैं या पिछले प्रभाव के खण्डित स्मारक हैं। उनमें भक्ति की समर्पित भावना या नीति की प्राणस्पर्शी गन्ध नहीं है।

४. रीतिकाल प्रबन्ध-रचना के उपयुक्त युग नहीं था, इसीलिए मुक्तक काव्य-पद्धति की कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय आदि में ही अधिक रचना हुई।

५. वीर रस का काव्य लिखा तो गया, पर कम लिखा गया। राजाओं की प्रशस्तियों और छोटी-छोटी लड़ाइयों के अतिरंजित चित्रणों से कवियों का भाग्य-चक्र चमक उठता था।

६. ब्रजभाषा की अभिव्यंजना-शक्ति का परिष्कार हुआ। अन्य बोलियों का भी सम्मिश्रण इसमें हुआ। ब्रजभाषा का गद्य उतना सम्पन्न नहीं हो सका, जितना ब्रजभाषा का पद्य।

७. लक्षण-ग्रन्थों की रचना के आधार काव्यशास्त्र के संस्कृत अथवा पूर्ववर्ती

हिन्दी के ग्रन्थ हैं । काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में प्रौढ़ विवेचन नहीं है । लक्षणों को चलता कर दिया गया है और उदाहरणों को सँवारा गया है ।

८. प्रकृति के प्रति कवियों का भाव तटस्थता का अधिक पाया जाता है । प्रकृति आलम्बन रूप में या परम्पराबद्ध रूप में ही अधिक चित्रित हुई है ।

९. अभिव्यंजना शैली चमत्कारयुक्त है ।

१०. नारी भोग और वासना की कठपुतली है ।

११. जीवन-दर्शन में रूढ़िबद्धता है और चित्रण-शैली में यान्त्रिकता है, कला नहीं ।

१२. मनोरम चित्रण इस कविता का विशेष गुण है ।

१३. कवित्व और पाण्डित्य का अद्‌भुत मिश्रण इस युग की विशेषता है ।

१४. यद्यपि रीतिग्रन्थों में प्रथम ग्रन्थ कृपाराम (सं० १५९८ की 'हित-तरंगिणी' है और उसके पश्चात् मोहनलाल मिश्र का 'श्रृंगार सागर' (सं० १६१६), रहीम का 'बरवै नायिका भेद', नन्ददास कृत 'रसमंजरी', सूर का 'सूरसागर' और 'साहित्य लहरी', करनेस बन्दीजन का 'कर्णाभरण भूषण' आदि ग्रन्थ हैं, परन्तु रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य केशवदास ही हैं । भारतेन्दु के समान केशवदास ने भी काव्य-रचना का एक नवीन मार्ग उन्मुक्त किया था :

"जद्यपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त ॥"

केशव की 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' उनके पचास वर्ष पश्चात् प्रारम्भ होने वाले रीति युग के प्रथम आचार्य पद पर उन्हें स्थापित करती हैं । वे भक्ति-काल में तुलसी के समकालीन होकर भी रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य हैं । रीति-काव्य रीतिबद्ध और रीतिमुक्त धाराओं में बँटकर आगे बढ़ता रहा । राम-चरितमानस के अनन्तर बिहारी की सतसई सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई । बिहारी की इस रचना पर किसी संस्कृतज्ञ ने कहा था कि 'अक्षराः कामधेनवः' । बिहारी के दोहों के अक्षर कामधेनु हैं । बिहारी-सतसई का टीका-साहित्य भी समृद्ध है ।

जो स्थान अवधी में जायसी को प्राप्त है, वही स्थान ब्रजभाषा में रसखान, मुबारक और रसलीन को प्राप्त है । रीतिकालीन काव्य युग १७०० से १९०० संवत् तक माना गया है । इसी के बाद नवीन युग का आरम्भ होता है । भारतेन्दु के आगमन के पूर्व मँजी हुई ब्रजभाषा रीतिकाल की यान्त्रिक, रूढ़िबद्ध और विलासमयी रचनाओं को परिपाटी पर चलाती आ रही थी ।

## आधुनिक युग का प्रवर्तन

इसी समय अंग्रेजों के सम्पर्क के फलस्वरूप नया युग आरम्भ हुआ। काव्य-भाषा और काव्य-विषयों के चुनाव में महान् परिवर्तन हुआ। एक नयी जागृति पैदा हुई। नया प्रवाह इतनी तेजी से सामने आया कि रीतिकालीन काव्य की धारा को नये मोड़ ग्रहण करने पड़े। यह नये युग का उषःकाल था। जीवन के यथार्थ को स्वर देने का वह युग था। एकनिष्ठ सत्ता (Autocracy) के स्थान पर नयी लोकनिष्ठ सत्ता (Democracy) की महत्ता मान्यता पा रही थी। १८५७ ई० की क्रान्ति ने राजे-रजवाड़े उजाड़ दिये। कई आश्रयदाता स्वयं आश्रित हो गये और कविता दरबारों से बाहर आयी और जनता द्वारा प्रशंसित होने के लिए लालायित हुई। छापाखानों के खुलने, समाचारपत्रों के प्रकाशन और प्रचारात्मक साहित्य के बाज़ार में आने से कवि और जनता की दूरी सिमटती गयी। कवि जन-समाज की समस्याओं के प्रति न केवल झुका, बल्कि उन समस्याओं को स्वर देने लगा। कवियों में जनता के प्रति ईमानदारी और सच्चाई उत्पन्न हुई तथा प्रजातान्त्रिक विचारों का प्रभाव बढ़ा।

उस समय धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों की आँधी आयी हुई थी। सर बेलेन्टाइन सिरोल का मत है कि "हिन्दुओं के सामाजिक एवं धार्मिक पुनरुत्थान से ही भारत के आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ है।"[१] भारतेन्दु युग में समाज-सुधार, आर्थिक स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय चेतना, शिक्षा तथा सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को जनता की तत्कालीन परिस्थितियों, प्रभावों, रुचि के अनुकूल वाणी मिली। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इसी युग-चेतना के शलाका पुरुष हैं।

जीवन और साहित्य का वह सम्बन्ध, जो रीतिकाल में अवरुद्ध हो गया था, पुनः जागरण की इस बेला में संयोजित होने लगा। साहित्य पर इसका दूरगामी प्रभाव पड़ा। प्रेमगीतों की पुरानी परिपाटी के साथ-साथ जनभावना की भी नयी अभिव्यक्ति भी होने लगी। पाश्चात्य शिक्षा के सम्पर्क से भारत की गुलाम जनता में एक हीन भावना फैलती जा रही थी। उर्दू के राजभाषा होने के कारण अधिकांश जनता से अभिव्यक्ति का माध्यम भी दूर जा पड़ा था। प्राचीन परम्परा का काव्य रूढ़िग्रस्त धाराओं में कैद था। ऐसे समय में समय की सही परख रखनेवाले भारतेन्दु बाबू ने दृढ़ता के साथ हिन्दी के

---

१. डॉ० केसरी नारायण शुक्ल, आधुनिक काव्य धारा, पृ० २०

प्रचार और प्रसार द्वारा साहित्यिक परिवर्तन को संघटित किया। पाश्चात्यों के समक्ष भारतीय शिक्षित जन अपने को हीन मान रहे थे और ईसाई मिशनि-रियों ने मनोवैज्ञानिक ढंग से अशिक्षितों को हीन कह कर उनकी सेवा का ढोंग रचते हुए उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए विवश किया। धार्मिक दृष्टि से भी यह एक बड़े जनजागरण और आन्दोलन का युग था। ईसाई धर्म-प्रचारक 'मुक्ति का द्वार' खोलने के लिए नगरों, ग्रामों, वनों, पर्वतों और उपत्यकाओं में बसे आदिवासियों, अनुसूचित जातियों तथा दरिद्र ग्रामीणों के बीच पहुँचकर बाइबिल के हिन्दी अनुवाद बाँटने लगे। १८५० ई० के पश्चात् अनेकों धर्म-प्रचार-सभाएँ उन्होंने स्थापित कर लीं। श्री यसूख्रिस्ट चरित्र-दर्पण (१८७३ ई०), मूर्तिपूजा का वृत्तान्त (१८७६ ई०), धर्मतुला (१८८० ई०), यीशु विवरण (१८८३ ई०), आर्यत्व प्रकाश (१८८८ ई०), प्रभु यीशु की कथा (१८९२ ई०), आदि अनेक ईसाई ग्रन्थों में हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना और ईसाई धर्म के तत्व-निरूपण को श्रेष्ठ प्रतिपादित करते हुए ईसाई धर्म की ओर निम्न वर्ग को आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया। १८७४ ई० और १८८३ ई० के बीच ईसाई धर्म-प्रचारकों ने बाइबिल के न्यू और ओल्ड टेस्टामेंटों के कई अनुवाद प्रकाशित किये। प्रचार-कार्य के लिए कुछ पद्यात्मक रचनाएँ भी ईसाई धर्मावलम्बियों ने प्रस्तुत कीं। 'ख्रीष्ट चरितामृत पुस्तक' (१८७१ ई०), गीत और भजन (१८७५ ई०), प्रेम दोहावली (१८८० ई०), मसीही गीत की किताब (१८८१ ई०), भजन संग्रह (१८८६ ई०), गीत संग्रह (१८८८ ई०) आदि में गीत, भजन, गजल, पद आदि प्रस्तुत किये गये। इन गीतों में ब्रजभाषा, पूर्वी हिन्दी, खड़ी बोली और प्रचलित अरबी-फारसी के शब्दों का शिथिल और काफी अशुद्ध प्रयोग मिलता है। ईसा का कलाहीन गुणगान और ईसाइयत का निरूपण करना इनका उद्देश्य था। इनके साहित्य में स्थायी कुछ न था। उसका केवल ऐतिहासिक महत्व है। भारतेन्दु के समय तक फैले हुए इस ईसाई धर्म-प्रचार के साहित्य को भारतेन्दु के सुधारवादी दृष्टिकोण ने बड़ी सीमा तक प्रभावित होने से रोका। भारतेन्दु ने अतीत गौरव के चित्र खींचे, भारतीय जनता के आत्मसम्मान को जगाया, और राजनीतिक चेतना प्रदीप्त की। देश-भक्ति की भावना दृढ़ होने लगी। चारों दिशाओं में भावात्मक जागृति आयी। भारतेन्दु ने खड़ी बोली हिन्दी को उसका प्रकृत रूप और शैली प्रदान की। वे उसके सूत्रधार बन गये। गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली पूर्णतया स्थापित हो गयी। राजा शिव प्रसाद (१८२३-१८९५), जो सरकारी नीति से प्रभावित थे, अरबी और फारसी

शब्दों के प्रयोग पर जोर दे रहे थे। राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-१८९६) विशुद्धतावादी दृष्टिकोण के पक्षपाती थे। भारतेन्दु ने इस अवसर पर समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया और अनलंकृत, लोकप्रचलित, और सुबोध संस्कृत शब्दावली, विदेशी शब्दों का एक सीमा तक हिन्दी का अंग बनाकर प्रयोग, कहावतों और मुहावरों और तद्भव तथा देशज शब्दों का प्रयोग करते हुए हिन्दी का स्वाभाविक रूप भारतेन्दु बाबू ने प्रतिष्ठित किया। काव्य की भाषा यद्यपि ब्रजभाषा थी, परन्तु भाव-चेतना के सूत्र अपना रंग बदल रहे थे। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार ने और अंग्रेजी शासन की एकसूत्रता ने जहाँ अंग्रेजों को अपने कठोर तथा उग्र शासन की सफलता के दर्शन कराये, वहाँ हिन्दी काव्य-धारा के उत्तर से दक्षिण तक प्रचलित होने के मार्ग भी खोले। तत्कालीन समस्याओं की तीव्र चेतना का प्रसार हुआ। जनता की आर्थिक दशा का बिगड़ना और राजनीतिक असन्तोष का बढ़ना भी साथ-साथ अग्रसर हुआ। १८७७ ई० के दिल्ली दरबार में विक्टोरिया को सम्राज्ञी घोषित किया गया। भारत परतन्त्र था और इंग्लैण्ड का गुलाम था। दुर्भिक्षों द्वारा और सरकार की आर्थिक नीति के कारण जनता में रोष उत्पन्न हुआ। १८७८ ई० में लिटन ने 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' के द्वारा समाचारपत्रों की स्वाधीनता छीन ली। असन्तोष और बढ़ा। लॉर्ड रिपन (१८८०-१८८४) ने प्रेस एक्ट को रद्द किया और १८८३ ई० में इलबर्ट बिल आन्दोलन से भारतवासियों की राजनीतिक चेतना और अधिक प्रखर हुई। लॉर्ड डफरिन (१८८४-१८८८) और लैन्स डाउन (१८८८-१८९३) के शासन-काल में भी यह असन्तोष बढ़ता गया। पाश्चात्य सभ्यता, शिक्षा, विज्ञान, आदि की प्रेरणा से नवीन शक्तियों और विचारों का जन्म हुआ। १८७२ ई० से सार्वजनिक कार्यों के लिए भी करों के रूप में प्रजा से धन लिया जाने लगा। इस तरह करों का बोझ बढ़ गया। गाँवों में जमींदारों और किसानों के दो वर्ग हो गये। जमींदार अंग्रेजी शासन की आधारशिला थे, और किसान उनकी उत्पीड़ित प्रजा थे। धनी वर्ग के लोगों ने फैक्टरियाँ आरम्भ कीं। रेल और समुद्रयात्रा के सामाजिक प्रतिबन्ध शिथिल हो गये। पाश्चात्य प्रभाव, शिक्षा और विज्ञान से जो प्रगति और चेतना की लहर आयी उसे भारतेन्दु-मण्डल के कवियों ने अपनी शक्ति भर स्वीकार किया पर जो भारतीय समाज के लिए उपयुक्त न थे उनका विरोध भी किया। कविता के विषय जीवन की ओर मुड़ गये। राजभक्ति से देशभक्ति तक की कविता लिखी गयी। आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, थियोसोफिकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन आदि सभी नये धार्मिक आन्दोलन

समाज की रूढ़ियों से लड़ रहे थे। काव्य में इसकी अभिव्यक्ति भारतेन्दु-मण्डल के कवियों ने बड़े उत्साह से की। विचारों की मौलिकता इस युग की प्रधान देन है। कविता का माध्यम वही ब्रजभाषा और उसके छन्दविन्यास का ढंग ज्यों-का-त्यों रहा। प्राचीन और नवीन भावनाओं का मिश्रण तो हुआ, परन्तु पूर्ण परिवर्तन नहीं हो सका। प्राचीनता भी बनी रही और नवीनता भी आयी। संक्रान्तिकालीन परिवर्तन ही हुए। यह सामंजस्य की प्रवृत्ति राजभक्ति, देशभक्ति, और समाज-सुधार के मध्यमार्ग पर अग्रसर हुई।

## भारतेन्दु की प्रेरणा

१८५७ ई० के विद्रोह के पश्चात् ही कम्पनी का राज्य महारानी विक्टोरिया के हाथ में आ गया। कम्पनी के राज्य को जॉन ब्राइट ने 'ए हण्ड्रैड इयर्स ऑफ क्राइम' कहा था। विक्टोरिया की मीठी घोषणाओं के बाद ही जब काव्य में देशभक्ति के गीत गाये जा रहे थे, तब भारत को अकाल, महामारी, टैक्स, बेकारी, साम्राज्यवाद, धर्महानि आदि उपहार इस अंग्रेजी राज्य से भेंट में मिले थे। 'सार सुधानिधि' में सम्पादक को किसी ने पत्र में लिखा कि "टैक्स पर टैक्स, अकाल पर अकाल और मरी पर मरी यहीं देखी जाती है। नित्य नये-नये आईनों से बेधा जाता है और नित्य नयी स्पीचों से नोन छिड़का जाता है।"[१] किसानों के लिए बन्दोबस्त में लगान इतना बढ़ाचढ़ाकर लगाया गया था कि स्वयं अंग्रेजों ने इसका विरोध किया था। हन्टर ने तो गवर्नर-जनरल की सभा में कह भी दिया कि इस बढ़े हुए लगान को देने के बाद किसान भूखा रह जाता है। उस समय अकाल से लोग मर ही रहे थे। सन् १८६६ ई० में १० से २० लाख के बीच भारतीय अकाल में मरे। पी० ई० राबर्ट्स जो ब्रिटिश राज्य का प्रशंसक इतिहासज्ञ था, उसने यह संख्या दी है। हो सकता है कि मरनेवालों की संख्या इससे भी अधिक हो। 'हिन्दी प्रदीप' में दुर्भिक्ष का वर्णन इस प्रकार है :

"डफ बाज्यो भरत भिखारी को।
× × ×
बिन धन अन्न लोग सब व्याकुल
भई कठिन विपत नर नारी को।
चहुँ दिशि काल पर्‌यो भारत में
भय उपज्यो महामारी को॥"[२]

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० ३

२. वही, पृ० ५

भारतेन्दु के समक्ष ये सारी आँखोंदेखी परिस्थितियाँ थीं। जन-जागरण के लिए भारतेन्दु ने स्वयं भी ग्राम-गीत लिखे और लिखवाये तथा अपीलें कीं। उन्होंने ग्राम-समाज को अपना देश मान लिया था। ग्राम-गीत गाने वालों से गाना सुनने के लिए गुणी और पैसे वालों से अपीलें की गयीं। भारतेन्दु बाबू चाहते थे कि देश की सामयिक अर्थात् आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक समस्याएँ इन ग्राम-गीतों में कजली, ठुमरी, कहरवा, अद्धा, चैती, होली, साँझी, लंबे, लावनी, जांते के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल, इत्यादि—व्यक्त की जायें और प्रचारित हों। हर प्रान्त या देश की भाषा में वह इनका अपने-अपने क्षेत्र में प्रचार करना चाहते थे। उन्होंने वे विषय भी सुझाये थे, जिन पर ग्रामगीत रचे जायें। ये विषय थे—बालविवाह से हानि, जन्मपत्री को मिलाने की अशास्त्रता, बालकों की शिक्षा, अंग्रेजी फैशन से शराव की आदत, भ्रूण-हत्या, फूट और बैर, बहुजातित्व और बहुपत्नीत्व, जन्मभूमि, नशा, अदालत, स्वदेशी का व्यवहार, आवश्यकता, लाभ-हानि आदि। इससे भारतेन्दु का दूरद्रष्टा होना प्रकट होता है। ऐसे विशाल आन्दोलन का उनको केन्द्र मानकर ही इस युग के हिन्दी काव्य का महत्व समझना चाहिए। दरबारी संस्कारों को 'शतरंज के घोड़ों की चाल पर लिखे गये अपने छन्द' के संकेतों से वह मिटाना चाहते थे।

## भारतेन्दु और हिन्दी-उर्दू-विवाद

भाषा के क्षेत्र में भारतेन्दु को उर्दू का विरोध सहना पड़ा। शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और हाली 'शम्शुलउलमा' की टक्कर में जनता ने हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' की उपाधि से विभूषित किया। यथार्थ में भारतेन्दु को समझने के लिए हिन्दी-उर्दू के सम्बन्ध की पूरी जानकारी आवश्यक है। उर्दू इसी देश में जन्मी भाषा है और उसकी शब्दावली में अंग्रेजों के साम्प्रदायिक दबाव से १८वीं तथा १९वीं शताब्दी के अन्त में फारसी और अरबी प्रयोगों की बहुलता दिखायी देती है। छै सौ वर्ष तक तो फारसी राजभाषा थी, जिसका केन्द्र दिल्ली था। शेरशाह के समय में फारसी के साथ-साथ हिन्दी भी राजभाषा के पद पर स्वीकृत हुई थी। मुसलमानों के छै सौ वर्षों के काल में हिन्दी पर फारसी प्रभाव बढ़ता गया। हिन्दी में अरबी-फारसी से अनेकों शब्द आये। भारतेन्दु ने अपने प्रदेश की सांस्कृतिक आवश्यकताओं को समझा और उसके लिए बराबर संघर्ष किया। हिन्दी के शिष्ट रूप का विकास किया गया। १९२८ ई० में ख्वाजा हसन निजामी ने इसीलिए कुरान शरीफ का अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित कराया, ताकि उत्तर भारत के मुसलमान जो हिन्दी तो जानते थे, पर जो उर्दू

नहीं पढ़ सकते थे, इस धार्मिक ग्रन्थ को पढ़ सकें। भारतेन्दु स्वयं 'रसा' नाम से उर्दू में कविता करते थे। घर में जनपदीय बोलते हुए भी साहित्य में शिष्ट भाषा का प्रयोग करने के वे पक्षपाती थे। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के वह समर्थक नहीं थे। उनकी हिन्दी का नमूना देखिए— "पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आये। क्या उस देश में बरसात नहीं होती या सौत के फेर में पड़ गये कि इधर-उधर की सुध ही भूल गये। कहाँ तो वह प्यार की बातें, कहाँ एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना।"[1] भारतेन्दु बाबू ने राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' के प्रतिकूल और राजा लक्ष्मणसिंह के अनुकूल हिन्दी को उर्दू के प्रभाव क्षेत्र से न केवल बाहर रखा, बल्कि उसके अनुचित दबाव को दूर भी किया और जहाँ तक हो सका हिन्दी पर उसे हावी नहीं होने दिया। उन्होंने पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं, ग्रन्थ लिखे, और दूसरों से भी लिखवाये। "१८७३ ई० से हिन्दी नयी चाल में ढली।"[2] यह भारतेन्दु का कथन ही स्पष्ट करता है कि हिन्दी १८७३ ई० के आसपास नया रूप धारण कर रही थी। यह प्रभाव गद्य पर तो साफ दिखता है, पर काव्य में भी इस प्रभाव का प्रवेश भारतेन्दु की सचेष्टता से ही सम्भव हुआ। भारतेन्दु ने १८७४ ई० में 'उर्दू का स्यापा'[3] प्रकाशित किया :

> है है उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय हाय।
> मेरी प्यारी हाय हाय। मुंशी मुल्ला हाय हाय।
> वल्ला बिल्ला हाय हाय। रोयें पीटें हाय हाय।
> टांग घसीटें हाय हाय। सबछिन सोचें हाय हाय।
> डाढ़ी नोचें हाय हाय। दुनियाँ उल्टी हाय हाय।
> रोजी बिल्टी हाय हाय। सब मुखतारी हाय हाय।
> किसने मारी हाय हाय। खबरनवीसी हाय हाय।
> दांता पोसी हाय हाय। एडीटरपोशी हाय हाय।
> बात फरोशी हाय हाय। वह लस्सानी हाय हाय।
> चरब-जुबानी हाय हाय। शेख बयानी हाय हाय।
> फिर नहिं आनी हाय हाय।

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १२८

२. भारतेन्दु, काल-चक्र

३. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ६७८

यह 'स्यापा' उनके हिन्दी प्रेम का द्योतक है। कुछ आलोचक भारतेन्दु को उनके हिन्दी प्रचार और विकास के कारण हिन्दू राष्ट्रीयता का प्रतिनिधि सिद्ध करते हैं, जो सही नहीं है। सत्य यह है कि भारतेन्दु के काव्य में राष्ट्रीय और जनवादी स्वर एक साथ भारतीय संस्कृति की आवश्यकताओं के अनुरूप मुखर हुए हैं। भारतेन्दु का सबसे पहला दोहा जो उन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में लिखा था :

ले ब्यौंड़ा ठाढ़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान
बाणासुर की सेन को हनन लगे भगवान।

९ वर्ष की अवस्था में उनके द्वारा रचा गया पहला पद उनकी भाषा और उसके प्रवाह के कारण हमें चकित कर देता है :

हम तो मोल लिये या घर के।
दास दास श्रीबल्लभकुल के चाकर राधावर के।
माता श्री राधिका पिता हरि बन्धु दास गुनकर के।
हरीचंद तुम्हरे ही कहावत, नहिं विधि के, नहिं हर के ।।

विद्रोह में पले और १८५७ ई० की क्रान्ति के बागी स्वरों को अपने ढंग से साहित्य में नियोजित करने वाले भारतेन्दु बड़ी कम आयु में, ३४ वर्ष की आयु में, काँग्रेस के जन्म के समय ही चल बसे। ३५ वर्ष का यह समय हिन्दी के विकास में ऐतिहासिक महत्व का काल है। कहाँ वह १७५७ ई० की प्लासी की लड़ाई कि जहाँ से जयश्री वरण करते हुए अंग्रेज देश को गुलाम बनाते हुए आगे बढ़े और जहाँ सिराजुद्दौला के विरुद्ध मीरजाफर और हरिश्चन्द्र बाबू के पूर्वज सेठ अमीचन्द का अंग्रेजों के समर्थन में किया गया षड्यन्त्र अंग्रेजों को और खास कर क्लाइव को लाभदायक सिद्ध हुआ और कहाँ उसी वंश में उत्पन्न इतना बड़ा देशभक्त ! १७८१ ई० में काशी भी अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। पाँच वर्ष की वय में माँ की मृत्यु, १० वर्ष की आयु में पिता का देहावसान, ११ वर्ष की अवस्था में बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षा, और १० वर्ष की आयु में विवाह होने के बाद भारतेन्दु को जीवन के उतार-चढ़ाव झेलने का सीधा अवसर मिला। इतनी कम आयु में भी उनके अनुवाद, नाटक, काव्य-ग्रन्थ, इतिहास, निबन्ध, आख्यान, परिहास, लेख और अन्य ग्रन्थों की संख्या लगभग १७५ ग्रन्थों तक जाती है। वास्तव में वे युगनेता थे। उनका साहित्य उनके युग-नेतृत्व का ही प्रतिफल है। "उन्होंने हिन्दी भाषा में नयी संजीवनी शक्ति का संचार कर उसे इस योग्य बना दिया कि नह जातीय विकास की

सहायक और भारतवासियों की मातृभाषा के उपयुक्त गौरव प्राप्त करने में समर्थ हुई।"[१]

हिन्दी की श्रृंगार-परम्परा का अन्त करने वाला सबसे बड़ा कारण है पाश्चात्य सभ्यता, शिक्षा और वातावरण का प्रभाव। नवीन युग में अँग्रेजों के सम्पर्क से नयी समस्याएँ पैदा हुईं और नये समाधान का दौर चला। काव्य के विषय बदले और उसी के अनुरूप शैली में परिवर्तन हुआ। देशप्रेम, जातिप्रेम, पूर्वगौरव, और जातीय स्वाभिमान का प्रबल आन्दोलन चला। नवीन विचारों का साहित्य से मेल कराने का, और रीतिकाव्य की विलासभूमि से उसका उद्धार करने का और काव्य को नवीन या आधुनिक धारा का रूप प्रदान करने का श्रेय भारतेन्दु बाबू को ही है। मध्यम वर्ग तथा शोषित-पीड़ित सामान्य वर्ग की जनता साहित्य में झाँकने लगी। तात्कालिक परिस्थितियों का क्रमिक अध्ययन करने और तत्कालीन काव्य साहित्य की प्रवृत्तियों और उपलब्धियों के माध्यम से हम महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाल सकते हैं। भारतेन्दु स्वभाव से उन्मुक्त और मनमौजी, बुद्धि से अत्यन्त जागरूक और सूक्ष्मद्रष्टा थे। हृदय से वे अत्यन्त संवेदनशील थे। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने अपने आपको खपाकर हिन्दी का पथ प्रशस्त किया तथा हिन्दी भाषा बन्धन-मुक्त होकर स्वतन्त्र विकास करने लगी।

## भारतेन्दुयुगीन परिस्थितियाँ

(१) **राजनीतिक**—भारतेन्दु के काव्य में दरबारी वातावरण से मुक्त होकर नव-जीवन के क्षेत्रों में प्रवेश करने और जनवादी मूल्यों की स्थापना का प्रयास है। भारतेन्दु ने १८७० ई० में 'कविता वर्द्धिनी सभा' और 'पेन रीडिंग क्लब' की १८७३ ई० में स्थापना की थी। १८६७ ई० में 'कविवचन सुधा' का प्रकाशन भारतेन्दुयुगीन काव्य की गतिविधि का केन्द्र बन गया। १८७३ ई० में 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' पत्रिका निकाली, जो १८७४ ई० में 'हरिचन्द्र चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी। यह मासिक पत्र था जिसमें सभी विषयों पर लेख और कविताएँ आदि रहती थीं। यही पत्र उदयपुर से 'मोहन चन्द्रिका' के नाम से १८८० ई० में प्रकाशित होने लगा। १८८४ ई० में भारतेन्दुजी ने पुनः इसे 'नवोदित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित करना शुरू किया। इन्होंने १८७४ ई० में 'बालबोधिनी' स्त्रियों की पत्रिका भी निकाली।

---

१. श्यामसुन्दर दास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ६

१८७७ ई० में 'भारत मित्र' और 'हिन्दी प्रदीप', १८८३ ई० में 'दैनिक हिन्दुस्तान' और मासिक पत्र 'ब्राह्मण' निकलने आरम्भ हुए। साहित्य को जनता के मध्य लाने का श्रेय इन पत्रों को ही है। इन सभी पर भारतेन्दु का ही प्रभाव था।

राजनीतिक दृष्टि से हम जानते हैं कि १७५७ ई० की प्लासी की लड़ाई और १८५७ ई० की क्रान्ति के मध्य अँग्रेजी राज्य की स्थापना पूर्णरूपेण हो गयी थी। १८५७ ई० की क्रान्ति मूलत: राष्ट्रीय संग्राम था, जिसके द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा किये गये राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक अत्याचारों का विरोध किया गया था। क्रान्ति तो सफल नहीं हुई, परन्तु विक्टोरिया के घोषणापत्र (१८५८ ई०) ने एक नया छल रच दिया। भारतेन्दु तो क्या बल्कि उनके बाद के नेताओं का भी अँग्रेजों की न्यायनिष्ठा में विश्वास बना हुआ था। भारतेन्दु ने विक्टोरिया या उनके पुत्रों आदि की प्रशंसा की है। कुछ लोग इसे भारतेन्दु का दुर्बल पक्ष कह कर उनकी राष्ट्रीयता का इसे कलंक मानते हैं। सत्य तो यह है कि चाटुकारिता न होकर उस काल में घटित घटनाओं से स्पष्ट है कि यह नये राजनीतिक परिवर्तनों के प्रति हर्ष का भाव है। आर्यों की मिस्र और अफगान युद्धों में विजय, यवनों पर विजय के भाव से मण्डित है। भारतीय गौरव की द्योतक यह घटना है। २२ सितम्बर, १८८२ ई० को मिस्र-विजय के उपलक्ष्य में लिखी गयी 'विजयिनी विजय पताका या वैजयन्ती' रचना में, जो उन्होंने राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' की अध्यक्षता में बनारस में पढ़ी थी, ब्रिटिश राजभक्ति स्पष्ट दिखायी देती है :

स्वामिभक्ति किरतज्ञता दरसावन हित आज।<br>
छाड़ि प्रान देखहिं खरो आरज बंस समाज ॥[१]

मिस्र की विजय, मूलत: आर्यों द्वारा या भारतीय सेना द्वारा प्राप्त की गयी थी, इसलिए भारतेन्दु प्रसन्न थे। वह इसी कविता में कहते हैं :

क्यों आपुहि ऊँचे भये आर्य मोंछ के बार ॥

× × ×

जे आरजगन आजु लौं रहे नवाए माथ।<br>
तेहू सिर ऊँचो किये क्यों दिखात इक साथ ॥[२]

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, दोहा २४, पृ० ७९९

२. वही, दोहा २, पृ० ८००

उन्हें भारतीय गौरव का ध्यान हो आता है और वे कहते हैं :

हाय चित्तौर निलज तू भारी ।
अजहू खरो भारतहिं मँझारी ॥[१]

भारतेन्दु को झाँसी और अवध की १८५७ ई० की घटनाएँ याद थीं। इसी कविता में ५७वें दोहे में वे कहते हैं :

जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे वर ।
तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिसि लखियत खंडहर ।।[२]

अँग्रेजों की ब्यूह-रचना, सैन्य-संगठन, बारूद की ताकत, और जल-सेना की शक्ति को वे जानते थे। इस संगठित शक्ति के समक्ष भारतवासी सिर भी नहीं हिला सकते थे :

कठिन सिपाही-द्रोह-अनल जा जल-बल नासी ।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतवासी ।।[३]

अस्तु, ब्रिटिश राजेश्वरी की प्रशंसा, या ब्रिटिश विजय को भारतीय सिपाहियों की विजय के माध्यम से आर्यों की नाक ऊँची करने वाले प्रसंग के पीछे भारतेन्दु के मन में आर्यों या भारतीयों की युद्ध में विजयश्री से प्रसन्न होने की भावना का प्रकाशन ही है, कोई चाटुकारिता नहीं।

२० जनवरी १८७० को ड्यूक ऑफ एडिनबरा के स्वागत में पढ़ी गयी रचनाओं का भारतेन्दु ने 'सुमनांजलि' संकलन प्रस्तुत किया और स्वयं ही उसकी भूमिका लिखी । इन्हीं ड्यूक के लिए १८७४ ई० में 'मुख दिखावनी' कविता लिखी। १८७१ ई० में प्रिंस ऑफ वेल्स के स्वास्थ्य-लाभ की कामना-विषयक कविता लिखी गयी और १८७५ ई० में उनके भारत-आगमन पर स्वागतगान् प्रस्तुत हुआ। यह कविता बालाबोधिनी खंड ३, संख्या ६ (आषाढ़ सं० १९३३) में छपी थी। इस कविता में देशभक्ति का भी हलका पुट है :

मन मयूख हरखित भये दुरित त्रब दूरि ।
राजकुँवर नवघन सरस, भारत जीवन मूरि ।।[४]

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८०४
२. वही, भाग २, पृ० ८०५
३. वही, पृ० ८०८
४. वही , पृ० ६९८

राजभक्ति के आवेश में भारतेन्दु ने इस कविता में बड़ी ही अतिशयोक्ति से काम लिया है :

> जिमि रघुवर आये अवध जिमि रजनी लहि चंद।
> तिमि आगमन कुमार के कासी लह्यो अनंद।। (दोहा १८)
> मधुवन तजि फिर आइ हरि ब्रज निवसे मनु आज।
> ऐसो अनुपम सुख लह्यो तुम कहँ निरखि समाज।।[१] (दोहा १९)

राजभक्ति तत्कालीन राजनीति में एक स्थान रखती थी। भारतेन्दु के समक्ष मुसलमानी शासन से मुक्त होकर अँग्रेजों के धर्म-निरपेक्ष राज्य में रहना ज्यादा बेहतर था। परन्तु ऐसा नहीं है कि उन्होंने देशभक्ति को निम्नतर स्थान दिया हो। प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास और राधाकृष्णदास, ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही स्वशासन चाहते थे। सभी ने देशभक्ति की रचनाएँ लिखीं। वे अवसरवादी न थे। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने अँग्रेजों की आलोचना भी की। भारतेन्दुजी अँग्रेजों की प्रशंसा से, स्तुति और प्रार्थनाओं से भारतवर्ष के लिए कुछ पाना चाहते थे। वे एक साथ ही इधर प्रार्थना तो उधर आलोचना कर रहे थे। 'लेवी प्राण लेवी' परिहास-रचना और 'मर्सिया' आदि से खिन्न होकर अँग्रेज सरकार ने उनकी 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'बाला बोधिनी' का प्रान्तीय शिक्षा विभाग में खरीदना बन्द करा दिया। भारतेन्दुजी ने ऑनरेरी मजिस्ट्रेट के पद से भी स्तीफा दे दिया और लिखा :

> रोवहु सब मिलि कै भारत भाई।
> हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

भारतेन्दु के उत्तर काल की मनःस्थिति अधिक क्रान्तिमूलक है। भारतेन्दु विक्टोरिया की अधिक न्यायप्रिय और धर्म-निरपेक्ष भावना के बड़े भक्त थे। उनकी राजभक्ति का केन्द्र विक्टोरिया थी। परन्तु देशभक्ति का स्वर उससे भी अधिक बुलन्द था :

> मारकीन मखमल बिना, चलत कछू नहिं काम।
> परदेशी जुलहान के मानहुँ भये गुलाम।। ५८।।
> वस्त्र काँच कागज कलम चित्र खिलोने आदि।
> आवत सब परदेश सों नितहि जहाजनि लादि।। ५९।।[२]

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ६९८
२. वही, पृ० ७३५

परदेसी की बुद्धि अरु वस्तुन की करि आस।
परबस ह्वै कब लौं कहो रहिहौ तुम ह्वै दास ॥ ९३ ॥
काम खिताब किताब सौं अब नहिं सरिहै मीत।
तासौं उठहु सिताब अब छाँडि सकल भय भीत ॥ ९४ ॥
निज भाषा, निज धरम, निज मान करम ब्यौहार।
सबै बढावहु वेगि मिलि, कहत पुकार पुकार ॥ ९५ ॥[१]

वे भारतेन्दु जो अँग्रेजी राज्य का गुणगान करते समय कह गये थे कि :

परम मोक्ष पद राज पद परसन जीवन माहिं।
बृटन देवता राज सुत पद परसहु चित माहिं ॥

अब वही भारतेन्दु इस विदेशी शासन के कटु आलोचक थे। भारतीय धन के शोषण पर उन्होंने और उनके साथियों ने बड़ी खुली बातें लिखीं :

अँग्रेज राज सुख साज सबै अति भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी ॥[२]

भीतर भीतर सब रस चूसै, हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन नहिं अँग्रेज ॥

भारत कोष विनास को हिय अति ही अकुलात।[३]

× × ×

फँसि भारत जर्जर भयो, काबुल युद्ध अकाल।[४]

× × ×

जहँ तहँ नर कंकाल के लागे दीखत ढेर।
नरन पशुन के हाड़ सौं भूमि छई चहुँ फेर ॥

(स्फुट कविता—हे राम)

भारतेन्दु ने 'भारत के घोर मसान है' आदि निराशाजनक कविताएँ बाद मे लिखीं। प्रतापनारायण मिश्र की 'तृप्यन्ताम' कविता का प्रकाशन हिन्दी के व्यंग्यात्मक काव्य में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है :

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ७३८
२. वही, पृ० ८११
३. वही, पृ० ७९५
४. वही, पृ० ७९५

> महँगी और टिकस के मारे हमहिं क्षुधा पीड़ित तन छाम ।
> साग पात लों मिलै न जिय भर लेबो बृथा दूध को नाम ।।[१]

बालमुकुन्द गुप्त ने स्वदेशी आन्दोलन के विषय में अपनी एक स्फुट कविता में इस प्रकार लिखा :

> आओ एक प्रतिज्ञा करैं, एक साथ सब जीवैं मरैं ।
> अपनी चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अंग सजाओ ।।

श्रीधर पाठक ने 'ब्रेडला स्वागत' में देश-दशा का चित्रण करते हुए लिखा :

> वन्दनीय वह देश जहाँ के देसी निज अभिमानी हों ।
> बांधवता में बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हों ।।
> निंदनीय वह देश जहाँ के देसी निज अज्ञानी हों ।
> सब प्रकार परतन्त्र पराई प्रभुता के अभिमानी हों ।।

भारतेन्दु और उनके मण्डल के जो सदस्य अँग्रेजों का स्वागत करने में हर्षित होते थे वे ही उनकी शोषण और कूटनीति से ऊब गये और उनके दुर्गुणों को जनता में व्यक्त करने के लिए विवश हुए । १८८५ ई० में राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना और उसी वर्ष भारतेन्दु का निधन शायद एक के अस्त होने पर दूसरे का उदय ही था । यह एक विचित्र संयोग है ।

अँग्रेजों ने जैसे-जैसे अपना राज्य फैलाया, उसी के अनुरूप अपने ढंग की अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा, शासन आदि भी लागू किया । १८५७ ई० में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय खोले गये । १८८२ ई० में पंजाब तथा १८८७ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी । वारेन हेस्टिंग्स और जानथेन डंकन की संस्कृत और फारसी में शिक्षा देने की योजना थी । १८६८ ई० में भारत में पहली मतगणना हुई । १८६९ ई० में स्वेज नहर बनी और यूरोप के साथ भारत के व्यापार में उन्नति हुई । यन्त्रों की स्पर्धा में किसान हारे और खेती की ओर झुके । जनसंख्या बढ़ती ही गयी । गरीबी बढ़ी । १८६८-१८६९ ई० के अकाल में बीस लाख लोग मरे । १८७७ ई० में दक्षिण में अकाल पड़ा । देश भर में महामारी, अकाल, बीमारियाँ और ऊपर से टैक्स की भरमार अतिशय त्रासद वस्तु थी । 'भारत दुर्दशा' में भारतेन्दु ने उदयपुर, जयपुर, रींवा, पन्ना के अशक्त हो गये राजाओं को अँग्रेजों का गुलाम होकर गधे सरीखा बोझा ढोने वाला कहा है :

---

१. तृप्यन्ताम (बांकीपुर, पटना), पद १६

वही उदैपुर, जैपुर, रींवा, पन्ना आदिक राज ।
परबस भये न सोच सकहिं कछु करि निर्बल बे काज ।।
× × ×
इनसों कछू आस नहिं ये तो सब बिधि बुधि बल हीन ।
× × ×
बोझ लादि कैं पैर छानि कैं निज सुख करहु प्रहार ।।
जे रासभ से कछु नहिं कहिं हैं......।।

तब अँग्रेज भारतेन्दु से बहुत अप्रसन्न हो गये । देशी राजाओं की निन्दा अँग्रेज नहीं सुन सकते थे । भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवि राजभक्ति का क्षीण आवरण ओढ़कर यथार्थ में देशभक्ति का ही प्रचार कर रहे थे । खुलकर विरोध करना मौत बुलाना था, इसलिए परिस्थितिवश उन्होंने राजभक्ति के भी पद लिखे । 'भारत दुर्दशा' में यह सब स्पष्ट दिखायी देता है ।

स्कूल, कॉलिज इसलिए खोले गये कि अँग्रेजों को सस्ते और गुलामीपसन्द क्लर्क मिल जायें । ये नवशिक्षित बाबू पाश्चात्य प्रभाव में डूबे हुए थे । रेल, तार और डाक ने देश की दूरियाँ कम कर दीं । अँग्रेजों ने हमारे देश को शासन के एक सूत्र में बाँध दिया । लॉर्ड डलहौजी की लैप्स की नीति ने देशी रियासतें हड़प लीं । हमारे ही सिपाहियों से हमीं पर शासन करने का तन्त्र संचालित हुआ । नाना साहब और अजीमुल्ला ने कई राज्यों के क्रान्ति का सन्देश भेजा । पर क्रान्ति असफल हुई । भारतेन्दुकालीन साहित्य इस विषय में मौन है । बाबू बिहारीसिंह ने १८५७ ई० की क्रान्ति को 'गुबार' कहकर विक्टोरिया को आशीर्वाद दिया है :

गदर गनीम गुबार उठ्यो संतावन में सिगरे जग जानी ।
केते अनीति अनीत कियो सब हिन्द प्रजा हिय में भय मानी ।।
त्योंही बिहारी लियो कर शासन मेटि प्रजा दुख बेगि सयानी ।
जेहि ऐसो बिचार असीसैं सबै, चिरजीवौ सदा विक्टोरिया रानी ।।

प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्रेडला स्वागत' में १८५७ ई० की क्रान्ति को केवल 'सेना का बिगड़ना' कहा है :

सन सत्तावन माहिं जबहिं कछु सेना बिगरी ।
तब राजा दिसि रही सुदृढ़ ह्वै परजा सिगरी ।।

बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'हार्दिक हर्षादर्श' में इसी क्रान्ति को कुछ देशी मूर्ख सिपाहियों का 'उत्पात' मात्र कहा है :

देसी मूढ़ सिपाह कछुक लै कुटिल प्रजा संग।
कियो अमित 'उत्पात' रच्यो निज नासन को ढंग।।
बढ़्यो देस में दुःख बन गई प्रजा अति कातर।
फेर्‌यो जब तुम दयादीठ भारत के ऊपर।।

गुबार, बिगड़ी सेना, मूढ़ सिपाहियों का 'उत्पात' आदि कवियों ने १८५७ ई० की क्रान्ति का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवि, जो अँग्रेजों को मुसलमानी शासन की क्रूरताओं के सामने कम आततायी मान रहे थे और धर्म-निरपेक्ष समझ रहे थे, एकाएक उन्हें बिना अप्रसन्न किये अपने धर्म, समाज और देश के प्रति अधिक सहानुभूति धारण करने के लिए राजभक्ति आदि के प्रचार से प्रसन्न रखना चाहते थे। १८८५ ई० में काँग्रेस की स्थापना और १९०५ ई० में बंगभंग के बीच का समय नयी उथल-पुथल के विचार-मन्थन का समय है। भारतेन्दु काल में जनता को क्या मिला ? आर्थिक शोषण, महँगाई, अकाल, टैक्स, महामारी और गरीबी, बस। जमींदारों को प्रश्रय, प्राचीन उद्योग-धन्धों का समूल नाश और भारतीय संस्कृति पर क्षण-क्षण आघात—यही अँग्रेजों का प्रदेय था।

पं० सुन्दरलाल ने 'भारत में अंग्रेजी राज्य' भाग ३ में लिखा है कि मई १८२१ के ऐशियाटिक जर्नल में कारनेटीकस का कथन है कि "हमें यह तत्काल मान लेना चाहिए कि प्रत्येक युद्ध में हमारी भारत की विजय उत्तम कृत्यों की अपेक्षा एशियाई स्वभाव की दुर्बलता के कारण हुई। इसी सिद्धान्त के आधार पर हम निश्चित रूप से यह मान सकते हैं कि जब कभी भारतीय जनवर्ग का बीसवाँ भाग भी हमारे समान ही अग्रदर्शी एवं योजना-विधायक हो जायेगा, हम उसी अनुपात से पूर्ववत् महत्वहीन हो जायेंगे।" इस कथन से स्पष्ट है कि भारतीय अपनी ही दुर्बलता से हारे और सम्भले तो विदेशी सम्पर्क के कारण ही। मुसलमानी क्रूर शासन से मुक्ति दिलाने के कारण अंग्रेज इस भारतीय समाज में खप गये। इसलिए १८८५ ई० तक ब्रिटिश शासन के अधीन रहने में कोई बड़ा अपमान का अनुभव अधिकांश समाज ने और प्रबुद्ध वर्ग ने भी नहीं किया। परन्तु पाश्चात्य सम्पर्क, जन-जीवन, शासन-पद्धति, जनता के संघर्ष और देशप्रेम आदि को देख कर भारत में भी राष्ट्रीयता का देशव्यापी बीज वपन हुआ। राजा राममोहनराय, दयानन्द सरस्वती, थियोसोफिकल सोसायटी के माध्यम से कर्नल आलकाट और मैडम ब्लैवेस्की तथा ऐनी बेसेन्ट, स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेका-नन्द आदि ने इस राष्ट्रीय जागरण की मशाल को अखण्ड ज्योति में बदल

दिया। मिल्टन, बर्थ, मिल, मैकाले तथा हरबर्ट स्पेंसर के साहित्य ने भारतीयों में इस राष्ट्रीय जागरण को और अधिक उद्दीप्त किया। १८३३ ई० के एक्ट ने भारतीयों को सरकारी नौकरियों में उच्च पदों के लिए अयोग्य ठहराया था। आर्थिक शोषण और साम्राज्यवादी नीति ने राष्ट्रीयता को और उकसाया। दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फीरोजशाह मेहता, रानाडे, गोखले, मालवीय और तिलक ने अग्रणी होकर राष्ट्रीयता की बागडोर हाथ में ले ली। निश्चय ही १८५७ ई० की क्रान्ति असफल हुई थी। असंगठित क्रान्ति और अहम्मन्य स्वार्थी नेताओं के हाथों भारत का भाग्य पुनः अंग्रेजों की मुट्ठी में चला गया था। लेकिन धरती में गड़ा हुआ यह बीज फिर से चुपचाप अंकुरित हो उठा। भारतेन्दु १८७० ई० में राजभक्ति को छोड़ कर देशभक्ति के सशक्त प्रचारक हो गये थे। साहित्य में राष्ट्रीयता के स्वर तेज हो रहे थे। १८८५ ई० में इसका निकास कॉंग्रेस की स्थापना में दिखायी देने लगा। डॉ० उदयभानु सिंह ने 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' शीर्षक ग्रंथ के पृष्ठ २-३ पर लिखा है कि "सन् १८५७ ई० के विद्रोह को राष्ट्रीय उन्मेष कहना भारी भूल है। उसमें राष्ट्रीय भावना का लेश भी नहीं था। नाना साहब, लक्ष्मीबाई, अवध की बेगमें, दिल्ली के मुगल फौजी सिपाही आदि सभी अपने-अपने स्वार्थ के लिए विद्रोही हुए। यह लहर सम्पूर्ण देश में न फैल सकी। दक्षिण भारत, बंगाल और पंजाब ने तो सरकार का ही साथ दिया। राष्ट्रीय भावना के अभाव के कारण विद्रोह कुचल दिया गया।" डॉ० उदयभानु सिंह के इस मत से मैं सहमत नहीं हो पाता। यह सत्य है कि राष्ट्रीयता का यह देशव्यापी संगठित रूप जो हम आज देखते हैं, १८५७ ई० के आसपास नहीं था और न ऐसी राजनीतिक एकता ही थी परन्तु "राष्ट्रीय भावना का लेश भी नहीं था" यह कहना उचित नहीं है। राष्ट्रीयता, भारत राष्ट्र या भारत के गौरव के लिए ही तो विदेशियों से लड़ाई छिड़ी थी। लोगों में स्वार्थ था, राजाओं में मतभेद थे, परन्तु भारत की मुक्ति के विषय में वे एकमत भी थे।

भारतेन्दुकालीन राजनीतिक परिस्थितियों का आकलन करने से निम्नलिखित तथ्यों का स्पष्टीकरण हो जाता है—

(१) १८५० ई० से १९०० ई० के बीच जहाँ कविता ने दरबारी, विलासी और सामन्तीय रूप छोड़ कर जनयुग की कठोर भूमि पर पाँव रखा था, वहाँ उसे राजे-महाराजे और जमींदारों आदि के स्थानों पर विदेशी शासकों के स्तुतिगान भी दुहराने पड़ रहे थे। राजभक्ति का यह स्वर मुसलमानी

शासन की क्रूरताओं की प्रतिक्रिया के कारण शासनपरक अधिक था, परन्तु साथ-ही-साथ देशभक्ति की चेतना भी काम कर रही थी। १८५७ ई० की मशाल उनके हाथ में थी और १८८५ ई० में स्थापित राष्ट्रीय काँग्रेस की प्रेरणा भी थी।

(२) राष्ट्रप्रेम, देशभक्ति, देशी वस्तुओं के प्रति अधिकाधिक आग्रह और स्वाधीनता, स्वशासन, स्वातन्त्र्य, आदि की भावनाएँ तेजी से अपना स्थान बना रही थीं।

(३) लोकतन्त्र में आस्था बढ़ रही थी और राजतन्त्र में अनास्था पैदा हो रही थी।

(४) भक्तिकालीन तथा पौराणिक दृष्टिकोण के त्याग का एक नवीन और विवेकपूर्ण दृष्टिकोण पनपने लगा था।

(५) कृषि का स्थान उद्योग (यन्त्र, रेल, तार, डाक आदि की सुविधाओं वाली) व्यवस्था ले रही थी।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बढ़ रहा था। अंग्रेजों के सम्पर्क के कारण अब लोग विदेशों में जा रहे थे। मिस्र, अफगानिस्तान आदि के युद्धों से सेना भी विदेश होकर नये संघर्ष द्वारा ज्ञान-वर्द्धन कर रही थी। लोगों में स्वाभिमान बढ़ रहा था। सहयोग की प्रवृत्ति का विकास हो रहा था।

(७) रेल, तार, डाक, छापाखाने, छोटे-मोटे यन्त्र आदि के कारण और पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित हो रहा था।

(८) देश में समाचार पत्र, विविध संस्थाएँ, धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों के संस्थान, विश्वविद्यालय, स्कूल, कॉलेज, मिशनरी सोसाइटियाँ तथा क्लबों की स्थापना के द्वारा देश में नवजागरण का वातावरण निर्मित हुआ। साहित्य में भी नवीनता के प्रति आकर्षण बढ़ा।

(९) काव्य में ब्रजभाषा और गद्य में खड़ी बोली का विकास हो रहा था, परन्तु इसी भारतेन्दु काल की अन्तिम सीमा में खड़ी बोली का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा और गद्य तथा पद्य की भाषा को एक करने का आन्दोलन साहित्य में महत्व पाने लगा।

(१०) पूँजीवादी ब्रिटिश साम्राज्य की शोषण-नीति की प्रतिक्रिया-स्वरूप नये धार्मिक सुधार, शिक्षा-विकास, सांस्कृतिक जागरण, राजनीतिक संघटन और राष्ट्रीय जागृति में सक्रियता आने लगी। मध्यम वर्ग के उत्थान की भूमि तैयार हुई। विचारों और विश्वासों का संघर्ष इसी युग की देन है। एक ओर थे पुराणपन्थी और सामन्तवादी तथा दूसरी ओर था नवीन जागरण

से अनुप्राणित संघर्षशील शिक्षित मध्यम वर्ग । हिन्दी काव्य साहित्य के अधुनातन विकास तक इस मध्यम वर्ग की क्रिया-प्रतिक्रिया, आग्रह और सम्बद्धताओं ने बड़ी मात्रा में हाथ बँटाया ।

(११) १८००-१८५० ई० के मध्य बर्मा, अफगानिस्तान, सिक्किम, और नेपाल के युद्ध हुए तथा १८४५ ई० और १८४८ ई० में प्रथम और द्वितीय सिक्ख युद्ध हुए । पंजाब भी अंग्रेजों के अधीन हो गया । डलहौजी ने कई राज्य छीने, जमींदारियाँ जब्त कीं और १८५६ में अवध भी कब्जे में कर लिया । फलत: १८५७ ई० में विद्रोह हुआ । १ नवम्बर १८५८ में लॉर्ड कैनिंग ने विक्टोरिया का स्निग्ध घोषणापत्र पढ़कर सुनाया जिससे जनता में शासन के प्रति विश्वास का संचार हुआ । कैनिंग के बाद सर जॉन लॉरेंस (१८६४ ई०—१८६९ ई०), लॉर्ड मेयो (१८६९-१८७२ ई०), लॉर्ड नार्थब्रुक (१८७२-१८७६ ई०), लॉर्ड लिटन (१८७६-१८८० ई०) और लॉर्ड लैंसडाउन (१८८८ ई० १९०१) भारत के वायसराय हुए । १८६१ ई० और १८९९ ई० के बीच वैधानिक सुधार तथा १८७४ में इंडिया कौन्सिल एक्ट और १८९२ ई० में एक अन्य एक्ट द्वारा शासकीय सुधार किये गये । १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना हुई, जो पहले तो अनुनय विनय और राजभक्ति के आसपास अपनी कार्य-पद्धति को परिचालित करती रही, परन्तु तुरन्त ही स्वतन्त्रता, स्वशासन, चुनाव, व्यवस्थापिका सभाओं में सुधार और अन्यान्य माँगें प्रस्तुत करने लगी । पहले यह शिक्षित उच्च मध्यम वर्ग के लोगों की संस्था थी, पर बाद में बैनर्जी, नौरोजी, तैलंग, गोखले, मेहता और तिलक के कारण एकमात्र राष्ट्रीय और सर्वमान्य संस्था बन गयी । १८५७ में अंग्रेजी राज्य की भारत में स्थापना, १८५७ ई० में भारतीय स्वतन्त्रता का अंग्रेजों के विरोध में प्रथम प्रयास, १८५७ ई० में कम्पनी शासन की समाप्ति और १८५८ ई० में ब्रिटिश संसद के अन्तर्गत ब्रिटिश सम्राट के उपनिवेश (Crown colony) के रूप में भारत की स्थिति स्वीकृत हुई । ब्रिटिश सम्राट के शासन का भारत में आरम्भ हुआ । नवम्बर १८५८ को महारानी विक्टोरिया का घोषणापत्र, जिसे भारतीयों का महान अधिकार पत्र (Magna Charta) कहा जाता है, प्रकाशित हुआ, जिसमें देशी नरेशों के सम्मान और गौरव तथा अधिकारों की रक्षा तथा साथ ही भारतीय जनता में शान्ति, चारित्रिक एवं भौतिक हितों की वृद्धि, सामाजिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता, सरकारी पदों पर नियुक्ति, बिना जाति व रंग के भेद-भाव के, समान अधिकार तथा न्याय का आश्वासन आदि दिया गया था । लॉर्ड मेयो (१८६९-७२ ई०) भारत को

ब्रिटिश सरकार की जागीर समझता था। उसका कहना था कि "भारत की सरकार केवल सरकार ही नहीं है, वरन् वह एक प्रमुख जमींदार है। इंग्लैंड में एक उदार जमींदार के जो कर्त्तव्य होते हैं, वे समानरूप से भारत सरकार पर लागू होते हैं।"[१] यह मन:स्थिति यहाँ के शासकों की थी। १८६१ ई० में 'इंडियन कौन्सिल एक्ट' के द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में गैर सरकारी सदस्यों को सम्मिलित करना और उनकी संख्या बढ़ाना ढोंग था। अँग्रेज स्वेच्छाचारी थे। भारतेन्दु काल में होने वाला राष्ट्रीय आन्दोलन पुनरुत्थानवादी आन्दोलन की भूमिका भर था। "भारतीय राष्ट्रीयता", ऐनी बेसेन्ट के शब्दों में, "कोई हाल का ही पौधा नहीं है वरन् जंगल का दैत्य है जिसके पीछे हजारों वर्षों की स्मृतियाँ हैं।"[२] एक बात जान लेने योग्य है कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एक राजनीतिक आन्दोलन ही था और उस पर सांस्कृतिक क्षेत्र में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की छाप थी। ब्रिटिश शासन ने सम्पूर्ण देश को एक समान न्याय-व्यवस्था दी, सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध जन-हितकारी कानून बनाये, अछूतोद्धार, पिछड़ी जातियों का उत्थान, मानवतावादी कार्य, लोकसेवा तथा नये शिष्टाचार आदि के भाव उत्पन्न किये। १८७० ई० तक ब्रिटिश भारत में लगभग ६४४ समाचारपत्र प्रकाशित होने लगे थे, जिनमें से ४०० से अधिक देश-भाषाओं में थे। प्रेस को तब तक पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। परन्तु अँग्रेजी शासन ने कुछ ऐसे कार्य किये, जिनसे प्रतिक्रिया और असन्तोष के भाव भड़क उठे। ग्रामीण व्यवस्था और गृह उद्योगों का विनाश हुआ, शहरों में आधुनिक कल-कारखानों ने नवीन वर्ण-व्यवस्था को जन्म दिया, पूँजीपतियों और नये मजदूरों के वर्ग बने, आधुनिक बुद्धिजीवियों, वकीलों, शिक्षकों, पत्रकारों, डॉक्टरों और कारीगरों के वर्ग बने। बुद्धिजीवी वर्ग के लोग राजनीतिक आन्दोलन की धुरी बन गये। शिक्षित वर्ग उच्च पदों का भारतीयकरण करना चाहता था। यह राजनीतिक आन्दोलनों का आरम्भविन्दु था। फ्री ट्रेड की आड़ में भारतीय व्यापारी और उद्योगपतियों की भारी हानि हो रही थी। उन्होंने भी ब्रिटिश साम्राज्य की आर्थिक नीतियों का विरोध किया। गोरों का कालों के साथ बुरा व्यवहार और जातीय कटुता ने भी भारतीय राष्ट्रीयता

---

१. डॉ० बी० पी० एस० रघुवंशी, राष्ट्रीय विकास तथा भारतीय संविधान, भूमिका, पृ० ३

२. वही, पृ० ४-५

को जन्म दिया। आयरलैंड, रूस, मिस्र, फ्रांस, ईरान, चीन आदि के स्वतन्त्रता-संघर्षों ने और जापान के विकास ने इस राजनीतिक आन्दोलन को और अधिक सचेतन बना दिया। लॉर्ड लिटन की अदूरदर्शिता ने इस आन्दोलन को उग्र बनाया। १८७७ ई० का दक्षिण का अकाल, दिल्ली दरबार, अफगान आक्रमण, शस्त्र सम्बन्धी अधिनियम द्वारा भारतीयों को निश्शस्त्र करने का उपाय, देशवासियों पर शंका, अविश्वास, सन्देह का वातावरण, १८७८ ई० में केन्द्रीय व्यवस्थापिका की बैठक में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट, जिसे लोगों ने गैगिंग एक्ट (Gagging Act) का नाम दिया, बनाया और स्वतन्त्र पत्रकारिता को दबाने की कोशिश की। इससे भी राजनीतिक आन्दोलन बढ़ा। १८७६ ई० में भारतीय राजनीतिक आन्दोलन के पिता सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने शिक्षित वर्ग को राजनीतिक क्षेत्र में संगठित करने के लिए भारतीय परिषद् (Indian Association) की स्थापना की। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रथम भारतीय विद्यार्थी मि० आनन्द मोहन इस परिषद् के प्रथम मन्त्री थे। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने 'A Nation in Making' में लिखा है कि "यह संस्था एक देशव्यापी राजनीतिक आन्दोलन का केन्द्र बने" यह चाहती थी। 'इलबर्ट बिल' जातीय सम्मान का विवादास्पद बिल बन गया। रिपन (१८८०-८४ ई०) के शासन-काल में इस बिल ने सारी यूरोपीय जाति को भारतीयों के विरुद्ध उकसाया और स्वाभिमानी भारतीयों को संगठित होने की फलतः प्रेरणा दी। देशभक्ति की यह महान पुकार थी। अँग्रेज अपराधियों के मुकदमे भारतीय न्यायाधीश नहीं सुन सकते थे। बिल के विवाद को लेकर २८ से ३० दिसम्बर १८८३ ई० को कलकत्ते के इलबर्ट हॉल में भारतीय परिषद् द्वारा एक राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया। १८८५ ई० में कलकत्ते में दूसरा राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित हुआ और इस सफल सम्मेलन में भारतीय सम्मान से सम्बन्धित प्रस्ताव और माँगें रखी गयीं। ए० ओ० ह्यूम ने दादाभाई नौरोजी, दीवान बहादुर रघुनाथराव, उमेशचन्द्र बैनर्जी और लॉर्ड डफरिन आदि से परामर्श किया और १८८४ ई० में 'इण्डियन नेशनल यूनियन' नामक संस्था का निर्माण किया। अगले वर्ष उसे यूनियन के स्थान पर काँग्रेस नाम दिया गया और उसका पहला अधिवेशन दिसम्बर १८८५ ई० में बम्बई में हुआ। पहले पहल तो अँग्रेजी साम्राज्य को भारतीय शिक्षितों के विद्रोह के खतरे से रक्षित करने के लिए अँग्रेजों को अपनी नीति बदलने के लिए विवश करना था। देश में बढ़ती हुई विद्रोह की परिस्थिति को बदलना आवश्यक था। ह्यूम का विश्वास था कि षड्यन्त्रकारी गुप्त संगठनों के असन्तोष के विरुद्ध

काँग्रेस प्रतिरक्षात्मक संस्था सिद्ध होगी। ऐसा हुआ भी। मिस्टर ह्यूम ने लिखा था कि "जिन्होंने काँग्रेस की स्थापना की, उनके सामने और कोई रास्ता ही नहीं बचा था। पश्चिमी विचारों, शिक्षा, आविष्कारों का सम्पर्क देश में तेजी से राजनीतिक चेतना को बढ़ा रहा था। काँग्रेस ने देश की असन्तोष भावनाओं को गुप्त रूप से संगठित होने के लिए छोड़ देने की अपेक्षा उन्हें वैधानिक रूप से बढ़ने का रास्ता दिया। काँग्रेस तो देश की प्रथम असन्तोष की शक्ति की एक रक्षा नली की व्यवस्था (Safety valve) के समान थी।"[१] काँग्रेस को प्रारम्भ में शासकवर्ग का आशीर्वाद और सहायता प्राप्त थी। तब काँग्रेस के नेता ब्रिटिश राज्य के प्रति श्रद्धा रखते थे। मि० ह्यूम और बैडरवर्न जैसे अँग्रेज नेताओं ने इस कार्य में बड़ा सहयोग दिया। अहिंसात्मक और वैधानिक आन्दोलन की ओर ही देश को मोड़ा गया।

भारतेन्दु के समय में राजनीतिक आन्दोलन की यही स्थिति थी। इस दिशा में भारतेन्दु ने अपने काव्य, नाटक, निबन्ध, पत्र आदि के द्वारा समूचे उत्तर भारत के शिक्षित समुदाय पर अपना प्रभाव डाला था। उनकी राजभक्ति सकारण थी, आकस्मिक नहीं, जो देशभक्ति के तीव्र प्रवाह में रूपान्तरित हुई।

(१२) भारतेन्दु काल में भारत अँग्रेजों का उपनिवेश बना। सामन्तों के संरक्षण और प्रजा के शोषण तथा चाय, कोयला, जूट और नील के व्यवसाय में विशाल विदेशी पूँजी लग जाने से देश का धन अपहृत होने लगा। "१८५१-१९०० ई० के बीच ३४ बार अकाल पड़े, जिसमें दो करोड़ व्यक्ति मर गये।"[२] धन की कमी, गरीबी और बढ़ती हुई आबादी तथा अँग्रेजों की ध्वंस-लीला के कारण लूट का साम्राज्य विकसित होने लगा।

(१३) जहाँ भाषा के क्षेत्र में अँग्रेजों ने साम्राज्यवादी राजनीतिक एकता बढ़ायी, वहाँ पर अँग्रेजों ने जमीन के अधिकार पंचायत के स्थान पर व्यक्तियों को दे दिये।

(१४) जो ईसाई बनकर बड़े पदों पर आये उनके माध्यम से 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति कार्यान्वित होने लगी। वर्गवाद, साम्प्रदायिक विवाद, अविश्वास और असन्तोष बढ़ा। १८८४ ई० में भारतेन्दु ने 'नये जमाने की मुकरी' में यह व्यंग्य किया है :

---

१. डॉ० बी० पी० एस० रघुवंशी एवं डॉ० लालबहादुर, भारतीय संविधान तथा राष्ट्रीय विकास, पृ० २६

२. डॉ० शम्भूनाथसिंह, हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका, पृ० १६०

भीतर भीतर सब रस चूसै ।
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै ॥
जाहिर बातन में अति तेज ।
क्यों सखि साजन ? नहिं, अँग्रेज ॥

अँग्रेजों के आतंक पर उन्होंने लिखा है कि :

"कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जल बल नासी ।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतवासी ॥"

अँग्रेजों के विरुद्ध पहली हड़ताल सम्भवत: काशी में हुई थी । "सन् १८४२ ई० में ही काशी के लोगों ने अँग्रेजी पसेरियाँ चालू करने के खिलाफ हड़ताल की थी और तीन दिन तक बाज़ार बन्द रहा था ।"[1]

तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु काल में राजनीतिक स्थिति राजभक्ति से देशभक्ति के प्रत्यक्ष दर्पण में प्रतिबिम्बित होने लगी थी । भारतेन्दु की राजभक्ति एक कवच के समान थी, जिसमें केवल देशभक्ति की ही भावना प्रबल थी । उन्होंने रिपनाष्टक लिखा और लॉर्ड रिपन (१८८०-१८८४) का गुणगान किया । 'मुद्राराक्षस' के अन्त में महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा में यह सवैया है :

पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीओ सदा विक्टोरिया रानी ।
सूरज चंद प्रकाश करैं जब लौं रहै सातहू सिंधु मैं पानी ।
राज करौ सुख सों तब लौं निज पुत्र औ पौत्र समेत सयानी ।
पालौ प्रजाजन कों सुख सों जग कीरति-गान करैं गुन जानी ॥

इसी प्रकार 'मोम रोम रूस फूस है' समस्यापूर्ति में विक्टोरिया के प्रति उनकी अभ्यर्थना से राजभक्ति प्रकट हुई है :

प्रबल प्रताप भारतेश्वरी तिहारैं क्रोध ।
ज्वाल काल आगे रोम मोम रूस फूस है ॥

देशभक्ति के प्रचार, प्रसार और देश में जागरण पैदा करने के लिए भारतेन्दु ने यह सब किया था । 'मुँह दिखावनी' (१८७४ ई०), 'राजकुमार शुभागमन' (१८७५ ई०), 'भारत भिक्षा' (१८७५ ई०), 'प्रबोधिनी' (१८७४ ई०) आदि रचनाओं में राजभक्ति का ही स्वर प्रबल है । परन्तु वे १८८० ई० से इस वरदानस्वरूप अँग्रेजी राज्य के विरुद्ध लिखने लगे थे । 'भारत दुर्दशा'

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० २२
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, सम्पादक ब्रजरत्नदास, पृ० ८६४/३

का प्रकाशन १८८० ई० में हुआ। यहीं से भारतेन्दु की राष्ट्रीयता का ओज प्रकट रूप में सामने आया। उन्होंने इस हेतु कुछ कजलियाँ और होलियाँ भी लिखीं। उनमें अतीत के प्रति मोह, हिन्दुओं के धर्म-कर्म-बल-राज्य के नाश पर क्षोभ और ग्लानि थी। हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा है :

फूट बैर को दूर करि बाँधि कमर मजबूत।
भारत माता के बनो भ्राता पूत सपूत ॥

(२) **सामाजिक परिस्थिति**—भारतेन्दुयुगीन सामाजिक परिस्थितियाँ, शिक्षा और संस्कृति की पश्चिमी चपेट से तथा आर्थिक दुर्दशा से प्रभावित होकर नया क्रान्तिकारी स्वरूप ग्रहण कर रही थीं। भारतेन्दु और उनके साथियों का ध्यान समाज की कुरीतियों और आचार-विचारों में व्याप्त रूढ़ियों की ओर गया। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, रानाडे आदि समाज-सुधारकों के समान भारतेन्दु ने भी समाज की दयनीय दशा पर बड़े कटु व्यंग्य किये, आँसू बहाये और सुधार की प्रेरणा दी। १८७३ ई० में 'तदीय समाज' की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य था शुद्ध प्रेम का प्रचार और हिंसा का नाश। इस समाज का 'प्रतिज्ञापत्र' भी उन्हीं ने बनाया। भारतेन्दु वैष्णव मतावलम्बी थे। आर्यसमाज और ब्रह्म-समाज के प्रहारों से वैष्णव धर्म क्षत-विक्षत हो रहा था। वे इससे दुखी थे। भारतेन्दु ग्रन्थावली के पृ० ४०५ पर 'मधुमुकुल' में 'होली' के अन्तर्गत भारतेन्दु की इस तड़प में नवीनता दिखायी देती है :

भारत में मची है होरी।
तब स्वाधीनपनो धन-बुधि बल फगुआ माँहि लयो री ॥

× × ×

कहाँ गये छत्री किन उनके पुरुषारथहिं हरो री ॥

× × ×

कित गयो धन-बल राज-पाट सब कोरो नाम बचो री।

× × ×

फूक्यो सब कुछु भारत नै कछु हाथ न हाय रह्यौ री ॥[१]

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ४०५, ४०६, ४०७

जो भारत जग में रह्यो सब सों उत्तम देस।
ताही भारत में रह्यो अब नहिं सुख को लेस ॥[१]

× × ×

"भोज मरे अरु विक्रम हू किनको अब रोइ कै काव्य सुनाइये।
भाषा भई उर्दू जग को अब तो उन ग्रन्थन बोर डुबाइये।
राजा भये सब स्वारथ पीन अमीर हूँ दीन किन्हैं दरसाइये।
नाहक देनी समस्या अबै यह "ग्रीषम प्यारे हिमन्त बनाइये ॥"[२]

'भारत दुर्दशा' में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का स्पष्ट चित्रण मिलता है :

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाये।
शैव शकत वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाये।
जाति अनेकन करी, नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायो।
जन्म पत्र बिधि मिले व्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में व्याहि प्रीति बल नास कियो सब।
करि कुलीन के बहुत व्याह बल बीरज मार्‌यो।
विधवा व्याह निषेध किये बिभिचार प्रचार्‌यो।
रोकि विलायत गमन, कूप मंडूक बनायो।
औरन को ससर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।

× × ×

अपरस सोला छूत रचि भोजन प्रीति छुड़ाय।
किये तीन तेरह सबै, चौका चौका लाय।

'सत्य हरिश्चन्द्र' के भरतवाक्य में तत्कालीन समाज की झाँकी इस प्रकार अंकित है :

अपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै।
बुधि तजहिं मत्सर, नारिनर सम होंहि, सब जग सुख लहै।

स्पष्ट है कि वे नर-नारी की समता और स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती थे। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में वे व्यंग्य करते हैं :

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८०२
२. वही, पृ० ८६६

यहि असार संसार में चार वस्तु हैं सार।
जूआ मदिरा मांस अरु नारी संग बिहार॥

भारतेन्दु ने 'गो-वध-निषेध' आन्दोलन चलाया, गोरक्षिणी सभाओं की नगर-नगर में स्थापनाएँ कीं, गोशालाएँ खोलने की प्रेरणा दी, और केवल देशी पदार्थों का ही व्यवसाय करने पर जोर दिया। ज्ञान और नवजागरण के लिए अँग्रेजी शिक्षा पर बल, मन्दिरों और मठों के भ्रष्टाचार का भण्डाफोड़ और रूढ़ियों को खत्म करने के लिए पूरा प्रयत्न किया। 'अँग्रेज स्तोत्र' और 'जैन कुतूहल' उनकी प्रगतिशीलता के परिचायक हैं। अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों और साधारण जनता में वैषम्य की बड़ी चौड़ी खाई थी। सामाजिक अराजकता पूरे जोर पर थी। घरेलू जीवन और बाहरी आचार-विचारों में बड़ा अन्तर था। बहुत पढ़े-लिखे लोग समाज में रच-बस नहीं पा रहे थे। ईसाई धर्म-प्रचार ने भी समाज-सुधार के लिए हिन्दू-मुसलमान दोनों को विवश किया। प्रेस के प्रचार ने समाज-सुधार का बड़ा काम किया। समाज-सुधार सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ उस काल में निकलीं। अँग्रेजी शिक्षा ने मध्यमवर्ग-नौकरीपेशा लोगों को जन्म दिया। वकील, डॉक्टर, अध्यापक, सरकारी नौकर, छोटे व्यापारी आदि नवीन शिक्षा और नवजागरण से अधिक प्रभावित थे। यह वर्ग सामाजिक विषयों में नये सुधारों एवं रिआयतों की माँग करता था और 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' जैसे राष्ट्रीय नारों की ओर आकर्षित था। भारतेन्दु ने 'प्रबोधिनी' में भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण किया है :

आलस कायरपनो निरुद्यमता अब छाई।
रही मूढ़ता बैर परस्पर कलह लराई॥ २१॥
पशु-समान सब अन्न खात पीअत गंगाजल।
धन विदेश चलि जात तऊ जिअ होत न चंचल॥ २२॥[१]

मई १८७९ ई० को 'कवि-वचन-सुधा' में भारतेन्दु ने एक विज्ञापन 'जातीय संगीत' शीर्षक छपवाया था और उसमें ग्राम-गीतों द्वारा सामाजिक संस्कारों के सुधार का उपाय बताया था। ग्राम-गीतों के संग्रह, नवलेखन, प्रचार और प्रसार की चर्चा की। उन्होंने धनिकों को सलाह दी कि पैसे देकर वे इस जातीय संगीत को सुनें। यह उनकी इच्छा थी कि लोकभाषाओं में ग्राम-गीत लिखे जायें। इन ग्राम-गीतों के विषय भी उन्होंने सुझा दिये थे, यथा—बाल-

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ६८४

विवाह, अंग्रेजी फैशन, भ्रूण-हत्या और शिशु-हत्या, फूट और बैर, आलस्य, नशा, अदालत, विदेशी वस्तु के व्यवहार, शिक्षा, स्वधर्म चिन्तन, राष्ट्रीयता, मैत्री, एकता, आर्य-गौरव, जन्मभूमि, सन्तोष, व्यापार की उन्नति, आदि अनेकों विषय उन्होंने सुझाये। भारतेन्दु की इस लम्बी विज्ञप्ति में भारतेन्दु युग की सामाजिक परिस्थितियाँ प्रकट हो जाती हैं। सरस गीतों के प्रचार द्वारा वे अशिक्षित जनता में सामाजिक क्रान्ति करना चाहते थे और देशप्रेम, तथा स्वदेशी आन्दोलन चलाना चाहते थे। जन-साहित्य की माँग भारतेन्दु ने १८७६ ई० में उठायी थी। भारतेन्दु की प्रगतिशील प्रवृत्ति और समाज-सुधार की भावना का यह प्रमाण है।

भारतेन्दु-मण्डल के अन्य कवियों ने भी इस विषय पर लिखा है। भारतेन्दु ने अपने घर पर ही कन्या पाठशाला खोली थी और १८७४ ई० में 'बाला-बोधिनी' पत्रिका निकाली थी। प्रेमघन ने १८८५ ई० में भारतेन्दु के 'उर्दू स्यापा' के ढंग पर 'टिकस' का स्यापा लिखा था :

"रोओ सब मुँह बाय बाय
हय हय टिक्कस हाय हाय
रोज कचहरी धाय धाय
अमलन के ढिग जाय जाय॥"[१]
× × ×
प्रजा मेमना सी चिल्लाय
बनै रोव नहिं आवै गाय॥[२]

प्रेमघन ने कुछ सामाजिक कजलियाँ लिखीं और समाज की बुराइयाँ प्रदर्शित कीं :

सोहै न तोके पतलून सांवर गोरवा।
कोट, बूट, जाकेट कमीच क्यों पहिनि बने बैबून सांवर गोरवा।
काली सूरत पर काला कपड़ा देत किस रंगदून सांवर गोरवा॥[३]

बाल-विवाह, अनमेल विवाह, बाला-वृद्ध विवाह आदि विषयों पर 'प्रेमघन सर्वस्व' में पृ० ५४४ से ५४८ तक इन सामाजिक बुराइयों का बड़ी रोचक भाषा में वर्णन हुआ है। 'ब्राह्मणों को चेतावनी' में वे कहते हैं :

---

१. प्रेमघन सर्वस्व, स० प्रभाकरेश्वर प्रसाद, पृ० १८३
२. वही, पृ० १८६
३. वही, पृ० ५४२, ५४३

निज करतव्य धर्म तजि घूमत स्वारथ लोलुप धाय ।
धक्का खात घरहिं घर माँगत भीख तऊ मुँह बाय ॥

'छत्रिय-क्रन्दन' में वे कहते हैं :

काहे रोवत हो छत्रीगण अपने करतब के फल पाय ॥

राधाकृष्ण गोस्वामी ने भी शासन की कटु आलोचना की और देश की दुर्दशा का चित्रण किया । एक लावनी में भारतीय संस्कृति के डूबने का संकेत द्रष्टव्य है :

उड़ गये वेद के वादवान अति भारे ।
ऋषिगन रस्सा नहिं रहे खैंचनेहारे ॥[1]

सुधाकर द्विवेदी ने 'भारत-दुर्दशा' पर इस प्रकार लिखा :

बाप चबाई एक मत, बेटा सहस करोर ।
भारत को गारत किये, मतवाले बरजोर ॥[2]

भारतेन्दु-मण्डल के सभी कवियों ने भारतीय समाज की तत्कालीन अवस्था का चित्रण किया है । राजभक्ति, देशभक्ति, अतीत का गौरवगान, देश-दुर्दशा, और समाज के वे दुर्गुण, जिन्हें अंग्रेजी शिक्षा ने उजागर कर दिया था, सभी के काव्य में अपने-अपने ढंग से व्यक्त हुए हैं । ब्रजभाषा वही थी, पर उसका रंग-ढंग अब नया था ।

(३) **धार्मिक आन्दोलन :** देश में अंग्रेजी शिक्षा, ईसाई-मिशनरियों द्वारा धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन की तेज आँधी ने हिन्दुओं में अपने धर्म में सुधार तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों की ओर रुचि पैदा की । समाज-सुधार की माँग ने भी धार्मिक आन्दोलनों को महत्व दिया ।

(१) ब्राह्म समाज : राजा राममोहन राय ने सन् १८२८ में 'ब्राह्म समाज' की स्थापना की । ईसाइयों के धर्म-प्रचार और अत्याचार से गरीब जनता धर्म विमुख हो रही थी । सती-प्रथा से समाज को और खासकर नारी जाति को छुटकारा दिलाना था । राजा राममोहन राय (१७७४-१८३३) ने इन्हीं ईसाइयों के प्रतिकार के लिए १८२८ ई० में ब्राह्म समाज की स्थापना की । यह एक धर्मसंघ

---

१. किशोरीलाल गुप्त, भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० ४२२
२. वही, पृ० ४२६

था। बंगाली नवयुवकों में इसका तेजी से प्रचार हुआ और धार्मिक आडम्बरों से मुक्ति मिली। केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर और रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसी ब्राह्म समाज के पक्षधर थे। जातिभेद, अस्पृश्यता, बहु-विवाह, सती-प्रथा, मूर्तिपूजन, पशुबलि और अनेक कर्मकाण्डों का ब्राह्मसमाज ने विरोध किया। सुधार और नवचेतना के सन्देशवाहक ब्राह्मसमाजी एकेश्वरवादी थे और भूतदया अथवा परोपकार करना उनका उद्देश्य था। ईश्वर के अवतार पर उनका विश्वास नहीं था। आध्यात्मिक विधि से ईश्वरोपासना के वे पक्षपाती थे। वे मन्दिर-मठ, वैराग्य, त्याग या तपस्या की आवश्यकता नहीं मानते थे। सभी वर्गों और जातियों को समान रूप से ईश्वर की आराधना का वे अधिकारी मानते थे। ईश्वर-ज्ञान के स्रोत रूप में वे प्रकृति और अन्तश्चेतना को ही महत्त्व देते थे। राजा राममोहन राय समाज-सुधार की इस नवचेतना के उपदेश देते-देते ईसाई धर्म की ओर झुकते चले गये। केशवचन्द्र सेन भी ईसाइयत से अधिक प्रभावित हो गये थे। ब्राह्म समाज बंगाल के बाहर अपना स्थान नहीं बना पाया।

(२) प्रार्थना समाज : न्यायमूर्ति रानाडे और डॉ० भण्डारकर ने १८६७ ई० में बम्बई में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की। रानाडे अवतार को ईश्वर नहीं, बल्कि पूज्य विभूति मानते थे। महाराष्ट्र की नव्ययुग-चेतना पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा।

(३) आर्यसमाज : स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४ ई०-१८८३ ई०) ने बम्बई में १८५७ ई० में, और पंजाब में १८७७ ई० में आर्यसमाज की स्थापना की। पूरे उत्तर भारत में, इस युग में सर्वाधिक सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में व्यापक चेतना और पुनर्जागरण का कार्य आर्यसमाज ने ही किया। तब उनका नारा था 'वेद की ओर लौटो'। मूर्तिपूजा, जातिभेद, छुआछूत, बालविवाह, परदा और पशुबलि की रूढ़ियों का विरोध करके एक नवीन धार्मिक सुधारवादी राष्ट्रीय भावना का उन्होंने प्रचार किया। पण्डित नेहरू ने लिखा है कि "आर्यसमाज इस्लाम और ईसाई धर्म के विशेषत: इस्लाम के हिन्दुत्व पर हुए प्रभाव की प्रतिक्रियात्मक शक्ति थी।"[१] हिन्दू और हिन्दी-विषयक लक्ष्य आर्यसमाज की उन्नति के कारण थे। 'शुद्धि आन्दोलन' ने भी जोर पकड़ा। शिक्षा-पद्धति में सुधार हुआ। जातीयता की भावना का उन्मूलन, स्वराज्य, स्वदेशभक्ति आदि की प्रेरणा, गुरुकुलों की स्थापना आदि के माध्यम

---

१. डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० ८ से उद्धृत

से आर्यसमाज ने समाज का पुनरुद्धार, पुराणवाद का विरोध और वेदवाद का समर्थन किया। भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन काव्य पर आर्यसमाज की छाप अमिट है। धार्मिक संस्कार और सामाजिक सुधार के कार्यक्रमों के साथ-साथ आर्यसमाज ने भारतीय समाज को प्रगतिशील भी बना दिया।

(४) रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द और वेदान्त : रामकृष्ण परमहंस (१८३४ ई०-१८८६ ई०) स्वामी दयानन्द के समकालीन थे और विवेकानन्द के गुरु थे। रामकृष्ण ने अपनी विशाल उदारभावना के कारण हिन्दू धर्मों के समन्वय की बात कही थीं। विवेकानन्द (१८६३ ई० से १९०२ ई०) ने नये रूप में वेदान्त दर्शन की देश और विदेश में प्रतिष्ठा की। अद्वैत दर्शन की व्यावहारिकता को उन्होंने स्पष्ट किया तथा समग्र मानवता को आत्मवत् देखने का सन्देश दिया। रामकृष्ण मिशन का संगठन किया गया, जिसने मानवसेवा का कार्यक्रम अपनाया और धर्म के सच्चे स्वरूप को लोक-व्यवहार में उपन्यस्त किया। रवीन्द्र, पन्त, निराला आदि हिन्दी के और बंगाली तथा अन्य भाषाओं के कवियों पर विवेकानन्द तथा परमहंस का प्रभूत प्रभाव पड़ा। धर्म के आधार पर मानवीयता और राष्ट्रीयता की नींव रखने में विवेकानन्द का बड़ा हाथ है।

(५) थियोसोफिकल सोसाइटी : स्वामी दयानन्द सरस्वती के निमन्त्रण पर १८७६ ई० में थियोसोफिकल सोसाइटी, जिसकी स्थापना १७ नवम्बर, १८७५ को अमरीका में हुई थी, के दो संस्थापक मैडम ब्लैवेटस्की और कर्नल अल्काट भारत में आये। विश्व के समस्त धर्मों में एकता, संसार और मानव जाति का विकास, सभस्त धर्म ईश्वरीय योजना के आधार पर स्थित हैं और उनमें परस्पर विरोध नहीं हो सकता, विश्वव्यापी मातृभाव, आदि बातों की ओर इस संस्था ने ध्यान दिलाया। हिन्दू धर्म को अन्य धर्मों से श्रेष्ठ कहा गया। १८६३ ई० में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट भारत में आयीं। मद्रास के अड्यार स्थान पर सन् १८८२ ई० में उन्होंने थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की। सारे धर्मों के प्रति विश्वबन्धुत्व की भावना और भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा का भाव प्रकट करते हुए उन्होंने अपने को पूर्व जन्म की हिन्दू माता तथा हिन्दू धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताते हुए देश की राष्ट्रीय जागृति में हाथ बँटाया। ऐनी बेसेन्ट संस्कृत-साहित्य से बहुत प्रभावित थीं। काशी में उन्होंने एक सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज खोला था। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने ऐनी बेसेन्ट के विचारों से प्रभावित होकर एक कविता लिखी थी :

परमेश्वर की भक्ति है, मुख्य मनुज का धर्म।
राजभक्ति भी चाहिये, सच्ची सहित सुकर्म ।।
सच्ची सहित सुकर्म, देश की भक्ति चाहिये ।।

इस कविता में परमेश्वर की भक्ति, राजभक्ति और देशभक्ति का क्रम ऐनी बेसेन्ट के 'फार गॉड क्राउन एन्ड कन्ट्री' वाले सिद्धान्त के आधार पर निरूपित हुआ है।

(६) जातीय गौरव सम्पादकीय सभा : बंगाल के मेदनीपुर में १८६१ ई० में इस संस्था की स्थापना हुई। पाँच-छह वर्षों में वह हिन्दू मेला के रूप में बदल गयी। १८६६ में प्रथम मेला लगा। १८७७ में गुरुदेव टैगोर भी इसमें सम्मिलित हुए। इसमें हिन्दी या बंगाली बोलने पर बल दिया जाता था और स्वदेशी वस्तु के उपयोग का प्रचार किया जाता था। इस सभा के सदस्य ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशन के विरोध में प्रचार करते रहते थे।

(७) सनातन धर्म रक्षिणी सभा : सन् १८७३ ई० में कलकत्ते में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए 'सनातन धर्म रक्षिणी सभा' की स्थापना हुई। पं० श्रद्धाराम ने सनातन धर्म का पक्ष लेकर पुराणों के आधार पर हिन्दू धर्म के महत्त्व का प्रतिपादन 'सत्यामृत प्रवाह' में किया है। भारतेन्दु तो सनातनी विचार के थे ही। 'ईश्वर का वर्तमान होना', 'हम मूर्तिपूजक हैं', 'ईसू ख्रीष्ट ईश कृष्ण' आदि उनके निबन्धों में उनकी धर्म सम्बन्धी विचारधारा देखने को मिलती है।

इन सभी आन्दोलनों से धार्मिक सुधार तो हुआ ही परन्तु सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में भी नवनिर्माण और सुधार के बीज बो दिये गये। इन्हीं सब सुधारों के आधार पर काँग्रेस का पथ प्रशस्त होता रहा। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज तथा समाज-सुधार की अन्य संस्थाओं की प्रेरणा से धार्मिक उदारता, अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता तथा ऐक्य की भावना बढ़ी। स्वयं भारतेन्दु ने लिखा :

"पियारो पैये केवल प्रेम में
नाहिं ज्ञान में, नाहिं ध्यान में, नाहिं करम कुल नेम में।"[१]

जैन मन्दिर जाने के कारण जब भारतेन्दु की आलोचना हुई, तब उन्होंने उपर्युक्त पद लिखा और साथ ही कई स्तुतिपरक पद भी जैन अवतारों के विषय में लिखे :

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० १३६

जय जय जयति ऋषभ भगवान ।
हरिचन्द कोउ भेद न पायो कियो यथारुचि गान ।।२ ।।[१]

× × ×

बात कोउ मूरख की यह मानो ।
हाथी मारै तौहू नाहीं जिन मंदिर में जानो ।। ५ ।।[२]

× × ×

नहिं ईश्वरता अटकी वेद में ।। ६ ।।[३]
जैन को नास्तिक भाखै कौन ? ।। ७ ।।[४]

और एक बड़ा सशक्त पद लिखा :

खंडन जग में काको कीजै ।
सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै ।। ८ ।।[५]

भारतेन्दु-मण्डल के सभी कवियों पर धर्म का प्रभाव अपने सात्विक रूप में तो था ही । प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा था :

झूठे झगड़ों से मेरा पिंड छुड़ाओ ।
मुझको प्रभु अपना सच्चा दास बनाओ ।।

राजा राममोहन राय से गाँधी तक और ब्राह्मसमाज से लेकर नेशनल काँग्रेस तक जो सुधारवादी आन्दोलन सक्रिय रहा, उसमें धर्म भी लचीला हो गया । हिन्दू धर्म के समक्ष मुसलिम, ईसाई, जैन, बौद्ध, आदि चुनौती देनेवाले मत ही थे । हिन्दुओं के आचार-विचार, रूढ़ि-रीति, भेदभाव, छूआछूत, ऊँचनीच, कर्मकांड, मत-मतान्तर, आदि में अन्य धर्मों की होड़ के कारण बड़ा परिवर्तन हुआ । धार्मिक जड़ता समाप्त हो गयी और उसका युगानुरूप चेतन स्वरूप प्रकट हुआ ।

(४) **आर्थिक स्थिति**—सन् १८५७ ई० के पश्चात् मध्यकालीन सामन्ती व्यवस्था और संस्कृति का लोप होने लगा था । भारतीय उद्योग-धन्धे नष्ट होते

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० १३३
२. वही, पृ० १३४
३. वही
४. वही
५. वही, पृ० १३६

चले गये। विदेशी पूंजी से नये उद्योग प्रारम्भ हुए। भारतीय धन विदेश जाने लगा। शोषण, महँगाई, अकाल, टैक्स, दरिद्रता, अपमान आदि की प्रतिक्रिया भारतेन्दु काल के साहित्य में भरी पड़ी है। जमींदारी प्रथा ने किसान को और दरिद्रता की ओर ढकेल दिया था। अंग्रेज सारा धन ढो-ढो अपने यहाँ यह ले जा रहे थे। भारतेन्दु ने लिखा :

अंगरेज राज साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥

× × ×

मरी बुलाऊँ देस उजाड़ूँ, महँगा कर के अन्न।
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझको धन्न॥ (भा० दुर्दशा)
नाम सुनते ही टिकस का आह करके मर गये।
जान ली कानून ने, बस मौत का हीला हुआ॥ (मुशायरा)

जब लाट महोदय काशी आये तब गंगाघाट पर उनके स्वागत में जो रोशनी की गयी उसमें भारतेन्दु ने एक नाव पर 'ओह टैक्स' और दूसरी पर यह दोहा लिखा दिया था :

स्वागत स्वागत धन्य प्रभु, श्री सर विलियम म्योर।
टिकस छुड़ावहु सबन को, विनय करत कर जोर॥[१]

इसी के कारण टैक्स उठ गया था। भारतेन्दु क्रियात्मक भी विरोध करते थे। विदेशी वस्तुओं के व्यवहार से देश गरीब हो रहा था, अतः उन्होंने लिखा :

निरधन दिन दिन होत है, भारत भुव सब भाँति।
ताहि बचाई न कोउ सकत, निज भुज बुधि बल कांति॥ ६३॥
(हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान)

सीखत कोउ न कला उदरि भरि जीवत केवल।
पशु समान सब अन्न खात, पीअत गंगा जल।
धन विदेस चलि जात, तऊ जिअ होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत, अकिलहत, रचिन सकल कल॥[२]

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ७३६
२. वही, पृ० ६८४॥ प्रबोधिनी, अंक २२॥

'मुशायरा' में भारतेन्दु ने 'कर' के विषय में अनेकों बार संकेत किये हैं :

"भूँजी भाँग नहीं घर भीतर का पहिरी का खाई"

'भारत में मची है होरी' में भारतेन्दु लिखते हैं :

"भइ पतझार तत्व कहुँ नाहीं सोइ बसन्त प्रगटो री
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै सोइ फूली सरसों री॥"[१]

प्रजा पीले मुख दीनता से भरी हुई है। सरसों से उनकी उपमा देकर जो व्यंग्य भारतेन्दु ने किया है, वह बेजोड़ है। 'बन्दर सभा की होली' में वह कहते हैं :

"जूठी पातर चाटत घूमत घर घर पूँछ डुलाई"[२]

भारतेन्दु से प्रेरणा लेकर राधाचरण गोस्वामी ने "ढफ बाज्यो भरत भिखारी को" प्रेरणास्पद कविता लिखी थी। गरीबी इतनी थी कि :

"तीन बुलावे तेरह धावैं
निज निज विपता रोइ सुनावैं।
आँखौं फूटे भरा न पेट
क्यों सखि साजन, नहिं, ग्रेजुएट॥"[३]

'भारत दुर्दशा' के प्रथम अंक में योगी का वह प्रसिद्ध गीत कभी नहीं भूला जा सकता :

"रोअहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

वे भारतीय उद्योगीकरण और आर्थिक स्वाधीनता के कट्टर पक्षपाती थे। स्वदेशी का उपयोग करने की उन्होंने सदा प्रेरणा दी थी, यथा :

परदेसी की बुद्धि अरु करि वस्तुन की आस।
परबस ह्वै कब लौं कहौ रहिहौ तुम ह्वै दास॥

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ४०५ ॥ होली ॥
२. वही, पृ० ४२८
३. वही, पृ० ८१०

"काम खिताब सिताब सों अब नहिं सरिहै मीत।
तासों उठहु सिताब अब छांड़ि सकल भयभीत।।"[१]

'छांड़ि सकल भयभीत' का संकेत देकर भारतेन्दु ने स्पष्ट कर दिया था कि अब अंग्रेजों से डरने की आवश्यकता नहीं है। 'प्रेमघन' ने देश में शिल्प और स्वदेशी की बात उठायी :

तासों सिच्छा शिल्प कृपा करि देहु इन्हें अब।
जाके बिन फलहीन होत इन के सब करतब।।[२]
हाटन में देखहु भरो सब अंग्रेजी माल।।[३]

प्रताप नारायण मिश्र ने होली में लिखा है कि :

महँगी और टिकस के मारे सगरी वस्तु अमोली हैं।
कौन भाँति त्यौहार मनइये कैसे कहिये होली हैं।
भूखे मरत किसान तहूँ पर कर-हित कपट न डोरी हैं।।

भारतेन्दु ने सबसे पहले कविता का विषय किसान और मजदूर को बनाया। बालमुकुन्द गुप्त के 'जातीय गीत' की पंक्तियाँ तो और भी उद्-बोधक हैं :

"जिनके कारण सब सुख पावें। जिनका बोया सब जन खावैं।
हाय हाय उनके बालक नित। भूखों के मारे चिल्लायें।"[४]

वे धनिकों की तथा सैनिक व्यय की आलोचना करते थे। अधिकारियों पर उनको कोई भरोसा नहीं रह गया था और इसी से वे स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का कड़े शब्दों में प्रतिपादन करते थे :

"अपना बोया आप ही खावें, अपना कपड़ा आप बनावें।
माल विदेशी दूर भगावें, अपना चरखा आप चलावें"।।[५]

प्रताप नारायण मिश्र ने लिखा है :

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ७३५
२. प्रेमघन, प्रेमघन सर्वस्व, पृ० ५
३. प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, आर्याभिनन्दन, पृ० ३८५
४. बालमुकुन्द गुप्त, जातीय गीत, पृ० ६१
५. वही, पृ० १९६

"सर्वसु लिये जात अंग्रेज, हम केवल ल्यकचर के तेज।
श्रम बिन बातें का करती हैं, कहुँ टेंट गाजें गिरती हैं ॥"
(लोकोक्ति शतक, सन् १८८८ ई०, पृ० ३)

'लोकोक्ति शतक' के पृष्ठ २ पर वे लिखते हैं :

"अपने काम अपने ही हाथन सों भलि होई।
परदेसिन परधर्मिन सों आशा नहिं कोई।
धन धरती जिन हरी सु करिहैं कौन भलाई।
जोगी काके मीत कलन्दर केहिके भाई ॥

धन के विदेश चले जाने की कहानी स्वयं एक अंग्रेज ने इस प्रकार कही है—"हमारी पद्धति एक स्पंज के समान है जो गंगातट से सब अच्छी चीजों को चूसकर टेम्स तट पर ला निचोड़ती है।"[१]

पण्डित नेहरू के शब्दों में—"ब्रिटिश राज में जो हिंसा, धनलोलुपता, पक्षपात और अनीति है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। एक बात ध्यान देने की है कि एक हिन्दुस्तानी शब्द जो अंग्रेजी भाषा में सम्मिलित हो गया, वह 'लूट' है।"[२] आर्थिक शोषण, अकालों का पड़ना, और अंग्रेजों के अत्याचार बढ़ते गये। नील की बंगाल-बिहार की खेती भारतीय किसानों के शोषण की एक लम्बी कहानी है। गरीबों को गुलामों की तरह 'कुली' बनाकर 'आरकाटी' लोग पाँच साल के अनुबन्ध पर अंग्रेजों के अन्य उपनिवेशों में ले जाते थे। चाय, जूट और नील के व्यवसाय तथा ब्रिटिश बैंकों ने देश को लूट लिया। सन् १८६७ ई० में दादा भाई नौरोजी ने यह दिखाया कि भारत में प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक औसत आय ४० शिलिंग अथवा बीस रुपया है। सन् १८७१ में ग्राण्ट डफ ने हाउस ऑफ कॉमन्स के सामने इसी का समर्थन करते हुए कहा कि प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक आय दो पौण्ड है। सन् १९०१ में लॉर्ड कर्जन ने कहा कि प्रत्येक भारतीय की औसत आय तीस रुपये के लगभग है।

आर्थिक दृष्टि से भारत को अंग्रेजों ने पूरी तरह से चूस लिया था। इस युग की हिन्दी काव्यधारा में अर्थ-सम्बन्धी आमूल क्रान्ति का उद्घोष किया गया। अपने १७ वर्षों के साहित्यिक जीवन में भारतेन्दु ने १७५ ग्रन्थ लिखे, ७५ का सम्पादन किया और गोष्ठियों, सभाओं, रंगमंचों और व्याख्यानमालाओं को सफलतापूर्वक चलाकर १८८५ ई० में नेशनल काँग्रेस के हाथों इस

---

१. डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० २४
२. वही, पृ० २४ से उद्धृत

राष्ट्रीयता का कार्य-भार सौंप कर संसार से बिदा हो गये। उनकी लगभग २० वर्ष की साहित्य-साधना का यह प्रतिफल था कि हिन्दी काव्य साहित्य की मानसिक पृष्ठभूमि नव जागरण हेतु तैयार हो गयी। भारतेन्दु ने तो जनवादी साहित्य को महत्त्व देकर किसान-मजदूर की दुर्दशा और जन-साधारण की समस्या पर विचार ही किया था, आगे चलकर यही राष्ट्रीय काँग्रेस की विषय-भूमि बन गये। जीवन को सब ओर से छूनेवाली उनकी सामंजस्यवादिनी दृष्टि ने समाज के अन्तर और बाह्य दोनों पक्षों को स्पर्श किया। भाव-विचार, भाषा छन्द, अलंकार और अभिव्यक्ति सभी का नये ढंग से प्रचलन किया गया। भारतेन्दु की अपनी मस्ती, आनन्द, दानशीलता, भविष्य दृष्टि, आस्थाएँ, विश्वास, उदारता, और प्रेम ने हिन्दी की एक मूर्ति गढ़ी और उसे सौन्दर्यबोध भी दिया। उन्होंने खड़ी बोली को काव्य-भाषा बनाने का प्रयास भी किया। भारतेन्दु ने शायद पहली बार बुद्धिवादी, मानवतावादी और सृजनात्मक शक्तियों का सहारा लिया था। उन्होंने साहित्य के मूल्यों के बखेड़े से दूर रह कर सामाजिक जीवन की उन कम्पनशील तरंगों को स्पर्श किया, जिनके कारण एक छोर से दूसरे छोर तक शक्ति का संचरण हो"ा है। भारतेन्दु ने काँग्रेस की स्थापना के लिए वैचारिक भूमिका प्रस्तुत की थी। उन्होंने स्वदेशी का नारा, देशभक्ति के स्वर, किसान-मजदूर और जनसाधारण के दुखों की एवं गरीबी की बात साहित्य में उतारी थी। कविता में तो समूचे भारतेन्दु-मण्डल ने जीवन का तात्कालिक प्रतिबिम्ब उतार दिया है। उनके साहित्य का खरा-खोटापन तो उनके प्रभाव की अखण्डता पर निर्भर है। भारतेन्दु ने अंग्रेजों के शासन में पीड़ित जनता की गरीबी, अकाल, महँगाई, टैक्स, बन्दोबस्त, शोषण और धर्म-कर्म सम्बन्धी सभी समस्याओं को एक सांस्कृतिक महत्ता दी। हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान उनके समय का एक ओजस्वी मन्त्र था। राष्ट्रीयता का उन्मेष चारों ओर हो रहा था, और समाज में नव्य जागृति पैदा हो गयी थी। भारतेन्दु को उनके हर सपने का मूल्य मिल गया और उनकी हर साँस का इतिहास साहित्य में लिपिबद्ध हो गया। उनमें कोई संकीर्णता नहीं थी। वे उर्दू में 'रसा' थे और हिन्दी में 'भारतेन्दु'। कई भाषाओं में वे लिखते थे। सार्वजनिक कल्याण और प्रेम उनके कार्य-क्षेत्र थे। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जनता और कवि भारतेन्दु काल में जितने निकट थे, उतने फिर कभी नहीं हो सके। उनके काव्य में जीवन का स्वच्छ प्रतिबिम्ब इसीलिए दिखायी देता है। धर्म पर आँच आते समय भारतेन्दुयुगीन काव्य में समाज की जबर्दस्त प्रतिक्रिया स्पष्ट हो उठी है। भारतीय राजनीति

धर्म और पूँजी के गुण-अवगुणों से भर गयी थी। कहीं-कहीं निराशा के स्वर हैं, पर वे केवल जन-जागरण के लिए हैं। अस्तु, भारतेन्दु काल में यह राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक ऊहापोह आगे चलकर हमारी राष्ट्रीयता के विकास में मूल्यवान सिद्ध हुआ। हिन्दी का काव्य जो बाद में खड़ी बोली के पाँवों चला, भारतेन्दु के समय ब्रजभाषा के माध्यम को लिये हुए था।

## भारतेन्दुयुगीन काव्य की प्रवृत्तियाँ

पिछले परिच्छेद में स्पष्ट किया गया है कि भारतेन्दुयुगीन परिस्थितियों ने हिन्दी काव्य में जो राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, और आर्थिक अभिव्यक्ति पायी थी, वह तत्कालीन आन्दोलनों और हलचलों के कारण ही थी। राजनीतिक परिस्थितियों ने देशभक्ति की प्रवृत्ति को और धार्मिक स्थितियों ने भी देशप्रेम को उभारने का काम किया। प्राचीन भारत में राजनीति का आश्रय धर्म था। देशप्रेम की चर्चा की जा चुकी है, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :

(१) **देशभक्ति** : भारतेन्दु और उनके साथी १८७४ ई० तक, भारतेन्दु की 'विषस्यविषमौषधम्' रचनात्मक राजभक्ति के आवरण में अंग्रेजों की, विक्टोरिया और राजकुमारों की, वायसराय और उनके मुसाहिबों की प्रशंसा कर रहे थे ताकि उनसे भारत के लिए कुछ रियायतें प्राप्त की जा सकें। "अंग्रेजन को राज ईस इत चिर करि थापै" लिखकर भारतेन्दु अपने को स्वस्थ अनुभव नहीं कर सके और 'प्रेमजोगिनी' में उनका सरकार-विरोधी रुख स्पष्ट हुआ। 'मुद्राराक्षस' के अन्त में एक बिहाग की ठुमरी भारतेन्दु ने लिखी थी—

"पूरी अमी की कटोरिआ सी चिरजीओ सदा विक्टोरिआ रानी।"

१८६१ में एलबर्ट पर कविता, १८६९ में ड्यूक ऑफ एडिनबरा के भारत आने पर श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र, १८७१ में प्रिंस ऑफ वेल्स को टायफाइड होने पर उनके स्वस्थ होने की कामना से ईश्वर से विनय, आदि कविताएँ राजभक्ति का प्रदर्शन करती हैं। भारतेन्दु के सामने अंग्रेजों का कानूनी शासन और शिक्षा की सर्वसुलभ सम्भावनाएँ थीं। वे अंग्रेजों के शासन पर क्यों खुश थे, इस बात को 'बादशाह दर्पण' की भूमिका में उन्होंने इस प्रकार लिखा है "जो कुछ हो मुसलमानों की भाँति हमारी आँख के सामने हमारी देवमूर्तियाँ नहीं तोड़ीं और स्त्रियों को बलात्कार से छीन नहीं लिया, न घास की भाँति सिर काटे गये और न जबरदस्ती मुँह में थूक कर मुसलमान किये गये। अभागे भारत को यही बहुत है। विशेषकर अंग्रेजों से हमको जैसी शुभ शिक्षा

मिली है, उसके हम इनके ऋणी हैं। भारत कृतघ्न नहीं है। यह सदा मुक्त कण्ठ से स्वीकार करेगा कि अंग्रेजों ने मुसलमानों के कठिन दण्ड से हमको छुड़ाया और यद्यपि अनेक प्रकार से हमारा धन ले गये किन्तु पेट भरने को भीख माँगने की विद्या भी सिखा गये।'' मूलतः भारतेन्दु किसी हिन्दू राष्ट्रवाद के पोषक नहीं थे, बल्कि अभारतीयता के विरोधी थे। मुसलमानों, अंग्रेजों, या अन्य किसी भी समाज की भारत के विरुद्ध धर्मान्धता या किसी भी रूप में किये अत्याचारों के वे विरोधी थे। अंग्रेजों ने राज्य छीने, धन ढोकर ले गये, उद्योग-धन्धे नष्ट किये, ईसाई धर्म का प्रचार करके हिन्दू धर्म पर चोट की, राजभक्ति सिखायी, लोगों को आपस में लड़वाया, साम्प्रदायिकता फैलायी, संस्कृति और भाषा को मिटाने का प्रयास किया, आपसी फूट पैदा की, आदि कई ऐसी बातें थीं, जिनकी प्रतिक्रिया के रूप में राष्ट्रीय चेतना तथा राष्ट्र-सम्मान, देशप्रेम और मातृभूमि के प्रति भक्तिभाव की भावना बढ़ी। 'बादशाह दर्पण' की भूमिका में भारतेन्दु ने मुसलमानी राज्य को हैजा और अंग्रेजी राज्य को क्षय कहा है। सन् १८७० में भारतेन्दु ने बीस वर्ष की आयु में जिस साहस और सत्य का परिचय गवर्नर-जनरल के काशिराज के गृह-आगमन पर दरबार के सन्दर्भ में दिया था, वह अभूतपूर्व है—''वाह वाह दर्बार क्या था कठपुतली का तमाशा या बल्लमटेरों की 'कवायद' थी या बन्दरों का नाच था या किसी पाप का फल भुगतना था या किसी फौजदारी की सजा थी।'' गवर्नर-जनरल के बिदा होने पर ''सब लोग इस बन्दरगृह से छूट छूट कर अपने घर आये।'' दरबार को बन्दीगृह कहने का साहस किसमें था उस समय? उन्होंने रईसों की गुलामी और पश्चिमोत्तर देशवासियों के कायरपन के विरुद्ध भी लिखा। भारतेन्दु ने खिताब पाने वाले गुलाम प्रवृत्ति के लोगों पर बड़े तीखे व्यंग्य किये थे।

'अंधेर नगरी' के समर्पण में उन्होंने लिखा :

> ''मान्य योग्य नहिं होत कोऊ कोरो पद पाये।
> मान्य योग्य नर ते, जे केवल परहित जाये॥''

'अंधेर नगरी' के पाँचवें अंक में गोवर्द्धन दास का कथन :

> ''साँच कहैं ते पनही खावैं, झूठे बहुबिधि पदवी पावैं॥''

यह अंग्रेजों की 'अंधेर नगरी' का हाल था। 'अंधेर नगरी' के अन्त में ''राजा को लोग टिकटी पर खड़ा करते हैं'' —यह साम्राज्यविरोधी भावना थी, जिसे मुक्त और साहसिक ढंग से प्रकट करने की क्षमता उन दिनों साधारणतः नहीं

पायी जाती थी। भारन्तेदु की राजनीतिक मुकरियाँ देशभक्ति के प्रकाशन में बेजोड़ थीं :

"भीतर तत्व न झूठी तेजी
क्यों सखि साजन, नहिं अंग्रेजी ॥"[१]

पुलिस के कारनामे और कानून की हालत देखिये :

"रूप दिखावत सरबस लूटै। फन्दे में जो पड़े न छूटै।
कपट कटारी जिय में हूलिस। क्यों सखि साजन, नहिं सखि पूलिस।"[२]
"नयी-नयी नित तान सुनावै। अपने जाल में जगत फँसावै।
नित नित हमें करै बलसून। क्यों सखि साजन, नहिं कानून।"[३]

और इस प्रकार भारतेन्दु ने भारतीय आत्म-सम्मान को तथा जनता के असन्तोष को प्रकट किया और शासकों की असलियत खोलकर रख दी। उन्होंने राष्ट्रीय चेतना को जगाया, अंग्रेजों के द्वारा हो रहे शोषण का भण्डा-फोड़ किया। जनवरी १८७४ की 'कवि-वचन-सुधा' में भारतेन्दु का "क्या हमारे देशबान्धव अब भी सचेत न होंगे ?" लेख पढ़ने लायक है। इससे अंग्रेजों के झूठे प्रचार का खण्डन होता है, जैसे—"परन्तु अब अंग्रेजी की माया, छल और घात दृष्टि में आने लगा, क्योंकि हम लोगों को केवल अंग्रेजी भाषा प्राप्त हुई परन्तु कला-कौशल के विषय में हम लोग भली भाँति अज्ञात सागर में निमग्न हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं।" शिल्प, कला, उद्योग, खेती, स्वास्थ्य आदि के नष्ट होने पर भी उन्होंने कटु व्यंग्य किये। स्वाधीनता की इस उत्कट प्रेरणा के लिए भारतेन्दु ने जो रास्ता निकाला, वह था स्वदेशी का व्यवहार और २३ मार्च १८७४ को 'कवि-वचन सुधा' में यह प्रतिज्ञापत्र प्रकाशित करवाया।

"हम लोग सर्वान्तरयामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे और जो कपड़ा कि पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं, उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे, पर नवीन

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, पृ० ८१०
२. वही, पृ० ८११
३. वही, पृ० ८१२

मोल लेकर किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे, हिन्दुस्तान ही का बना कपड़ा पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्राय: सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देशी हितैषी इस उपाय के वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।"

यह हरिश्चन्द्र की प्रतिज्ञा गाँधी के स्वदेशी आन्दोलन की राष्ट्रीय भूमिका थी। हिन्दी के वैतालिक का यह दृढ़ निश्चय स्वाधीनता-संग्राम का पहला आन्दोलन था। भारत का धन भारत में रोक रखने का इससे और बड़ा उपाय नहीं था। मेनचेस्टर में इसके कारण खलबली मच गयी थी। उनका बलिया का व्याख्यान तो साफ कहता है कि "जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बाहर न निकाले जायेंगे, दरिद्र न हो जायेंगे, कैद न होंगे वरंच जान से न मारे जायेंगे तब तक कोई देश न सुधरेगा।" सत्य कथन के कारण यदि जेल जाना पड़े तो उसे भारतेन्दु ने धन्य माना था। उन्होंने देखा कि 'बनारस' अखबार के सम्पादक को पुलिस के खिलाफ लिखने के कारण एक हजार रुपया जुर्माना हुआ। जुर्माना न दे सकने के कारण उन्हें जेल की सजा हुई। भारतेन्दु ने बधाई देते हुए यह लिखा था कि "धन्य हैं वे लोग जो अपने देश के हित के लिए कारागार जाते हैं और ऐसे ही पुत्र जनकर माता पुत्रवती होती है।" भारतेन्दु ने स्वदेशी आन्दोलन को जन्म दिया और बलिदानी प्रवृत्ति का पाठ पढ़ाया था। मशीनों और आधुनिक ढंग के उद्योग-धन्धों के विकास पर उनके विचार बड़े उत्तेजक थे। देश के औद्योगीकरण की ओर वे बड़े ही चाव से आकर्षित हो रहे थे। देश आत्म-निर्भर हो, बाहर से सामान का आयात न करना पड़े और अंग्रेज साम्राज्यवादियों का ताल ठोंक कर मुकाबला किया जा सके, इसके वे बहुत बड़े प्रेरणा-स्रोत थे। स्वदेशी और स्वाधीनता के प्रेरक भारतेन्दु अपने युग के स्मारक स्वयं हैं।

(२) **राजभक्ति** : पहले कहा जा चुका है कि भारतेन्दु सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजों के सुस्थापित साम्राज्य के एक साहित्यिक वैतालिक हैं। उन्होंने देखा था कि :

"संवत उनइस सौ तिरपन मा, पड़ा हिन्द में महा अकाल।
घर-घर फाँके होने लगे, दर दर प्रानी फिरै बेहाल।
कोई पात पेड़न के चाबैं, कोई माटी कोई घास चबाय।
कोई बेटवा बिटिया बेचैं, अब तो भूख सही नहिं जाय॥

बहुत लोग देते हैं फाँसी अरु मलिका से चहैं खिताब।
सी० एस० आई०, के० एस० आई०, राय बहादुर केर खिताब॥"

राजभक्ति के पीछे पागल लोग ऐसे अकाल के समय खितावों के पीछे दौड़ रहे थे। भारतेन्दु ने तो राजभक्ति-प्रदर्शन करके कुछ रियायतें सारे देश के लिए चाही थीं। उन्होंने विक्टोरिया और उनके राज-परिवार के प्रति राजभक्ति-प्रदर्शन करने वाली कई रचनाएँ लिखीं, जिनका उल्लेख किया जा चुका है। जब प्रिन्स अलबर्ट की मृत्यु १४ दिसम्बर १८६१ को हुई, तब भारतेन्दु ११ वर्ष के थे। उन्होंने अलबर्ट की मृत्यु पर अन्तर्लापिका बनायी, जिसमें चार छप्पय और छत्तीस प्रश्न हैं। उदाहरणार्थ :

कह सितार को सार? शत्रु के किमि मन तेरे?
काकी मार प्रहार सीस अरि हनै घनेरे?
का तुम सैनहिं देत सदा उनतिसएँ ही दिन?
कहा कहत स्वीकार समय कछु अवसर के छिन?
को महारानी को पति परम सोभित स्वर्गहि ह्वै रह्यो?
अलबरत एक छत्तीस इन प्रश्नन को उत्तर कह्यो॥[१]

इसी प्रकार ड्यूक ऑफ एडिनबरा के सन् १८६९ ई० में भारत आगमन पर 'श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र' में उन्होंने लिखा था :

नैन बिछाये आप हित आवहु या मग होय।
कमल पाँवड़ें से किये अति कोमल पद जोय॥[२]

इसी अवसर पर बनारस में १० मार्च १८७० को उन्हें कई सज्जनों ने 'सुमनांजलि'[३] अर्पित की। काशी में ग्रहण के हेतु महाराजकुमार के आने पर भारतेन्दु ने कवित्त रचा और प्रिन्स ऑफ वेलस के पीड़ित होने पर सन् १८७१ में कविता लिखी :

बेग सुनैं हम कान सों, प्रिन्स भये आनन्द।
परम दीन ह्वै जोरि कर, यह बिनवत हरिचन्द॥[४]

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ६२४
२. वही, पृ० ६२५
३. वही, पृ० ६३२
४. वही, पृ० ६३३

१८७६ ई० में प्रिन्स ऑफ वेल्स ने काशी में अस्पताल की नींव डाली थी। उनके काशी आगमन पर 'मानसोपायन' लिखा गया, जिसमें अनेकों हिन्दी, उर्दू, बंगला, अंग्रेजी, तैलगू, आदि भाषाओं में स्वागत-गीत हैं।

उन्होंने सं० १९४१ में रिपनाष्टक लिखा। लॉर्ड रिपन (१८८१-१८८४ई०) भारत के वायसराय थे। भारतेन्दु ने लॉर्ड रिपन की बड़ी प्रशंसा की है। इन और इसी प्रकार की अन्य 'भारत भिक्षा' (सन् १८७५ ई०) आदि रचनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि भारतेन्दु राजभक्ति से पीड़ित हो उठे थे। अँग्रेजों ने उनकी सम्पूर्ण श्रद्धा का सम्मान नहीं किया और इसी कारण वे अन्त में उनके तीव्र विरोधी हो गये। राजभक्ति तो केवल आवरण था। अँग्रेज अफसरों के प्रति उनके मन में बड़ा असन्तोष था। 'मानसोपायन' की भूमिका में वे लिखते हैं कि "बिचारे छोटे पद के अँग्रेजों को हमारे चित्त की क्या खबर है, ये अपनी ही तीन छटाँक पकाना जानते हैं।" १८८४ ई० में ड्यूक ऑफ अलबेनी की मृत्यु पर जब शोक सभा के लिए उन्होंने टाउन हॉल माँगा तो वह नहीं मिल सका। ठाकुर रामदीनसिंह, राधाकृष्णदास और शिवनन्दन सहाय ने अपने ग्रन्थों में हरिश्चन्द्र की राजभक्ति पर तो एक अध्याय ही लिख दिया है, परन्तु बाबू ब्रजरत्नदास और आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु के देशभक्ति के स्वर को सबसे ऊपर माना है। यही सच है। भारतेन्दु अँग्रेजों के सुधारवादी दृष्टिकोण, वैज्ञानिक प्रचार-प्रसार, रेल, तार, डाक, प्रेस, वाष्प आदि के उपयोग और उनकी नयी शिक्षा-पद्धति से प्रभावित थे, मुसलिम अत्याचारों से मुक्ति पाने के कारण वे अँग्रेजों के अनुगृहीत भी थे और चाहते थे कि उनकी प्रशंसा करके भारतीयों पर लगने वाले टैक्स और अन्य प्रतिबन्धों से छुटकारा मिल जाये। वे रईस थे, वाणी के सम्राट थे और नाटककार भी थे। व्यंग्य, हास्य, विनोद और उसमें गम्भीर कथन को पिरोकर कहना वे जानते थे। अस्तु, उनकी राजभक्ति ऊपर से सुन्दर शब्दों में ढँकी एक बहुरूपिणी थी। मूलतः वह देशभक्त ही थे। 'प्रेमघन' ने भी राजभक्ति सम्बन्धी कई पद लिखे। महारानी विक्टोरिया की हीरक जुबली के अवसर पर उन्होंने हार्दिक हर्षादर्श प्रकट किया। सन् १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य संग्राम की एक प्रकार से निन्दा की गयी। सन् १८५७ ई० के विद्रोही सिपाहियों के विषय में उन्होंने लिखा :

देसी मूंढ़ सिपाह कछुक लै कुटिल प्रजा संग।
कियो अमित उत्पात रच्यो निज नासन को ढंग ॥

और विक्टोरिया की प्रशसा में लिखा :

तेरे सुखद राज की कीरति रहै अटलइत।
धर्मराज, रघु, राम, प्रजा हिय में जिमि अंकित ॥

सम्राट सप्तम एडवर्ड के भारत साम्राज्याभिषेक के शुभ अवसर पर सं० १९६० में 'भारत बधाई', सं० १९६३ में प्रिन्स ऑफ वेल्स के भारत आगमन पर 'आर्याभिनन्दन' आदि राजभक्ति की द्योतक रचनाएँ हैं। इसी प्रकार उनकी 'मंगलाशा' और 'सौभाग्य समागम' रचनाओं में राजभक्ति देखी जा सकती है। परन्तु यह सब केवल देशभक्ति का अंग है। गुलामी की प्रवृत्ति का द्योतक कार्य नहीं है। प्रतापनारायण मिश्र की भी कुछ रचनाएँ राजभक्ति से प्रेरित हैं, जैसे 'युवराजकुमारस्वागतन्ते', राजकुमार विक्टर के आगमन के अवसर पर 'ब्रेडला स्वागत' और 'लॉर्ड रिपन' सम्बन्धी रचनाएँ राजभक्ति से प्रेरित हैं। मिश्रजी कट्टर देशभक्त थे, स्वदेशी का व्यवहार करते थे और काँग्रेस के प्रतिनिधि थे। राधाकृष्णदास ने, जो भारतेन्दु युग के कवि हैं, राजभक्ति सम्बन्धी 'जुबिली' और 'विजयिनी विलाप' शीर्षक कविताएँ लिखी हैं। 'जुबिली' में विक्टोरिया की हीरक जयन्ती का वर्णन है :

सोइ ब्रिटिश वंश उज्जवल करन विक्टोरिया प्रकास भो।
आनन्द छायो सब देश में अरु दुख तिमिर विनास भो ॥

और 'विजयिनी विलाप' में विक्टोरिया की मृत्यु पर शोक-प्रकाश है।

इस प्रकार भारतेन्दुयुगीन राजभक्ति सम्बन्धी काव्य के अध्ययन से तत्सम्बन्धी काव्य-प्रवृत्ति स्पष्ट होती है। अनेक कार्यों को साधने वाली यह राजभक्ति केवल देशभक्ति का एक अंग मात्र थी।

(३) **भक्ति-धारा** :—भारतेन्दुयुगीन काव्यधारा ने देशभक्ति, राष्ट्रीय कल्पना, समाज-सुधार, राजनीतिक अधिकारों की प्रेरणा, अन्ध श्रद्धा, स्वदेशी का सम्मान-स्वाभिमान, टैक्स, महँगाई, दुर्भिक्ष, पुलिस, कानून, सरकारी उपाधि, अँग्रेज-अँग्रेजी, ग्रेजुएट, रेल, चुंगी, जहाज, शराब, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी आदि की आलोचना करते हुए अपनी दृष्टि भौतिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, दार्शनिक, धार्मिक आदि सभी विषयों पर रखी। चींटी से हाथी तक सभी विषय कविता के विषय बन गये। दीनहीन किसान, मजदूर, श्रमजीवी, सामाजिक कुरीतियाँ और आडम्बर तथा कई प्रकार के राजनीतिक आन्दोलनों को काव्य-विषय बनाया गया। खड़ी बोली में काव्य-रचना का भी आरम्भ हुआ, लेकिन ब्रजभाषा ही मुख्यतः कविता, का माध्यम रही।

भारतेन्दु-मण्डल के कवि अपने पूर्वकालीन रीतिकाल की छाया में से गुजरे थे। रीतिकालीन विलास-चित्रण और भोगमयी काव्य-सृष्टि से वे अछूते नहीं थे। भारतेन्दु के काव्य में अवश्य अष्टछाप के कवियों जैसी भक्तिधारा के दर्शन होते हैं। 'भक्तसर्वस्व', 'उत्तरार्धभक्तमाल' और 'विनय पचासा' में भारतेन्दु की भक्ति-सम्बन्धी कविताएँ हैं। भक्ति और प्रेम उनके पर्यायवाची शब्द हैं। 'प्रेम मालिका' में कीर्तनों की रचना पदों में की गयी है। लीला, दैन्य और प्रेम इनके विषय हैं। उनमें मीरा जैसा माधुर्य भी है, जैसे :

१. म्हारी सेजां आवो जू लाल बिहारी।
रंगरंगीली सेज सँवारी लागी छे आशा थारी॥
बिरह-बिथा बाढ़ो घणी हो मोसों नहिं जात सम्भारी।
'हरीचन्द' सो जाय कहो कोउ तलफै छै थारे बिन नारी॥[१]

२. कहँ हरिचरन अगाध अति कहँ मोरी मति थोर।
तदपि कृपाबल लहि कहत छमिय ढिठाई मोर॥[२] (भक्त-सर्वस्व)

३. प्रेम सकल श्रुति सार है, प्रेम सकल स्मृति-कूल।
प्रेम पुरान-प्रमाण है, कोउन प्रेम के तूल॥ (प्रेम-सर्वस्व)

'प्रेमाश्रुवर्षण' का 'सखी री ठाढ़े नंद कुमार' पद[३] 'प्रेम-माधुरी' तथा 'प्रेम-तरंग' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। उत्तरार्ध भक्तमाल में भी भक्ति सम्बन्धी यही दृष्टि है :

मोरौ मुख घर ओर सौं, तोरौ भव के जाल।
छोरौ जग-साधन सबै, भजौ एक नन्दलाल॥[४]

'गीतगोविन्दानन्द' में गीतगोविन्द का स्वाद भरा हुआ है :

"जय जय हरि राधा रस-केलि।
तरनि तनूजा-तट इकन्त मैं वाहु बाहु पर मेलि॥[५]

'मधुमुकुल' के अनेकों पद तथा होली, राग संग्रह और अन्य स्फुट पदों में भारतेन्दु की वैष्णव भक्तिधारा बड़ी मँजी हुई भाषा में प्रकट हुई है। शुद्ध

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ५५
२. वही, पृ० ७
३. वही, पृ० १२६
४. वही, पृ० २७०
५. वही, पृ० ३०६

भक्ति की तन्मयता के दर्शन इन पदों में होते हैं। 'कृष्ण चरित्र', 'प्रेम फुलवारी' 'श्री सीतावल्लभ स्तोत्र' और 'रामलीला' आदि में भी भक्ति-सम्बन्धी पद हैं। 'प्रेममालिका' का ४२वाँ पद देखिए :

एक ही गाँव में वास सदा घर पास इहौ नहिं जानती हैं।
पुनि पाँचएँ सातएँ आवतजात को आस न चित्त में ठानती हैं।
हम कौन उपाय करैं इनको 'हरिचन्द' महा हठ ठानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं ॥[१]

भाव, छन्द, अलंकार और भाषा कहाँ से कहाँ पहुँच गयी।

बाबा सुमेरसिंह साहबजादे भारतेन्दु काल के प्रमुख कवियों में से हैं। उनकी भक्ति-सम्बन्धी कविता 'सुन्दरी तिलक' 'तिलक' और 'बिहारी बिहार' में संगृहीत हैं। 'बिहारी बिहार' की उनकी एक कुंडलिया इस प्रकार है :

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होय ॥
स्याम हरित दुति होय, होय सम कारज पूरो।
पुरुषारथ सहि स्वारथ चारि पदारथ रूरो ॥
सतगुरु सरन अनन्य छूटि भय भ्रम की फेरी।
मनमोहन मित सुमरेस हरी गति मति मैं मेरी ॥

'प्रेमघन' ने १६ वर्ष की अवस्था में (सन् १८७४) 'युगल मंगल स्तोत्र' शीर्षक २० छन्दों की राधाकृष्ण स्तुति लिखी थी :

छहरैं मुख पै घनश्याम से केश, इतै सिरमौर पखा फहरैं।
उत गोल कपोलन पै अति लोल अमोल लली मुकता थहरैं ॥
ईहि भाँति सो बद्रीनरायणजू दोऊ देखि रहे जमुना लहरैं।
नित ऐसे सनेह सों राधिकाश्याम हमारे हिये में सदा बिहरैं ॥[२]

प्रेमघन ने १८७५ में 'व्रजचन्द पंचक' लिखा :

श्री शीतल मन बीच के बिहरन हारे श्याम।
जयति जयति जय जयति जै मंगल करन मुदाम ॥[३]

---

१. व्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय खंड, पृ० १५५
२. प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, हि० सा० स० प्रयाग (सं० प० भाकरेश्वर प्रसाद), पृ० १३२
३. वही, पृ० १३७

प्रेमघन ब्रजभाषा के कवि थे। उन्होंने सभी विषयों पर कविताएँ लिखीं। भारतेन्दु को छोड़ कर वे ही भारतेन्दु युग के सबसे बड़े कवि थे। प्रचुर परिमाण में सामयिक काव्य जितना उन्होंने लिखा, उतना कम कवि लिख सके हैं। राजभक्ति, देशभक्ति, हिन्दी के प्रति प्रेम, सामाजिक विषय जैसे—बाल विवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह, गोरी गोरिया, साँवर गोरवा, चन्दू बाबू आदि पर कजलियाँ, हास्य-व्यंग्य तथा ऋतु-वर्णन, होली, कजली, ठुमरी, दादरा, खेमटा, लावनी, गजल, रेखता आदि उन्होंने लिखे। उनके भक्ति-सम्बन्धी पद परिमाणों में कम ही हैं।

राधाकृष्णदासजी बल्लभसम्प्रदाय में दीक्षित कृष्णभक्त कवि थे। राधा-सम्बन्धी उनका एक पद इस प्रकार है :

हमरो चौथ चन्दा का करिहै
श्री बृजचन्द चन्दमुख प्रेमी, औरन सों का डरिहै।
कुलबोरिन सब कहत गाँव में और नाम का धरिहै।
दास कलंकहु हम प्रेमिन के ढिग आवत थरहरिहै॥[१]

तात्पर्य यह है कि भक्ति की धारा रीतिकाल और भारतेन्दु काल में क्रमशः क्षीण और विरल होती गयी।

## भाषा एवं साहित्य

स्वयं भारतेन्दु ने लिखा है कि—"पश्चिमोत्तर प्रदेश की जनता की भाषा ब्रजभाषा है। यह निश्चित हो चुका है। मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कविता बनाऊँ, पर वह मेरी चित्तानुसार नहीं बनी—इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है।"[२] इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने यद्यपि प्रायोगिक रूप से खड़ी बोली को अपनाया था, परन्तु वे मुख्यतः ब्रजभाषा में लिखते-पढ़ते थे, पर खड़ी बोली के विरोधी नहीं थे। साहित्य तो सदैव ही विकासशील होता है और भाषा अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग में भाषा पर न दरबारी प्रभाव था, न केवल सरकारी अफसरों या कचहरियों का आधिपत्य। अँग्रेजों का विरोध, शृंगार की रीतिकालीन परम्पराओं का पालन करने वाला और स्वतन्त्र रूप से नये-नये विषयों पर

---

१. किशोरीलाल गुप्त, भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० ४३०
२. डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता का क्रान्ति युग, पृ० ५७

लिखने की तत्कालीन परिस्थितिजन्य साहित्य की नयी विधा साहित्य में पनप रही थी। मौलिक, अनूदित और भावानुवाद के रूप में साहित्य रचा जा रहा था। भारतेन्दु युग की भाषा और साहित्य का सबसे बड़ा गुण उसके जन-सम्पर्क से सबल होने वाली शक्ति थी। कविता अब जन-जीवन को साथ लेकर साहित्यिक क्रान्ति की ओर बढ़ रही थी। भाषा, भाव, शैली सभी में परिवर्तन हुए। आलिंगन-चुम्बन, स्वकीया और परकीया, रति तथा विलास, के स्थान पर देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना के स्वर प्रबल होने लगे। ब्रजभाषा और अवधी का पद्य में प्रयोग अधिक हो रहा था। श्रीधर पाठक को छोड़ कर खड़ी बोली में लिखने वाले और किसी विशेष व्यक्तित्व का आगमन नहीं हुआ था। भारतेन्दु ने हिन्दी लेखकों को एक जागरण का मन्त्र दिया :

> "निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
> बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल॥"

अँग्रेजी पर व्यंग्य करते हुए 'नये जमाने की मुकरी' में उन्होंने लिखा :

> सब गुरुजन को बुरो बतावै। अपनी खिचड़ी अलग पकावै।
> भीतर तत्व न झूठी तेजी। क्यों सखि साजन, नहिं अँग्रेजी॥[१]

यह अँग्रेजों की पुलिस का हाल था :

> रूप दिखावत बरबस लूटे। फन्दे में जो पड़े न छूटे।
> कपट कटारी हिय में हूलिस। क्यों सखि साजन, नहिं सखि पूलिस॥[२]
> भीतर भीतर सब रस चूँसै। हँसि हँसि के तन मन धन मूसै।
> जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि साजन, नहिं अँग्रेज॥[३]

जन-जागरण की लहर, राष्ट्रीय भाव धारा और देशी का प्रचार तथा देशी भाषा का प्रचार अशिक्षित जनता तक पहुँचा। सारे देश में यह जन-जागरण उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में बढ़ रहा था। बंगाल में बंकिम, गुजरात में नर्मद, महाराष्ट्र में चिपलूणकर और उत्तर भारत में भारतेन्दु ने राष्ट्रीय भाव धारा का प्रवर्तन किया। गद्य की भाषा तो खड़ी बोली ही थी, पर पद्य में उसका प्रचलन अभी सीमित था। इस युग की अधिकांश लावनियाँ खड़ी बोली में ही हैं। हरिश्चन्द्र, राधाचरण गोस्वामी और प्रतापनारायण मिश्र

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८१०

२. वही, पृ० ८१ .

३. वही

ने लावनी छन्द में कविताएँ लिखीं। इसी युग में समाचार-पत्रों की ऐसी बाढ़ आयी कि अपने आप खड़ी बोली को प्रमुखता प्राप्त होती गयी। भारतेन्दु युग में गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली और पद्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का ही आधिपत्य बना रहा। कवियों ने भाषा की अपेक्षा भावों पर अधिक ध्यान दिया। "भारतेन्दु युग ने पद्य को नूतन विचारधारा प्रदान की और द्विवेदी युग ने नवीन भाषा दी।"[1] बालकृष्ण भट्ट खड़ी बोली के बहुत बड़े हिमायती थे। जब ब्रजभाषा और खड़ी बोली का विवाद प्रबल तथा उग्र रूप में सामने आया तब बालकृष्ण भट्ट ने लिखा था कि "ब्रजभाषा में यद्यपि कुछ मिठास है, पर यह इतनी जनानी बोली है कि इसमें सिवाय श्रृंगार रस के दूसरा रस आ ही नहीं सकता।"[2] बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, कार्तिक प्रसाद खत्री आदि ने बड़ी विषम परिस्थितियों में खड़ी बोली का कार्य किया था। इन्हें सरकार, सरकार के पिट्ठू, जमींदार, राजे, नवाब, मुसलमान आदि जो कट्टर उर्दू के पक्षपाती थे, तथा ब्रजभाषा के कट्टर समर्थक जो खड़ी बोली के विरोधी थे, एवं समाज के अन्धविश्वासों और साहित्य के दरबारी संस्कारों से उन्हें मोर्चा लेना पड़ा। स्वयं भारतेन्दु और उनके साथियों को हिन्दी के लिए संघर्ष करना पड़ा। सरकारी अफसरों की भाषा उर्दू थी। कर्नल हौलरायड उर्दू मुशायरों का शौकीन था। उसने लाहौर में एक सभा स्थापित की, जिसमें हाली भी कविता पढ़ने जाते थे। हाली ने ७७ वर्ष तक उर्दू की सेवा की, जबकि भारतेन्दु ३५ वर्ष में ही चल बसे। सरकार ने हाली को शमशुलउलमा की उपाधि दी और जनता ने हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु की, जो अधिक प्राणवान् थी और चिरकालिक सिद्ध भी हुई। भारतेन्दु के पश्चात् राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, चौधरी बदरीनारायण प्रेमघन, दुर्गाप्रसाद मिश्र, लज्जाशंकर झा, राजा रामपाल सिंह आदि हिन्दी की सेवा में व्यस्त थे। रायकृष्णदास ने 'बालमुकुन्द गुप्त-स्मारक ग्रन्थ' में पृष्ठ ३६८ पर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का यह मत उद्धृत किया है—"एक प्रसंगवश मैंने उनसे जिज्ञासा की—'आपकी राय में सबसे अच्छी हिन्दी कौन लिखता है ?' उन्होंने कहा—'अच्छी हिन्दी बस एक व्यक्ति लिखता था—बालमुकुन्द गुप्त।,"[3] गुप्तजी की सरस और ताजगीपूर्ण हिन्दी के विषय में यह मत महत्वपूर्ण है।

१. केसरीनारायण शुक्ल, आधुनिक काव्यधारा, पृ० ९२
२. डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग
३. बनारसीदास चतुर्वेदी, बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० ३६८

भारतेन्दु के पश्चात् बाबू बालमुकुन्द गुप्त ही अच्छी हिन्दी के एकमात्र प्रतिनिधि लेखक थे। "बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी के शिथिल बन्धों को बाँधा, वाक्यों की चूलें बैठायीं और मुहावरे के शिकंजे में दबाकर उन्हें कसा और फिर इस सबल शस्त्र को व्यंग्य और अनुमितार्थता की सान पर चढ़ाकर धारदार और पैना बनाया। उन्होंने भारी-भरकम और कूट शब्दों के बोझिल और बेडौल अलंकारों की हँसली, हमेल और कड़े-पछेली न पहना हिन्दी को हलके-फुलके और सर्वप्रिय चमकते हुए जनभाषा के प्रयोगों द्वारा आभूषित कर 'नागरी' बनाया"[१] 'सर सैयद का बुढ़ापा' और 'उर्दू को उत्तर' (२८ मई १९०० में प्रकाशित) उनकी अमर रचनाएँ हैं। भारतेन्दुजी हिन्दी की प्रगतिशील धारा के जनक हैं। बाबू बालमुकुन्द गुप्त इस क्षेत्र में उनके सच्चे अनुगामी हैं। १९०६ ई० में उनकी 'भारतमित्र' में छपी 'पोलिटीकल होली' रचना स्पष्टता, निर्भीकता, भविष्यदृष्टि और पत्रकारिता आदि की दृष्टि से पठनीय है :

ना कोई लिबरल ना कोई टोरी।
जो परनाला सो ही मोरी।
दोनों का है पन्थ अघोरी।
होली है, भई होली है॥
करते फुलर विदेशी वर्जन।
सब गोरे करते हैं गर्जन।
जैसे मिण्टो वैसे कर्जन।
होली है, भई होली है।[२]

हे धनियो, क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार ?
जिसका मरे पड़ोसी भूखा, उसके भोजन को धिक्कार॥[३]

'पंजाब में लायल्टी' कविता में उन्होंने लिखा था कि :

सब के सब पंजाबी अब हैं लायलटी में चकनाचूर।
सारा ही पंजाब देश बन जाने को है लायलपूर॥[४]

---

१. बनारसीदास चतुर्वेदी, बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ (लेख, गुप्त जी का सच्चा स्मारक, पं० मौलिचन्द्र शर्मा), पृ० ३८६

२. वही, पृ० ३९४

३. वही, पृ० ३९६

४. वही, पृ० ४२०

'प्रेमघन' मूलतः ब्रजभाषा के ही कवि थे, परन्तु खड़ी बोली के आगमन की पदचाप को वे सुन रहे थे। 'मन की मौज', 'आनन्द अरुणोदय', 'मयंक महिमा' आदि उनकी खड़ी बोली की रचनाएँ हैं। प्रतापनारायण मिश्र का मत खड़ी बोली के विषय में यह था—"सिवाय फारसी छन्द और दो-तीन चाल की लावनियों के और कोई छन्द उसमें बनाना भी ऐसा है जैसे किसी कोमलांगी सुन्दरी को कोट-बूट पहनाना।"[१] राधाचरण गोस्वामी खड़ी बोली के प्रति उन्मुख नहीं थे। उन्हें डर था कि खड़ी बोली के माध्यम के ब्याज से उर्दू स्थापित हो जायेगी। म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी (१८६० ई०–१९१० ई०) तो हिन्दी शब्दसागर, वैज्ञानिक कोष तथा हिन्दी व्याकरण की योजना-समितियों के सदस्य थे। वे संस्कृत और हिन्दी दोनों में कविता करते थे। भाषा के विषय में उनका यह मत था :

अनुचित है या उचित यह, यह समुझत नहिं कोय।
घर घर जो बोलत फिरैं, भाषा कहिये सोय॥

भाषा की दृष्टि से भारतेन्दु युग के कवियों ने शब्द-शोधन का कार्य तो किया ही, भाषा को अधिकाधिक जनता के समीप लाने का प्रयास भी किया और उसे सरल, प्रवाहयुक्त तथा सजीव बनाया। इसके फलस्वरूप स्वच्छन्द शैली का आविर्भाव हुआ। भारतेन्दु युग मूलतः गद्य का युग था, इसलिए पद्य में खड़ी बोली प्रभविष्णु न हो सकी। एक ही साहित्य में दो भाषाओं का प्रयोग चल रहा था—गद्य में खड़ी बोली का और पद्य में ब्रजभाषा का। पुराने छन्द—कवित्त, सवैया, रोला, दोहा और छप्पय—ही इस युग में सर्वाधिक प्रचलित थे। लावनी और कजली में लोक-साहित्य गढ़ने की प्रवृत्ति भारतेन्दु युग में व्याप्त थी। इस काल की खड़ी बोली में लिखी गयी कविताएँ निर्जीव और रसविहीन हैं। भारतेन्दु "सिद्धवाणी के अत्यन्त सरस कवि थे" यह शुक्लजी की मान्यता है और प्रो० सुधीन्द्र तो यह मानते हैं कि "एक शब्द में कहा जाय तो हिन्दी का 'भावकल्प' ही भारतेन्दु काल की देन है। भारतेन्दु और उनके कवि-मण्डल ने 'भाव' की क्रान्ति के द्वारा ही युगान्तर किया था। यह भावकल्प पूर्णतया अतीत की परम्परा से विच्छिन्न न हो सका। रीतिकालीन भाषा-परम्परा का प्रभाव भारतेन्दु पर भी था। उनमें भक्तिकालीन भाव-परम्परा का नवोत्थान था, परन्तु इसके साथ ही वे नवयुग की कविता के अग्रदूत भी थे।"[२] प्रेमघन रस को काव्य की आत्मा मानते

---

१. किशोरीलाल गुप्त, भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० ३९०

२. प्रो० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० ५९

थे। भारतेन्दु रस को काव्य का जीवन मानते थे और भाषा को गौण स्थान देते थे :

जामैं रस कछु होत है, पढ़त ताहि सब कोय।
बात अनूठी चाहिये, भाषा कोऊ होय॥[१]

भारतेन्दु का सिद्धान्त वाक्य ही यह रहा है कि :

"भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥"[२]

आनन्द की अनुभूति और लोकहित की व्यवस्था को भारतेन्दु ने अपने काव्य का मूल प्रयोजन माना है। अपनी वाणी को पवित्र करने के लिए उन्होंने काव्य लिखा है :

जो गावहिं व्रजभक्त सब, मधुरे सुन सुभ छन्द।
रसना पावन करन कों, गावत सोइ हरिचन्द॥[३]

उनके लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के वर्ण्य विषय हैं और विशेष-कर भक्ति को काव्य का केन्द्र-बिन्दु बनाया है।

'सन्त मनभाई सुखदाई है सुहाई, जामैं कृष्ण केलि गाई सोई साँची कविताई है'[४] यह उनकी कविता की कसौटी है। काव्य में राष्ट्रीयता के प्रतिपादन के काम में वे पूरी तरह से तत्पर थे। उन्होंने 'छत्रिय पत्रिका' के सम्पादक बाबू रामदीन सिंह के प्रति भाद्र शुक्ल ३, सम्वत् १९३८ को लिखे गये पत्र में अपने विचारों को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"मेरी बुद्धि में भी आपकी पत्रिका में वीर रस के काव्य विशेष रहने चाहिए। नेशनल संगीत, नेश-नल काव्य इन्हीं की भरती विशेष कीजिए वा पृथक् पुस्तकाकार छापिए।"[५] भारतेन्दु ने बंगला, गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी, उर्दू सभी भाषाओं में लिखा। भारतेन्दु की 'फूलों का गुच्छा' शीर्षक कविता के विषय में हरिऔध का यह मत है कि "यदि सच पूछिए तो हिन्दी में स्पष्ट रूप से खड़ी बोली रचना का प्रारम्भ इसी ग्रन्थ से होता है।"[६] प्रेमघन ने भी रस को काव्य का प्राण

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृ० ३७२
२. वही, भाग २, पृ० ५७७ (प्रेम फुलवारी)
३. वही, पृ० ७४८
४. प्रेम माधुरी, भारतेन्दु छन्द ९१ (द्वि० सं०, सन् १८८२)
५. डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त, आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त, पृ० ४६
६. हरिऔध, हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (सन् १९५८)

माना है। हिन्दी भाषा की उन्नति की कामना उन्होंने की है। भक्ति भाव की रचना से काव्य में भाव-सम्बन्धी दोषों का शमन हो जाता है और कवि के भावों को विशेष दीप्ति प्राप्त होती है। इसी आधार पर उन्होंने काव्य के वर्ण्य-विषय चुने थे। वे शुद्ध ब्रजभाषा के पक्षपाती थे। वे काव्य में उपयुक्त शब्द-चयन और शब्द-व्यवस्था चाहते थे। राधाकृष्णदास काव्य में सरसता, मधुरता, भावात्मकता और स्वाभाविकता आदि विशेष गुणों पर अधिक बल देते थे। ठाकुर जगमोहन सिंह भारतेन्दु के समान रस को काव्य का आत्मा मानते थे। उनकी 'देवयानी' शीर्षक काव्यकृति के अन्त में रसतत्व को स्पष्ट किया गया है। उन्होंने लिखा है कि :

> श्री जगमोहन सिह रचित यह कथा अमित रसखानी।
> देवयानि अरु नृप जजाति की सुरस छन्द कल बानी ॥[१]

अम्बिकादत्त व्यास ने प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु माना है। कवित्व का बीज उन्होंने वाणी के उद्भास में माना है :

> रसना हू बस ना रहत, बरनि उठत कर जोर।
> नन्द नन्द मुख चन्द पै, चित हू होत चकोर ॥[२]

राधाकृष्णदास ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका के छठे भाग में, सन् १९०२, पृ० १७८-१७९, लिखा है कि "कविता-शक्ति परमेश्वर की देन है और इसीलिए कवियों की तरंग कुछ विलक्षण होती है। जो लोग सुकवि हैं उन्हें जब तरंग आती है तो फिर संसार के नियमों को दूर रखकर वे अपनी उमंग को निकाल डालते हैं। यदि उस समय कोई उन्हें नियम से बाँधना या रोकना चाहे तो उनकी स्वाभाविक कल्पना नष्ट हो जाती है और फिर उसका रस जाता रहता है।"[३] इस प्रकार बन्धनमुक्त काव्य-रचना को काव्य का प्रेरक तत्व मानकर बाबू राधाकृष्णदास ने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। पं० अम्बिकादत्त व्यास ने देश अथवा धर्म की उन्नति की प्रेरणा को काव्य का प्रमुख गुण माना। लोकहित काव्य-रचना का प्रयोजन है। प्रतापनारायण मिश्र ने लोक-मंगल को काव्य का आदर्श माना। सभी दृष्टियों से भारतेन्दु युग खड़ी बोली का प्रायोगिक काल है। वह काव्य-शास्त्रीय परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार करता हुआ भी नये आदर्श ग्रहण करने की उत्क्रान्ति

---

१. ठा० जगमोहन सिंह, देवयानी, पृ० ९५, छन्द ५०

२. सुकवि सतसई, प्रथम संस्क० सन् १८८७, पृ० ६२, छन्द ९२

३. डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त, आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त, पृ० ७०

तक जाता है। भारतेन्दु-मण्डल के कवियों ने एक काम जो सब से बड़ा किया वह यही था कि साहित्य का जो सम्बन्ध जनता से टूटा हुआ था उसे पुनः स्थापित कर दिया। प्रेमघन (१८५५-१९२३ ई०), प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४ ई०), ठा० जगमोहन सिंह (१८५७-१८९९ ई०), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२ ई०), रामकृष्ण वर्मा (१८५९-१९०६ ई०), अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९०० ई०), राधाचरण गोस्वामी (१८५९-१९२५ ई०), सुधाकर द्विवेदी (१८६०-१९१० ई०), राधाकृष्णदास (१८६५-१९०७ ई०) आदि कवि भारतेन्दु-मण्डल के कवि हैं। संक्रान्तियुगीन कवियों में बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७ ई०) तथा श्रीधर पाठक (१८५९-१९२८ ई०) का स्थान ऊँचा है।

इस अनुष्ठान में महत्वपूर्ण योगदान देने वाली पत्रिकाएँ इस प्रकार थीं :

| पत्र | सम्वत् | सम्पादक |
|---|---|---|
| अलमोड़ा अखबार | १९२८ | सदानन्द सनवाल |
| हिन्दी दीप्ति प्रकाश | १९२९ | कार्तिकप्रसाद खत्री |
| बिहार बन्धु | १९२८ | केशवराम भट्ट |
| सदादर्श | १९३१ | ला० वेनीनिवास दास |
| शशी पत्रिका | १९३३ | ला० बालेश्वरप्रसाद |
| भारत बन्धु | १९३३ | तोताराम |
| भारत मित्र | १९३४ | रुद्रदत्त |
| मित्रविलास | १९३४ | कन्हैयालाल |
| हिन्दी प्रदीप | १९३४ | बालकृष्ण भट्ट |
| आर्य दर्पण | १९३४ | बख्तावरसिंह |
| सार सुधानिधि | १९३५ | सदानन्द मिश्र |
| उचित वक्ता | १९३५ | दुर्गाप्रसाद मिश्र |
| सज्जन कीर्ति सुधाकर | १९३५ | वंशीधर |
| भारत दुर्दशा प्रवर्त्तक | १९३६ | गणेश प्रसाद |
| आनन्द-कादम्बिनी | १९३८ | बदरी नारायण चौधरी |
| दिनकर प्रकाश | १९४० | रामदास वर्मा |
| धर्म दिवाकर | १९४० | देवीसहाय |
| प्रयाग समाचार | १९४० | देवकीनन्दन त्रिपाठी |
| ब्राह्मण | १९४० | प्रतापनारायण मिश्र |

| पत्र | सम्वत् | सम्पादक |
|---|---|---|
| शुभचिन्तक | १९४० | सीताराम |
| सदाचार मार्तण्ड | १९४० | लालचन्द शास्त्री |
| हिन्दोस्थान | १९४० | राजा रामपाल सिंह |
| पीयूष प्रवाह | १९४१ | अम्बिकादत्त व्यास |
| भारत जीवन | १९४१ | रामकृष्ण वर्मा |
| भारतेन्दु | १९४१ | राधाचरण गोस्वामी |
| रविकुलरंजन दिवाकर | १९४१ | रामनाथ |

## भारतेन्दुयुगीन काव्य का प्रभाव और उपलब्धियाँ

(१) भारतेन्दु काल में भावों की क्रान्ति हुई। इसी को प्रो० सुधीन्द्र ने 'रंग की क्रान्ति'[1] कहा है। रीतिकालीन काव्य की ऐन्द्रियता और विलासपूर्ण रचनाओं को छोड़ कर नवीन विषयों और प्रगतिशील भावनाओं को इस काल के कवियों ने अपनाया। सामाजिकता, राष्ट्रीयता और दैनिक समस्याओं पर भी काव्य लिखा गया। इस तरह काव्य का अन्तरंग या वस्तु-पक्ष बदल गया।

(२) इस युग की कविता खड़ी बोली की ओर आकृष्ट होने लगी। खड़ी बोली में यद्यपि सफल काव्य की सृष्टि इस युग में न हो सकी, किन्तु उसकी भूमिका अवश्य तैयार हो गयी।

(३) भारतेन्दु युग की कविता में लोक-जीवन का संस्पर्श है। 'भारत दुर्दशा' पर आँसू बहाये गये। राजभक्ति के गीतगान से अन्त में निराश होकर देशभक्ति के गीत गाये गये। स्वार्थी, कुलघाती और देशद्रोहियों की निन्दा की गयी। विक्रम, भोज, चन्द्रगुप्त और चाणक्य की महिमा गायी गयी। अंग्रेजों की शोषण नीति पर व्यंग्य किये गये और पशुबलि का विरोध हुआ। महँगी, अकाल, टैक्स, अपने धन का विदेश ले जाया जाना, बहुदेववाद, खानपान विग्रह, बालविवाह, जाति-पाँति के झगड़े, उद्यमहीनता, भाषा, भेष, राजनीतिक दासता, आदि विविध विषयों पर लिखा जाने लगा। काव्य के स्वर, भाव और रंग-रूप बदलने लगे। ''निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल'' मन्त्र प्रमुख हो गया।

(४) भारतेन्दु काल खड़ी बोली की भूमिका का युग है। भारतेन्दु का प्रयास एवं प्रेमघन का 'आनन्द अरुणोदय' सरसता से ओतप्रोत है :

---

१. प्रो० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता का क्रान्ति युग, पृ० २

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का ।
समझ अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका ।
अरुणोदय एकता दिखाकर प्राची दिशा दिखाती ।
देखा नवउत्साह परम पावन प्रकाश फैलाती ॥[१]

× ×

उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई ।
खग वन्देमातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई ॥[२]

पं० प्रतापनारायण मिश्र की खड़ी बोली की प्रार्थना इस प्रकार है :

पितु मातु सहायक स्वामि सखा तुम ही इकनाथ हमारे हो
जिनके कछु और अधार नहीं तिनके तुम ही रखवारे हो ।[३]

(५) श्रीधर पाठक की भाषा इन प्रयोगों से अधिक स्वच्छ थी :

कहो न प्यारे मुझसे ऐसा, झूठा है यह सब संसार ।
थोथा झगड़ा जी का रगड़ा, केवल दुख का हेतु अपार ॥[४]

× ×

ऐसा कायर तो पृथ्वी को वृथा भार पहुँचाता है ।
अपना जीना ही जिसको एक बड़ा बोझ हो जाता है ॥[५]

('जगत सचाई सार')

श्रीधर पाठक खड़ी बोली के प्रथम कवि हैं ।

(६) स्वदेशी का प्रेम और हिन्दी का प्रेम धीरे-धीरे आन्दोलन के रूप में उपस्थित हुआ ।

(७) सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्र के नये आन्दोलनों को कवियों ने प्रश्रय दिया ।

(८) साहित्य में विशेषकर काव्य में लोकनिष्ठता, यथार्थवादिता और राजनीतिक चेतना का प्रसार हुआ । १८६५ ई० से १९०० ई० तक के इस प्रथम उत्थान में भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवि ही उल्लेखनीय हैं ।

---

१. प्रो० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता का क्रान्ति युग, पृ० ४२
२. वही
३. वही, पृ० ४३
४. वही, पृ० ४८
५. वही

(९) अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ और हिन्दुओं में व्यापक एकता के दर्शन हुए, राष्ट्रीयता का प्रसार भी हुआ। धार्मिक और सामाजिक शक्तियाँ सक्रिय हुईं।

(१०) किसानों और दीन वर्गों के प्रति सहानुभूति की रचनाएँ लिखी गयीं। ग्राम-जीवन की दुर्दशा पर काव्य रचे गये। विदेशी वस्तुओं के व्यवहार की कटु आलोचना की गयी। भारतीय शिल्प की ओर ध्यान खींचा गया। अंग्रेजों की दासता को धिक्कारा गया। आर्थिक स्वतन्त्रता को काम्य समझा गया। 'जननी जन्मभूमि' की महानता के गीत गाये गये।

(११) छुआछूत तथा ऊँच-नीच की भावना की आलोचना की गयी :

"बहुत हमने फैलाये धर्म,
बढ़ाया छुआछूत का कर्म।"[१]

(१२) सुधारवादी आन्दोलनों ने कवियों को प्रभावित किया। भारतेन्दु युग में इन आन्दोलनों को समाज की उन्नति के लिए आवश्यक समझा गया। इनका कविता में प्रतिपादन भी हुआ।

(१३) काव्य में नवजीवन, उत्साह, आधुनिकता, नागरी आन्दोलन, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक तथा भाषा सम्बन्धी समस्याओं पर विचार, आदि भारतेन्दु युग की काव्य को देन हैं। यह नवीन विचारों की कविता का युग था।

डॉ० रामविलास शर्मा के मत से "भारतेन्दु युग के साहित्य की यही सबसे बड़ी खूबी है कि वह जनता का साहित्य है। उसकी भाषा न रामपुर और हैदराबाद के दरबारों की है, न सरकारी अफसरों और कचहरी के मुहर्रिरों की। वह जनता की भाषा है जिसमें अत्यधिक ग्राम-सम्पर्क के चिह्न भले हों, नागरिक बनाव-सिंगार और टीपटाप का अभाव है।"[२]

● ●

---

१. भारतेन्दु, भारतेन्दु नाटिकावली, भारत दुर्दशा, पृ० ६१६

२. डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० १८४

## तृतीय अध्याय

# द्विवेदीयुगीन काव्य की प्रेरक परिस्थितियाँ

### सांस्कृतिक

भारतेन्दुयुगीन काव्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भारत में अँग्रेजों के राज्य की स्थापना के पश्चात् दो भिन्न संस्कृतियाँ सम्पृक्त हुईं। भारतीय नवोत्थान, प्राचीन और नवीन के समन्वय, अतीत के गौरव, स्वभाषा, स्वदेशी, तथा समाज-सुधार के विभिन्न प्रश्नों को हल करने में उस युग के अधिकांश कवि व्यस्त हो गये थे। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि ने सांस्कृतिक नवजागरण को संघटित किया था। सन् १८८५ ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के जन्म के पश्चात् भारत में राजनैतिक संघर्ष बढ़ने लगा। द्विवेदी युग (१९०० ई०-१९२० ई०) की पृष्ठभूमि में उन्नीसवीं शताब्दी की यही सांस्कृतिक गतिविधि सक्रिय थी।

द्विवेदीयुगीन काव्य के मूल में जातीय गौरव का भाव और अपने महान अतीत की चेतना है। पश्चिम का अन्धानुकरण करने की प्रवृत्ति द्विवेदी युग में अपनी राष्ट्रीय सांस्कृतिक धरोहर को महत्व देने के कारण घटने लगी थी। आतंकवादी गरम दल वाले कांग्रेसी और आधुनिक शिक्षा प्राप्त मध्यमवर्ग के लोगों में भारतीय संस्कृति के उत्थान की मनोभावना सर्वोपरि थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, तिलक, एनी बेसेन्ट, गोखले, महादेव गोविन्द रानाडे और अरविन्द घोष इसी सांस्कृतिक नवोत्थान के सुदृढ़ स्तम्भ थे। ये सभी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को लिये हुए थे। इसी सांस्कृतिक चेतना से राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। भारतेन्दुयुगीन काव्य में जो कर्तव्यपरायणता, सेवा, लोकरक्षा, देशप्रेम आदि

की साधना की गयी थी, वह प्रथम महायुद्ध की चपेट के कारण और अधिक साधनात्मक, तप-त्यागमय, अहिंसा तथा आत्मशुद्धि से भर उठी। विश्व-बन्धुत्व, समभाव, एकोऽहं बहुस्याम, मानवप्रेम आदि पुनः जागृत हो उठे। राष्ट्रीय नेताओं ने आधुनिक शिक्षा का विरोध किया। कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन ने १६१७ ई० में रिपोर्ट दी कि भारतीय मानस के साथ इस शिक्षा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अँग्रेजी पढ़ा-लिखा मध्यमवर्गीय व्यक्ति नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन के एक भयानक विरोधाभास में जी रहा था।

१६२२ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सेकेण्डरी स्कूलों के लिए विदेशी भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार किया। द्विवेदी युग में स्थापित शिक्षण-संस्थानों में जीवन के सांस्कृतिक पक्ष पर अधिक जोर दिया जाने लगा था। आर्य-समाज पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान और भारतीय धर्म तथा दर्शन का समन्वय करके सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के कार्य में व्यस्त था। विश्वविद्यालयों में भारतीय संस्कृति, साहित्य और कला का अध्ययन आरम्भ हुआ। तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला के आदर्श स्मरण हो आये। राजा रविवर्मा की चित्रकला 'रूपम्' का प्रकाशन और अवनीन्द्रनाथ की चित्रकला का प्रसार हुआ। १६१० ई० में पुरातत्व की ओर ध्यान गया। वैज्ञानिक क्षेत्र में सर जगदीशचन्द्र वसु और प्रफुल्लचन्द्र राय ने कई पौराणिक तथ्यों को सत्य सिद्ध किया। भारतीय उपनिवेशों के रूप में पूर्वी द्वीप-समूहों से सम्बन्धित कथाएँ भी साहित्य में स्थान पाने लगीं। अरविन्द, विपिनचन्द्र पाल, घोष, तिलक, गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि पश्चिमी भौतिकवाद से भारत की रक्षा करना चाहते थे। भारत को समूचे विश्व-मानवता की निर्वाण-भूमि के रूप में प्रस्तुत किया गया। भारत-माता के गीत गाये जाने लगे। बलिदान की भावना बढ़ने लगी। पश्चिमी आमोद-प्रमोद के साधनों का तिरस्कार किया जाने लगा। राजा राममोहन राय का एकेश्वरवाद, बुद्धिवाद, विश्वधर्म, प्रकृति तथा अन्तश्चेतना को ईश्वरीय ज्ञान का मूल स्रोत मानने वाला मत फैला। आर्य-समाज, वेदान्त-दर्शन, गाँधी का गीता-धर्म, तिलक का गीता-रहस्य, रवीन्द्र की असीम चेतना की साधना आदि से भारतीय संस्कृति की ही प्रतिष्ठा हुई। गाँधी और टैगोर एक-दूसरे के पूरक होते हुए भी द्विवेदी युग के सांस्कृतिक प्रतीक थे, जो भारतीय संस्कृति का नवीन उत्थान करने वाले थे। गाँधी ने विश्व को मानवता, बन्धुत्व, सत्यता और अहिंसा का पाठ पढ़ाया। 'अहिंसावाद' का प्रारम्भ हुआ। सत्याग्रह और स्वातन्त्र्य संग्राम गाँधी के कारण महत्वपूर्ण हो

उठे। गाँधी ने राजनीति से धर्म और नैतिकता को सम्बद्ध कर दिया। यह साहित्य में गाँधी और रवीन्द्र का युग था।

## सामाजिक एवं धार्मिक

द्विवेदीयुगीन काव्य की प्रेरणास्पद शक्तियाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में बड़ी उथल-पुथल मचा रही थीं। अँग्रेजों के सम्पर्क, पाश्चात्य जीवन-दर्शन की निकटता तथा पश्चिमी वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, भारतेन्दु, दयानन्द, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, एनी बेसेन्ट और रानाडे आदि ने भारतीय सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में पुनरुद्धार का मंत्र फूँका। ब्राह्म-समाज, आर्य-समाज, वेदान्त-दर्शन, तदीय समाज, गाँधीवाद, प्रार्थनासमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि ने अपने-अपने ढंग से सामाजिक कुरीतियों का विरोध और सुधारवादी विचारों का प्रचार किया। १८८५ ई० में काँग्रेस के जन्म से एक नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। दादाभाई नौरोजी, गोखले, तिलक आदि राष्ट्रीय नेता अवश्य थे, साथ ही सामाजिक और धार्मिक नेता भी थे। काँग्रेस की भीतरी और बाहरी कक्षाओं में भी समाज-सुधार की विचारणा प्रस्तुत की गयी और प्रत्यक्ष रूप से इस सम्बन्ध में कार्य भी किया।

द्विवेदी युग के आरम्भ होते-होते दयानन्द, रामकृष्ण और विवेकानन्द दिवंगत हो चुके थे। कई क्रूर सामाजिक प्रथाएँ शक्तिहीन हो गयी थीं, परन्तु अभी छुआछूत, बाल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध, स्त्री-शिक्षा का अभाव, वर्ण-भेद, पर्दे की प्रथा, अन्धविश्वास, समुद्र-यात्रा का निषेध, रहन-सहन के प्रतिबन्ध आदि अनेक कुरीतियाँ थीं जो घुन की तरह लगी हुई थीं। लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज आदि ने स्वामी दयानन्द के कार्य को आगे बढ़ाया। रेल, तार तथा मुद्रण के प्रसार और समुद्र-यात्रा, शिक्षा-प्रसार, स्त्री-शिक्षा आदि के कारण रूढ़ियाँ तथा कुरीतियाँ मिटने लगीं। समाज को राष्ट्रीय आन्दोलन ने प्रभावित किया। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, नारी की समान अधिकार की भावना, हिन्दू-मुसलिम समाज की साम्प्रदायिकता और हरिजनों की समस्या पर राष्ट्रीय नेताओं ने उदारतापूर्वक विचार किया। गाँधी ने हरिजन-समस्या को काँग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का रूप दिया। आर्य-समाज ने शुद्धि आन्दोलन चलाया। स्त्रियों की जागृति और अस्पृश्यता-निवारण के कार्य द्विवेदी युग में समाज-सुधार के कार्यक्रम में सम्मिलित थे। अंग्रेजों ने हिन्दू-मुसलिम समस्या, हिन्दी-उर्दू समस्या, ब्राह्मण-अब्राह्मण समस्या,

हिन्दू-हरिजन समस्या, सवर्ण-अवर्ण समस्या, आदि से राजनीतिक लाभ उठाना चाहा, परन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। दक्षिण का अब्राह्मण ब्राह्मण आन्दोलन सवर्ण हिन्दुओं तक ही सीमित रह गया। मिन्टो-मार्ले सुधार (१९०९ ई०) से कौन्सिलों में भारतीयों को प्रतिनिधित्व दिया गया और दुर्भाग्यपूर्ण पृथक निर्वाचन पद्धति चालू की गयी। मॉन्टेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार (१९१९ ई०) से धर्मगत पार्थक्य बढ़ा और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति क्षीण होने लगी। राष्ट्रीय आन्दोलन ने सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों को भी सप्राण बनाया। प्रत्येक जाति में सुधार के आन्दोलन शुरू हुए। गाँधी जी ने स्त्री-शिक्षा, पर्दा-निवारण, विधवा-विवाह-प्रचार, समुद्र-यात्रा, मद्यनिषेध, अस्पृश्यता-निवारण, दहेज-प्रथा-विरोध आदि तथा खानपान और छुआछूत सम्बन्धी सुधारों पर बराबर बल दिया। परन्तु राजनीतिक विभेदों ने उसे शिथिल भी किया। द्विवेदी युग के अन्त तक आर्य-समाज भी कमजोर पड़ने लगा था। राजनीतिक आन्दोलनों में नैतिक तत्वों का प्रवेश हुआ और समाज-सुधार के कार्यक्रम अपनाये गये। राष्ट्रीय चेतना ने सामाजिक कुरीतियों को अपने आप मिटाना शुरू कर दिया। अपनी वर्तमान अवनति और अपने प्राचीन गौरव से सभी भारतीय परिचित थे। तर्क-बुद्धि, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, नवीन शिक्षा और आविष्कारों आदि से लोग नया प्रकाश पाने लगे थे। स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द और थियोसोफी के प्रचार के कारण समाज में आत्म-विश्वास और स्वाभिमान का उदय हुआ। भारतेन्दुयुगीन सुधार जो बीज रूप में थे, द्विवेदी युग में विकसित हुए। स्वामी दयानन्द ने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल वैदिक धर्म पर जोर दिया। शुद्धि आन्दोलन एक क्रान्तिकारी आन्दोलन था। आर्य-समाज का राष्ट्रीय दृष्टिकोण इतना प्रबल था कि भारतीय सांस्कृतिक गौरव की भावना पुनर्जीवित हो उठी। १८८३ ई० में 'सत्यार्थ प्रकाश' का प्रकाशन हुआ और १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना हुई। सनातनधर्मी भी सजीव और सक्रिय हुए।

द्विवेदी युग में पौराणिक धर्म की प्रमुखता के कारण बहुदेववाद, कर्मकाण्ड, यात्रा, व्रत, मूर्ति-पूजा और त्यौहारों का प्राधान्य था। आर्य-समाज ने एकेश्वर-वाद का प्रचार किया। नवोत्थानमूलक साहित्यिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ गहराई में जाने लगीं। गीता का मानवधर्म प्रमुख हो उठा। गीता से तिलक, बेसेन्ट और गाँधी भी प्रभावित थे। दयानन्द, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस आदि का सन्देश राष्ट्रीय जीवन को आलोकित करने लगा था। धार्मिक संस्कार फिर से नया जीवन ग्रहण कर रहे थे।

### राजनीतिक

भारतेन्दुयुगीन राजनीतिक चेतना में जो आवेश की कमी थी वह भारतेन्दु के दिवंगत होने के बाद संगठित होने लगी थी। अंग्रेजी का अध्ययन, पश्चिमी विचारों का प्रवेश, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रसार और नव-जागरण की राष्ट्रोत्थान की भावनाओं ने नवीन राजनीतिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। प्रारम्भ में नरम दल का प्रभाव था। अंग्रेजों का सविनय विरोध होता था। देशभक्ति के साथ, अंग्रेजों का उग्र विरोध शुरू नहीं हुआ था। १८९२ ई० में दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सदस्य चुने गये। अंग्रेजों की दमनकारी नीति, साम्प्रदायिक विभेद करने की प्रवृत्ति तथा अकाल, टैक्स, महामारी का प्रकोप बढ़ता गया। १८९६ ई० में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। फौजी कार्यवाही से आर्थिक हानि, टैक्स का बोझ और दमनकारी कानून से गरीब जनता परेशान थी। १८९७ ई० में भूकम्प और प्लेग ने आ दबोचा। तिलक उग्रतावादी थे। पूना के प्लेग अफसर मि० रैण्ड की हत्या और लेफ्टिनेन्ट एअरर्ट की भी हत्या की शंका के आरोप में चिपेकर-बन्धुओं को दण्डित किया गया। बलवन्तराव नातू और हरियल रामचन्द्र नातू को इसलिए निर्वासित किया गया कि उन्होंने प्लेग से हुई बर्बादी और फौजियों की ज्यादती का विस्तृत विवरण प्रकाशित किया था। तिलक ने जन-जीवन को खौला दिया। वे क्रान्तिकारी विचारों के नेता थे। तिलक ने १८९३ ई० में गणपति उत्सव और १८९७ ई० में शिवाजी-उत्सव प्रारम्भ किये। वे मराठी में 'केसरी' और अंग्रेजी में 'मराठा' पत्र निकाल रहे थे। अंग्रेजों की दमन नीति का उन्होंने सख्त विरोध किया उनकी गिरफ्तारी से चारों ओर अशान्ति फैली। वे नयी भारतीय चेतना के जनक थे। राष्ट्रधर्म के वे श्रेष्ठतम नायक थे। तप, त्याग, बलिदान, जनसेवा, निर्भीकता और राष्ट्रीयता के वे प्रतीक थे। गोखले और तिलक के तरीके भिन्न थे। गोखले नरम थे और तिलक उग्र। जनवादी परम्पराओं को प्रारम्भ करने वाले तिलक इस देश में बिना ताज के बादशाह थे। वे राजनीतिक क्षेत्र में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रथम खतरनाक राजनीतिक बन्दी थे। १८९८ ई० में प्लेग और लॉर्ड कर्जन दोनों यहाँ आये। १८९९-१९०० ई० में भीषण अकाल पड़ा। लॉर्ड कर्जन साम्राज्यवादी नीति के पोषक थे। वे भारतवासियों को स्वराज्य के लिए अयोग्य समझते थे। उनकी शिक्षा सम्बन्धी नीति और १९०४ का विश्वविद्यालय सम्बन्धी कानून घातक सिद्ध हुआ। तिब्बत अभियान का खर्च उन्होंने भारत के ऊपर डाला। १९०५ ई० में बंगाल का विभाजन किया। दक्षिण अफ्रीका में भी भारतीयों पर बहुत अत्याचार किये जा रहे थे। जो

अंग्रेज काँग्रेस में रुचि रखते थे, वे भी साम्राज्यवादी अंग्रेजों के ही पोषक थे। द्विवेदी युग १९०० ई० से प्रारम्भ होता है, परन्तु उसकी राजनीतिक परिस्थितियाँ अंकुरित हो चुकी थीं। १९००-१९०६ ई० तक अकाल, प्लेग, कर, शिक्षा, शासन, भेद-नीति और साम्राज्यवादी कूटनीतियों ने चारों ओर असन्तोष फैला दिया था। भारतीयों का आत्म-गौरव और आत्म-सम्मान चोट खाकर संत्रस्त हो उठा। बंगभेद की घटना (२० जुलाई १९०५ ई०) ने एक व्यापक जन-आन्दोलन पैदा किया। विदेशी माल का बहिष्कार हुआ। १९०६ ई० में दादाभाई नौरोजी ने राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में 'स्वराज्य' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया। प्रवास सम्बन्धी बिल (१९०७), सभाबन्दी कानून (१९०८), प्रेस एक्ट (८ जून, १९०८ ई०) आदि के कारण उग्रता और बढ़ी। सरदार अजीत सिंह और लाला लाजपत राय का निर्वासन (९ मई, १९०७) आग में घी का काम कर गया। दमन बढ़ा तो गुप्त रूप से उसके प्रतिकार के कार्य शुरू हुए। 'युगान्तर', 'संध्या' और 'वन्देमातरम्' ने जागृति के नये स्वर फूँके। लॉर्ड मिन्टो के १९०५ ई० में आने के बाद हिंसा, सैनिक विद्रोह, हत्या, बमबाजी और राजद्रोह का खुले आम प्रचार होने लगा। दमन और तीव्र हुआ। 'वन्देमातरम्' शब्द पर नियन्त्रण लगा दिया गया। द्विवेदी युग का प्रथम दशक राजनीतिक क्षेत्र में नयी चेतना, रचनात्मक, आतंकवादी और राजद्रोहपूर्ण आन्दोलनों से परिपूर्ण था। 'लाल-बाल-पाल' का वह जमाना था। हिन्दू-मुसलिम दंगे शुरू हुए। दमनचक्र बढ़ा। जन-समुदाय उग्र होता गया। १९०९ ई० में मिन्टो-मार्ले सुधार लागू हुआ, जो साम्प्रदायिकता का पोषक था। अंग्रेजों ने भेदनीति से काम लिया। मुसलमानों को नवचेतना के इस राष्ट्रीय जीवन से अलग रखा जाने लगा। पृथक् निर्वाचन और राजनीतिक प्रतिनिधित्व उन्हें दिया गया। सर सैयद अहमद, अलीगढ़ आन्दोलन और इस्लामाबाद के नारे आ गये। मुसलिम लीग की स्थापना (१९०६ ई० में) हुई और १९०७ ई० में कराँची में उसका पहला अधिवेशन हुआ। प्रथम निर्वाचन का काँग्रेस ने (१९०९ ई० में) लाहौर में ही विरोध किया। १९१३ ई० में 'गदर आन्दोलन' ने अंग्रेजों को थका दिया। इस गदर आन्दोलन को श्यामजी कृष्ण वर्मा, सावरकर, अरविन्द घोष, वारेन्द्र घोष, खुदीराम बोस, धींगरा, लाला हरदयाल आदि ने सारे देश में फैला दिया। १९११ ई० में भारत की राजधानी अंग्रेज कलकत्ते से दिल्ली ले आये और बंग-भंग को रद्द कर दिया गया। १९१२ ई० में लॉर्ड हार्डिंग्ज पर दिल्ली में बम फेंका गया। इसी समय १९११ ई० में प्रान्तीय स्वराज्य की बात पर लन्दन में विचार किया

गया। १८९६ ई० से गाँधीजी दक्षिण अफ्रीका में गौरांग महाप्रभुता की औपनिवेशिक नीति के विरुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन छेड़े हुए थे। १९१३ ई० में गाँधीजी ने सफल सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ा। १९१४ ई० में वे भारत आये। १९१६ ई० में गाँधी तथा मदनमोहन मालवीय ने मजदूरों को देश के बाहर भेजने की प्रथा का विरोध किया और १९१७ ई० में अंग्रेज सरकार को इस देशव्यापी माँग के सामने झुकना पड़ा। १९१६ ई० में खिलाफत आन्दोलन को लेकर लीग और काँग्रेस का समझौता हुआ। अब गाँधी और जिन्ना दो नेता थे, पर एक काँग्रेस का और दूसरा मुसलमानों का नेता था। सन् १९१४-१९१८ ई० तक प्रथम महायुद्ध के अवसर पर तिलक और गाँधी ने अंग्रेजों की मदद की। परन्तु परिणाम उल्टा हुआ। दमन और तेज हो गया। ब्रिटिश कोलम्बिया में प्रवासी भारतीयों पर अत्याचार, कोमागाटामारू की घटना, डिफेन्स ऑफ इण्डिया एक्ट का प्रयोग और आतंकवाद दिनोंदिन बढ़ता गया। १९१५ ई० में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। १९१४ ई० में फ्रान्स में भारतीय सैनिकों की बहादुरी ने उनका सम्मान बढ़ा दिया। १९१५ ई० में गोखले की मृत्यु हो गयी और फीरोजशाह मेहता की भी मृत्यु हुई। १९१४ ई० में तिलक मांडले जेल से छूटे। वे उग्र थे, क्रान्तिकारी थे। १९१५-१६ ई० में उन्होंने पूना में राष्ट्रीय दल का संगठन किया। बम्बई काँग्रेस ने १९१५ ई० में "वैध उपायों से ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करने" का प्रस्ताव पास किया। तिलक ने उसका स्वागत किया और वे पुनः काँग्रेस में आ गये। १९१७ ई० में कलकत्ता में गरम दल का ही प्रभुत्व था। तिलक ने आयरलैण्ड से प्रेरणा प्राप्त कर अप्रैल १९१६ ई० में पूना में होमरूल लीग की स्थापना की। ऐनी बेसेन्ट ने होमरूल[1] की अखिल भारतीय लीग की स्थापना मद्रास में की। इंग्लैण्ड में सहायक होमरूल लीग का गठन किया गया। इससे प्रेरणा पाकर पूरे देश के नवयुवकों में स्वराज्य-प्राप्ति की चेतना बढ़ी। राष्ट्रीय साहित्य लिखा जाने लगा और ब्रिटिश शासन को घातक समझा जाने लगा। तिलक का स्वास्थ्य खराब हो गया। ऐनी बेसेन्ट ने बड़ी सफलता से होमरूल आन्दोलन चलाया था। भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्निर्माण व तिरंगा झण्डा इसी होमरूल आन्दोलन की देन हैं। १९१७ ई० में रोलेट कमेटी का काँग्रेस ने विरोध किया। इस कमेटी को क्रान्तिकारियों के विरुद्ध रिपोर्ट देनी थी। १९१६ ई० में लॉर्ड चैम्सफोर्ड आये।

---

१. चकबस्त ने गाया था कि "न लें बहिश्त भी हम होमरूल के बदले"।

राष्ट्रीय उमंगों ने और ज़ोर मारा। २१ अगस्त, १९१७ ई० को मॉन्टेग्यू ने उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की ब्रिटेन की भारतीय नीति की घोषणा की। ८ जुलाई १९१८ को मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट प्रकाशित हुई। यह सब अंग्रेजों की कूटनीति का ढकोसला था। गरम और नरम दल में इससे भेद पड़ गया। इसी मतभेद में लिबरल पार्टी का १९१८ ई० में जन्म हुआ। १९१९ ई० के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट से देश को बड़ी निराशा हुई। १९१९ ई० में ही रोलेट बिल स्वीकृत हो गया। इससे सारे देश में रोष फैला। लुइ फिशर ने 'दि लाइफ ऑफ महात्मा गाँधी', पृ० २२१ पर लिखा है, कि "भारत सरकार के विरुद्ध गाँधी का यह 'पहला कार्य' था।" गाँधी ने सामूहिक रूप से कानून तोड़ने का देश के सामने कार्यक्रम रखा। १९१९ ई० का वर्ष राजनीतिक घटनाओं का तूफानी वर्ष था। इसी वर्ष से गाँधी युग शुरू हुआ। गाँधीजी ने रोलेट एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह किया। देश भर में दंगे हुए। पंजाब के गवर्नर माइकल ओ० डायर ने जलियाँवाला बाग का नृशंस हत्याकाण्ड रच डाला। १९१९ ई० में अमृतसर काँग्रेस में बड़ा विवाद छिड़ा। बाद में गाँधी और तिलक एक दूसरे से अलग हो गये। अगस्त, १९२० को तिलक का देहान्त हो गया। १९२० ई० में असहयोग आन्दोलन ने सार्वजनिक रूप ले लिया। वैधानिक उपायों से स्वराज्य प्राप्त करने का उद्देश्य स्वीकार किया गया। पं० जवाहर-लाल नेहरू भी मंच पर आ गये। १९१९ ई० में नयी कौन्सिलों के चुनाव का देश भर में विरोध करके काँग्रेस ने असहयोग आन्दोलन चलाया। उत्तर प्रदेश में किसान आन्दोलन जारी रखा गया। गुलाम जनता अब सीना तानकर गोलियाँ सहने को तैयार थी। फलतः अहिंसा, एकता, मद्यनिषेध, परदा-प्रथा-निवारण, नारियों का सामाजिक जीवन में भाग लेना, शिक्षा, राष्ट्रीयता, स्वदेशी प्रचार आदि जाने कितनी बातें तत्कालीन साहित्य में प्रवेश पाने लगीं।

द्विवेदीयुगीन राष्ट्रीय चेतना ने स्वराज्य की माँग रखी और राष्ट्रीय जागरण को बढ़ाया। अंग्रेजों के दमन से जन-आन्दोलन और व्यापक हुआ। नरेशों और जमींदारों को बढ़ावा मिला तथा साम्प्रदायिक विद्वेष बढ़ाने लगा।

इस प्रकार द्विवेदीयुगीन काव्य (१९००-१९२० ई०) में राष्ट्रीय जागरण का पहला उबाल पूरी ताकत से आया, जिसका प्रभाव आगे आने वाले साहित्य पर भी पड़ा। गाँधी के सत्य, अहिंसा, बन्धुत्व, मानवता और राष्ट्रीयता का प्रभाव स्थायी रूप से साहित्य पर भी पड़ा। आधुनिक युग के काव्य में रवीन्द्र और राजनीति में गाँधी का अक्षुण्ण प्रभाव पड़ा। देश की राष्ट्रीय प्रगति ने

भावुक व्यक्तियों को प्रभावित किया। श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त तथा सनेही आदि की रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना स्पष्ट लक्षित होती है।

इन बीस वर्षों के द्विवेदी युग में भारतीय राजनीति में कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ ऐसी घटीं, जिनसे काव्य में राष्ट्रीय धारा का उन्मेष दिखायी देता है। १९०५ में बंगभंग, १९११ ई० में दिल्ली दरबार और बंगभंग-प्रतिषेध, १९१२ में लॉर्ड हार्डिंग्ज पर बम फेंका गया, १९१४-१८ ई० के महासमर में भारतीय योगदान, १९१७ में रूस की राज्यक्रान्ति और १९०४ में रूस पर जापान की विजय, १९१५-२० तक तिलक के नेतृत्व में होमरूल लीग की हलचलें, राजनीति में १९१६ ई० में गाँधी का प्रवेश, १९१८ में गाँधी का सत्याग्रह और असहयोग का शंखनाद और सर्वत्र गाँधीयुग का सूत्रपात, १३ अप्रैल १९१९ ई० को जलियाँवाला बाग का नरमेध, १ अगस्त १९२० को असहयोग का सूत्रपात और तिलक का निधन, इस युग की प्रमुख राजनीतिक घटनाएँ हैं। किसान, मजदूर, जनता और जन-साधारण सभी में नवीन चेतना आयी। सामाजिक कायाकल्प की व्यूह-रचना काव्य में चतुर्दिक् दिखायी देने लगी। हिन्दी कविता में हिन्दू पुनरुत्थान की प्रवृत्ति बढ़ी और इसका कारण अंग्रेजों की साम्प्रदायिक नीति थी। गाँधी की अहिंसा और सत्याग्रह का प्रभाव राजनीति पर बहुत अधिक पड़ा और उसका प्रतिबिम्ब काव्य में उतर आया।

भारत का यह राजनीतिक जीवन इतना दुखद और संघर्षमय है कि वर्णन करना कठिन प्रतीत होता है। जलियाँवाला बाग काण्ड के बाद पंजाब से समाचारों का और लोगों का आना-जाना भी सरकार ने बन्द कर दिया। नलों का पानी बन्द कर दिया गया। लोगों को पेट के बल रेंगकर चलने के लिए विवश करना, नंगे करके हण्टर लगाना, साइकलें छीन लेना, जबर्दस्ती दूकानें खुलवाना, लोगों में मुफ्त सामान बँटवाना, हाजिरी देने के लिए ताँगेवालों को शहर से दूर बुलाना, छात्रों को भयानक गर्मी में ४ मील दूर बुलाना, अंग्रेजों को देखकर सलाम करना, सवारी गाड़ी से उतर पड़ना, स्टेशन के पास एक बड़ा पिंजरा बनाना, जिसमें सन्देहास्पद व्यक्ति को ठूँस दिया जाये, खुले आम फाँसी देना, बच्चों से तीन-तीन बार परेड करवाना, झण्डे की सलामी करवाना और कहलवाना कि मैंने कोई अपराध नहीं किया है, मैं कोई अपराध नहीं करूँगा, मुझे अफसोस है—मुझे अफसोस है, चौपायों की तरह उन्हें चलाना आदि न जाने कितनी यातनाएँ थीं, जो इस युग के भारतीयों को झेलनी पड़ी हैं। इससे सरकार का नैतिक पक्ष गिर गया और स्वातंत्र्य

आन्दोलन को बल मिला। गाँधी ने 'केसरे हिन्द' और रवीन्द्र ने 'सर' की उपाधियाँ त्याग दीं। गाँधी को पहला धक्का रोलेट एक्ट से और दूसरा जलियाँवाले बाग के नरमेध से लगा। १९२० ई० में जब असहयोग आन्दोलन छिड़ा तो उसके मुख्य कार्यक्रमों में थे—सरकारी उपाधि न लेना, यदि मिली हो तो छोड़ देना, कौन्सिलों के चुनावों का पूर्ण बहिष्कार, विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार, चर्खा-खद्दर, राष्ट्रीय शिक्षा, पंचायती अदालतों का कार्यक्रम अपनाना आदि। १९२१ ई० में राजनीति की बागडोर गाँधी के हाथों में पूरी तरह आ गयी। आवेश, आशा, असाधारण उत्साह और लक्ष्य पर मर मिटनेवालों की मस्ती चारों ओर फैल गयी। १९२१ का वर्ष असाधारण था। गाँधी के असहयोग आन्दोलन से राष्ट्रीयता, राजनीति, धर्म, रहस्यवादिता और कट्टरता का अनोखा सम्मिश्रण हो रहा था। देखते-देखते जेल कृष्णमन्दिर बन गये और गाँधी 'मोहन' कहलाने लगे।

इस युग में प्रधान रूप से—

(१) राष्ट्र के प्रति भारतवासियों का अगाध प्रेम;

(२) अंग्रेजों की भेदनीति से उनके प्रति क्षोभ;

(३) जन्मसिद्ध अधिकारों को प्राप्त करने की भारतीयों की इच्छा, तत्सम्बन्धी आन्दोलन, अंग्रेजों द्वारा इन आन्दोलनों का दबाया जाना, हिंसा और अहिंसात्मक प्रयत्न;

(४) राष्ट्रप्रेम में धर्म और संस्कृति का योग;

(५) प्रथम महायुद्ध;

(६) गाँधी और काँग्रेस का प्रभाव; और

(७) साम्प्रदायिकता

का प्रसार हुआ। इस नाटक के प्रधान पात्र गाँधीजी थे, प्रधान संस्था थी काँग्रेस, प्रधान नीति थी सत्य-अहिंसा और खलनायक थे अंग्रेज शासक। गाँधी ने देश में व्यापक राष्ट्रीय भावना का प्रसार किया, विरोधियों से घृणा न करना सिखाया तथा उनसे प्राप्त निराशा, भय, आतंक को निकाल भगाया। जनता को उन्होंने सबल, निर्भय और सहिष्णु बनाया। इसका साहित्य पर अमिट प्रभाव पड़ा।

(देखें, पृ० १३९, आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि)

## आर्थिक

अंग्रेज साम्राज्यवादी और पूँजीवादी थे। भारत उनके लिए ऐसा उप-

निवेश था, जो उन्हें कच्चा माल देता था। यह खेतिहर देश था। अंग्रेजों ने गाँवों की आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न कर दी। विदेशी कम दाम पर यहाँ का माल अपने यहाँ ले जाने लगा। जनता गरीब थी। शासन और सुरक्षा के खर्च, कर, दुर्भिक्ष, शोषण और जमींदारी प्रथा से भारत और दरिद्र हो उठा। उद्योग-धन्धों की कमी, कृषि की अवहेलना, सामन्ती शासन और शोषण ने भुखमरी पैदा कर दी। लोग सरकारी नौकरी को वरदान मानने लगे। इस नौकरशाही ने ब्रिटिश शासन को दृढ़ बनाने में मदद की और देश का नैतिक पतन हुआ। रेल-निर्माण के कारण सरकार के न चाहते हुए भी उद्योग-धन्धे बढ़ने लगे। बैंकिंग-बीमा आदि के भी केन्द्र खुले, पर किसान गरीब ही होता जा रहा था। बेकारी बढ़ रही थी। १९११ ई० में जमशेदपुर में टाटा ने लोहे का कारखाना खोला। १९१४-१८ ई० के प्रथम महायुद्ध में वह सम्भल गया। मजदूर असंगठित थे और पशुवत जीवन बिताते थे। १९२० ई० में मजदूरों की सबसे पहले ट्रेड यूनियन्स काँग्रेस स्थापित हुई। १९१७ में रूस की क्रान्ति हो चुकी थी। द्विवेदी युग में हड़तालें, आन्दोलन और संगठन बहुत बने। मिलों से विदेशी पूँजीपति पनपते थे, पर मजदूर उसी प्रकार गरीब थे। महायुद्ध के बाद सरकारी दमनचक्र ने गरीबों और मजदूरों को और निर्धन बना दिया। किसान भूखे रह कर भी चुप रहते थे। धार्मिक और सामाजिक कुरीतियाँ उन्हें अलग खाये जा रही थीं। इसी बीच गाँधीजी १९१६ ई० में राजनीतिक क्षेत्र में सामने आये। उन्होंने किसानों के लिए चरखा और खादी पर आधारित एक आर्थिक योजना प्रस्तुत की। स्वदेशी आन्दोलन चलाया। देशी उद्योग-धन्धे पनपने लगे। दलितों, मजदूरों, किसानों में स्वावलम्बन का भाव आया और निर्भीकता पैदा हुई। द्विवेदी युग के अन्त में आर्थिक समस्या राष्ट्रीय आन्दोलन का भाग बन गयी थी। गाँधीजी ने आर्थिक पहलू का क्रान्तिकारी पक्ष देश के सामने रखा। भारत में १९०० ई० में १९३ सूती मिलें थीं। पहली सूती मिल १८५४ ई० में बम्बई में खोली गयी थी। १९०१ में गन्ने के सुधार के लिए एक गवेषणा-केन्द्र खोला गया। १९०७ ई० में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना हुई। १९०४ ई० में भारत में सर्व-प्रथम पोर्टलैण्ड सीमेन्ट का निर्माण प्रारम्भ हुआ। १८९५ ई० में दियासलाई का एक ही कारखाना था। १९००-१९०४ ई० के बीच चाय के उत्पादन का औसत अपर्याप्त और मन्द था। १९०१ ई० में भारत की औसत वार्षिक आय १८ रुपये थी। युद्ध के समय ४४ रुपये थी, जो इंगलैण्ड के प्रतिव्यक्ति की आय का ग्यारहवाँ भाग थी। दादाभाई नौरोजी ने कहा था कि महमूद गजनवी

ने १८ बार हिन्दुस्तान को लूटा। उसकी सारी लूट आपकी एक साल की लूट से भी कम है। गाँधीजी ने कुटीर उद्योगों का समर्थन किया।

## शैक्षिक परिस्थितियाँ

१७९२ ई० में विलवर फोर्स ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार पर अपना विचार प्रकट किया। राजा राममोहन राय (१७७४-१८३३) इसके समर्थक थे। फिर मैकाले उसका प्रबल समर्थक था ही। १८०० ई० में फोर्ट विलियम कॉलेज का शिलान्यास हुआ। 'बनारस संस्कृत कॉलेज' के साथ-साथ 'कलकत्ता मदरसा' फूट डालने की इच्छा से खोला गया। १८३९ ई० में ऑकलैंड ने अंग्रेजी शिक्षा की नींव डाल दी थी। १८५४ ई० में सर चार्ल्स वुड ने "भारत में अंग्रेजी राज्य का 'मैगनाकार्टा'" उपस्थित किया। १८५७ ई० में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालय स्थापित हुए। १८८२ ई० में 'एजूकेशन कमीशन' और १९०२ में 'यूनिवर्सिटीज कमीशन' बैठा। द्विवेदी युग के आरम्भ में राष्ट्रीय शिक्षा का कोई स्थिर स्वरूप ही नहीं था। मदरसों में कुरान और संस्कृत पाठशालाओं में सिद्धान्त कौमुदी की पढ़ाई होती थी। १९२१ ई० में देश भर में १,५५,०१७ प्राइमरी स्कूल थे और ६१,०९,७५२ छात्र थे। भारत में ७० लाख गाँव थे। १९०१ ई० में महादेव गोविन्द रानाडे के प्रयास से बम्बई विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा में आधुनिक भारतीय भाषाएँ भी सम्मिलित की गयीं। १९०१ ई० में प्रति १००० व्यक्ति पर ४६ और १९२१ ई० में ७१ व्यक्ति पढ़ना-लिखना जानते थे। कर्जन शिक्षा को सरकारी अफसरों के अधीन, राष्ट्रीयता की विनाशक, प्रगति-विरोधी और जनता की आजादी की भावनाओं को खत्म करनेवाली बनाना चाहता था। १९०५ में बंगभंग और स्वदेशी आन्दोलनों के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रीय शिक्षा की माँग बढ़ने लगी। भारतीय छात्र प्रथम बार राज-नीति से प्रभावित होने लगे। प्रचलित शिक्षा का खुले आम विरोध हुआ। कलकत्ते में नेशनल कॉलेज खुला। उसके प्रथम आचार्य थे अरविन्द घोष। चम्पारन आन्दोलन (१९१७ ई०) में गाँधी और राजेन्द्र बाबू ने राष्ट्रीय पाठशालाएँ खोलने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। १९१३ ई० में सरकार ने शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने, उच्चतर शिक्षा और अनुसन्धान की व्यवस्था करने, मकतबों-पाठशालाओं तथा गैर सरकारी शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने तथा स्त्री-शिक्षा का प्रसार करने पर ध्यान दिया। एस० एन० मुकर्जी के मत से १९१७ ई० के यूनिवर्सिटी कमीशन के सुझाव अत्यन्त महत्वपूर्ण

हैं। जनता क्रान्तिकारी सुधारों की माँग कर रही थी। राष्ट्रीयता के रुख ने पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता का आक्रोशात्मक विरोध किया। १९०१ ई० में १० वर्षों से ऊपर की आयु के ११.५ प्रतिशत पुरुष, ०.७ प्रतिशत महिलाएँ; १९११ ई० में १२.६ प्रतिशत पुरुष और १.१ प्रतिशत महिलाएँ और १९२१ ई० में १४.२ प्रतिशत पुरुष और १.९ प्रतिशत महिलाएँ साक्षर थीं। सीमित विकास, अराष्ट्रीय दृष्टिकोण, खर्चीलापन, अंग्रेजियत की गुलामी, अनैतिकता, ईसाइयत की ओर झुकाव रखने वाली और क्लर्क, मैनेजर, गुलाम या जी हुजूर कहनेवाले एजेन्ट पैदा करने वाली यह शिक्षा भारतीय संस्कृति के खिलाफ पड़ती थी। धीरे-धीरे भारत में सांस्कृतिक अराजकता पैदा हो गयी।

द्विवेदीयुगीन शिक्षा-व्यवस्था यथार्थ में उन्नीसवीं शताब्दी की ब्रिटिश राजसत्ता, ईसाई मिशनरी और राजा राममोहन राय के संघर्ष का परिणाम थी। शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए शिक्षित व्यक्ति राजसत्ता को चाहते थे। ईसाई मिशनरी भारतीयों की कुरीतियों को मिटाकर उन्हें ईसाई बनाना चाहते थे और राजा राममोहन राय पश्चिम का ज्ञान-भाण्डार भारतीयों के लिए खोल देना चाहते थे। भारतीय और पश्चिमी विचारों का समन्वय करने की चेष्टा भारतेन्दु ने की थी। अँग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप लोगों के विचारों में परिवर्तन हुआ। नवीन सुधारवादी आन्दोलनों ने जन्म लिया। अँग्रेजी शिक्षा के प्रसार का प्रारम्भ सन् १८१३ ई० की राजकीय घोषणा से माना जा सकता है। मैकाले ने ७ मार्च १८३५ ई० को जनशिक्षा समिति के अध्यक्ष के पद से प्रस्ताव रखा कि अँग्रेजी माध्यम से ही शिक्षा दी जाय। १८३३ ई० और १८५४ ई० में जो शिक्षा नीति निर्धारित की गयी थी, उससे देश की साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक और औद्योगिक उन्नति के स्थान पर अधिकांश में अवनति ही हुई थी। व्यक्ति की आन्तरिक और सांस्कृतिक शक्ति का विकास करने की अपेक्षा पाश्चात्य ढंग की शिक्षा-व्यवस्था ने नवीन शिक्षा प्राप्त व्यक्ति को सरकारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला ही अधिक बनाया। स्त्री-शिक्षा की भी अवहेलना की गयी। शिक्षा के क्षेत्र में देशी भाषा, साहित्य, इतिहास, कला, धर्म और संस्कृति की ऐसी उपेक्षा अन्यत्र नहीं की गयी। लॉर्ड कर्जन ने १९०२ ई० और १९०४ ई० में शिक्षा सम्बन्धी जो बिल स्वीकार किये उससे और असन्तोष बढ़ा। कृषि, उद्योग, स्त्री-शिक्षा, अध्यापकों का वेतन आदि पर बल दिया गया। १९१३ ई० में लॉर्ड हार्डिंग्ज ने कुछ सद्प्रयत्न किये। १९१९ ई० की सुधार-आयोजना के अनुसार शिक्षा का भार प्रान्तों पर आ पड़ा, किन्तु यूरोपियन और भारतीयों की शिक्षा-पद्धति में भेद रखा गया।

माध्यमिक शिक्षा प्रणाली को अधिक प्रोत्साहन दिया गया। बनारस (१६१६), मैसूर (१६१६), पटना (१६१७), उस्मानिया (१६१८), अलीगढ़ और लखनऊ (१६२०), दिल्ली (१६२२) और नागपुर (१६२३) विश्वविद्यालयों की क्रमशः स्थापना हुई। मध्यमवर्गीय शिक्षित जन अपने ग्राम्य जीवन और जन-जीवन से दूर होते जा रहे थे। शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा अँग्रेजी थी। देश के जीवन में इससे एक शून्य पैदा हो गया था। तिलक, रासबिहारी बोस, एस० श्रीनिवास आयंगर, टैगोर, श्रीमती ऐनी बेसेन्ट और गाँधी आदि सभी ने इस पाश्चात्य प्रणाली की शिक्षा का विरोध किया। इस पाश्चात्य शिक्षा से राष्ट्रीय अभ्युत्थान आन्दोलन की वृद्धि अवश्य हुई। विष्णु शास्त्री, चिपलूणकर, स्वामी दयानन्द, तिलक, गाँधी आदि ने अनेक विद्यालय खोले। द्विवेदी युग में स्वतन्त्र रूप से राष्ट्रीय और भारतीय दृष्टिकोण से कुछ संस्थाएँ स्थापित की गयीं। इस प्रकार की संस्थाओं में शान्ति निकेतन १६०० ई०, गुरुकुल कांगड़ी १६०२ ई०, गुरुकुल वृन्दावन १६११ ई०, और महाविद्यालय ज्वालापुर १६०७ ई० में संस्थापित हुए। असहयोग काल में काशी विद्यापीठ १६२१ ई०, गुजरात विद्यापीठ १६२० ई०, जामिआ मिल्लिआ इस्लामिआ १६२० ई०, बिहार विद्यापीठ १६२१ ई०, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ १६२० ई० तथा कई स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ स्थापित हुईं। डी० ए० वी० कॉलेजों को आर्य-समाज ने १८८६ ई० से प्रारम्भ किया और थियोसोफी के अन्तर्गत सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज १८६८ ई० में आरम्भ हुआ। इन राष्ट्रीय संस्थाओं में सामाजिक और धार्मिक सुधार, संस्कृत की शिक्षा, भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अध्ययन और पालन की शिक्षा तथा अन्य राष्ट्रीय गुणों और भाषाओं को प्रोत्साहन देने की व्यवस्था थी। इनमें जातिगत भेद मिटाने तथा राष्ट्र को शारीरिक और मानसिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने की राष्ट्रीय शिक्षा का मुख्य आदर्श रखा गया था। इस प्रकार द्विवेदी युग पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के साथ-साथ राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के उन्नयन, प्रचार और प्रसार का युग था। इसका नवोत्थान-कारी प्रभाव तात्कालिक काव्य पर भी पड़ा।

## साहित्य एवं भाषा

हिन्दी में भारतेन्दु का स्थान उसी प्रकार का है, जैसा गुजराती में नर्मद, बँगला में बंकिम और मराठी में चिपलूणकर का है। हिन्दी के नवोत्थान की अदम्य आकांक्षा को प्रज्वलित करने वाले भारतेन्दु की मृत्यु १८८५ ई० में हुई। १८८५ ई० से १६०० ई० तक साहित्यिक क्रियाशीलता कुछ मन्द पड़ी।

यह अराजकता का युग था। अनुवाद और अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ गयी थी। काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी, परन्तु उसमें पहले जैसा लालित्य, सौष्ठव, लाक्षणिकता आदि नहीं थी। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के द्वन्द्व में खड़ी बोली धीरे-धीरे अपना स्थान बना रही थी। साहित्यिक गतिविधि को नियन्त्रित करने वाला कोई महापुरुष नहीं था। पथभ्रष्टता, अराजकता और उच्छृंखलता का बोलबाला था। इधर राजनीति में तिलक राष्ट्रीय जीवन को निखार रहे थे, उधर हिन्दी में अनिश्चितता जैसी स्थिति थी। यह संक्रमण-काल था। राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्त करने की क्षमता से युक्त भाषा की आवश्यकता थी। १८३७ ई० में अदालतों में उर्दू को स्थान मिला था, इससे हिन्दी की उन्नति बाधित हुई थी। हिन्दी बहुसंख्यकों की भाषा थी। हण्टर कमीशन के पास १८८२ ई० में हिन्दी-भाषियों ने कई निवेदन भेजे। हिन्दी दबी-दबी थी। शहरी, रईस तथा सरकारी कर्मचारी फारसी पढ़ते थे। केवल हिन्दी जानने वालों को गँवार कहा जाने लगा। अन्त में पं० मदनमोहन मालवीय, श्यामसुन्दरदास, महावीरप्रसाद द्विवेदी और बालमुकुन्द गुप्त आदि के अथक प्रयत्नों से १९०० ई० में लेफ्टिनेण्ट गवर्नर एटनी मेकडॉनल्ड ने अदालत में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को भी व्यवहार में लाने का आज्ञापत्र निकाला। फिर भी हिन्दी का जिस प्रकार उत्थान होना चाहिए था, वह न हो सका। अँग्रेजी और उर्दू के कारण हिन्दी भाषा की प्रगति को धक्का लगा। स्वयं भारतेन्दु ब्रजभाषा के पक्षधर थे, अतः काव्य में खड़ी बोली को प्रश्रय न दे सके। खड़ी बोली की कविता लिख कर वे प्रसन्न न हो सके। १८८५ ई० के बाद खड़ी बोली का आन्दोलन जोर पकड़ गया। १८८५ ई० में श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली में 'एकान्तवासी योगी' की रचना की। १८८८ ई० में अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'खड़ी बोली आन्दोलन'[१] नाम की पुस्तक छपवायी। राधाचरण गोस्वामी कविता में खड़ी बोली को प्रयुक्त करने के नितान्त विरुद्ध थे। आर्यसमाजी और मिशिनरी आदि ने खड़ी बोली में जो कुछ काव्य लिखा था, उसे वे 'पिशाची कविता'[२] कहते थे। उनका कहना था कि "बस यह खड़ी बोली की कविता भी पिशाची नहीं तो डाकिनी अवश्य कवि समाज में मानी जायगी।"[३] इस अराजकता के समय में खड़ी बोली की कविता की अवस्था कच्ची और कोमल थी। प्रताप-

---

१. सं० शिवपूजन सहाय, अयोध्याप्रसाद खत्री स्मारक ग्रन्थ, पृ० ६४

२. वही

३. वही

नारायण मिश्र "नवीन हिन्दी को बाँस और ब्रजभाषा को ऊख"[१] की उपमा देते थे। ग्रियर्सन ने ६ सितम्बर १८८७ ई० को बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री को पत्र लिखा था, जिसमें काव्य में खड़ी बोली के प्रयोग को 'असफल'[२] माना था। श्रीधर पाठक और अयोध्याप्रसाद खत्री जहाँ खड़ी बोली के समर्थक थे, वहाँ प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी इसके बड़े विरोधी थे। खड़ी बोली का यह आन्दोलन बड़ा विवादास्पद रहा। ग्रियर्सन खड़ी बोली पद्य के विरोधी थे और पिनकाट महोदय समर्थक। ब्रजभाषावाले गद्य में खड़ी बोली और पद्य में ब्रजभाषा के ही समर्थक थे, पर खड़ी बोली के समर्थक दोनों की एक भाषा ही चाहते थे। राधाकृष्णदास ने इस विवाद को हल करने की दृष्टि से दोनों भाषाओं को गद्य और पद्य में समान रूप से प्रयुक्त करने की बात कही थी। इधर राजनीतिक आन्दोलन और वैज्ञानिक आविष्कारों से जो जन-चेतना पैदा हो रही थी तथा ईसाई मिशनरियों और आर्यसमाजी साहित्यकारों ने जो समर्थन दिया था, उससे खड़ी बोली को बल मिल रहा था। ऐसे विवाद के समय द्विवेदीजी को उस अव्यवस्थित तथा अनियमित खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने का और उसे खराद पर चढ़ाने का काम करना पड़ा। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि भारतेन्दु के समय से ही कई पत्र निकलते आ रहे थे, पर उनमें ताजगी नहीं थी, बासीपन था। समय की माँग कुछ और थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भारतेन्दु-युगीन साहित्य की सजीवता कुण्ठित सी थी। इधर खड़ी बोली की कविता में सूक्ष्म, सरल और स्वाभाविक भाव-व्यंजना की कमी थी। खड़ी बोली में शुरू से ही राष्ट्रीयता और आधुनिकता का समावेश हुआ था। उसका काव्यादर्श ब्रजभाषा से भिन्न था। फिर भी वह अनगढ़ थी। उसमें विविध काव्य रूपों और शैलियों का अभाव था और उस पर उर्दू का प्रभाव था। भाषा और छन्द के प्रयोगों की भी यही दशा थी। ऐसी साहित्यिक उथल-पुथल और द्वन्द्व की अवस्था में महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी में प्रवेश हुआ, जिससे खड़ी बोली को नयी शक्ति और नया रूप प्राप्त हुआ।

भारतेन्दुयुगीन खड़ी बोली काव्य अपरिनिष्ठ भाषा में रचा गया। वह काव्योचित गुणों से विहीन था। यह नये प्रयोग का युग था। संस्कृत, उर्दू, फारसी और प्रान्तीय बोलियाँ तथा अँग्रेजी के दैनिक व्यवहार तक के शब्द

---

१. सं० शिवपूजन सहाय, अयोध्याप्रसाद खत्री स्मारक ग्रन्थ, पृ० ७६

२. वही, पृ० ८५

काव्य में प्रयुक्त हो रहे थे, जिसमें व्याकरण की व्यवस्था का अभाव था। भाषा में शब्द-संकरता, शैथिल्य और अव्यवस्था थी। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य' में लिखा है कि भाषा के स्तर, व्यंजना, कलात्मकता, माधुर्य और सौन्दर्य में तब वह असमर्थ थी। द्विवेदीजी युग-प्रणेता थे। खड़ी बोली के उस नवोत्थान काल में खड़ी बोली के प्रबन्धों और गीतिकाव्यों का अभाव-सा ही था। भाषा तो असंस्कृत मार्ग पर चल ही रही थी। प्रत्येक लेखक खड़ी बोली की कविता में रचना करने का एक अपना सिद्धान्त रखता था और उसी के अनुसार कार्य करता था। अँग्रेजी, संस्कृत, बँगला आदि के काव्यानुसार कई शैलियाँ प्रचलित हो गयी थीं। 'सरस्वती' का सम्पादन सम्भालते ही द्विवेदीजी ने काव्य-प्रणाली निर्धारित की और संस्कृत, अँग्रेजी, मराठी, उर्दू तथा बँगला के काव्य-शास्त्र से भी प्रेरणा ली। उन्होंने खड़ी बोली के सर्जक कवि, काव्य-रचना एवं काव्य-भाषा के निर्माण एवं परिमार्जन के साथ काव्य-प्रणाली के स्थिरी-करण और सिद्धान्त-निरूपण में एक समर्थ आलोचक की भाँति काम किया। द्विवेदीयुगीन काव्य की कहानी खड़ी बोली 'सरवस्ती' के प्रकाशन से प्रारम्भ होती है। खड़ी बोली का वह प्रयोग काल था। यह प्रारम्भिक दशा थी। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने ठीक ही कहा है कि "यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदीजी ने क्या किया तो मैं समग्र आधुनिक हिन्दी साहित्य दिखला कर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिन्दी साहित्य-गगन में सूर्य, चन्द्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। परन्तु मेघ की सेवा का फल है। उपवन को हरा-भरा करने वालों में द्विवेदीजी की गणना है।"[१]

द्विवेदीजी गद्य और पद्य में एक ही भाषा को सुनिश्चित करा देने के समर्थक थे। उनका यह मत था कि सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए। 'सरस्वती' उनकी विचार-वाहिका थी। "अतः द्विवेदी काल की 'सरस्वती' में केवल द्विवेदीजी की प्रतिभा ही सुप्रकट नहीं है, बल्कि उनके विचारों का भी उसमें सम्यक् निरूपण हुआ है।"[२] निराला का मत था कि "खड़ी बोली के घट को साहित्य के विस्तृत प्रांगण में स्थापित कर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मन्त्रपाठ द्वारा देश के नवयुवक-समुदाय को एक अत्यन्त शुभ मुहूर्त में आमन्त्रित किया और उस घट में कविता

---

१. पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ५३८

२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य २० वीं शताब्दी, पृ० ३

की प्राण-प्रतिष्ठा की। हिन्दी साहित्य की वर्तमान धारा पूर्वज्ञान के महासागर की ओर जितना ही आगे बढ़ती जायगी, लोग उतना ही उसके महत्व को समझेंगे।" हरिऔध, गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि सभी भाषा को सरल, बोलचाल से सम्बन्धित, सार्वजनीन और देश-काल से मर्यादाबद्ध बनाने पर तुले हुए थे। तत्सम के स्थान पर तद्भव शब्दों के प्रयोग पर बल दिया गया था।

द्विवेदीयुगीन काव्यभाषा सम्बन्धी विचारों को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

१. गद्य और पद्य की रचना एक ही भाषा में खड़ी बोली में होनी चाहिए।

२. काव्य-भाषा सरल बोलचाल की तद्भव शब्दावली-प्रधान हो और शब्दों की तोड़-मरोड़ नहीं करनी चाहिए।

३. काव्य-भाषा में प्रसाद गुण हो, व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ न हों तथा अभिव्यंजना की शक्ति हो। कवियों का क्षमतापूर्ण शब्द-भाण्डार होना चाहिए। शब्द-प्रयोगों में शब्दाडम्बर, अश्लीलता और ग्राम्यता न हो। देशज शब्दों को अपनाना चाहिए। मुहावरे और प्रयोगों का उपयोग, स्वाभाविक अलंकारों का प्रयोग, छन्दबद्धता के साथ-साथ अतुकान्त काव्य भी लिखा जाना चाहिए। बँगला और उर्दू छन्दों का प्रयोग भी होना चाहिए।

## आंग्ल प्रभाव

अँग्रेजों का प्रभाव पहले बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र पर पड़ा। हिन्दी प्रदेश में यह प्रभाव बाद में आया। बंगाल में पुनरुत्थान का उदय हुआ और फिर वहाँ से चलकर हिन्दी प्रदेश में पहुँचा। परिवर्तित वातावरण में विभिन्न प्रदेशों में एकता के सूत्र स्थापित हुए। आवागमन के साधनों की व्यवस्था हुई। इससे लोग एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जाने लगे। पारस्परिक आदान-प्रदान बढ़ा। १८६९ ई० में स्वेज नहर खुली। समुद्री यात्रा करके लोग यूरोप जाने लगे। भारत में औद्योगिक क्रान्ति हुई। मशीनों के आविष्कार ने नया दृष्टिकोण प्रदान किया। शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना हुई। डॉ० गिल-क्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू में पुस्तकें लिखवायीं। यही प्रयत्न खड़ी बोली हिन्दी के लिए आगे चलकर शुभ सिद्ध हुआ। फिर १७९१ ई० में बनारस में संस्कृत कॉलेज खुला और अँग्रेजी शिक्षा के प्रसार का प्रारम्भ १८१३ ई० की राजकीय घोषणा में हुआ। १८५४ ई० के वुड के शिक्षापत्र ने भारत में यूरोपीय ज्ञान

के प्रसार की कई निश्चित योजनाएँ रखीं। विश्वविद्यालय, हाईस्कूल और प्राइमरी स्कूल अधिकाधिक खोलने की प्रेरणा दी गयी। ईसाई प्रचारकों ने भी विद्यार्थियों को ईसाई बनाने के लिए कई शिक्षा-संस्थाएँ खोलीं। बंगाल में १७०६ ई० में डच प्रोटेस्टेन्टों ने ईसाई धर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ किया। १७१३ ई० में तमिल के प्रेस का आविष्कार हुआ। अँग्रेजों ने सबसे पहले १७२७ ई० में मद्रास में, और १७९९ ई० में श्रीरामपुर (बंगाल) में ईसाई मत के प्रचार केन्द्र खोले। श्रीरामपुर मिशन ने हिन्दी की विविध बोलियों में बाइबिल के अनुवाद प्रकाशित किये और हिन्दी के टाइप १८०७ ई० में तैयार किये गये। १८३३ ई० में सभी ईसाई धर्म-प्रचारकों को भारत में अपना धर्म-प्रचार करने की आज्ञा मिल गयी। इससे समस्त हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में, यथा आगरा, मेरठ, बर्दवान, बनारस, आजमगढ़, जौनपुर, सहारनपुर, इलाहाबाद तथा फतेहगढ़ में ईसाई धर्म-प्रचार के केन्द्र खोले गये। १८५२-५३ ई० में सरकारी संस्थाओं में तीस हजार छात्र थे, जबकि मिशनरी संस्थाओं में तीन लाख छात्र थे। इस प्रकार १८वीं शती के मध्यकाल में ही समस्त हिन्दी प्रदेश में शिक्षा का विस्तार हो गया और इस प्रकार नये साहित्य के सृजन के लिए पृष्ठभूमि निर्मित हो गयी।

## मुद्रण

१७८० ई० में मुद्रण-कला तथा पत्रकारिता दोनों का प्रादुर्भाव प्रायः एक साथ हुआ। भारत का पहला समाचार पत्र 'बंगला गजट' १७८० ई० में निकला। १८५७ ई० के बाद हिन्दी-भाषी प्रदेश में ही हिन्दी के अनेक समाचार पत्र निकलने लगे। हिन्दी प्रदेश में आगरे में लल्लूलालजी द्वारा १८२४ ई० में सर्वप्रथम हिन्दी प्रेस की स्थापना हुई। ईसाई प्रचारकों ने १८४० ई० में सिकन्दरा में प्रेस की स्थापना की थी। मुद्रण-कला के प्रचार के फलस्वरूप पत्र-पत्रिकाएँ प्रारम्भ हुईं। १८१८ ई० में बंगला का प्रथम समाचार पत्र 'समाचार-दर्पण' श्री रामपुर के ईसाई प्रचारकों के प्रयत्न से प्रारम्भ हुआ था। १८१९ ई० में राजा राममोहन राय द्वारा 'संवाद कौमुदी' पत्र निकाला गया। हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र कलकत्ते से ही 'उदन्त मार्तण्ड' ३० मई सन् १८२६ को प्रकाशित हुआ। कलकत्ते से प्रकाशित होने वाला यह हिन्दी का प्रथम साप्ताहिक था। १८५० ई० में बनारस से 'सुधाकर' निकला। इन प्रारम्भिक पत्रों पर अँग्रेजी की गहरी छाया थी।

## साहित्यिक संस्थाएँ

हिन्दी भाषा और साहित्य को प्रभावित करने वाली कुछ साहित्यिक संस्थाएँ भी खुलीं। 'दि बनारस इन्स्टीट्यूट', 'दि इलाहाबाद इन्स्टीट्यूट, 'दि फ्रैण्ड्स डिबेटिंग सोसाइटी' (११ अप्रैल १८८४ ई०, इलाहाबाद), 'दि कारमाइकल लायब्रेरी एसोसियेशन' (बनारस १८९२), 'दि यूनियन क्लब' (बनारस १८८२ ई०), बनारस की थियोसोफिकल सोसाइटी (बनारस १८८३ ई०), 'कविता वर्द्धिनी सभा' (भारतेन्दु द्वारा १८७० ई० में बनारस में), 'पेनी रीडिंग क्लब' (१८७३ ई० में भारतेन्दु द्वारा), 'हिन्दी प्रवर्द्धिनी सभा' (इलाहाबाद १८७७ ई०), 'हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्य सभा' (१८८४ ई०, इलाहाबाद), बनारस में १८९३ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा, और 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' (१९०५ ई० इलाहाबाद), आदि संस्थाएँ अँग्रेजी प्रभाव से गृहीत वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा प्रारम्भ हुईं। इनके अतिरिक्त बाबू तोताराम द्वारा अलीगढ़ में 'भाषा संवर्द्धिनी सभा' (१८७४ई० में), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा मिर्जापुर में 'रसिक समाज' (१८७५ ई० में), राधाचरण गोस्वामी द्वारा 'कवि कला कौमुदी' (१८८३ ई० में), पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा 'विज्ञान प्रचारिणी सभा', पं० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा 'संस्कृत संजीवनी समाज' तथा जबलपुर में 'भानु कवि समाज' स्थापित हुए। इनमें से नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि संस्थाएँ हिन्दी के विकास में खासकर खड़ी बोली के विकास में अधिक सक्रिय हुईं। तार, रेल, समाचार-पत्र, शिक्षा, नवीन वैज्ञानिक आविष्कार और पाश्चात्य सम्पर्क ने सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा भाषा और साहित्य के क्षेत्रों में एक ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी, जिससे हिन्दी काव्य में नवीन चेतना का तेजी से प्रसार हुआ। १८०० ई० से फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के साथ यह प्रभाव शुरू हुआ था। उदन्त मार्तण्ड, बंगदूत, प्रजामित्र आदि समाचार-पत्रों के प्रकाशन से यह प्रभाव अधिक व्यापक हुआ।

## अनुवाद

हिन्दी प्रदेश के लोगों का अँग्रेजी कविता के साथ सम्पर्क नवीन शिक्षा और संस्थाओं के माध्यम से हुआ। इनमें मिल्टन, पोप, जॉनसन, गोल्डस्मिथ, टॉमसन, ग्रे, काउपर, वर्ड्सवर्थ, स्कॉट, बायरन, शैली, कीट्स, टेनीसन और मैकाले आदि की प्रसिद्ध रचनाएँ पढ़ायी जाती थीं। हिन्दी प्रदेश में इन कवियों का प्रभाव सीधे अँग्रेजी से और बँगला के माध्यम से भी पड़ा। गोल्डस्मिथ की

'हरमिट' का इसी नाम से अनुवाद लक्ष्मीप्रसाद पाण्डे ने १८७६ ई० में किया था। श्रीधर पाठक तथा अन्य जनों ने कतिपय अँग्रेजी काव्य-ग्रन्थों के अनुवाद किये।

| अँग्रेजी लेखक | कृति | अनुवाद का नाम | अनुवादक | ई० सन् |
|---|---|---|---|---|
| ग्रे | शेफर्ड एण्ड दि | गड़रिया और | श्रीधर पाठक | १८८४ |
| लांगफेलो | फिलासफर | आलम | ,, | |
| पर्नेल | इवैंजलीन | अंजलैना | ,, | |
| | हरमिट | एकान्तवासी योगी | ,, | |
| ग्रे | एपीटैफ | शव शिलालेख | विद्यारसिक | १८९७ |
| ,, | ऐलेजी | ग्रामस्थशवनगर | कामताप्रसाद | |
| ,, | ,, | लिखित शोकोक्ति | गुरु | |
| मैकाले | ,, | | महेशचन्द्र | |
| ,, | होरेशस | | छंगालाल मिश्र | १९०३ |
| | ,, | | बच्चन पाण्डेय | १९११ |

श्रीधर पाठक के अनुवाद का काव्य-साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अँग्रेजी काव्य का वस्तु-चयन, शब्दों की कमी के साथ मातृभूमि का प्रेम, पदार्थों, मनुष्यों आदि का यथार्थ वर्णन और मानवीयता के लक्षण इन रचनाओं से हिन्दी वालों को देखने को मिले। संस्कृत तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियों के प्रभाव भी हिन्दी काव्य पर पड़े। भारतेन्दु-मण्डल की काव्य-रचनाओं पर अँग्रेजी की देशभक्ति पूर्ण रचनाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा। साम्राज्यवादी शोषण से प्रेरित देशभक्ति की भावना ने उन्हें पुरातन गौरव का स्मरण कराया तथा तात्कालिक परिस्थितियों के प्रति जागरूक और भविष्य के प्रति सतर्क बनाया। 'जातीय संगीत' में यह प्रभाव है, पर भारतेन्दु पर यह प्रभाव स्पष्ट नहीं दिखायी देता। श्रीधर पाठक ने उसी भारतेन्दु काल में रीतिकालीन परम्परा को तोड़कर स्वच्छन्द परम्परा अपनायी थी। बंगला का पयार छन्द भारतेन्दु ने अपनी 'प्रातसमीरण' रचना में प्रयुक्त किया। इस प्रकार नये विचार, जनवादी प्रवृत्ति, राजनीतिक चेतना तथा धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक विषय और समाज-सुधार की प्रेरणा से वर्ण्य वस्तु का विस्तार हुआ। ओड, सानेट, एलेजी तथा वर्णनात्मक काव्य भी खड़ी बोली में अँग्रेजी के प्रभाव से रचा गया।

१९०९ ई० में मई 'सरस्वती' के अंक में लल्लीप्रसाद पाण्डेय का 'कविता का दरबार' नामक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें पाश्चात्य काव्य का प्रतिनिधित्व करने वाले कवि होमर, वर्जिल, दाँते, चासर, स्पेंसर, शेक्सपीयर, मिल्टन, ड्राइडन, पोप, ग्रे, गोल्डस्मिथ, कूपर, लांगफैलो, बर्न्स, कॉलरिज, मूर, सदे, वर्ड्सवर्थ, स्कॉट, बायरन, शैली और टेनीसन थे। इससे द्विवेदी युग में प्रिय लगने वाले कवियों का पता चलता है। 'सरस्वती' में लगातार इनमें से कुछ के अनुवाद १९०३ ई० से प्रकाशित होने लगे थे। काव्य पर माइकेल मधुसूदन दत्त, नवीन चन्द्र सेन, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि का प्रभाव भी पड़ा। इसी पृष्ठभूमि में द्विवेदीयुगीन काव्य का विकास हुआ।

### उपलब्धि

भारतेन्दु ने हिन्दी काव्य को नवीन जीवन प्रदान किया। नये स्वर, नवीन भाव, नये विषय और नवीन छन्द दिये। श्रीधर पाठक ने काव्य को स्वच्छन्दतावादी स्वरूप दिया, खड़ी बोली में लिखा और ब्रजभाषा, उर्दू तथा अंग्रेजी से संघर्ष करके खड़ी बोली को काव्य-भाषा बनाने के लिए अथक परिश्रम किया। भारतेन्दु को जिस खड़ी बोली का काव्य में प्रयोग आनन्द न दे सका, उसी का प्रयोग काव्य में श्रीधर पाठक, बालमुकुन्द गुप्त और अयोध्याप्रसाद खत्री के प्रयास से सुस्थिर हो गया। द्विवेदी युग में गद्य और पद्य की भाषा एक हो गयी। इसका श्रेय महावीरप्रसाद द्विवेदी को है कि गद्य और पद्य दोनों की भाषा खड़ी बोली हो गयी। उन्होंने नवीन कवियों का बड़ी कठोरता के साथ मार्गदर्शन किया। १९०३ ई० में 'सरस्वती' का सम्पादन-भार ग्रहण करते ही वे खड़ी बोली काव्य के डिक्टेटर हो गये। उन्होंने भाषा को व्याकरणसम्मत रूप दिया। रस, अलंकार, छन्द, भाव-विन्यास तथा अभिव्यंजना शैली की दृष्टि से उसे सशक्त बनाया। भारतेन्दु का काम महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बड़ी ज़िद के साथ पूरा किया और भारतेन्दु काल की कमी, दोष और कमजोरियाँ दूर करके काव्य को जीवन के साथ जोड़ा। वह राष्ट्रीय जागरण का काल था। असहयोग आन्दोलन के साथ-साथ और देश भर में नये उत्थान की समाज-सुधार-विषयक और वैज्ञानिक वृत्तियों को ग्रहण करने की चेष्टा हो रही थी। वीर काव्य अब देशभक्ति के लिए बलिदान हो जाने वाली मानवीय भूमि ग्रहण कर रहा था। अनेकरूपेण जीवन के यथार्थ सत्य को ग्रहण करनेवाली द्विवेदीकालीन कविता नये कला-रूपों को अपनाने लगी। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'इन्दु', 'मर्यादा', 'प्रताप', 'अभ्युदय', 'प्रभा', 'भारतमित्र',

'सैनिक', 'अर्जुन' तथा 'आज' में विचारपूर्ण कविताएँ प्रकाशित हुईं। ये पत्रिकाएँ नवीन चेतना की वाहक थीं। गाँधीजी ने देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय लिपि और राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करके उसका खूब प्रचार किया। विदेशों में और अहिन्दी प्रान्तों में इसका प्रचार हुआ। यह एक आन्दोलन बन गया। प्राचीन साहित्य के मनन की रुचि बढ़ी। विदेशी विद्वानों ने प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया। राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवियों के पश्चात् महावीरप्रसाद द्विवेदी, लाला सीताराम आदि ने प्राचीन साहित्य की ओर विशेष ध्यान दिया। इससे अतीत का गौरवगान तथा राष्ट्रीय संघर्ष के लिए शक्ति, नैतिक आदर्श, वीरता, दृढ़ता आदि गुणों का विकास हुआ। प्राचीन साहित्यिक गरिमा, पाश्चात्य साहित्य और ज्ञान-विज्ञान तथा नवीन साहित्य का समयानुकूल दर्शन काव्य-क्षेत्र के अंग बन गये। अनेक कॉलेज और विश्वविद्यालय खुले तथा शिक्षा का प्रसार हुआ। नयी चेतना के प्रतीक थे श्रीधर पाठक। उनके अनुवादों ने स्वच्छन्दतावाद का द्वार खोल दिया। द्विवेदी युग में पाश्चात्य साहित्य से और अधिक सम्पर्क बढ़ा। काव्य रूपों, छन्दों, प्रतीकों आदि में नवीनता दिखायी पड़ी। कालान्तर में स्वच्छन्दतावाद का हिन्दी साहित्य में प्रवेश हुआ। यह जागरण काल था। नवीन दृष्टि और नये विचारों को आत्मसात् करके हिन्दी सजीव हो उठी। वैज्ञानिकता, बौद्धिकता और तार्किकता के कारण वह स्वच्छन्दतावादी होने लगी। पाश्चात्य सम्पर्क के कारण व्यक्तिवादी प्रवृत्ति भी उसमें आयी।

● ●

चतुर्थ अध्याय

# द्विवेदीयुगीन काव्य का विमर्ष

## दायित्व और मानव-मूल्यों का सम्प्रेषण

द्विवेदीयुगीन काव्य गम्भीर और दायित्व-समन्वित रचना-कार्य है। उसके सुस्थिर प्रतिमान हैं। एक निश्चित मर्यादा का निर्वाह उसके सृजनपथ में देखा जा सकता है। द्विवेदीजी के आग्रह और अपेक्षाएँ यद्यपि आस्थाओं को उभारती हैं, परन्तु तत्कालीन कवियों को प्रेरणा देनेवाले मानव-मूल्यों और दायित्वों के सम्प्रेषण ही द्विवेदीयुगीन काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों में प्रकट हुए हैं। देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषा-विषयक और उससे सम्बन्धित रूपगत या अन्य कोई भी प्रयत्न, कला अथवा विज्ञान के समस्त सृजन या सन्धान का लक्ष्य अन्ततः इस देश का नागरिक ही तो है। वह मनुष्य है। मानव के उत्थान की यह चिन्तन-धारा द्विवेदी युग में जितने प्रशस्त पथ से प्रवाहित हुई थी और नव निर्माण की जितनी तीव्र आकांक्षा इस आलोच्य काल के कवियों में दिखायी पड़ी थी, सम्भवतः उतने ही दायित्व और दिशाबोध के साथ लक्ष्यबद्ध होकर भी वह फिर कभी नहीं दिखायी पड़ी।

द्विवेदीयुगीन काव्य की व्यापकता और विविधता चाहे कितनी ही भव्य क्यों न हो, उसका एक पक्ष मानव की मूलभूत व्यक्तिता को विकसित करने का ही है। द्विवेदीजी के अंकुश और निर्माणकार्य से बाहर रहकर पं० श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, श्री बालमुकुन्द गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय तथा माखनलालजी चतुर्वेदी भी इसी युग में देश की अनेक सम्भावनाओं को उद्घाटित कर रहे थे। विज्ञान की इतनी क्षिप्र प्रगति नहीं हो रही थी, इसलिए साहित्य में विशेषकर काव्य में सामाजिक विकास की ही चर्चा अधिक होती थी।

आलोच्य काल की एक बड़ी विशेषता उसकी स्वातन्त्र्य भावना है। नयी चेतना पुरानी रूढ़ियों के गहरे अन्धविश्वासों को जड़ से उखाड़कर, नया उन्मुक्त

चिन्तन और निर्लिप्त भावना को व्यक्त करने के लिए आतुर थी। भारतेन्दु युग में देशभक्ति के काव्य के सृजन के साथ-साथ राजभक्ति का भी तार चल रहा था। द्विवेदीजी का काव्य न किसी राजसभा का समर्थक है, न धर्मसत्ता का। गुप्तजी, हरिऔध या द्विवेदी-मण्डल के अनेक कवियों पर यह आक्षेप किया गया कि उन पर द्विवेदी जी का तीव्र अंकुश था, इसलिए वे स्वाधीन चिन्तन या स्वतन्त्र लेखन नहीं कर पाये, यह सत्य नहीं है। द्विवेदीजी के कक्ष में रह-कर भी कवियों ने मौलिकता और स्वाधीन चिन्तन का क्षरण नहीं होने दिया। इसीलिए आलोच्य काल में वैविध्यपूर्ण काव्य-सृजन किया जा सका। लोकरुचि को अपनी ओर आकृष्ट करना और लोक-समर्थन प्राप्त करना ही तो कवि द्वारा समाज-निर्माण के दायित्व का निर्वाह करना है। तात्पर्य यह है कि केवल अपने आनन्दोद्गार व्यक्त न करके समाज-निर्माण का सही दायित्व-निर्वाह करने वाले द्विवेदीजी और उनके युग का काव्य सम्मान की वस्तु है, उपेक्षा की नहीं।

द्विवेदीयुगीन काव्य की प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं या उपादानों पर विचार करने के पूर्व यह भी ध्यान रखना होगा कि कवि या लेखक के सृजन में चाहे उसे कितना भी अंकुश में रखा जाय, व्यक्तिगत प्रेरणा तो होती ही है। यहीं वह सर्जक है, सृजन के क्षणों में वह अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करता है। जिस समाज में वह रहता है, जिसका वह अंग है, उस समाज की धारणा, भावना, आस्था, इच्छा और आकांक्षा को अपने आप व्यक्त करता है। एक विराट जीवन की प्रेरणा उसे समाज के भीतर दिखायी देती है और तब कहीं सामाजिक स्वीकृति का लोक-कल्याण-समन्वित शाश्वत साहित्य उसकी लेखनी से जन्म पाता है। द्विवेदीयुगीन काव्य में यह जन-समर्थन, सामाजिक स्वीकृति और विराट जीवन की कालजयी भावना बिना किसी आहट के प्रवेश कर गयी थी। देश गुलाम था। समाज पतन के कगार पर खड़ा था। गरीबी, भुखमरी, रोग, शोक आदि का फैलाव था। सभी प्रकार की समस्याएँ मुँह बाये खड़ी थीं। समाज, देश और राष्ट्र का और इन सबसे बड़ा मानव-जीवन के उत्थान का प्रश्न उपस्थित था। देश के प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्व और उसके माध्यम से जीवन-सौन्दर्य और समाज का साक्षात्कार करने की प्रबल लालसा चारों ओर व्याप्त हो रही थी। १८५७ ई० की क्रान्ति के असफल होने के पश्चात् व्याप्त निराशा कवियों के मानस को झकझोर रही थी। भारतेन्दु और उनके

मण्डल के कवियों ने इस अपमान को राजभक्ति के पर्दे में भी व्यंग्य और अन्योक्तियों के माध्यम से जनता के बीच व्यक्त किया। सन् १८८५ ई० में काँग्रेस की स्थापना हुई और अनेक सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों तथा समाजसुधारों ने बराबर सभी प्रकार की चुनौतियाँ स्वीकार कीं और उनके साथ संघर्ष किया। काव्य में इसकी अभिव्यक्ति का होना स्वाभाविक ही था।

द्विवेदीजी को हिन्दी के लेखकों और कवियों को तैयार करना पड़ा। मानव-मूल्यों को गहराई और लोक-कल्याण-कामना की विशिष्ट संवेदना को सम्पादित करने वाली उनकी कारयित्री प्रतिभा की दृष्टिगत रखते हुए यह मानना चाहिए कि द्विवेदीयुगीन उपलब्धियाँ इतनी महान हैं, जिनके कारण आज की खड़ीबोली का काव्य-भवन अपनी अतीत गरिमा और वर्तमान की सम्पृक्तता का दर्शन हमें एक साथ करा पाता है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। उसमें तत्कालीन समाज और राजनीति तथा उनसे सम्बन्धित सभी पक्ष कवि के द्वारा एक विशेष शैली और उद्देश्य से लिखे जाते हैं। रामायण में राज-नीति और सामाजनीति है। महाभारत का मेरुदण्ड राजनीति ही है। मिल्टन, बर्क, बायरन या किसी भी साहित्यकार को लें, उसके साहित्य में सामाजिक जीवन की छाप अवश्य मिलेगी। द्विवेदीजी का काव्य या उनके मण्डल के कवियों का काव्य प्रोपेगेण्डा या प्रचार मात्र नहीं है, वह जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है।

सन् १९०० ई० से १९२० ई० के मध्य का हिन्दी खड़ीबोली का काव्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व से इतना प्रभावित है कि उसे द्विवेदीयुगीन काव्य ही कहा जाता है। उक्त अवधि द्विवेदी युग के नाम से ही जानी जाती है। व्यक्ति, साहित्य और युग के नाते-रिश्ते अपने आप में इतिहास हैं। ये बीस वर्ष खामोश नहीं, बल्कि बोलते हुए दर्पण हैं। पुनरुत्थान के लाभों को बटोरकर भी इस युग में भारतीय आदर्श और मर्यादाओं की कड़ाई के साथ रक्षा की गयी थी। भक्तिकाल का साहित्य जनता का साहित्य था और रीतिकाल का साहित्य दरबारी था। रीतिकालीन ऐन्द्रियता, रसिकता और शृंगारिकता ने जीवन के प्रति एक असन्तुलित दृष्टिकोण पैदा कर दिया था। भारतेन्दु का जन्म क्रान्ति की गोद में हुआ था। तत्पश्चात् ब्रिटिश राज्य की कड़ी धूप फैली। नयी कहानी शुरू हुई। सामाजिक, धार्मिक और

नये राजनीतिक आन्दोलनों के ताज़े बादल भारतीय आकाश में घिरने लगे। काव्य में रूढ़िग्रस्तता थी और ब्रजभाषा की परिपाटी ज्यों की त्यों थी, पर भारतेन्दुकालीन काव्य जनवादी प्रवृत्तियों को लिये हुए था। नये विषय और जनता की समस्याएँ काव्य में प्रकट हो रही थीं। द्विवेदी युग के काव्य का यह प्रवेश-द्वार था। भारतेन्दु को नवीन विषयों का बड़ा मोह था, परन्तु प्राचीन का आग्रह भी था। तत्कालीन समस्याओं के प्रति वे जागरूक थे। अंग्रेजों के राज्य में सुख तो था, परन्तु "पै धन विदेश चलि जात, यहै अति ख्वारी" का क्षोभ भी था। टैक्स, महामारी, अकाल, जनता का आर्थिक शोषण, देश-प्रेम, कुप्रथाओं का चित्रण, स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह का विरोध तथा मन्दिर, तीर्थ और मठों के भ्रष्टाचार एवं तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ आदि उन्हें पीड़ा देती थीं। नये लोकप्रचलित छन्द—कजली, बिरहा, रेखता, लावनी, ठुमरी, चैती, गजल आदि का प्रयोग आरम्भ हुआ। तुकबन्दियाँ अधिक हुईं और साहित्य कम लिखा गया। हिन्दी और हिन्दू समन्वित भावना का प्राधान्य था। काव्य में कलात्मकता लाने की न तो अधिकांश कवियों में क्षमता थी और न समय था। खड़ी बोली में प्रेमघन ने लिखा था :

हमें जो चाहते, निबाहते हैं प्रेमघन
उन दिलदारों से ही मेल मिला लेते हैं।

भारतेन्दु ने इस प्रकार खड़ी बोली का प्रयोग किया था :

साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब एक दिन उठ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है।।

और प्रतापनारायण मिश्र ने यह रचना की थी :

जबसे देखा प्रियवर मुखचन्द्र तुम्हारा।
संसार तुच्छ जँचता है मुझको सारा।।

पं० श्रीधर पाठक ने लिखा :

वन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बान्धवता में बँधे, द्वेषपरता के अज्ञानी हों।।

खड़ी बोली पद्य के क्षेत्र में द्विवेदी युग को यही परम्परा मिली थी। श्रीधर पाठक, बालमुकुन्द गुप्त, देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शर्मा शंकर, प्रतापनारायण

मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठा० जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्णदास, रामकृष्ण वर्मा, 'त्रिशूल' और सुधाकर द्विवेदी आदि महत्वपूर्ण कवियों ने खड़ी बोली में पद्य-रचना करने का क्रम अटूट रखा। अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ी बोली का आन्दोलन चलाया। श्रीधर पाठक ने अपने व्यक्तित्व और वाणी के प्रभाव से उस आन्दोलन को शक्ति दी। १६०३ ई० में द्विवेदीजी 'सरस्वती' के सम्पादक होकर आये। उन्होंने कठोर परीक्षक और सच्चे समालोचक की तरह काव्य सृजन की गतिविधि का नियन्त्रण किया और व्याकरणसम्मत भाषा का प्रचार किया। वे कवि से अधिक कविता के व्यवस्थापक थे। जन-समाज की सेवा उनका जीवन-लक्ष्य था। मानवतावादी प्रेरणा से अभिभूत द्विवेदीजी विलासी और विकृत चिन्तन के साहित्य के विरोधी थे। उन्होंने खड़ी बोली को परिमार्जित किया। यह द्विवेदीजी की साधना का प्रधान मन्त्र था। राष्ट्रीय काव्यधारा इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति थी। नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने का उन्होंने विशेष आग्रह किया। बुद्धिवाद, चिन्तन और विश्लेषण का बोलबाला था।

भारतेन्दु को भारत का शेक्सपियर और हिन्दी का जनक कहा जाता है। वे ग्रन्थकार थे, परन्तु द्विवेदीजी ग्रन्थकारों के भी निर्माता थे। वे हिन्दी के 'जॉनसन' थे।

द्विवेदी युग भाषा के संस्कार का युग था। साथ ही नये विषयों के संग्रह की ओर भी उनका पूरा ध्यान था। उन्होंने भाषा में इतनी सुकरता ला दी थी कि उन्हीं के समक्ष भाषा की एक विशेष संस्कृति बन गयी थी। नया दृष्टिकोण, नये विचार, नये विषय और नवीन सुरुचि ने एक नया युग उपस्थित किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय तर्क और बुद्धिवाद ने और व्यक्तिवाद ने आलोच्यकाल को बहुत प्रभावित किया। अंग्रेजी सत्ता से संघर्ष करने वाले तिलक, गोखले, गाँधी, मालवीय', लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल और अन्यान्य नेता सभी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नेता थे। यूरोप की आधुनिकता और भारतीय अतीत की गौरवपूर्ण परम्पराओं के संघर्ष से भारतीयों में अपना आत्मसम्मान, सांस्कृतिक गर्व तथा निजभाषा का सम्मान-भाव जन-जन में

जागृत हो गया। जनवरी १६०० ई० से 'नागरी प्रचारिणी सभा' के अनुमोदन से 'सरस्वती' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। १६०३ ई० में 'सरस्वती' का संचालन-सूत्र द्विवेदीजी के हाथ में आया। जून १६०१ ई० में उन्होंने 'सरस्वती' में लिखा था :

सुरम्यरूपे ! रसराशिरंजिते !
विचित्रवरणाभरणे कहाँ गई ?
अलौकिकानन्द विधायिनी महा-
कवीन्द्र कान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?

द्विवेदीजी बँगला, मराठी, संस्कृत और अंग्रेजी कविता के कायल थे। हिन्दी में अभी भी भारतेन्दुयुगीन समस्या-पूर्तियाँ और तुकान्त सानुप्रासवाली परिपाटी चल रही थी। रीतिकाल की बासा मुसकानें अब तक द्विवेदीयुगीन काव्य के चेहरे पर चिपकी हुई थीं। वे देख रहे थे कि :

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे।
शरीर तेरा सब शब्द मात्र है,
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही ॥[1]

द्विवेदीजी का मत था कि उस समय काव्य केवल शब्दों का जाल मात्र था। नयी भावनाएँ थीं ही नहीं। भाषा भी ब्रजभाषा थी :

अभी मिलेगा ब्रज-मण्डलान्त का,
सुभुक्त-भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर संगी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही ॥[2]

लाचार होकर द्विवेदीजी को 'कवि-कर्त्तव्य' शीर्षक से एक निबन्ध लिखना पड़ा। वह आदेश था, मार्गदर्शन भी था और कवियों को विनम्र सुझाव भी था। काव्य में भाषा, छन्द, प्रकृति-चित्रण, वैयक्तिकता, दार्शनिकता एवं रहस्यवादिता, बौद्धिकता, नैतिकता, उपदेशात्मकता आदि सभी धरातलों पर नवीनता आयी।

---

१. संग्रहकार देवीदत्त शुक्ल, द्विवेदी काव्यमाला, पृ० २६५
२. वही, पृ० २६४

स्वच्छन्दतावाद का भी प्रभाव पड़ा। कविता का रूप-विधान भी प्रभावित हुआ। भारतेन्दु युग ( १८६८ से १८८५ ई० ), संक्रान्ति युग ( १८८५-१९०० ई० ) और द्विवेदी युग ( १९०० से १९२० ई० ) में बिखरे हुए आधुनिक युग की तीनों सीढ़ियों को पार कर सामन्तवाद पूँजीवाद के दरवाजे पर आकर रुक गया। उसमें सामन्ती अवशेष थे। चर्चा होती थी, सुधार की आवाज सुनायी पड़ती थी, परन्तु क्रान्ति जैसी कोई तीखी चोट खा कर बदली हुई परिस्थिति निर्मित नहीं हुई थी। न मौलिक रूप से समाज बदला, न काव्य। परिवर्तन की प्रतिष्ठा बढ़ी। द्विवेदी युग की बौद्धिकता वस्तुगत है, स्थूल है और आदर्शवादी है। वह न पूरी तरह सामन्तवादी है और न पूरी तरह पूँजीवादी। पूँजीवादी आदर्शवाद में व्यक्तिवाद और मानवतावाद तथा भौतिकवाद और आदर्शवाद साथ-साथ मिले रहते हैं। उसका नारा होता है 'समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व'। सामन्तवाद से इसका वैज्ञानिक आधार पर समझौता होता है और इसीलिए राम और कृष्ण जो कभी अवतार थे, द्विवेदीयुगीन काव्य में महामानव या केवल मानवीय धरातल पर स्वीकृत होते हैं। स्वदेशी, औद्योगिक विकास, समानता, विश्व-बन्धुत्व, पीड़ितों से सहानुभूति, तथा निम्न-मध्य वर्ग या उपेक्षित और असुन्दर को गले लगाने की प्रवृत्तियाँ बढ़ीं। प्रकृति के उद्दीपन रूप की अपेक्षा उसका स्वतन्त्र चित्रण किया जाने लगा। वीर काव्य ने सुधार और उपदेश के स्वरूप ग्रहण कर लिये। समाज के उग्रपन्थी नेताओं में राम, कृष्ण, प्रताप और शिवाजी की छाया दिखायी देने लगी। साम्राज्यवाद की जड़ें खोखली करने के लिए इन वीरों के प्रतीक अपनाये गये। द्विवेदी युग अपने अनुशासन और विचारात्मक गम्भीरता के लिए प्रसिद्ध है। भारतेन्दु का युग मस्ती, सजीवता और जिन्दादिली का युग था। द्विवेदी युग में जिन प्रवृत्तियों ने नये विश्वास पैदा कर दिये, जो नयी दिशायें उन्मुक्त कीं और उज्ज्वल काव्याकाश में जो नया आलोक दिया, वह गर्व का विषय है।

## द्विवेदीयुगीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

१. **तर्क एवं बुद्धिवाद** भारतीय जीवन की एक नियति रही है और क्रमानुसार नीयत भी बदलती रही है। पिछले कई शताब्दियों की गुलामी ने कुंठाओं, कुरीतियों, आडम्बरों और जड़ता को गहरी नींव दे दी। भारतेन्दु काल में ही और कुछ पूर्व से हमारी विचार सम्पदा का पुनर्मूल्यांकन शुरू हुआ। ब्रह्म समाज,

उसके आर्य समाज, तदीय समाज, सनातन धर्म, थियोसोफिकल सोसाइटी और अन्य अनेक तार्किक एवं बौद्धिक मतवादों के समक्ष पिछले मतवाद अप्रासंगिक दिखायी दे रहे थे। समाज का सामूहिक आचरण तुलसीदास के आस-पास था जबकि सामूहिक मानस राजा राममोहन राय, विवेकानन्द, रानाडे, एनी बेसेन्ट या अन्य सुधारकों के साथ चलने के लिए आकुल हो रहा था। तन से परम्परा-वादी और मन से परम्परा-विमुख समाज भविष्य की किसी बड़ी घटना का पूर्वाभास था। गाँधी का आगमन इसी शून्य का भराव था। तर्क ने हमारी आस्तिकता और आस्था दोनों को समाज के सामने उघाड़ दिया। हमें भारतेन्दु ने नयी आस्था देकर सम्भाल लिया। कुछ गलित धार्मिक प्रथाएँ पश्चिमी विज्ञान के प्रभाव से दूषित करार दे दी गयीं। खण्डन-मण्डन, तर्क-वितर्क और बौद्धिक जागरण के कारण सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति जागृत हो गयी। द्विवेदीकालीन पुनर्जागरण में नीर-क्षीर विवेक के आधार पर अन्वेषण की इस आकांक्षा ने काव्य-जगत् को बहुत प्रभावित किया। पश्चिमी विज्ञान और आर्य समाज, रवीन्द्र और गाँधी तथा नयी वैचारिक क्रान्ति ने पौरा-णिक और आदिकाल से प्रवहमान आस्तिकता, अवतारवाद, देवी-देवता तथा भगवान को मानवीय, मनुष्य का या साधारण इन्सान का धरातल देकर उसके पौराणिक स्वरूप की निरर्थकता को सिद्ध कर दिया। यह नियति की अभिशप्त चेतना साधारण विचार के रूप में समाज में फैलती गयी।

द्विवेदीयुगीन काव्य में धर्म, समाज, दर्शन, व्यक्ति, समष्टि या किसी भी क्षेत्र में तर्क का ही आग्रह विशेषतः मान्य हुआ। जो आदर्श तर्क की तुला पर सही उतरा, वह स्वीकार किया गया। अलौकिकता, अतिमानवी स्वरूप या आश्चर्यचकित करने वाली पीठिका में अब जनता की कोई रुचि नहीं थी। द्विवेदीजी और उनके युग ने इस माँग को और जोरदार शब्दों में प्रचारित किया। सामाजिक और राजनीतिक न्याय तथा आजादी, समता और बन्धुत्व जैसे विचारों को समाज में फैलाया गया। यदि भारतेन्दु कुछ और जीवित रहते तो द्विवेदीजी का कार्य और अधिक हलका हो जाता। जो अन्धड़ द्विवेदीजी के चारों ओर था और जिसे चीरकर उन्होंने काव्य को नये कीर्तिमान दिये थे, शायद पहले ही हट गया होता।

इस आलोच्य काल में राम और कृष्ण तथा अन्यान्य देवता मानवीय रूप में

चित्रित हो रहे थे। 'साकेत' और 'प्रिय-प्रवास' इसके साक्षी हैं। बंगला के माइकेल मधुसूदन दत्त ने 'मेघनाद वध' में काव्य का नायक मेघनाद को बनाया। राम में भी दुर्बलताएँ दिखायीं। रावण के कुछ उदार गुणों की प्रशंसा की। वह एक उदार तथा सहृदय पिता और मानवीय गुणों से युक्त शासक चित्रित किया गया। मेघनाद भी एक आज्ञाकारी पुत्र, प्रिय पति और आदर्श देशभक्त था। राम इस काव्य में मानवों की तरह रुदन करते हुए दिखाये गये। मधुसूदन दत्त मिल्टन से प्रभावित थे। इधर द्विवेदीयुगीन काव्य में 'प्रिय-प्रवास' के रचयिता ने इस काव्य पर 'मेघनाद-वध' का ऋण स्वीकार किया है।[1] श्रीमद्भागवत की राधा और गोपियाँ इस तर्क और बुद्धिवाद के द्विवेदीयुगीन परिवेश के कारण अब केवल प्रेम विदग्ध-प्रेयसियाँ नहीं थीं, उनके सामने अब नये प्रश्न भी थे। वे अब समाज की सीढ़ियों तक पहुँचने वाली लोक-कल्याण की पृष्ठभूमि बन गयी थीं। मैथिलीशरण गुप्त के राम ठीक अपने पुराने रूप में स्वीकृत नहीं हुए। यथा—

राम तुम मानव हो। ईश्वर नहीं हो क्या ?<br>
जग में रमे हुए नहीं, सभी कहीं हो क्या ?<br>
तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे।<br>
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे ॥[2]

द्विवेदीयुगीन काव्य में राम के मानवत्व की स्वीकृति का यह आत्मबोध, भारतीय मानस पर तर्कों और नये वैचारिक संघर्षों की स्पष्ट छाप को प्रकट करता है। बौद्धिक रूप से राम मानव हैं, पर विश्वासों में वे अवतारी हैं :

राम राज ही नहीं पूर्णावतार पवित्र।<br>
पर न हम से भिन्न है साकेत का गृह-चित्र ॥

वे 'नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया' और 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया'[3] जैसे केन्द्रीय विचारों का प्रचार कर रहे थे। ईश्वर ऊपर से थोपा नहीं जा रहा था। नर को ऐसे भावात्मक जगत् में ले जाने की चेष्टा थी

---

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'प्रियप्रवास', संशोधित संस्करण, २००८, भूमिका, पृ० ८ से उद्धृत

२. 'साकेत', संस्करण संवत् २००५

३. वही, पृ० १६७

जिससे वह अपने पिछले गुलामी के अवसाद, रूढ़ियाँ, जड़ता और दुखों को व्यक्त करके कालजयी बन जाये। इस तर्क और बुद्धि के पीछे १९०० ई० से १९२० ई० के मध्य स्वाधीनता की प्रचण्ड रोषमयी क्रियाशीलता ही थी। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पक्षों की भी यही माँग थी कि ईश्वर केवल द्रष्टा मात्र न हो, हमारे बीच उसका एक कार्यशील व्यक्तित्व भी हो। द्विवेदीयुगीन कवियों ने अपनी प्रबन्ध, मुक्तक, गीति या अन्य विधात्मक रचनाओं में सर्वत्र रूढ़ियों, वर्जनाओं, गलित मान्यताओं और जड़ आचार संहिताओं पर तार्किक कुठार चला-चला कर मूलोच्छेदन कर डाला। 'पंचवटी' के लक्ष्मण का कथन है :

"मैं मनुष्यता को सुरत्व की,
जननी भी कह सकता हूँ।"

लक्ष्मण को शक्तिबाण लगा और वे मूर्च्छित हो गये। मरणासन्न लक्ष्मण की दशा देख कर राम का क्रुद्ध होना मानवीय दुर्बलता या स्वाभाविकता ही तो है। युद्ध के समय कुम्भकर्ण का वध वे "भाई का बदला भाई ही" कहते हुए करते हैं। रावण के चरित्र में तब निखार आ गया, जब गुप्तजी ने कहा :

"राम से रावण सहृदय है आज"

गुप्तजी ने रावण, मेघनाद और कैकेयी में अधिक सहनशीलता एवं सन्तुलन चित्रित किया है। कैकेयी के विषय में जैसे :

"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई"

और लिखा है :

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में थी एक अभागी रानी॥
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा
धिक्कार, उसे था महास्वार्थ ने घेरा॥

'जयद्रथ वध' में गुप्तजी ने परम्परानुसार आकाश के अन्धकारमय होने का कारण कृष्ण की माया नहीं बताया, वरन् पश्चिमी क्षितिज पर काले बादलों का घिर आना कहा है। हरिऔध ने भी कृष्ण को 'प्रियप्रवास' में एक ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अलौकिक कृत्यों का मानवीकरण किया गया। तृणावर्त और वकासुर को झंझावात और भयानक

पशु के रूप में दिखाया गया। गोवर्धन पर्वत को कृष्ण ने अपनी छिंगुली पर उठाया था। इस प्रसंग को वर्षा में जन-समुदाय को गोवर्धन पर्वत के नीचे कहीं गुफाओं आदि में सुरक्षा के लिए ले जाने से सम्बद्ध किया गया। 'प्रियप्रवास' में गज और बालक कृष्ण का युद्ध तथा कालीदमन की कथा अपनी परम्परा को तिलांजलि नहीं दे पायी। गुप्तजी की 'शक्ति' रचना में शक्ति पुण्य और महिषासुर पाप का प्रतीक है। 'मंगल घट' में गुप्तजी ने व्यर्थ के वाद-विवाद की अपेक्षा उद्यम को कहीं श्रेष्ठ माना :

"करके विधि वाद न खेद करो
निज लक्ष्य निरन्तर भेद करो
बनता बस उद्यम ही विधि है
मिलता जिससे सुख का निधि है॥"[१]

उन्होंने पशुबलि का विरोध किया और लिखा कि :

"शुद्ध भेष अथवा वे छाग,
सिद्ध नहीं कर सकते याग।"[२]

वे ईश्वर के नाम पर शत्रुता करना बुरा समझते थे, जैसे :

'ईश्वर के नाम पर कलह भला नहीं
देखता है भाव मात्र वह निज भक्त का।"[३]

'मंगल घट' में पृष्ठ २६२–२६३ पर वे कहते हैं :

जाति, धर्म या सम्प्रदाय का
नहीं भेद व्यवधान यहाँ।
× × ×
राम रहीम बुद्ध ईसा का
सुलभ एक सा ध्यान यहाँ॥

'साकेत' में वे कहते हैं कि "विगत हों नरपति, रहें नर मात्र"[४] तथा 'विश्व वेदना' के पृष्ठ ४६ पर उन्होंने लिखा है कि "चुनें सब मिल कर निज नेता।"

---

१. 'मंगल घट', प्रथम संस्करण, पृ० २८६
२. हिन्दू (तृतीय संस्करण), पृ० १४२
३. सिद्धराज (तृतीय संस्करण), पृ० १०९
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृ० १४१

द्विवेदीजी तो बड़े ही नीर-क्षीर-विवेकी थे। 'मांसाहारी को हण्टर', 'विधि विडम्बना', 'हे कविते', आदि उनकी रचनाओं का आधार बुद्धिसम्मत है। 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना' में वे तर्क देते हैं :

"आलस्य फूट मदिरा मद दोष सारे,
छाये यहाँ सब कहीं टरते न टारे।"[१]

'विदेशी वस्त्र का बहिष्कार' में वे तर्क देते हैं—

"हजारों लोग भूखों मर रहे हैं
पड़े वे आज या कल कर रहे हैं।
इधर तू मंजु मलमल ढूँढ़ता है
न इससे और बढ़कर मूढ़ता है॥"[२]

"द्विवेदी काव्य-माला' पृष्ठ ३७४ पर वे कहते हैं :

माता है जैसी पूज्य सुनो हे भाई।
भाषा है उसी प्रकार महा-मुद-दायी।
माता से पूज्य विशेष देषभाषा है
मिथ्या यह हमने वचन नहीं भाखा है॥[३]

'कान्यकुब्ज अबला विलाप' में एक बौद्धिक और तार्किक उन्मेष है। द्विवेदी-युगीन काव्य में ब्रह्म समाज, आर्य समाज और सनातनी लोगों के प्रचण्ड तर्कों तथा राजनीतिक आन्दोलनों के रोषभरे बौद्धिक प्रचारों या धर्म, समाज, संस्कृति आदि क्षेत्र में फैले हुए आडम्बरों, अन्यायों को मिटाने के लिए दिये गये तर्कों ने चारों ओर बौद्धिकता का व्यापक वितान तान दिया था। राय देवीप्रसाद पूर्ण ने तो हिन्दी-उर्दू-विवाद में साफ-साफ पूछा था :

"यह विनयध्वनि से प्रश्न है जो यों प्रबल अतीव है,
तुम कहो हृदय पर हाथ रख क्या हिन्दी निर्जीव है?"[४]

---

१. द्विवेदी काव्य-माला, पृ० ३६२
२. वही, पृ० ३६८
३. वही, पृ० ३७४
४. पूर्ण संग्रह, संकलनकर्ता लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, पृ० २९५

पौराणिक कथाओं में प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण और मानवीयता का आरोप इसी बौद्धिकता के धरातल पर सम्भव हुआ। 'साकेत' में भी उपेक्षित उर्मिला बौद्धिकता की अग्नि-परीक्षा में इतनी सफल रही कि परम्पराबद्ध उसकी उपेक्षा का खण्डन हुआ और एक अहिंसात्मक वातावरण में उसके अस्तित्व की महक पूरे युग पर छा गयी।

तर्क चाहे धर्म, दर्शन या राजनीति के खोल को उतारें या उनका सामना करें अथवा घुटने टेकें, पर हर दशा में बौद्धिक महत्ता तो घनीभूत होती ही है। द्विवेदीयुगीन काव्य की युग-सापेक्ष स्थितियों ने वे सभी कथ्य रेखांकित कर दिये हैं, जिनको तराशने में बौद्धिक प्रक्रिया को कुछ तनाव के साथ अभिव्यक्त होना पड़ा है। प्रबन्ध और मुक्तकों के पात्र अपनी परम्परागत महत्ता को स्वयं ही नकारते हुए काव्य में भविष्य की चुनौतियों के योग्य अपने आप को सिद्ध करने में व्यस्त रहे हैं। द्विवेदीयुगीन काव्य की तर्क और बुद्धि-वाद की महत्वपूर्ण भूमिका ने हमें वैज्ञानिकता दी, काव्य को नकली और झूठा होने से बचाया। यथार्थ की दसों अँगुलियों से हमने जीवन को शक्ति और विश्वास के साथ पकड़कर अपने युगानुरूप ढाल लिया।

(२) **मानवतावादी प्रवृत्ति** : रीतिकाल के शीशमहलों में राजा-रानी, सामन्त-सरदार का शृङ्गार और विलास का कल्पना लोक जैसा जीवन, अधिकांशतः सामाजिक तथा मानवीय चेतना से उदासीन रहा। भारतेन्दु काल में देश की गरीबी बढ़ती गयी :

> "निरधन दिन-दिन होत है भारत भुव सब भांति।
> ताहि बचाइ न कोउ सकत निज भुज, बुधि, बल कांति॥"[1]

हर ओर संकट था। अंग्रेजियत का फैशनधारी भूत पीछे पड़ा था। राजभक्ति की पोशाक अभी भी चुस्ती से पहन कर कुछ जन-नायक गौरव का अनुभव कर रहे थे। समाज ऐसे समय में आर्थिक दासता से मुक्ति पाने के लिए छटपटा रहा था। भारतेन्दु की 'भारत में मची है होरी' रचना में तत्कालीन समाज का चित्र और उसमें से झाँकती हुई देश की दुर्दशा का चित्र बड़ा विचारोत्तेजक है :

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, हिन्दी की उन्नति, पृ० ७३६

भारत में मची है होरी ॥

× × ×

भइ पतझार तत्व कहुँ नाहीं सोइ बसन्त प्रगटो री ।
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै सोइ फूली सरसों री ॥

× × ×

तब स्वाधीनपनो धन-बुधि बल फगुआ माहिं लग्यौ री ।

× × ×

सब कछु जरि गयौ होरी में तब धूरहि धूर बचो री ।[1]

केवल धूल ही धूल शेष रह गयी। मानव की समस्त उपलब्धियों की यह कितनी रोषपूर्ण, दुखमयी और भयानक परिणति थी। भक्ति काल ने शास्त्र-सम्मत और खण्डन-मण्डनवादी व्यापक धार्मिक दृष्टि दी थी। रीतिकाल में दरबारों का जन्म हुआ और विरासत में भारतेन्दु काल को क्या मिला, केवल धूल ही धूल। तर्क, बुद्धि या ज्ञान की संचित राशि को मानवीय संवेदनाओं के बदलते हुए मानों द्वारा पोषण नहीं मिल पाया।

ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, गाँधी, गोखले, रानाडे, विवेकानन्द, राजा राममोहन राय, एनी बेसेन्ट, काँग्रेस और उसके कार्यकर्त्ता आदि का दबाव बढ़ता गया और द्विवेदी युग के आते-आते मानव सेवा ही ईश्वर की भक्ति का स्वरूप बन गयी। द्विवेदी युग की सांकेतिकता ही यह मानवीय गुणों की स्वीकृति है। 'पञ्चवटी' में लक्ष्मण मानव के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :

मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ।

मनुष्यता को इतनी महानता देने वाले स्वर जिस युग में उठें, वह युग धन्य है। तर्क और बुद्धिवाद राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में मानववाद और जन-वाद के नाम से जाने जाते हैं। सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में यही मानवता-वाद दर्शन बन जाता है और अध्यात्म कहलाता है। मानवता से परे मनुष्य का निर्वाह कहाँ है। एक ही वस्तु के विभिन्न रूप, अलग-अलग कालों में नये साँचे में ढलकर सामने आते हैं।

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, होली, पृ० ४०५, ४०७

यह स्वीकृत सत्य है कि द्विवेदी युग में हिन्दी खड़ी बोली का समाज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पिछड़ा हुआ था। सृजन सदा क्रिया-प्रतिक्रियात्मक रूप लेकर चलता है। ऐसे कवियों का तो तब भी बड़ा अभाव रहा, जिनकी प्रयोग-शालाओं में तथ्य और संगतियाँ सन्तुलित रूप में व्यक्त हो सकें। द्विवेदीजी ने अपने कठोर अंकुश से अपनी प्रयोगशाला में जो समीकरण सिद्ध किये थे उनसे निश्चय ही इस पिछड़ेपन से मुक्ति मिली। उनके अनुशासन के कारण ही उस युग का काव्य छायावादियों की तरह न तो आकाशमार्गी हो सका और न नारेबाजी में फँसा। संस्कृति, शान्ति और मनुष्यता केवल कोई सुनहरी वादे बनकर नहीं रह गयी।

बालमुकुन्द गुप्त की कविता के पास जाने में अभयदान-सा मिलता है। जनवादी प्रवृत्तियाँ संघर्ष चाहती हैं। बालमुकुन्द गुप्त ने 'शिवशम्भू का चिट्ठा' लिखा। लॉर्ड कर्जन ने एक बार हिन्दोस्तानियों को झूठा कह दिया था। बालमुकुन्द ने 'कर्ज़नाना' लिखा जिसमें कर्जन पर व्यंग्य कसे गये :

> औरों को झूठा बतलाना।
> अपने सच की डींग उड़ाना।
> मन में कुछ, मुँह में कुछ और
> यही सत्य है कर लो गौर॥

द्विवेदी युग में सत्ता और जनता का संघर्ष था। विदेशी शासन से मुक्ति, जनता में भोजन, वस्त्र, निवास, स्वास्थ्य और जीवन-स्तर की समस्याओं को हल करने की प्रवृत्ति सम्बन्धी चेष्टाएँ काव्य में स्थान पा रही थीं। गाँधी की अहिंसा और धार्मिकता के आवरण में चलने वाला आन्दोलन प्रतिशोध, हिंसा और रक्तपात को बचा गया। तिलक की उग्र नीति और गाँधी की दार्शनिक तथा आध्यात्मिक पुट देने वाली मानवतावादी नीति देश के लिए वरदान सिद्ध हुई। विवेकानन्द के अद्वैत दर्शन का प्रभाव चतुर्दिक् फैला हुआ था। करुणा, विश्व-बन्धुत्व, समभाव, सत्य, अहिंसा, सहनशीलता, क्षमा, प्रेम, सहानुभूति, सभी धर्मों की समानता, ऊँच-नीच का अभेद, अछूतोद्धार, और धर्म के क्षेत्र में समान अधिकार—जो कि अलग-अलग या सामूहिक रूप से मानवता के पोषक अंग हैं, द्विवेदीयुगीन साहित्य में जीवन-सापेक्ष बन गये थे। जनवाद से अधिक उच्च धरातल पर मानववाद है। इसमें दार्शनिक पुट है। द्विवेदी युग का काव्य अपनी यथार्थ अभिव्यक्ति के साथ-साथ मानवता का सिरा भी पकड़े हुए है।

केवल द्विवेदी युग में ही मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा गया था। भक्ति काल में धर्म की संकीर्णता ने व्यक्ति का व्यक्तित्व छीन लिया। शृङ्गार काल में विलासिता ने उसे दबा रखा। उच्चवर्गीय जीवन और आभिजात्य वर्ग के नायक-नायिकाएँ मानवता की पहचान करने में हिचकिचाते रहे। द्विवेदीकालीन काव्य ने श्रमिक, किसान, दलित वर्ग, नारी, पराधीन देश, भुखमरी, बेकारी, कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ आदि विषयों को अपनाया और मानवता की दुहाई दी। सेवा और संवेदना ईश्वर के पर्याय बन गये। भारतेन्दु युग, संक्रांति युग, और द्विवेदी युग की यदि कोई फिल्म बनायी जाये तो एक ही 'भारत-भारती' से कथा-पट का काफी बड़ा ताना-बना बुना जा सकता है। गुप्तजी ने स्वयं 'भारत-भारती' की प्रस्तावना में लिखा है कि "अपनी सामाजिक दुरावस्था ने वैसा लिखने के लिए मुझे विवश किया है।"[1]

दुर्भिक्ष— "दुर्भिक्ष मानो देह धरके घूमता सब ओर है।"[2]

× × ×

"कुल जाति पाँति न चाहिये यह सब रहे या जाय रे।
बस एक मुट्ठी अन्न हमको चाहिये अब हाय रे।।"[3]

कृषक— "पानी बनाकर रक्त का, कृषि कृषक करते हैं यहाँ
फिर भी अभागे भूख से, दिन रात मरते हैं यहाँ।"[4]

अविद्या— "हैं तो मनुज, हम किन्तु रहते दनुजता के पास हैं।।"[5]

शिक्षा — "हो प्राप्त पशुता को स्वयं मनुजत्व अपना खो रहे।"[6]

कविता— "भगवान को साक्षी बनाकर यह अनंगोपासना।
हैं धन्य ऐसे कविवरों को, धन्य उनकी वासना।।"[7]

---

१. भारत-भारती (इकतीसवाँ संस्करण २०३३), प्रस्तावना, पृ० ६
२. वही, पृ० ९३
३. वही, पृ० ९६
४. वही, पृ० ९९
५. वही, पृ० १२२
६. वही, पृ० १२६
७. वही, पृ० १२७

धर्म— "हम आड़ लेकर धर्म की अब लीन हैं विद्रोह में।"[१]

स्त्रियाँ— "पाले हुए पशु-पक्षियों का ध्यान तो रखते सभी।
पर नारियों की दुर्दशा क्या देखते हैं हम कभी ?"[२]

समाज— "हिन्दू समाज कुरीतियों का केन्द्र जा सकता कहा॥"[३]

अभाव— "हम हैं मनुज पर हाय, अब मनुजत्व हममें है कहाँ॥"[४]

'भारत-भारती' के अंशों को देखकर तत्कालीन भारत का आन्तरिक चित्र झलक उठता है। ऐसी दुरवस्था में हमें मानवता की कितनी आवश्यकता थी, यह समझा जा सकता है। परन्तु समाज चुप था। निश्चेष्ट जाति की निष्क्रियता ने सब-कुछ नष्ट कर दिया था। कवि को इसीलिए कहना पड़ा :

"होती प्रलय के पूर्व जैसे स्तब्ध सारी सृष्टि है।"[५]

सचमुच एक प्रलय आया। गाँधी और तिलक के नर्म और गर्म दलों के साथ चलकर जनता ने देश को आजादी के राज-मार्ग पर दौड़ा दिया। १९२० ई० में गाँधी देश के एकछत्र नेता हो गये। श्रीधर पाठक ने देश-काल के अनुरूप काव्य-रचना करने का परामर्श दिया। उन्होंने कहा है कि "वर्तमान समय में सामाजिक और धार्मिक संशोधन की बड़ी आवश्यकता है, अतः इसी को उद्देश्य मानकर कविता विशेषतः लिखी जानी चाहिए।"[६] हरिऔध ने जातीय भावों को जगाने वाले काव्य को काव्य माना, परन्तु बड़े महत्व की बात यह कही कि, "जिस रचना अथवा कविता-कलाप में जितनी अधिक मात्रा में मानवता का प्रदर्शन होगा, वह कविता अथवा रचना उतनी ही अधिक मात्रा में महत्व की अधिकारिणी होगी।"[७] ठाकुर गोपालशरण सिंह ने जन-जागरण के आलोक में काव्य में मानवतावादी भावनाओं के उद्रेक पर बल दिया :

---

१. भारत-भारती (इकतीसवाँ संस्करण सं० २०३३), पृ० १३२
२. वही, पृ० १४४
३. वही, पृ० १४५
४. वही, पृ० १५७
५. वही, पृ० १६७
६. प्रथम हिन्दी सा० स० कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० ३० (आधुनिक हिन्दी कवियों के सिद्धान्त, डा० सु० च० गुप्त, पृ० १२८ से उद्धृत)
७. सन्दर्भ सर्वस्व, ग्रन्थमाला कार्यालय, पृ० १८७

मानव का जीवन ही जग में
मानवता का माप हुआ।
भव्य भावनाओं का आकर
बनकर काव्य कलाप हुआ।।

द्विवेदीकालीन सभी कवि राष्ट्र, समाज और जाति से सम्बन्धित विषयों को काव्य का विषय बनाने का समर्थन कर रहे थे। लोकहित उनका लक्ष्य था। मानवता का उत्थान उनकी साधना का अन्तिम छोर था। गुप्तजी की 'कृषक कथा' और 'भारतीय कृषक' कविताओं में तथा 'किसान' काव्य में भारतीय किसान के दुखी जीवन का करुण, दारुण और भयावह चित्रण छन्दोबद्ध हुआ है। श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के 'कृषक क्रन्दन' काव्य-संग्रह में 'आर्त्त कृषक', 'दुखिया किसान' और' कृषक क्रन्दन' किसानों के दुखी जीवन को व्यक्त करने वाली रचनाएँ हैं। सियारामशरण की 'अनाथ' और 'एक फूल की चाह' रचनाओं में भूख, दरिद्रता, बीमारी, वेदना, मृत्यु का साक्षात् तथा अछूतोद्धार की समस्या के हृदयस्पर्शी चित्रण हैं।

द्विवेदीयुगीन काव्य में नारी-स्वातंत्र्य सम्बन्धी भावना का विकास बड़ी तेजी से हुआ। स्वयं द्विवेदीजी ने 'कान्यकुब्ज अबला विलाप' लिखकर मार्ग-दर्शन किया :

"अपनी दशा याद करते ही फटा कलेजा जाता है"[1]

"जहाँ हमारा आदर होता वहीं देवता करते वास
जहाँ निरादर होता वह घर हो जाता है सत्यानाश"[2]

"कन्याकुल को भाँति-भाँति से पीड़ित हम नित करते हैं
मुनियों के वंशज होनेका तिस पर भी दम भरते हैं।"[3]

और 'ठहरौनी' के पद २६, २७, २८ तथा २९ में बड़ा ही अचूक व्यंग्य किया कि :

"जरा देर के लिये समझिए आप षोड़शी क्वारी हैं"
"मान लीजिये नयन आपके कानों तक बढ़ आये हैं"

---

१. द्विवेदी काव्यमाला, कान्यकुब्ज अबला विलाप, पृ० १२४
२. वही, पृ० ४२५
३. द्विवेदी काव्यमाला, ठहरौनी, पृ० ४३६

और इस पर भी बिना ठहरौनी के यदि ब्याह न हो तो कैसा लगेगा। ठीक वही दुख कन्याओं को होता है। इससे यह कुरीति मिटनी चाहिए। द्विवेदीजी ने नारियों का बड़ा पक्ष लिया था। श्रीधर पाठक, 'हरिऔध', 'सनेही' आदि और अन्य आलोच्ययुगीन कवियों ने नारी सम्बन्धी समान अधिकार तथा सहकर्मिणी की उच्च भावना को खुलकर प्रश्रय दिया। द्विवेदी युग की यह एक बहुत बड़ी देन है। नारी अब "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी" के सन्दर्भ में नहीं देखी जा रही थी। उसका विकसित व्यक्तित्व अब सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में अपनी प्रतिष्ठा की माँग कर रहा था। पं० रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' और 'स्वप्न' में नारीत्व की यह विकास-स्थिति रेखांकित हो उठी है। 'मिलन' की नायिका विजया अपने पति की जीवन-सहचरी के रूप में दिखायी गयी है। अपने पति से विलग होकर वह अपना समय राष्ट्र की सेवा में व्यतीत कर रही है। 'स्वप्न' की नायिका सुमन और भी कर्त्तव्यशील है। उसका जोन ऑफ आर्क के समान दीप्तिमान व्यक्तित्व वन्दनीय हो उठा है। वह राष्ट्र की रक्षा के लिए अपने कायर पति को उत्तेजित करती है। 'रस-कलश' में हरिऔध ने नायिकाओं के नये भेद निर्धारित किये यथा देश-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, [illegible] लोकसेविका आदि। काव्यशास्त्र में ये नये भेद नारी-उत्थान के ही सोपान हैं। 'प्रियप्रवास' की नायिका राधा का प्रेम समस्त मानवजाति तथा लोकहित का पक्ष ग्रहण कर लेता है:

> "जी से प्यारा जगत हित औ लोक-सेवा जिसे है
> प्यारी सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है।"[१]

राधा का लोकहितकारी रूप आलोच्य काल में इस प्रकार चित्रित किया गया :

> "वे छाया थीं सुजन शिर की शासिका थीं खलों की।
> कंगालों की परमनिधि थीं औषधी पीड़ितों की।
> दीनों की थीं बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
> आराध्या थीं ब्रजअवनि की, प्रेमिका विश्व की थीं।"

गुप्तजी के 'साकेत' की उर्मिला और कैकेयी, 'यशोधरा' की यशोधरा और 'द्वापर' की विधृता के चित्रण नारी की वकालत, उसकी प्रशंसा और तरफदारी

---

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, अष्टम् संस्करण २०१०, पृ० २४४

के प्रमाण हैं। उर्मिला का त्याग भी कितना महान है कि वह वन जाने के अपने अधिकार का भी त्याग करती है :

"सीता ने अपना भाग लिया
पर इसने वह भी त्याग दिया।"[१]

"....कहा उर्मिला ने, हे मन!
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।"[२]

यशोधरा का कथन है कि :

"स्वयं सुसज्जित करके क्षण में
प्रियतम को प्राणों के पण में
हमीं भेज देते हैं रण में
क्षात्र धर्म के नाते॥"[३]

इसीलिए गुप्तजी ने 'यशोधरा' की सीमा-रेखा में नारी की महान त्याग-भावना को प्रणाम करते हुए यह कहलाया है :

"दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी।"[४]

नारी का आत्मसम्मान अनेक गौतम बुद्धों का निर्माण कर सकता है। नारी भोग मात्र की वस्तु नहीं है, वह बेटी भी है, बहन भी है :

नर के बाँटे क्या नारी की नग्न मूर्ति ही आयी ?
माँ, बेटा, या बहिन हाय ! क्या संग नहीं लायी ?

फ्रांसीसी विद्वान काम्टे के मतानुसार सामाजिक जीवन का विकास मानवहित-वादी धर्म के प्रचार से ही सम्भव है। इसके लिए काम्टे नैतिकता, पूंजी का न्यायोचित ढंग पर वितरण, पारिवारिक जीवन के आदर्शों की पुनःस्थापना और विवाह पद्धति की प्रतिष्ठा के लिए सद्प्रवृत्तियों को विकसित करने की माँग रखता है। बंकिम, भूदेव, विवेकानन्द और टैगौर उससे प्रभावित थे।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत
२. वही
३. मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा
४. वही

मानव-सेवा ही ईश्वर-सेवा का प्रतिरूप बन गयी। आलोच्यकाल का साहित्यकार इस विचार से प्रभावित हुआ। 'प्रियप्रवास' की राधा और कृष्ण का मानव-प्रेम जन-सेवा, विश्वात्मा-भाव और लोकहित की अदम्य कामना के रूप में बढ़ने लगा। 'मिलन' में विजया द्वारा एक निर्धन परिवार की सेवा में सही दाम्पत्य प्रेम का अनुभव किया गया है। 'स्वप्न' में दीनहीन और असहायों के मध्य हरि का दर्शन इसी मानव-सेवा का प्रतिरूप है। टैगोर की 'गीतांजलि' में इन पीड़ितों के बीच ब्रह्म की झलक दिखायी देती है। सेवा को उन्होंने मुक्ति से बड़ा माना है। गुप्तजी में और पाण्डेय मुकुटधरजी के क्रमश: दीनहीन के 'अश्रुनीर' तथा पतितों के 'परिताप पीर' में ब्रह्म की अवस्थिति दिखायी गयी है।

द्विवेदीयुगीन काव्य में मानवता को धर्म से भी बड़ी उपलब्धि माना गया। नारी सहधर्मिणी, सहकर्मिणी और समान अधिकारों की पात्र मानी गयी। ईश्वर-सेवा का सही रूप मानव-सेवा और जन-सेवा समझा जाने लगा। अछूत, किसान, मजदूर, अशिक्षित, नारी और विधवा काव्य के वर्ण्य विषय बने। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने लिखा :

"खपाया किये जान मजदूर, पेट भरना पर उनका दूर
उड़ाते माल धनिक भरपूर, मलाई लड्डू मोतीचूर॥
× × ×
अन्नदाता है धीर किसान, सिपाही दिखलाते हैं ज्ञान।"[1]

श्रीधर पाठक की 'अहो पूज्य भारत महिलागण, अहो आर्यकुल प्यारी' उक्ति तथा 'स्वप्न' में विजया का कथन कि 'सेवा है महिमा मनुष्य की न कि अति उच्च विचार द्रव्य-बल' आदि रचनाओं के अंश भी मानवता के उच्च आदर्शों का उद्घोष हैं। रामचन्द्र शुक्ल की 'अछूत की आह' बड़ी मार्मिक रचना है :

"हाय हमने भी कुलीनों की तरह, जन्म पाकर प्यार से पाले गये।
जी बचे, फूले फले तो क्या हुआ, कीट से भी तुच्छतर माने गये।
जो दयानिधि को तनिक आवे दया, तो अछूतों की उमड़ती आह का,
यह असर होवे कि हिन्दोस्तान में, पाँव जम जावे परस्पर प्यार का।"

---

१. सनेहीजी, मर्यादा, भाग १५, सं० २, पृ० ४९ (महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डॉ० उदयभानु सिंह, पृ० २४६ से उद्धृत)

द्विवेदी युग में आन्दोलनों का जोर था, इसलिए किसान के सम्बन्ध में काफी लिखा गया। गुप्तजी का लघु-काव्य 'किसान' इसका उदाहरण है। साकेत के राम की उक्ति है :

> "मैं आया उनके लिये कि जो तापित हैं
> जो विवश, विकल बलहीन-दीन शापित हैं।"

यह मानव-धर्म मानव का सम्मान सिखाता है और उसकी सेवा को ईश्वर-प्राप्ति का साधन मानता है। मनुष्य की पूजा, आदर या सेवा के लिए जाति, धर्म, रंग, देश, राजनीतिक या सामाजिक स्थिति कहीं भी बाधक नहीं है। मनुष्य-जीवन को पवित्र, सुरक्षित, सबल, उदात्त और उन्नत बनाने में बुद्धि को मुक्त रखना भी आवश्यक है। तर्क की धार और बुद्धि के विकास से रूढ़ियाँ कट जाती हैं। पूर्व काल में धर्मों ने अत्याचारों को सहने के लिए आँखों में पावन आँसू और क्रूरताओं के स्वागत हेतु सहनशक्ति दी थी। द्विवेदी युग में जननायकों ने खुलकर अन्याय का विरोध किया। काव्य में उसका प्रतिबिम्ब पड़ा। मानववाद युगधर्म बन गया। पश्चिम के मानवतावाद की त्रुटि यही है कि वहाँ पर ईश्वर को एकदम निर्वासित कर दिया गया। व्यक्ति का 'अहम्' और उच्छृङ्खलता विनाश के दरवाजे खटखटाने लगी। उनकी मानवता बर्बर, क्रूर, धृष्ट और महायुद्धों की खोज में भटकने लगी। भारत ने इस आलोच्य-काल में मानव-धर्म के शत्रु 'अहम्' को दूर रखा। अपने को समस्त प्राणिवर्ग के साथ तथा ईश्वर से अभिन्न अनुभव करने वाली मानवता इसी देश के अनुकूल है। गीता में कहा भी है :

> "सर्वभूतास्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित:"[१]

फिर मनुष्य की सेवा भगवान की क्रियात्मक पूजा का रूप मानकर करनी चाहिए। मनुष्य को भगवान का ही रूप मानकर उसका आदर करना युगधर्म या मानव-धर्म को आध्यात्मिक पुट देना भी है। इसका सामान्य प्रसार द्विवेदी युग के काव्य में रहा है। अरविन्द का यह मत है कि "एक अध्यात्मयुक्त मानव-धर्म ही भविष्य की आशा है।" इस रूप-रेखा का निर्माण पहले पहल स्वामी विवेकानन्द ने बड़े ओजपूर्ण शब्दों में किया था :

---

१. गीता, ६/२९/३१

"मैंने अपनी मुक्ति की सारी इच्छा समाप्त कर दी है। मेरा बार-बार जन्म हो तथा मैं सहस्रों दुखों को झेलता रहूँ—इसलिए कि मैं पूजा कर सकूं उन एकमात्र सत् भगवान की, जिन्हें मैं मानता हूँ। मेरे वे भगवान हैं दुखी व्यक्ति, वे ही मेरी पूजा के विशेष पात्र हैं। जो उच्च और नीच, सन्त और पापी, देवता और कीट पतंग बने हुए हैं। जो दिखायी पड़ते हैं, जानने में आते हैं, वास्तविक हैं और सर्वव्यापी हैं, उन्हीं भगवान की पूजा करो। जिनमें न तो गत जीवन है न भावी जन्म, न मृत्यु है न गमनागमन, जिनमें हम लोग सदा से एक बने हुए हैं और सदा एक रहेंगे, उन्हीं भगवान की पूजा करो।"[1]

मानवतावादी धारणा की यह श्रेष्ठता और कहाँ मिलेगी। भारत के कण-कण में यह मानवीय दर्शन भरा पड़ा है। हमारी संस्कृति का यह निचोड़ है। श्रीमद्भागवत् ७/११ ८-१२ में नारद ने युधिष्ठिर को मानवमात्र के तीस सामान्य धर्म बताये हैं, उनमें सत्य, दया, तितिक्षा, सेवा, सब जीवों में आत्मा की भावना आदि प्रमुख हैं। मानवता इसी लक्ष्य की ओर ले जाती है :

सर्वेऽपि सुखिन: सन्तु सर्वे सन्तु निराभया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दु:खभाग्भवेत्॥

विश्व-इतिहास के वर्तमान विशेषज्ञ प्रो० ट्वयानबी लिखते हैं कि "इन परिस्थितियों में भविष्यवाणी की जा सकती है कि विश्व-इतिहास के अगले अध्याय में मानवजाति अपनी अधिकांश राजनीतिक, आर्थिक एवं कदाचित् पारिवारिक स्वातंत्र्य-विषयक क्षतिपूर्ति आध्यात्मिक मुक्ति में अपनी अधिक शक्ति लगाकर करना चाहेगी।"[2]

द्विवेदीयुगीन काव्य में सच्ची मानवता को आध्यात्मिक घेरे में रखा गया था। कहीं-कहीं घेरे टूटे हैं। यह मानवतावादी प्रवृत्ति द्विवेदी युग में खड़ीबोली काव्य के लिए वरदान बन गयी। निराला, पन्त, प्रसाद, प्रेमचन्द, रांगेयराघव आदि कितने साहित्यकार इस मानवता को चरितार्थ करने में स्वयं इतिहास के अंग बन गये। यह मानवतावादी प्रवृत्ति द्विवेदी युग की एक शान्त उत्तेजना है।

---

१. कल्याण, भक्ति अंक, वर्ष ३२, सं० १, पृ० ५५४

२. ऐन हिस्टोरियन्स एप्रोच टु रिलीजन, पृ० २४४ (कल्याण, मानवता अंक, पृ० ९४ से उद्धृत)

यह कोरी प्रासंगिकता नहीं है, बल्कि सशक्त संवेदना है । युगधर्म के साथ जीना या उसकी प्रवृत्ति को छानकर रसायन तैयार करना बड़ी समझदारी की बात है ।

(३) **आदर्शवादी प्रवृत्ति** : धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—धर्म के ये दस लक्षण हैं। ये मानव के धर्म हैं :

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥[१]

द्विवेदीयुगीन काव्य में इन्हीं आदर्शों का आग्रह बड़ी कठोरता के साथ अपनाया गया है । द्विवेदीजी का मत है कि "जिस काव्य से समाज को कोई शिक्षा नहीं मिलती वह उनकी दृष्टि में व्यर्थ है ।"[२] उनका मत है कि "सबसे अच्छी कविता में जीवन को सार्थक करने के उपाय और उसके उद्देश्य बतलाये जाते हैं । उससे मनुष्य को अच्छी शिक्षा दी जाती है, उसे उन्नति का मार्ग दिखाया जाता है, उसके हृदय को उदार और सहानुभूतिपूर्ण बनाने का प्रयास किया जाता है ।"[३] इससे उनकी काव्य-विषयक आदर्शवादिता प्रकट होती है । नीति, सदाचार और आदर्श के वे पक्षपाती हैं । काव्य का मूल उद्देश्य तो नैतिक मूल्यों की स्थापना करना ही है । हृदय का उत्कर्ष, शुद्धि और सात्विकता उनके जीवन-दर्शन के अंग हैं । "पाशविक विकारों की उत्तेजना करनेवाली अश्लील तथा अनैतिक साहित्य रचनाओं को वे समाज का शत्रु समझकर दण्ड्य मानते थे ।"[४] वे कहते थे—"उपन्यासों में समाज के ऐसे चित्र होने चाहिए जिनसे दुराचार की वृद्धि न हो, सदाचार की वृद्धि हो ।"[५] डॉ० भगीरथ मिश्र का कथन है—"द्विवेदीजी की काव्य-विषयक धारणा न शुद्ध आदर्शात्मक थी, न कट्टर यथार्थ-वादी ।"[६] यहाँ तत्कालीन आदर्श और यथार्थ की संवेदनाओं की अभिव्यक्ति में द्विवेदीजी के योगदान को स्पष्ट किया गया है । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

---

१. मनुसंहिता (६/९२-९३)
२. महावीर प्रसाद द्विवेदी, कालिदास और उनकी कविता, पृ० ११८
३. महावीर प्रसाद द्विवेदी, विचार विमर्श, पृ० १
४. सरस्वती, जून १९०५, पृ० २२४-२२७
५. सरस्वती, १९११, पृ० ४७१
६. डॉ० भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २४५

ने द्विवेदीजी के साहित्यिक आदर्श के सम्बन्ध में कहा है कि "वह कला धन्य है जो हमारी व्यापक भावना का कपाट खोलकर सरस, शीतल समीर का संचार करती है, परन्तु जो कला उदात्त और प्रशस्त न होती हुई भी समय और समाज के अंधकार में आलोक की दीपशिखा दिखाकर प्रकाश की व्यवस्था करती है, वह भी अपना अलग महत्व रखती है। द्विवेदीजी का ऐसा ही साहित्यिक आदर्श था।"[१] वे भाषा के शिल्पी, खड़ी बोली के सफल प्रचारक और एक आदर्श शिक्षक थे। दरिद्रों के प्रति सहानुभूति, सामाजिक और राजनीतिक प्रगति का समर्थन और अश्लीलतापूर्ण शृङ्गार का विरोध, सात्विक काव्य की ज्योति जगाने वाले द्विवेदीजी के युग की आदर्शात्मक प्रवृत्ति थी। वे साहित्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की स्थापना करना चाहते थे। भारतीय संस्कृति के उदात्त और उत्कृष्ट रूप पर उनकी दृष्टि थी। द्विवेदीजी ने भारतीय आत्मा के अनुकूल ही पाश्चात्य विषयों को स्वीकार किया था। राष्ट्रीयता का सात्विक रूप उन्हें ग्राह्य हुआ। प्राचीन और नवीन का मानवता के आधार पर समन्वय किया। अपने युग की वास्तविकता को उन्होंने पहचाना और आदर्शवाद को स्थान दिया।

भारतीय संस्कृति को परिपोषित करनेवाला आदर्शवाद धर्म, अर्थ, समाज, राजनीति और नैतिक या राष्ट्रीय क्षेत्रों में मान्य किया गया। रामचन्द्र शुक्ल की 'प्रेम' और प्रसाद की 'प्रेमपथिक' रचना में त्यागमय प्रेम के आदर्श की व्यंजना है। 'भारत-भारती' का उद्बोधन भी आदर्शवादी साँचे में कसा हुआ है :

"अन्तःकरण में गूँजता राष्ट्रीयता का राग हो
× × ×
आत्मावलम्ब ही हमारी मनुजता का मर्म्म हो।"[२]

"साहाय्य दे सकते मनुज को मनुज ही खग-मृग नहीं।
वे भी न दें तो सब मनुजता व्यर्थ है उनकी वहीं।"[३]

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १२
२. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती (इकतीसवाँ संस्करण २०२३), पृ० १८६
३. वही, पृ० १६४

'भारत-भारती' के १८३-१८४ पृष्ठ पर 'आदर्श' शीर्षक से कवि ने देश के प्रसिद्ध नेता, कर्मवीर, साहित्यकार, धार्मिक नेता, राजनीतिज्ञ आदि का उल्लेख करते हुए अपने देश की आकांक्षाओं का चित्रण किया है। रामचन्द्र शुक्ल की 'प्रेम' कविता का आदर्श लोकसेवा ही था, जिससे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का प्रसार हुआ है :

> सबके होकर रहो, सहो सब की व्यथा
> दुखिया होकर सुनो, सभी की दुख कथा
> परहित में रत रहो, प्यार सबको करो
> जिसको देखो दुखी, उसी का दुख हरो।
> वसुधा बने कुटुम्ब प्रेमधारा बहे,
> मेरा तेरा भेद नहीं जग में रहे॥

प्रसाद ने 'करुणालय' में लिखा है :

> चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
> खड़े रहो मत, कर्म मार्ग विस्तीर्ण है॥
> चलनेवाला पीछे को ही छोड़ता।
> सारी बाधा और आपदा वृन्द को॥

'प्रियप्रवास' में राधाकृष्ण का आदर्श लोकसेवा है। 'जयद्रथ वध' में प्राणोत्सर्ग करनेवाले वीर का एवं 'मिलन' तथा 'पथिक' में देशभक्त का आदर्श चित्रित है। 'मेवाड़गाथा' एवं 'महाराणा का महत्व' में देशभक्ति का आदर्श रखा गया है। 'प्रेम-पथिक' में प्रेम का सन्देश है। हरिऔध के 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' में नीति तथा रामचरित उपाध्याय की 'सतसई' में नीति-सम्बन्धी आदर्श भरा हुआ है। रामचरित उपाध्याय की 'वनस्थली' में प्रत्येक वृक्ष से नीति का पाठ सुनने की पद्धति अपनायी गयी :

> "ज्यों भविष्य में देश दशा की देख अधोगति
> देश हितैषी की न कभी रहती है स्थिर मति
> नहीं दुष्ट उत्कर्ष सहन उसको होता है
> अश्रपात कर सदा क्षुभित हो वह रोता है

यह मधूक तरु भी तथा पुष्पपात के ब्याज से
सोच हृदय, शुचि की व्यथा रोता है भय लाज से ।।"[१]

मुकुटधर पाण्डेय का कथन है कि :

"हृदयहीन जो पड़ा हुआ तो वह है केवल भू का भार
सहृदय ही बस कर सकता है इस जग का सच्चा उपकार ।।"[२]

हरिभाऊ उपाध्याय ने 'वृक्षवृन्द से विनय' में कहा है :

कन्द मूल फल दीन जनों का जीवन रखते।
हम चाहे दें छोड़ खबर उनकी तुम रखते ।।
जाति वर्ण ऊँचे-नीचे का भाव न रखकर।
करता तू सब पर समान उपकार अतुलवर ।।[३]

'प्रियप्रवास' के नवम् सर्ग में दान, क्षमा, परोपकार, परिताप-हरण, वीरता आदि गुणों के लिए वनस्थली-वर्णन में सूक्तियाँ भरी पड़ी हैं। उस युग में नीति, उपदेश और आदर्श तथा सदाचार को साहित्य-रचना की अनिवार्य शर्त माना गया था। समाज में पर्दा, पाखण्ड, अस्पृश्यता, दहेज, आदि प्रथाओं पर व्यंग्य और प्रहार हो रहे थे। नये धार्मिक मतवादों ने धर्म का स्वरूप ही बदल दिया था। काव्य का लक्ष्य था देशभक्ति और लोक-सेवा। नारी की शिक्षा, समान अधिकार की भावना, जाति-पाँति का अभेदत्व, कृषक, युवक, छात्र, अछूत आदि नयी जागरण-शक्ति के केन्द्र थे। कविता 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' अर्थात् समष्टि-लाभ के लिए लिखी जा रही थी। 'उपदेश का भी मर्म होना चाहिए' यह कविता का गुण स्वीकृत हो गया था। अधिक उपदेश के कारण कविता प्रवचन जैसी प्रतीत होती है। सन् १९१५ ई० के पूर्व नीति काव्य और आदर्श काव्य का हिन्दी में बहुत प्रचार हुआ। १९१५ ई० के बाद ही निराला, प्रसाद, पन्त आदि की छायावादी प्रवृत्ति के आगमन से काव्य में एक नया संघर्ष उतर आया। भाषा, छन्द, रस, आदि सभी की दृष्टि से और वर्ण्यवस्तु आदि के सन्दर्भों के ख्याल से भी एक नयापन काव्य में आता गया।

---

१. रामचरित उपाध्याय, 'वनस्थली', सरस्वती, अगस्त १९१६
२. मुकुटधर पाण्डेय, 'महत्ता और क्षुद्रता', सरस्वती, जून १९१७
३. हरिभाऊ उपाध्याय, 'वृक्षबृन्द से विनय', 'मर्यादा', जुलाई १९२०

आदर्श, उपदेश, नीति, अन्योक्ति और सूक्तियाँ अभिव्यक्ति की नयी भंगिमा अपनाने लगीं।

परम्परा और समकालीन मूल्यों को ध्यान में रखकर ही बीच के तनाव पर या वजन पर बात कही जाती है। अंग्रेजों की कूटनीति का चक्र, बंगभंग-आन्दोलन, १९११ ई० का दरबार, १९१४-१९१८ ई० तक का युद्ध, १९२० ई० में तिलक की मृत्यु, गाँधी का राजनीतिक नेता के एकमेव स्वरूप का उभरना, आन्दोलनों का ताँता, हिन्दू-मुसलिम भेद, लीग की स्थापना १९०६ ई० और जिन्ना का १९१६ ई० में कांग्रेस से अलग हो कर विरोधी रुख की सारी परिस्थितियों के मध्य हिन्दी खड़ी बोली का आन्दोलन और भाषागत संस्कार आदर्शवादिता के चतुर्दिक् विकसित हो रहा था। द्विवेदीजी ने एक साहसी व्यक्ति की शक्ति का प्रदर्शन किया था। अस्तु, आदर्शों की यह कविता तब स्वयं आदर्श बन गयी थी।

(४) **उपदेशात्मक काव्य की प्रवृत्ति** : ज्ञान के सम्प्रेषण में उपदेश औजार का काम करते हैं। बारीक और विश्वस्त उपदेशों से काव्य में विलक्षणता, सर्जनात्मकता और ग्रहणशीलता आती है। ज्ञान के विकास में मानक उपदेशों से गुणात्मकता बढ़ती है। द्विवेदीयुगीन काव्य में उपदेश और मनोरंजन के सिद्धान्त प्रमुख रूप से स्वीकृत हुए। मैथिलीशरण गुप्त ने कहा भी :

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥"[1]

द्विवेदीजी का मत था कि "सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है।" प्रतापनारायण मिश्र का कथन था :

"चाहहु जो साँचो निज कल्याण
तो सब मिलि भारत सन्तान
जपौ निरन्तर एक जबान
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान।"

---

१. मैथिलीशरणगुप्त, भारत-भारती, भविष्य खंड, पृ० १७१

और द्विवेदीजी का यह उपदेश था—

"स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै।
विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो।
न जाओ पास, उससे दूर भागो।।"[1]

× × ×

माता है जैसी पूज्य सुनो हे भाई
भाषा है उसी प्रकार महा सुखदायी
माता से पूज्य विशेष देश भाषा है
मिथ्या यह हमने वचन नहीं भाखा है।।"[2]

× × ×

छोड़ो सब कुरीतियाँ कुल की, छोड़ो अब तो निठुराई।
वहुत हो चुका कनवजियापन, सुनिए हे प्यारे भाई।
जिसमें बने बात वह करिये रख लीजिये हमारी लाज।
दुख सागर में डूब रहा है अबलाओं का जीर्ण जहाज।"[3]

हम जानते हैं कि कवि-कर्म एक कठिन कारोबार है। ऊपर दिये हुए उदाहरण एकदम अभिधा में, रूखेपन के साथ कहे गये हैं। द्विवेदीजी का युग और खड़ी बोली का काव्य में आना बड़े सामर्थ्य के साथ कही जाने वाली कविता का बाना नहीं ले सकता था। मामूली तरह से मामूली और सीधी बात कह दी गयी। कबीर भी मामूली सी बात कहते थे, भाषा और अभिव्यक्ति टेढ़ी होती थी। उन्होंने कहा "जो घर फूंकै आपनो, चले हमारे साथ" इसमें व्यंजना की अद्भुत शक्ति है। उनकी बात मन को छूती थी। द्विवेदी काल में यह अपेक्षा सम्भव न थी। द्विवेदीजी की 'ठहरौनी', 'नागरी का विनयपत्र', 'मांसाहारी को हंटर', 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना' आदि रचनाओं में यही उपदेश की प्रवृत्ति है।

---

१. संग्र० देवीदत्त शुक्ल, द्विवेदी काव्य-माला, पृ० ३७०
२. वही, पृ० ३७४; सरस्वती, फरवरी १९०५
३. वही, पृ० ४२८; सरस्वती, सितम्बर १९०६

"आलस्य फूट, मदिरा, मद दोष सारे।
छाये यहाँ सब कहीं टरत न टारे।
हे भक्तवत्सल, इन्हें उनसे बचाओ।
हस्तारविन्द उनके सिर पर लगावो।"[१]

यह युग सुधारों का युग था, जिसमें उपदेशों की भरमार थी। जागरण के इस युग में कविता और जीवन के बीच कोई दीवार नहीं थी। जीवन का यथार्थ कविता में अंकित हो रहा था। उसमें किसी स्वप्नशील आदर्शवाद के लिए जगह नहीं थी। 'भारत-भारती' में कहा जा रहा था कि :

"हम कौन थे क्या हो गये हैं जान लो इसका पता।
जो थे कभी गुरु, है न उनमें शिष्य की भी योग्यता।
जो थे सभी से अग्रगामी, आज पीछे भी नहीं।
है दीखती संसार में विपरीतता ऐसी कहीं ?"[२]

× × ×

"हे भाइयो ! सोये बहुत, अब तो उठो, जागो अहो।
देखो जरा अपनी दशा, आलस्य को त्यागो अहो।"[३]

× × ×

"कवियो उठो, अब तो उठो, कवि-कर्म की रक्षा करो।
सब नीच भावों का हरण कर उच्च भावों को भरो।।"[४]

श्री जनार्दन झा ने सरस्वती के नवम्बर १९०४ ई० के अंक में 'शिक्षा शतक' में लिखा था :

"बाकी रहे घड़ी दो रात, उठ बैठो तब जान प्रभात,
भक्ति सहित ले हरि का नाम, सोचो अर्थ-धर्म का काम।"

कामताप्रसाद गुरु की 'सरस्वती', फरवरी १९०६ में प्रकाशित कविता में भी मातृभाषा-विषयक उपदेशात्मक रचना प्रकाशित हुई थी :

---

१. द्विवेदी काव्यमाला, भारत की परमेश्वर से प्रार्थना, पृ० ३६२
२. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, पृ० १५३
३. वही, पृ० १५५
४. वही, पृ० १७२

"जरा उबालो अपना रक्त, बनो मातृभाषा के भक्त ।।"

गिरधर शर्मा की उद्बोधन रचना, 'सरस्वती' १९०६ में प्रकाशित, आक्रोशपूर्ण कविता है। नारियों को ललकारते हुए उन्होंने कहा :

हे भामिनिओ, कुल कामिनिओ,
ये चूड़ियाँ हैं परदेशियों की।
कलंक भारी पहिनो इन्हें जो
छोड़ो जरा तो मन में लजाओ।

नाथूराम शर्मा 'शंकर' कट्टरपंथी अपरिवर्तनवादी समाज से नाराज होकर व्यंग्य करते हैं :

"सुनो स्वर्ग से लौ लगाते रहो, पुनर्जन्म के गीत गाते रहो।
डरो कर्म के प्रारब्ध भोग से, करो मुक्ति की कामना भोग से।
नई ज्योति की ओर जाना नहीं, पुराने दिये को बुझाना नहीं ।।"[1]

हरिऔध ने 'वैदेही-वनवास' में पति-पत्नी को उपदेश देते हुए लिखा है :

मधुरभाव से, कोमलतम व्यवहार से।
पशु-पक्षी भी हो जाते अधीन हैं ।।
अनहित बनते स्वकीय परकीय हैं।
क्यों न मिलेंगे दम्पति जो जल मीन हैं ।।

मैथिलीशरण गुप्त ने 'जयद्रथ वध' के प्रथम सर्ग में यह कहा है :

दुख, शोक जब जो आ पड़े, सो धैर्यपूर्वक सब सहो।
होगी सफलता क्यों नहीं, कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहो ।।
अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है ।।

× × ×

"सब लोग हिल मिलकर चलो, पारस्परिक ईर्ष्या तजो।
भारत न दुर्दिन देखता मचता महाभारत न जो ।।"[2]

× × ×

---

१. सरस्वती, खण्ड ८ संख्या १, सन् १९०७

२. मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ वध, सर्ग १, पृ० १

"ले डूबता है एक पापी नाव को मँझधार में।"[1]

× × ×

"निज शत्रु का साहस कभी बढ़ने न देना चाहिये।
बदला समर में वैरियों से शीघ्र लेना चाहिये॥"[2]

ठाकुर गोपालशरण सिंह ने 'भारतीय विद्यार्थियों' के यह कर्तव्य सुझाये हैं :

भारत भर की एक राष्ट्र भाषा हो जाये।
जो हम सब में खूब परस्पर मेल बढ़ाये॥

× × ×

"छात्रों, उसके साहित्य को सब प्रकार उन्नत करो।
उसके पुस्तक-भण्डार को सद्ग्रंथों से तुम भरो॥"[3]

छात्रों के लिए श्रीधर पाठक ने 'सुसंदेश', हरिऔध ने 'विद्यार्थी वृन्द', कमलाकर ने 'छात्रों से नम्र निवेदन' और एक भारतीय आत्मा ने 'भारतीय विद्यार्थी' रचनाएँ लिखकर उनके उपयुक्त उपदेश दिये थे। उद्बोधन, व्यंग्य या आख्यायिका के आश्रय से मैथिलीशरण की 'सरस्वती' १९०९ में प्रकाशित 'मक्खीचूस' में व्यंग्यपूर्ण उपदेश दिया गया है। भगवन्नारायण भार्गव ने 'मर्यादा' १९१७ में 'सत्याग्रह' रचना में यह उपदेश दिया :

नियम अन्यायमय तोड़ो यही कर्तव्य है सच्चा।
महात्मा गाँधी का संग करो कटिबद्ध हो मित्रो।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'स्वदेशी कुण्डल' में कई उपदेश दिये :

जागो जागो बन्धुगण, आलस सकल बिहाय।
देश हित अर्पन करो, मन, वाणी अरु काय।
मन, वाणी अरु काय देश सेवा को जानो।
जीवन धन यश मान उसी के हित सब मानो।
वीरजनो, अब खेत छोड़ मत पीछे भागो।
सोतों को दो चेत, करो ध्वनि, जागो, जागो।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ वध, पृ० १०
२. वही
३. सरस्वती, फरवरी १९१५, ठा० गोपाल शरण सिंह

पूर्णजी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता, स्वदेशी वस्तु-विदेशी मशीन, ईश्वर, राजा, देश, प्रकृति आदि विषयों पर लिखा। वे राजभक्त तो थे ही, देशभक्त भी थे। उन्होंने अपने जीवन के चारों ओर फैले हुए विविध विषयों को वाणी दी थी। सच तो यह है कि द्विवेदी युग के कवियों ने अपने युग-जीवन को अपने ही चश्मे से देखा था और व्यक्त किया। कविता में तब एक भोलापन था। उसमें कृत्रिमता नहीं थी। लोचनप्रसाद पाण्डेय ने नैतिकतापूर्ण उपदेश दिये थे, जैसे :

"बन्धुवर्ग को प्यार न करना जिसने सीखा।
विनययुक्त व्यवहार न करना जिसने सीखा।
जाति देश उपकार न करना जिसने सीखा।
जन्म हुआ निस्सार न मरना उसने सीखा।।"[1]

हरिऔध ने मानव-जाति के सर्वोच्च आदर्श समाज-सेवा और लोक-कल्याण ही माने थे। 'धर्मवीर', 'कर्मवीर', 'जीवनमुक्त', 'हमें चाहिए', 'अविद्या', 'कुलीनता', 'नोंक-झोक' आदि कविताओं में आदर्श मानव-गुणों को व्यक्त करते हुए कई उपदेश दिये गये थे :

"है सबल के लिये बनी दुनिया
है निबल का यहाँ निबाह नहीं।"[2]

× × ×

"देखकर जो विघ्न-बाधाओं को घबराते नहीं।
मार्ग पर रह करके जो पीछे हैं पछताते नहीं।
काम कितना ही कठिन हो, पर जो उकताते नहीं।
भीड़ पड़ने पर भी चंचलता जो दिखलाते नहीं।
होते हैं यक आन में उनके बुरे दिन भी भले।
सब जगह सब काल में रहते हैं वह फूले-फले।"[3]

गुप्तजी का 'स्वर्गीय संगीत' उपदेशों का मानो आमुख है, यथा

"पुरुष हो पुरुषार्थ करो उठो।"
' नर हो न निराश करो मन को।"

---

१. लोचनप्रसाद पाण्डेय, नरजन्म की सार्थकता, सरस्वती, अक्टूबर १९११
२. सबल और निबल, सरस्वती, सन् १९१५, भाग १६, सं० ५
३. हरिऔध, कर्मवीर, सरस्वती, अप्रैल, १९०७

"वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे।"
"मनुष्य ही मुक्ति का द्वार है।"

'सनेही' की 'जातीयता' एवं 'वसुधैवकुटुम्बकम्' में उद्‌बोधन तथा राष्ट्रीयता-विषयक उपदेश हैं। हरिभाऊ उपाध्याय ने इच्छाशक्ति का आदर्श सामने रखा। पन्त ने 'मर्यादा' १९१७ में, यह चेतावनी दी :

जीवन, बन जीवन अनुकूल,
रह नित मिलजुल सलिल कणों सम, मिटा हृदय का शूल ॥
अहंभाव तज, समतल में रह, बना गर्व निर्मूल,
जल सम निर्मल और स्वच्छ बन कर सब जगत् अमूल ॥[१]

बदरीनाथ भट्ट ने 'हिन्द के सुतों' को उद्‌बोधन दिया :

"चलो उठो, बस हुआ, बनो अब कर्मवीर, छोड़ो सन्ताप
भूमण्डल में सभी जातियाँ बनती हैं अपने ही आप।"[२]

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' का यह उपदेश तो अमर ही हो गया :

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है॥"[३]

उपदेशों का फैलाव पूरे द्विवेदी युग में नीति, मनोरंजन, आदर्श, सुधार और राजनीति तथा धर्म, अर्थ, समाज, प्रकृति, राष्ट्रीयता, आदि लगभग कई विषयों से सम्बन्धित रहा। 'भ्रमर' ने सन् १९१३ में मूषक, खटमल, घुन, आदि अन्योक्तियों के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्यवाद को धिक्कारा था। जगन्नाथ जोशी ने 'राष्ट्रीय वीणा' में "पैर पीछे न उठाने" की हिम्मत बँधाई थी। अपनी राष्ट्रीय शक्ति का परिचय देनेवाली रचना 'मा' में वे कहते हैं :

"कायरता की विकट बेड़ियाँ दी हैं हमने तोड़ा।"

विश्व-कल्याण के लिए जीवन वही अर्पित कर सकता है, जिसे उपदेश की आँच छू जाती है। 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे' की भावना उपदेश

---

१. पन्त, 'चेतावनी', मर्यादा, १९१७ नवम्बर
२. बदरीनाथ भट्ट, हिन्द के सुतो, मर्यादा, सितम्बर-अक्टूबर, १९१२
३. गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', स्वाभिमान और देशाभिमान, राष्ट्रीय वाणी, पृ० १९

से ही आती है। नीति, ज्ञान, धर्म और उपदेश से जीवन मंगलमय हो उठता है। उपदेश मार्गदर्शक होता है :

"निर्जन वन के बीच सुगम पथ
तम में दीप-दिशा भ्रम में रवि
संकट में सान्त्वना वाक्य
बल विस्मृति विद्युज्जिह्वा कवि।"[१]

रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध चरित' चतुर्थ सर्ग में लिखा था :

सूखि गयो जब कुसुम कहाँ फिर गंध रूप तब ?

गोपालशरण सिंह ने 'कादम्बिनी' संग्रह की 'विकास' कविता में जीवन की शाश्वतता पर बड़ी अनूठी बात कही थी :

सुमन खिलते हैं नित्य अनन्त, भ्रमर करते हैं ध्वनित दिगन्त,
कहाँ है ह्रास, कहाँ है अन्त, जहाँ पतझड़ है वहीं बसन्त।
नाश तो केवल है परिहास, चिरंतन है ध्रुव विश्व-विकास।

रामचरित उपाध्याय की उक्ति है :

"स्वदेश सेवा व्रत से नहीं भगो,
उठो उठो राम, सुकर्म में लगो।"[२]

स्वजाति-उद्धार के विषय में हरिऔधजी की यह उक्ति है :

"विपत्ति से रक्षण सर्वभूति का, सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का, मनुष्य का सर्वप्रधान धर्म है॥"[३]

गुप्त ने 'पंचवटी' में लिखा है कि :

"जितने कष्ट कंटकों में है जिनका जीवन-सुमन खिला।
गौरव-गंध उन्हें उतना ही यत्र-तत्र-सर्वत्र मिला॥"[४]

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, स्वप्न, सं० ८, पृ० ६५
२. रामचरित उपाध्याय, रामचरित चिन्तामणि, (सर्ग २), पृ० १५, सन् १९२०
३. हरिऔध, प्रियप्रवास, सर्ग ११, छन्द ८५
४. मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी, पृ० १५

दुर्बल-हृदय व्यक्ति पर व्यंग्य करते हुए कवि रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा :

"आते हैं विघ्नों के झोंके, बारम्बार प्रचण्ड।
गिरते हैं तरु पर रहता है गिरिवर अटल अखण्ड ।।"[1]

रामचरित उपाध्याय ने राजनीतिक उपदेश देते हुए यह कहा है :

'साम नय से दुष्ट सीधे मार्ग पर आते नहीं,
हाथ में आते न जब तक दण्ड वे पाते नहीं।
तप्त हो जब तक घनों की चोट खाता नहीं,
काम में तक तक हमारे लौह आता है नहीं ।।"[2]

द्विवेदी युग में उपदेश के अन्तर्गत स्वदेश प्रेम, क्षमा, दया, धर्म, नीति, सदाचार, उद्बोधन, आदि विषयों ने काव्य को जहाँ सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के लिये तैयार किया, वहाँ जीवन की कमजोरियों की ओर संकेत भी किया। लोकमंगल की भावना ने काव्य को बहिर्मुखी ज्यादा रखा, अन्तर्मुखी कम। इस कारण कविता में इतिवृत्तात्मक शैली प्रधान हो गयी। फलतः उसमें लाक्षणिकता, मूर्तिमत्ता तथा वक्रता का अभाव खटकने लगा।

**५. राष्ट्रीय काव्यधारा** : द्विवेदीयुगीन काव्य की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति है राष्ट्रीय काव्य का सृजन। देश-प्रेम या देश-भक्ति का स्वर कई समानान्तर रेखाओं में मुखरित हुआ है। भारतेन्दु काल में जिस देशभक्ति अथवा राष्ट्रीयता का ज्वार आया था, वह द्विवेदीयुगीन काव्य की धमनियों में खौलते हुए रक्त की तरह दौड़ रहा था। धर्म, संस्कृति, भाषा, जनता या राजनीति में जो राष्ट्रीयता के अनिवार्य तत्व हैं, उनमें मूल रूप से राष्ट्र के व्यापक हित की ही भावना व्याप्त थी। राष्ट्रभावना का स्वरूप सदा एक-सा नहीं रहता। राष्ट्रवादी अपनी भूमि को 'पुत्रोऽहं पृथिव्याः' के समान प्रेम करता है। भूमि-वन्दना और मातृभूमि की स्तुति के अतिरिक्त पर्वत, वन, सर, सरिता, समुद्र, ऋतुएँ, पुष्प आदि उसे प्रेरणा देते हैं। देश की जनता, पशु-पक्षी, प्रकृति, सन्त, ऋषि, द्रष्टा, कवि, साहित्यकार, शिल्पी आदि राष्ट्रीय तत्व के अंग होते हैं। जब देश गुलाम होता है, तब अतीत का चिन्तन, परीक्षण और वर्तमान के अनुकूल उसका नवीकरण

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन, पृ० ५५

२. रामचरित उपाध्याय, रामचरित चिन्तामणि, सर्ग १८, पृ० २६५

उभरता है। विदेशी शासक का विरोध और विनाश करने तथा उसकी आज्ञा का उल्लंघन, प्रतिकार एवं उसके प्रतिकूल आक्रोश प्रकट करने की भावना इस राष्ट्रीयता का अंग बन जाती है।

राजनीतिक परतन्त्रता से प्रतिकिया स्वरूप धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना तीव्र हो उठती है, तब राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति के लिए काव्य में विविध आलम्बन गृहीत होते हैं। देश-भक्ति और राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति में अन्तर पाया जाता है। राष्ट्रीयता का स्वरूप देश-भक्ति से अधिक व्यापक होता है। परन्तु देश-भक्ति के आधार पर ही राष्ट्रीयता का स्वरूप निर्धारित होता है। देश के प्रति अनुराग, भक्ति या श्रद्धा के भाव से ही राष्ट्र-वीरों में बलिदान की भावना उत्पन्न होती है। राष्ट्रीय काव्य का सांस्कृतिक पक्ष बहुत व्यापक और प्रेरणा-स्पद होता है।

द्विवेदी युग ( १९००-१९२० ई० ) विद्रोह का युग था। गुलामी की आँच ने इस परतन्त्र देश को राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए उपयुक्त वातावरण दिया। साहित्य और कला के क्षेत्र में बलिदान, संघर्ष, प्रतिशोध, क्षोभ, आत्मसम्मान, वीरता, साहस, त्याग और नवजागरण के दृश्य दिखायी दिये। अतः द्विवेदी-युगीन काव्य की इस राष्ट्रीय काव्य-प्रवृत्ति को हम विविध प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं। डॉ० के० शर्मा ने 'हिन्दी साहित्य के राष्ट्रीय काव्य' में पायी जाने वाली भावनाओं का निम्न प्रकार से विभाजन किया है[1] :

(१) जन्मभूमि के प्रति प्रेम
(२) स्वर्णिम अतीत का चित्रण
(३) प्रकृति-प्रेम
(४) विदेशी शासन की निन्दा
(५) जातीयता के उद्‌गार
(६) वर्तमान दशा पर क्षोभ
(७) सामाजिक सुधार—भविष्य-निर्माण
(८) वीर पुरुषों या नेताओं की स्तुति
(९) पीड़ित जनता और कृषकों का चित्रण
(१०) भाषा-प्रेम

---

१. डॉ० के० के० शर्मा, हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य, पृ० १९

डॉ० सुधीन्द्र ने अपने 'हिन्दी कविता में युगान्तर' ग्रन्थ में राष्ट्रीय कविता धारा के अन्तर्गत भौगोलिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इकाइयों के समुच्चय को स्वीकार किया है। उन्होंने इन इकाइयों के समुच्चय को राष्ट्र कहा है और देश-भक्ति तथा राष्ट्रीयता को भिन्न-भिन्न माना है। राष्ट्रीयता को एक सापेक्ष संघटना मानते हुए वे बदलते हुए इतिहास की घटनाओं से उसे परिचालित बताते हैं। उनके मत से राष्ट्रीयता के दो पक्ष हैं :—

(१) देश-भक्ति की धारा
(२) राष्ट्रवाद की धारा

देश-भक्ति की धारा में—

(१) वन्दना-गीत
(२) प्रशस्ति-गीत
(३) जागरण-गीत
(४) अभियान-गीत

परिगणित हैं। राष्ट्रवाद की धारा के उन्होंने दो पार्श्व माने हैं :—

(क) सांस्कृतिक पक्ष, जिसमें

(१) अतीत का गौरव गान
(२) वर्तमान के प्रति क्षोभ
(३) भारत-भारती की प्रेरणा
(४) वीरपूजा और प्रशस्ति
(५) भविष्य का इंगित

(ख) और राजनीतिक पक्ष, जिसमें

(१) राष्ट्रीय जीवन का स्पन्दन, जीवन और जागृति
(२) बल और बलि
(३) स्वराज्य आन्दोलन
(४) अहिंसक राष्ट्रवाद
(५) राष्ट्रीय प्रतीकवाद और प्रशस्ति

विषयक रचनाएँ हुई हैं। डॉ० उदयभानु सिंह ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' के पृ० ११२ पर द्विवेदीजी की राष्ट्रीय कवि-भावना के चार रूपों का निरूपण किया है, यथा :—

(१) शासकों के गुणगान

(२) देश की वर्तमान औद्योगिक स्थिति के प्रति क्षोभ

(३) भारत का गौरवगान (भारत के अतीत गौरव का गान, उसमें देवत्व की प्रतिष्ठा, रमणीय प्राकृतिक दृश्यों का रूपांकन, स्वदेश तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम

(४) स्वतन्त्रता की आकांक्षा।

डॉ० रामसकलराय शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'द्विवेदी युग का हिन्दी काव्य' पृष्ठ ३९५ पर लिखा है कि "राष्ट्रीय काव्य धारा की एक विशेषता उसका सांस्कृतिक पक्ष है। साम्प्रदायिक सामंजस्य, सदिच्छा तथा मेल-मिलाप का पोषण इस युग के अनेक कवियों ने बड़े मनोयोग से किया। इस युग की कविता की एक विशेषता राजनीतिक चेतना भी रही जिसके फलस्वरूप स्वदेशी की लहर, राष्ट्रीय एकता और सर्वतोमुखी जागरण का मन्त्र फूंकना ही इन कवियों का कार्य था।"

इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रीय आन्दोलन के समय हिंसा, पशुत्व, क्रूरता, खून-खराबी, आदि विकृतियाँ स्वभावत: जन्म लेती हैं। यह अतिवादी मूल्य राष्ट्रीयता के अतिरेक और विदेशी शासक की नृशंसताओं के परिणामस्वरूप जन्म पाता है। राष्ट्रीय आन्दोलन कभी-कभी इतना व्यक्ति-निष्ठ हो जाता है कि पूरा युग उसी व्यक्ति की वीरपूजा के भाव से परिचालित होता है। सारे के सारे बौद्धिक और संवेदनात्मक स्तरों पर वह व्यक्ति छा जाता है। तिलक, गोखले, गाँधी, दयानन्द, विवेकानन्द, राजा राममोहन राय, आदि इसी प्रकार के युग-पुरुष थे।

कहा जा सकता है कि १८५७ ई० की क्रान्ति के पश्चात् भारतेन्दु युग ने ब्रिटिश शासन से संघर्ष करते रहने की प्रेरणा प्रदान की थी। उस युग की कवि-दृष्टि यथार्थवादी थी और देश तथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश कर रही थी। राजभक्ति से देशभक्ति तक की यात्रा राष्ट्रीयता का क्रमिक विकास है। अतीत का चित्रण भारतीयों के स्वाभिमान को जगाने के लिए किया गया था। १८८५ ई० से १९०० ई० तक के युग में भी इसी प्रकार की उत्थानवादी प्रवृत्तियाँ देश-प्रेम के माध्यम से प्रकट होती रहीं। भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन की इस पृष्ठभूमि के साथ ही द्विवेदी युग का आरम्भ

हुआ। द्विवेदीयुगीन काव्य के पीछे वे सारी परिस्थितियाँ और प्रेरणाएँ हैं, जो देशप्रेम को उभारने तथा विकसित करने के लिए उत्तरदायी हैं।

द्विवेदी युग (१९००-१९२० ई०) में घटनाओं के क्रम-विकास और उससे उत्पन्न परिस्थितियों का अध्ययन करने पर बड़ा आश्चर्य यह देखकर होता है कि भारतेन्दु काल में संकट की साँस लेता हुआ काव्य तेजी से नये मूल्यों को प्रश्रय देता गया, और समाज, संस्कृति, धर्म, अर्थ, राजनीति, या किसी भी जवाबदेही से बिना किनारा कसे अपनी युग-चेतना की अभिव्यक्ति करता गया।

(१) सन् १९०४-५ ई० में जापान ने रूस पर विजय पायी। चीन, जापान, भारत, ईरान और तुर्की के जन-आन्दोलनों को इससे नयी प्रेरणा मिली। १९०४ ई० में यूनिवर्सिटी एक्ट पारित हुआ। उससे नयी प्रेरणा मिली और शिक्षा-संस्थान शासकीय नियन्त्रण में आ गये।

(२) सन् १९०५ में बंग-भंग हुआ। बंकिम के 'आनन्दमठ का' 'वन्दे मातरम्' गीत सारे देश की जनता का कण्ठहार बन गया। अरविन्द ने 'वन्दे मातरम्' नाम की पत्रिका निकाली। बंग-भंग ने सारे देश में असन्तोष, अवज्ञा, और विदेशी के बहिष्कार की भावना को उद्बुद्ध किया।

(३) सन् १९०७ में सूरत के अधिवेशन में कांग्रेस गरम और नरम दलों में बँट गयी। इसके पहले १९०६ ई० में मुसलिम लीग की स्थापना हुई थी।

(४) १९०६ ई० में कांग्रेस का एक विधान बना।

(५) १९०९ ई० में मार्ले-मिण्टो सुधार ने मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन की सुविधा देकर हिन्दू-मुस्लिम समाज में साम्प्रदायिक कटुता के बीज बोये।

(६) सन् १९११ में जार्ज पंचम के सिंहासनारूढ़, होने पर प्रयाग कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित करके अपनी राजभक्ति की अभिव्यक्ति की, यथा—"यह कांग्रेस महाराज पंचम जार्ज के सिंहासनारूढ़ होने पर नम्रतापूर्वक उनकी अधीनता स्वीकार करती है और उनके प्रति अपनी उत्कृष्ट राजभक्ति प्रकट करती है।" [१]

---

१. काँग्रेस के प्रस्ताव, सं० श्री कन्हैयालाल, पृ० २४० (हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा, डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे, पृ० ४७ से उद्धृत)

(७) १६११ ई० में दिल्ली दरबार हुआ। (१२ दिसम्बर सन् १६११ के इस दरबार के समय से ही भारत की राजधानी कलकत्ते से दिल्ली ले आयी गयी)।

(८) १६१४ ई० में प्रथम विश्वयुद्ध का प्रारम्भ हुआ।

इन घटनाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित तथ्य भी ध्यातव्य हैं :—

(६) १६०६ ई० फिजी की गिरमिट प्रथा बन्द कराने के लिए गाँधी जी सक्रिय हुए।

(१०) १६१६ ई० में, काँग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में सभी राजनीतिक दल एक मंच पर आये और उनमें पारस्परिक सहयोग दिखायी पड़ा। तिलक ने यह घोषणा की कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लूँगा।"

(११) १६१७ में रूस की राज्य-क्रान्ति हुई और भारत में स्वायत्त शासन की वृद्धि करने की घोषणा की गयी। भारतमन्त्री चेम्सफोर्ड का आगमन हुआ। गाँधीजी ने चम्पारन में सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया और १६१८ ई० में खेड़ा तथा अहमदाबाद का सत्याग्रह सफल हुआ।

(१२) १६१६ ई० में सुधार कानून बनाकर भारतीयों को उच्चपद तथा प्रान्तीय शासन में स्थान देने तथा देशी व्यवसाय और उद्योगों की उन्नति की नीति निधारित की गयी।

(१३) १६१६ ई० में गाँधीजी द्वारा रौलेट एक्ट का विरोध किया गया और सत्याग्रह आन्दोलन हुआ।

(१४) १३ अप्रैल १६१६ को अमृतसर में नये संवत्सर के अवसर पर जनरल डायर द्वारा जलियाँवाला बाग में चार सौ स्त्री-पुरुष और बच्चों को मशीनगन से भून डाला गया और सहस्रों को घायल कर डाला गया।

(१५) १६२० ई० में कलकत्ता काँग्रेस के विशेष अधिवेशन में गाँधी के नेतृत्व में विश्वास प्रकट किया गया और असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। गाँधी के नेतृत्व में खिलाफत आन्दोलन को संचालित किये जाने का निश्चय हुआ।

(१६) १ अगस्त १६२० को तिलक का निधन हुआ।

इन घटनाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित तथ्य भी ध्यातव्य हैं :—

(१) १६०४ ई० में लॉर्ड कर्जन का तिब्बत अभियान हुआ, और

(२) १६१६ ई० में काबुल में अमानुल्ला को राजा मान लिया गया।

आधुनिक भारत के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि १६०३ के २० अगस्त के न्यू इण्डिया के निम्न चुटकुले में लॉर्ड रिपन और लॉर्ड कर्जन में इस प्रकार अन्तर किया गया--

''लॉर्ड रिपन का आदर्श धीरे-धीरे भारतीयों को स्वतन्त्रता प्राप्त कराना है। लॉर्ड कर्जन का उसे भारत सरकार के लिए प्राप्त कराना है।''

—(एस० आर० शर्मा, आधुनिक भारत का निर्माण, पृ० ३०४)

१७ अगस्त १६१७ की भारत मन्त्री ई० एस० माण्टेग्यू की ऐतिहासिक घोषणा युग-प्रवर्तक थी। इसमें शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करना और ब्रिटिश साम्राज्य के एक अभिन्न अंग के रूप में भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के लिए स्वशासित संस्थाओं का धीरे-धीरे विकास किया जाना स्वीकार किया गया था। गोखले का प्रयास और तिलक की इच्छा यही थी। इसी के लिए जब १६१६ई० में सुधार कानून बना तो 'साम्प्रदायिक निर्वाचन' को सिक्खों, यूरोपियनों, ऐंग्लो-भारतीयों, भारतीय ईसाइयों और मुसलमानों के लिए भी लागू कर दिया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद भारत इतना बदल गया था कि उसे गुलामों की तरह शासन के पाश में बाँध रखना सम्भव न था। देश पुनर्जागृत राष्ट्रीयता की बेचैनी की लहरों में तैरता हुआ उभरता जा रहा था। राष्ट्रीयता का नवीन रूप हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक साथ आगे ले जा रहा था। रौलेट एक्ट के विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन ने गाँधी को १६१६ई० में राजनीति के मंच पर जादूगर के रूप में ला खड़ा किया। वे भारतीय जनता के अद्वितीय नेता सिद्ध हुए।

उपर्युक्त प्रमुख घटनाओं के आधार पर ज्ञात होता है कि १६०५ ई० के बंग-भंग ने देश में अंग्रेजों के विरुद्ध एक विशाल जन-आन्दोलन को जन्म दिया था। अब विश्व की घटनाओं के साथ देश जुड़ गया था। अन्ततः बंग-भंग की घोषणा को रद्द करना पड़ा। १६१६ ई० के थोड़े से सुधारों से गरमदल वाले असन्तुष्ट थे। तिलक के नेतृत्व में 'लिबरल फेडरेशन' की स्थापना हो गयी। युद्ध काल में जो 'डिफेन्स ऑफ इण्डिया एक्ट' बना था, उससे खूनी क्रान्ति को बल मिला। महाराष्ट्र में एकता बढ़ाने के लिए गणेशोत्सव और

शिवाजी-उत्सव शुरू किये गये और उत्तर प्रदेश में गेंदालाल दीक्षित द्वारा 'मातृदेवी' नामक संस्था की नींव डाली गयी। राजा महेन्द्र प्रताप इस आतंक-मार्ग के अग्रणी थे। १६२० ई० में गाँधी का एकछत्र नेतृत्व शुरू हुआ। पं० नेहरू के शब्दों में गाँधी का व्यक्तित्व इस प्रकार था—

> "उन्होंने सार्वजनिक कोलाहल में अपने स्वर को भी मिला दिया। परन्तु यह स्वर अन्य स्वरों से कुछ भिन्न था। वह शान्त एवं धीमा था, परन्तु फिर भी उसे भीड़ की चिल्लाहट से भी ऊपर सुना जा सकता था। वह कोमल एवं नम्र था, परन्तु फिर भी उसमें कहीं छिपे हुए इस्पात का अनुभव किया जा सकता था। वह विनीत एवं अपील से ;र्ण था, परन्तु फिर भी उसमें उग्रता एवं भयानकता थी। प्रत्येक शब्द सारगर्भित था और उसमें तीव्र तत्परता दिखायी देती थी। शांति एवं मित्रता की भाषा के पीछे शक्ति एवं कर्म की काँपती हुई छाया वर्तमान थी तथा बुराई के सामने सर न झुकाने का इरादा था।"
>
> —(एम० के० शर्मा, आधुनिक भारत का निर्माण, पृ० ३३८)

संक्षेप में, इस युग की घटनाएँ थीं—सत्याग्रह दिवस, सार्वदेशिक हड़तालें, अमृतसर तथा दिल्ली में पुलिस और सेना द्वारा गोली चलाना, अमृतसर तथा अहमदाबाद में भीड़ की हिंसा, जलियाँवाले बाग का कत्लेआम, ओर पंजाब में मार्शल लॉ का भय तथा भयंकर अपमान। इन सभी से राष्ट्रीय भावना को बल मिला। साहित्य में इन सब अवयवों की परछाइयाँ पड़ती गयीं।

मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' ने इस युग की राष्ट्रीय भावना को आगे बढ़ाया। राष्ट्रवाद की धारा में नैतिक और सांस्कृतिक तत्व सम्मिलित हुए। विदेशी शासकों के प्रति रोष, घृणा, विद्रोह और अपने अतीत के प्रति मोह, वीर पुरुषों के प्रति पूजा का भाव, देश और संस्कृति के प्रति आदर तथा गाँधी का प्रभाव काव्य में झलकने लगा। रूसी राज्य-क्रान्ति ने देश के मजदूर, किसान, दलित, शोषित और निम्न तथा मध्यमवर्गीय समाज को बगावत करने की प्रेरणा दी। लोक-जागरण के इस युग में 'भारत-भारती', 'मौर्य-विजय' और 'स्वराज्य' रचनाएँ लिखी गयी हैं। गाँधी का आत्मबल और तिलक का गीता-धर्म दो बड़ी प्रेरक शक्तियाँ मिलीं। भारत माता को द्रौपदी, शासन को दुःशासन और गाँधी को मोहन के रूप में देखा गया। कारावास का दण्ड पवित्र यातना में बदल गया। गाँधी को ईसा, सुकरात, मन्सूर और प्रह्लाद के रूप में याद

किया जाने लगा। यही राष्ट्रप्रेम विश्व-बन्धुत्व की भावना में विकसित हुआ।

आलोच्य काल के ये बीस वर्ष हिन्दी काव्य में क्रान्ति के और सामाजिक क्षेत्र में सुधार के वर्ष हैं। एक विराट प्रयोग, जिसके मूल में कराहती हुई मानवता और निर्लज्ज शासक की क्रूर तसवीर थी, सारे देश में बलिदान की भावना बिखेर रहा था। पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध करने वाला साहस सामूहिक रूप से जाग उठा था। इन सभी पृष्ठभूमियों के मध्य द्विवेदीयुगीन राष्ट्रीय काव्य-धारा जनता के बीच एक अनिवार्यता के साथ प्रतिष्ठित हुई।

**(१) जन्मभूमि-प्रेम, अतीत का गौरवगान और भारत-भारती की प्रेरणा :** पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'जन्मभूमि', 'वन्दे मातरम्', 'प्यारा वतन' और 'आर्यभूमि' आदि रचनाओं में अपनी जन्मभूमि और उसके अतीत के गौरवगान की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं—

"जन्मभूमि की बलिहारी है।
यह सुरपुर से भी प्यारी है॥"[१]

"देखी वस्तु विश्व की सारी।
जन्मभूमि सम एक न न्यारी॥"[२]

"जब तू मुझे याद आता है,
तब दिल मेरा घबराता है।
आँखें आँसू बरसाती हैं,
रोते-रोते थक जाती हैं॥"[३]

वन्दे मातरम्।
तू ही धर्म, कर्म भी तू ही, तू ही विद्यावानी है।
तू ही हृदय, प्राण भी तू ही, तू ही गुणगण खानी है।
बाहु शक्ति तू ही मम, तेरी भक्ति महा मनमानी है,
प्रतिघट, प्रतिमन्दिर के भीतर तू ही सदा समानी है।"[४]

---

१. द्विवेदी काव्य-माला, जन्मभूमि, पृ० ३६८, सरस्वती, फरवरी-मार्च १९०३
२. वही, पृ० ३६५
३. वही, 'प्यारा वतन', पृ० ३९१
४. वही, 'वन्दे मातरम', पृ० ३८४

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'स्वदेशी कुण्डल' के पद ५२ में 'वन्दे मातरम्' का गान किया :

वन्दे वन्दे मातरम् सदा पूर्ण विनयेन।
श्रीदेवी परवन्दिता या निज पुत्र जनेन॥

गिरधर की 'भारतमाता' कविता पर बंकिम के प्रसिद्ध गीत 'वन्दे मातरम्' का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है :

सुजल सुफल है मही यहाँ की,
सश्य श्यामल मही यहाँ की,
मलयज शीतल मही यहाँ की
विविध मनोहर मही यहाँ की॥[1]

"हे भाइयो! भारतभूमि माँ की सेवा करो, धर्म यही तुम्हारा"[2]
"सब स्वदेशवासी जन मिलकर देशोन्नति की करो पुकार"[3]

ऐसी मातृभूमि मेरी है स्वर्गलोक से भी न्यारी।
जिसके पद-कमलों पर मेरा तन-मन-धन सब बलिहारी॥

उपर्युक्त पंक्तियाँ श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी की हैं। कामता प्रसाद गुरू की देश-भक्तिपूर्ण रचनाएँ द्विवेदी काल में प्रकाशित हो रहीं थीं। परशुराम चतुर्वेदी ने 'स्वदेशानुराग' और रामचरित उपाध्याय ने 'देवदूत' रचना में मातृभूमि के गुण गाये थे :

नहीं स्वर्ग की चाह मुझे, है नहीं नरक की भीति।
बढ़ती रहे सदा मेरी बस जन्मभूमि में प्रीति॥

द्विवेदी युग के सबसे श्रेष्ठ राष्ट्रगायक मैथिलीशरण गुप्त थे। वे राष्ट्रकवि थे। उन्होंने देश की परिस्थिति के अनुरूप समय को वाणी दी। उन्होंने 'स्वदेश संगीत' में लिखा कि "यह भारत स्वर्ग सहोदर है।" 'मंगलघट' में संकलित उनकी 'मेरा देश', 'मातृ-मन्दिर' आदि रचनाएँ राष्ट्रीयता की अप्रतिम प्रमाण हैं। 'मातृभूमि' में वे कहते हैं :

---

१. गिरधर शर्मा, 'भारतमाता', सरस्वती
२. वही, सरस्वती जुलाई १९०६
३. चण्डिकाप्रसाद अवस्थी, सरस्वती, अक्तूबर १९०५

"जय जय भारत भूमि भवानी !
अमरों ने भी तेरी महिमा बारम्बार बखानी।"[1]
"हरि का क्रीड़ाक्षेत्र हमारा भूरि भाग्य सा भारतवर्ष"[2]

रूपनारायण पाण्डेय की 'भारतभूमि' में भारतमाता शक्ति का पर्याय है। रामनरेश त्रिपाठी की 'जन्मभूमि भारत' रचना इसी की कड़ी है :

जिसके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर है।
उत्तर में हिमराशि रूप सर्वोच्च शिखर है।

× × ×

पृथ्वी पर कोई देश भी इसके नहीं समान है,
इस दिव्य देश में जन्म का हमें बहुत अभिमान है।

भाषा की ताजगी के साथ सघन रूप में कवि ने अपनी अभिव्यक्ति की है। गुप्तजी ने तो अपने 'मातृमन्दिर' में एक बड़ा सार्थक वक्तव्य दिया और भविष्य की सच्चाई को प्रकट किया :

भारतमाता का मन्दिर यह समता का संवाद जहाँ।
सबका शिव कल्याण यहाँ है, पावें सभी प्रसाद यहाँ ॥

मुकुटधर पाण्डेय ने 'पूजाफूल' के प्रथम संस्करण में लिखा है :

"देश हमारा है हमें प्यारा अतिशय भ्रात"

और जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने 'राष्ट्रीय गीत' (प्रथम संस्करण, पृ० १०) में लिखा :

सब मिलि भारत के गुन गावो !
पुण्य भूमि यह सुन्दर पावन माँ को सीस नवावो।

पं० मातादीन शुक्ल ने :

"जय जय स्वदेश, जय जय स्वदेश"[3]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, 'मंगल घट', पृ० ३३
२. वही; 'भारतवर्ष—स्वदेश संगीत' पृ० ११
३. मातादीन शुक्ल, 'चित्रमय जगत', अक्टूबर १९१८

और मयंक ने 'भारत' रचना में :

"मेरा भारत मेरा स्वर्ग
जीवन का उपसर्ग विसर्ग।"[१]

पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही ने :

"जयति भारत जय हिन्दुस्तान।"[२]

द्वारा मातृभूमि की वन्दना की है। तोरनदेवी शुक्ल 'लली' ने लिखा है—"जय जय भारत, जय जय स्वदेश"। यह गीत 'स्त्री कवि कौमुदी' में लेखक ज्योती प्रसाद निर्मल, पृ० ३१०, संकलित हैं। पं० बदरीनारायण भट्ट ने 'मातृभूमि वन्दना' में भोज, विक्रम आदि के शौर्य का वर्णन किया। शम्भूदयाल श्रीवास्तव ने स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में लिखा था :

"धन्य धन्य हे पावन जननी धन्य धन्य भारतमाता।
मरणासन्न समय भी जिसका पुत्र यही जपता जाता॥
जब तक प्रिय स्वतंत्रते ! तन में लगती है तब सुखद समीर।
तब तक रण से तिल भर भी न हटेंगे हम हैं भारतवीर॥"[३]

माधव शुक्ल ने 'जातीय गीत' में यह कल्पना प्रस्तुत की थी :

"जयति महाराष्ट्र, बंग, सिन्धु, राजस्थान संग,
× × ×
जयति जयति हिन्द देश, जय स्वराज्य जय स्वदेश"[४]

सत्यनारायण कविरत्न की 'मातृभूमि' में :

"सर्वोपकार जिसके जीवन का व्रत रहा है
वह मातृभूमि मेरी, यह पितृभूमि मेरी॥"[५]

---

१. मयंक, 'मर्यादा', भाग ३२१, 'भारत, नवम्बर १९११
२. त्रिशूल, राष्ट्रीय मंत्र (प्रथम), पृ० ३
३. शम्भूदयाल श्रीवास्तव, 'स्वतन्त्रता', साप्ताहिक प्रताप, १० दिसम्बर १९१७, पृ० ६
४. माधव शुक्ल, 'जातीयता', प्रताप, २४ दिसम्बर, १९१७, पृ० ६
५. सत्यनारायण कविरत्न, 'मातृभूमि', प्रताप, राष्ट्रीय अंक, पृ० ४

और 'त्रिशूल' के ( साप्ताहिक प्रताप में ७ जून १६२०, पृ० ८ ) 'वन्दे-मातरम्' में :

पुत्र तेरे मत्त हैं स्वाधीनता के प्रेम में
भर दिये तूने बड़े अरमान, वन्देमातरम् ।
सत्य की तलवार तूने दी कसी शोधी हुई
कर दिया निर्भीक, रख दी सान, वन्दे मातरम् ।

तत्कालीन परिस्थितियों का संकेत प्रकट होता है। राष्ट्रीयता के बढ़ते हुए आयाम विश्वास को जगाते हैं। द्विवेदी युग राष्ट्रीयता की प्रचण्ड रोशनी के बीच से गुजर रहा था। लोग निर्भय होकर जूझ रहे थे। जन्मभूमि, मातृभूमि, या देश के प्रेम के लिए खूराक का पूरा-पूरा प्रबन्ध था। श्यामलाल गुप्त ने ५ फरवरी, १६१७ ( साप्ताहिक प्रताप, पृ० ८ ) को बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञा प्रकाशित करायी थी :

तब मैं भारत पुत्र कहाऊँ
भारत का ही नाम जपूँ, नित भारत ध्यान लगाऊँ ।
एक भाव भाषा भारत की, हिन्दी को अपनाऊँ ।।

सियारामशरण गुप्त ने लिखा था :

पृथ्वी का श्रेष्ठ सितारा है,
भारत सर्वस्व हमारा है ।

माखनलाल चतुर्वेदी ने १६१४ ई० में यह कहा था :

क्यों पड़ी परतन्त्रता की बेड़ियाँ
दासता की हाय हथकड़ियाँ पड़ीं ।
न्याय के "मुँह बन्द" फाँसी के लिए
कंठ पर जंजीर की लड़ियाँ पड़ीं ।।

हरिऔध ने ( सम्मेलन पत्रिका, सं० १६७७, अंक ४ में ) लिखा था :

वसुधा ललाम भूता भारत, अवनि प्रबल आलोक से है आलोकित
समुन्नति का है जहाँ तहाँ कोलाहल, परम समाकुल है सकल समाज

और चन्द्रधरशर्मा 'गुलेरी' ने 'झुकी कमान' में ( 'वैश्योपकारक' ) लिखा :

है जन्मभूमि जननी समान
स्वतन्त्रता है प्रिय जिन्हें शुभ स्वर्ग से भी,

अन्याय की जकड़ती कटु बेड़ियों को
विद्वान वे कब समीप निवास देंगे ?

मई १९२० की 'प्रभा' के पृष्ठ ३५ पर श्री विमल ने लिखा :

"अनुपम परम पवित्र विश्व में भारतभूमि हमारी है"

श्री दीनानाथ 'अश्क' ने ( 'प्रभा' अक्टूबर १९२०, पृ० २०४ ) कहा था :

"भारत गेय तव गुण गान
है न तुझसा अन्य कोई देश गौरववान"

और लोचनप्रसाद पाण्डेय ने लिखा :

"है अनन्त प्रणाम मेरा उसके चरणों में सदा
जन्म दे जिसने बढ़ाया मुझे सहकर आपदा ॥"[1]

तथा सियारामशरण गुप्त ने आत्म-गौरव को प्रकट किया, यथा :

"इस बात का अभिमान हमको सर्वदा सविशेष है
हैं भारतीय हम, भारत हमारा देश है"[2]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय धारा का जन्मभूमि-प्रेम, अतीत के गौरव का स्मरण, भारतमाता की प्रशस्ति और स्तुति-विषयक रचनाएँ आलोच्य काल में धड़ल्ले से निर्भय होकर लिखी जा रही थीं। अब कवियों को उतना डर नहीं था, जितना भारतेन्दु काल के कवियों को था। अब कविता खतरा न होकर उद्बोधन बन गयी थी।

सियारामशरण गुप्त रचित 'मौर्य विजय' में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है :

"यदि किसी जाति का अतीत गौरवपूर्ण हो और वह उस पर अभिमान कर सके तो उसका भविष्य भी गौरवपूर्ण हो सकता है। आत्मबिस्मृति ही अवनति का मुख्य कारण है और आत्मस्मृति ही उन्नति का।"

यह कथन नितान्त सत्य है। भारत का अतीत हिन्दू जाति का अतीत है

---

१. लोचनप्रसाद पाण्डेय, स्वदेश बान्धव, अप्रैल १९०६

२. सियारामशरण गुप्त, हमारा देश, 'प्रभा', छन्द ३, अक्टूबर १९१३, पृ० ३५७

और हिन्दू जाति का गौरवगान भारत का गौरवगान है। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' का अतीत खण्ड ( पृ० ७ से ६० तक ) सम्पूर्ण द्विवेदीयुगीन काव्य में भारत के अतीत गौरवगान का श्रेष्ठतम अंश है। विद्या, कला, कर्म, शील, भक्ति, सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान के सभी क्षेत्रों में आर्य संसार में सर्वश्रेष्ठ थे :

"हाँ वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है ?"[१]

"वे आर्य ही थे जो कभी अपने लिये जीते न थे।
वे स्वार्थरत हो मोह की मदिरा कभी पीते न थे॥"[२]

तथा

"फैला यहीं से ज्ञान का आलोक सब संसार में"[३]

'भारत भारती' में भारतीय सभ्यता के प्रायः सभी विषयों की चर्चा की गयी है। सियारामशरण गुप्त के 'मौर्य विजय' खण्ड काव्य में चन्द्रगुप्त को राष्ट्रवीर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रसाद ने 'महाराणा का महत्व' तथा कामताप्रसाद गुरू ने शिवाजी, चाँदबीबी और दुर्गावती आदि ऐतिहासिक वीरों या वीरांगनाओं की प्रशस्तियाँ गायी हैं। इसी अतीत गौरव को आधार बनाकर रामचरित उपाध्याय ने 'भारतवर्ष', लोचनप्रसाद पाण्डेय ने 'प्रार्थना' ( 'मर्यादा' फरवरी १९११ ई० ) और कवि कुमार महेश्वरप्रसाद सिंह ने 'भूतभारत' ( 'मर्यादा' अप्रैल १९१६ ई० ) रचनाएँ प्रस्तुत कीं। मिश्रबन्धुओं की 'भारत-विनय' अतीत गौरव की रचना होकर भी उतनी प्रशस्त न हो सकी, क्योंकि इसमें राजभक्ति का स्वर भी मिश्रित था। 'भारत-भारती' का कवि दुखी है क्योंकि :

"हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥"[४]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, पृ० १०
२. वही, पृ० १३
३. वही, पृ० ३७
४. वही, आमुख पंक्तियाँ

कवि को वर्तमान भारत अतीत के समक्ष ऐसा लगता है जैसे :

"अब लोक रूप मयंक में भारत कलंक समान है"[1]

कुछ लोगों ने 'भारत-भारती' पर जातीय चेतना का आरोप लगाया तथा सम्प्रदायग्रस्त या हिन्दूवादी काव्य कहा है। यह आक्षेप इतिहास-सापेक्ष और तथ्यानुसारी नहीं है। हाली ने 'मुसद्दस' लिखकर मुसलमानों में जातीय तूफान ला दिया था। राजा रामपाल ने गुप्तजी को इसी के अनुकरण पर जातीय गौरव प्रकट करने वाला काव्य लिखने की प्रेरणा दी थी। 'भारत-भारती' इसी प्रेरणा का परिणाम है। 'भारत-भारती' देशभक्ति का प्रतीक है। 'भारत-भारती' के प्रकाशन पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा था कि "यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा। ...यह सोते हुओं को जगाने वाला है। भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है। ...यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है।"[2]

(२) **वीर-पूजा की भावना** : भारतीय काव्य में अतीत और वर्तमान युग के गौरव-प्रतीकों पर प्रशस्तियाँ लिखने की परम्परा बड़ी प्रशस्त रही है। हिन्दी ही नही, भारत की अनेक प्रादेशिक भाषाओं में भी वीर काव्य लिखे गये और वीरों का गुणगान किया गया। देश की आजादी से जूझने वाले युद्धवीर या धर्मवीर, कर्मवीर या दान-वीर अथवा दयावीर सत्य, अहिंसा और शील के लिए बलिदान हो जाने वाले वीरों की नाना श्रेणियों में यह वीर-पूजा की भावना व्यक्त हुई। इतिहास का उठना, बैठना और करवटें लेना इसी वीर-पूजा की खूराक है। भावात्मक उत्तेजना की जड़ें सींचने वाले ये बलिदानी पुरुष किसी भी काव्य विधा के—महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, गीति या स्फुट के—नायक होते हैं। यह किसी भी जाति या देश का गौरव है कि उसके शताब्दियों पीछे के इतिहास और वर्तमान के संघर्ष में परिस्थितियों को जीतकर कालजयी व्यक्तित्व समाज के श्रद्धापात्र और मार्ग-दर्शक बन जायें। हिन्दी का वीरगाथाकाल सं० १०७५ से १३७५ तक माना जाता है।[3] इसमें युद्ध और प्रेम की ही अभिव्यक्ति प्रधान रूप से

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, पृ० ६०

२. महावीरप्रसाद द्विवेदी, सम्पादकीय, सरस्वती अगस्त १६१४

३. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १

हुई है। पृथ्वीराज रासो, आल्हखंड, बीसलदेव रासो, खुमान रासो, विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, मुल्ला दाऊद का 'नूरक चन्दा' आदि ग्रन्थ इसी काल में लिखे गये। सं० ८०० के लगभग स्वयम्भू की कविता में वीर रस का वर्णन हुआ है। 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' अपभ्रंश या अवहट्ठ रचनाएँ हैं। ये आधुनिक राष्ट्रीय काव्य से कुछ बातों में भिन्न हैं। वीर-पूजा की भावना में व्यष्टि के गुण-गौरव का गान होता है, पर राष्ट्रीय काव्य में समष्टि-भाव प्रधान होता है। उसमें स्वतन्त्र देश की कीर्ति, वीरों की गरिमा और पूरे राष्ट्र का दृष्टिकोण व्यक्त होता है। उसमें प्रान्त, नगर या देश का संकुचित घेरा नहीं रहता। देश की दरिद्रता, नग्नता और शत्रुपक्ष की दयनीय दशा से यह वीर-पूजा की भावना प्रेरणा प्राप्त करती है। भक्तिकाल में राम और कृष्ण-भक्ति, प्रेम, ज्ञान या अन्यायी के विरुद्ध हथियार उठाने वाले वीर और आदर्श पुरुष हुए। सूजाजी का लिखा 'राव जैतसीरो छन्द' ( सं० १५९१-१५९८ के बीच ), ईसरदास का 'हाला झालाँरा कुंडलियाँ' ( सं० १५८९ ), केशवदास चारण का जोधपुर के महाराज 'अमरसिंहजी रा दूहा' (सं० १६१०-१६९७), पृथ्वीराज का 'बेलि किसन रुकमणी री' और जोधपुर के चारण दुरसाजी द्वारा राणा प्रताप की प्रशंसा में लिखे गये दोहे उल्लेख्य हैं, जो वीर-पूजा की भावना को पोषित करने वाले हैं। रीतिकाल में नखशिख-वर्णन, रीति-ग्रन्थ और लक्षण-ग्रन्थों के अतिरिक्त कहीं-कहीं कुछ राजाश्रित कवियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं की वीरता का चित्रण शृङ्गार-मिश्रित रूप में हुआ है। केशव-दास का 'वीरसिंहदेव चरित्र', 'रतन-बावनी', जयमल द्वारा लिखित 'गोरा बादल', भूषण द्वारा लिखित 'शिवराज भूषण', 'शिवा बावनी', और 'छत्रसाल दशक', मान कवि विरचित ( सं० १७३४ ) मेवाड़ नरेश राजसिंह की वीरता का वर्णन करने वाला 'राजविलास', गोरे लाल का 'छत्रप्रकाश', श्रीधर मुरली-धर का 'जंगनामा', दिल्ली के कवि बीर के कवित्त, सदानन्द का अप्रकाशित ग्रन्थ 'रासा भगवानसिंह', सूदन का महाराज सूरजमल की वीरता का चित्रण करने वाला प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुजान चरित्र', पद्‌माकर का 'हिम्मत बहादुर विरुदा-वली', प्रतापसाहि और बनवारी कवि के वीररसपूर्ण पद, जोधराज का 'हमीर रासो' और चन्द्रशेखर का 'हम्मीर हठ' कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें वीरों के गुणगान और प्रशस्तियाँ बड़ी ओजस्विनी भाषा में रची गयी हैं। अधिकांश ग्रन्थों में यह वीर-पूजा व्यक्तिगत अधिक है, तथा समष्टि-कल्याण की राष्ट्रीय भावना कम। शिवाजी, छत्रसाल, प्रताप, हम्मीर, पृथ्वीराज चौहान, आदि

राष्ट्र-पुरुष और उनके गुण-गौरव राष्ट्र के चिरस्मरणीय व्यक्तित्व हैं। भूषण, लाल, चन्द्रशेखर, जोधराज, आदि कवियों ने राष्ट्रीय धारा के विकास में योग दिया था।

आधुनिक युग मुख्य रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में बलिदानी वीरों की प्रशस्तियों से अधिक सम्बन्धित हैं। १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की जड़ें जमा दी थीं। मीरजाफर देशद्रोही सिद्ध हुआ। अंग्रेजों की कूटनीति, विश्वासघात और हड़प की नीति ने मराठों-रुहेलों और टीपू सुलतान को तथा दिल्ली-सम्राट, अवध के नवाब, नाना साहिब आदि सभी को पराजित कर दिया। १८५७ ई० की क्रान्ति हुई और बहादुरशाह निर्वासित हुआ। महारानी लक्ष्मीबाई वीरतापूर्वक लड़ते-लड़ते स्वर्ग सिधारीं। तात्या टोपे, रामचन्द्रराव और गंगादास बाबा वीरों की कतार में थे। १८५७ ई० की क्रान्ति में व्यापक पैमाने पर वीर क्रान्तिकारियों ने मातृभूमि के लिए शीश कटा दिये। परवर्ती युग में लड़ाई के साधन और हथियार बदल गये। तिलक, लाला लाजपतराय, केशवचन्द्र पाल, दयानन्द, विवेकानन्द, गोखले, मदन मोहन मालवीय और गाँधी तथा सुभाष, नेहरू और लाल बहादुर शास्त्री के अतिरिक्त भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, खुदीराम बोस तथा अन्य क्रान्तिकारी, जो उग्रतावादी थे तथा फाँसी के तख्ते पर झूल गये या गोली से मारे गये थे अथवा जेलों, असहयोग आन्दोलनों और १९४२ ई० की 'करो या मरो' की क्रान्ति में निहत हुए थे—वे ऐसे क्रान्तिकारी और देशभक्त थे, जो इस वीर-पूजा की भावना के आलम्बन हैं। रीवाँ के राजा गुलाबसिंह, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, हाथरस और मुरसान के देशभक्त राजा महेन्द्रप्रताप की वीरताओं का प्रशस्ति गान और इधर तिलक, गाँधी, सुभाष तथा नेहरू की वीर-पूजा भावना के काव्य का हिन्दी में प्रणयन हुआ।

लाला भगवानदीन ने 'वीर पंचरत्न' में प्रताप, तारा, दुर्गावती, अभिमन्यु और आल्हा-ऊदल के वीरतापूर्ण कृत्यों का सरल और ओजस्वी भाषा में चित्रण किया है। अतीत के वीरों की गुणगाथा से राष्ट्रीय चेतना को जगाते हुए 'वीरबालक' में वे कहते हैं :

> लड़कों ही पै निर्भर है किसी देश की सब आस,
> बालक ही मिटा सकते हैं निज देश की सब त्रास।

इसी 'वीरपंचरत्न' में लालाजी ने तारा और दुर्गावती जैसी वीर नारियों और राम, कृष्ण, बलराम, अभिमन्यु, आल्हा, ऊदल, जैसे वीर बालक तथा देवल-देवी और रेणुका देवी जैसी वीर-माताओं एवं नीलदेवी जैसी पत्नियों का अपने काव्य में प्रशस्ति-गान किया है। उन्होंने प्रताप, शिवाजी, दयानन्द तिलक, मालवीय, दादाभाई नौरोजी, गोखले और गाँधी पर छोटी-छोटी रचनाएँ भी लिखी हैं।

वीर-पूजा की भावना एक दरवाजा है, जिसके तोरण पर देश का गर्व झूलता है और जिसके मण्डप में त्याग, तपस्या, दया, दान, शूरता, सेवा और क्रान्ति के आभूषणों से सज्जित होकर देश की आजादी रणोत्सव मनाती है।

श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने ब्रजभाषा में लिखा था :

"वीर अभिमन्यु की लपालप कृपान वक्र,
सक्र असनी लों चक्रव्यूह मांहि चमकी,
कहै रत्नाकर ढालनि पै खालनि पै,
झिलिम झपालनि पै क्यों हूँ कहूँ ठुमकती।"[१]

मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' के अतीत खण्ड में हमारी वीरता के अन्तर्गत दानवीर, कर्मवीर, युद्धवीर और वीर नारियों की विशद प्रशस्ति प्रस्तुत की गयी है :

"थे भीष्म तुल्य महाबली, अर्जुन समान महारथी
श्रीकृष्ण लीलामय हुए थे आप जिनके सारथी।" (पद १२५)
"जिसके समक्ष न एक भी विजयी सिकन्दर की चली
वह चन्द्रगुप्त महीप था कैसा अपूर्व महाबली?" (पद १२८)
"क्षत्राणियाँ भी शत्रुओं से हैं यहाँ निर्भय लड़ीं।" (पद १३२)
"थी युद्ध में ही शत्रुता, अन्यत्र वैरी मित्र था।" (पद १३३)
कुल मान जब तक प्राण तब तक–यह नहीं तो वह नहीं

१. रत्नाकर का सम्पूर्ण काव्य संग्रह, (काशी नागरी प्रचारिणी सभा), पृष्ठ ४६४; के० के० शर्मा, हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्यधारा का विकास, पृ० २१६

मेवाड़ भर में वक्रताएँ गूँजती ऐसी रहीं। (पद २३६)
"विख्यात वे जौहर ? यहाँ के आज भी हैं लोक में।" (पद २४०)[1]

गाँधी के प्रति गुप्त जी में अटूट श्रद्धा है। 'कर्मवीर बनो' कविता में उन्होंने कहा है :

"बैठ तुम्हारे साहस रथ में, हम न रुकेंगे अपने पथ में", आदि।

सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' रचना राष्ट्रीय आन्दोलनों में नारियों को निमन्त्रण देने में कृतकार्य हुई :

बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।

ठाकुर भगवतसिंह ने वीरांगना वीरा को स्मरण करते हुए लिखा :

"संसार में स्वाधीनता ही ईशकृत सम्मान है।
रक्षा उचित है अस्तु उसकी जब तलक यह प्रान है॥"[2]

सुरेन्द्र तिवारी ने 'वीरांगना वीर' में लिखा है :

"शोभित हुई ज्यों सिंहिनी वीरांगना तारा वहीं
जिस ओर वह घूमी बहाई रक्त की धारा वहीं॥"[3]

भवानीदत्त जोशी के 'वीर भारत' नाटक में भारत के प्रिय वीरों की प्रशस्ति बड़ी भावात्मक उत्तेजना के साथ व्यक्त हुई है। श्री सत्यनारायण कविरत्न के 'गाँधीस्तव' में उत्कृष्ट श्रद्धा भाव है :

"जय जय सद्गुण सदन अखिल भारत के प्यारे
जय जगदीश अनमधि कीरतिकल विमल उजियारे।"

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, पृ० ५५, ५६, ५७, ५८, ८५ से उद्धृत
२. डॉ० भगवतसिंह, वीरांगना वीरा, प्रथम सं०, पृ० १२-४२ (के० के० शर्मा, हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्यधारा का विकास, पृ० २१८ से उद्धृत)
३. सुरेन्द्र तिवारी, वीरांगना वीरा (प्र० सं०), पृ० ७ (के० के० शर्मा, हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्यधारा का विकास, पृ० २१८ से उद्धृत)

जय देशभक्ति आदर्शप्रिय शुद्ध चरित अनुपम अमल
जय जय जातीय तड़ाग के अभिनव कोमल कमल ॥''[१]

मंगलप्रसाद विश्वकर्मा 'अहिंसा संग्राम' में लिखते हैं :

प्रेम के मतवाले रणधीर, देख उठती अरि की तलवार।
झुका देते हैं बढ़कर शीष, नहीं बदला लेने का पार।
वीर सब सत्य अहिंसा व्रती, सहन करते हैं रिपु के वार।
और हँसते पाकर बेकार, चौंकता मदोन्मत्त संसार ॥

एक भारतीय आत्मा ने 'बलिवेदी' में यह सन्देश दिया :

गुरु गोविन्द तुम्हारे बच्चे अब भी तन चुनवाते हैं
पथ से विचलित न हो अहा, गोली से मारे जाते हैं।

देश के लिए बलि होने की भावना द्विवेदी युग का आदर्श थी। 'त्रिशूल' ने 'त्रिशूल-तरंग' की 'राष्ट्रीय होली' शीर्षक रचना में देश के नेताओं की प्रशस्ति गाथी थी :

''छिड़ी है देश राग की तान।
मुरली मधुर मदनमोहन की कहती मधुमय तान
डमरू लिये बाल गंगाधर डाल रहे हैं जान।
देते ताल सकल नेता हैं गाँधी से गुणवान।''[२]

झाबरमल की 'तिलक गाथा' में पृष्ठ ६ पर कहा गया है :

सतत यत्न कर तिलक देव ने किया शुद्ध संचारित ज्ञान
आत्मबोध का पाठ पढ़ाया, तब मृतकों में आये प्राण।

श्री नृसिंह ने 'राष्ट्रीय सिंहनाद' काव्य-संग्रह के पृष्ठ २५० पर 'राष्ट्रीय सैनिक' का अन्तरंग और बहिरंग चित्रण किया। माधव शुक्ल के 'वीरों की प्रशस्ति' के गीत लोकप्रिय हुए।

---

१. श्री सत्यनारायण कविरत्न, श्री गाँधीस्तव, सम्मेलन पत्रिका, सं० १९७४, अंक ८८९ (उद्धृत) के० के० शर्मा, पृ० २१९

२. त्रिशूल, त्रिशूल तरंग, (तृ० सं०) पृ० १०२

यथा :

जयति राष्ट्र गुरु उदार पूज्य 'तिलक कर्णधार'
'मोहन' जय कर्मवीर नायक जन धीर वीर !

भगवान तिलक ! भरी कानों में है तेरी निर्भीक पुकार,
भूल नहीं सकते 'स्वराज्य है जन्मसिद्ध मेरा अधिकार।'[१]

तिलक की मृत्यु अगस्त १९२० को हुई। देश पर वज्र-सा गिरा और सनेहीजी ने लिखा :

"कैसा वज्रपात हाय भारत मही में हुआ,
परम प्रशस्त कीर्ति युग ध्वस्त हो गया।
फूट गया भाग्य आज स्वत्व का स्वतन्त्रता का
जीवन का एकमात्र वही तो सहारा था॥"[२]

पन्त ने भी लिखा :

"तिलक ! हा ! भाल तिलक
छुड़ा दिया किस अकरुण कर ने यह शोभालंकार।"[३]

अत्यन्त संवेदनात्मक रचना लिखी। आगे राणा प्रताप का श्यामनारायण पाण्डेय ने 'हल्दीघाटी' में गौरव-गान किया, जैसे :

"निकल रही जिसकी समाधि से स्वतन्त्रता की आगी
यहीं कहीं पर छिपा हुआ है वह स्वतन्त्र वैरागी॥"[४]

पाण्डेयजी का लक्ष्मण और मेघनाद से सम्बन्धित और लक्ष्मण के वीरत्व को प्रदर्शित करने वाला छोटा-सा काव्य-ग्रन्थ के नायक त्रेता के दो वीर भी हैं।

ये सभी रचनाएँ वीर-पूजा की भावना से प्रसूत हुईं। तिलक के निधन पर रूपनारायण पाण्डेय, सनेही, श्री वीरेन्द्र विद्यार्थी, कालिकाप्रसाद, नवीन,

---

१. माधव शुक्ल, जाग्रत भारत (प्र० सं०) पृ० २२, २९

२. सनेही, वज्रपात, तिलक निधन पर, (कविता प्रताप) अगस्त १९२०; (के० के० शर्मा, हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्यधारा का विकास, पृ० २२१ से उद्धृत)।

३. पन्त, वीणा, पृ० ७० (के० के० शर्मा, हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास, पृ० २२१ से उद्धृत)

४. श्यामनारायण पाण्डेय, हल्दी घाटी, पृ० ५

सुन्दरदेवी, आदि ने मार्मिक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। मैथिलीशरण गुप्त ने श्रद्धांजलि में कहा :

सरल, साहसी, ऊद्यमी, श्रम-सहिष्णु प्रणपाल।
हाय ! वृद्ध भी बाल था, वह माई का लाल।
देशहित व्रतरत रहा राजकृपा को छोड़।
न्यायप्रिय निर्लोभ था वह ब्राह्मण बेजोड़ ॥

श्री रमेश ने दादाभाई नौरोजी के निधन पर २ जुलाई १९१७ को साप्ताहिक 'प्रताप' के पृष्ठ ५ पर लिखा :

हा हन्त आज क्या हुआ देश का मुकुट उठ गया।
सब रत्नों की खानि, खजाना हाय लुट गया ॥

लाजपतराय के स्वदेश आगमन पर कविताएँ लिखी गयीं। कानपुर में लोकमान्य तिलक के स्वागत में लिखा गया :

"नेता का स्वागत है आहा ! माता का स्वागत है आज।
बाल सूर्य के दर्शन करलो, गंगाधर को करो प्रणाम ॥"[1]

श्री रमेश ने मंगलाशीष देते हुए लिखा :

"जगे ज्योति की शिक्षा और जग जाय भारती
राष्ट्र उतारे प्रिय स्वदेश की भव्य आरती ॥
× × ×
कर्म मार्ग में ध्रुव रहे प्यारा अमर प्रताप ये ॥"[2]

माधव शुक्ल ने 'जागृत भारत' में लिखा था :

"जेल की धूल उड़ाय चुके अब गोली सो खेलेंगे होरी।
हे स्वराज्य मदमस्त, खिलाड़ी लै दल निकस परोरी ॥"[3]

'एक भारतीय आत्मा' ने गाँधी जी के दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह पर लिखा था :

---

१. श्री रमेश, साप्ताहिक प्रताप, जनवरी ८, १९१७, पृ० ५
२. वही, १५ जुलाई १९१८, सं० ३३, पृ० ५
३. माधव शुक्ल, जयभारत, पृ० ७९

"धीर सा गम्भीर सा यह है खड़ा
धीर होकर यों अड़ा मैदान में,
देखता हूँ मैं जिसे तनदान में
जनदान में, सानन्द जीवनदान में ॥"[1]

अब दो तरह से जीने की सुविधा समाप्त हो गयी थी। अब तो केवल एक ही ढंग था—लड़ो, जूझो, संघर्ष करो और आजादी लो—हिंसा, उग्रता या या क्रान्ति से अथक अहिंसा से। अब शंका और भय, आतंक और यातना, या किसी दबाव से झुकने का समय नहीं था। इस युग के कवियों के विश्वास गहरे थे और आशाएँ बलवती थीं। यह गाँधी, गोखले, तिलक, लाला लाजपत-राय, पाल और टैगोर का युग था। आजादी की लड़ाई के साथ-साथ खड़ी बोली खड़ी हुई और दौड़ने लगी। यह एक संयोग की बात है कि देश की आजादी की लड़ाई के साथ-साथ कदम-कदम खड़ी बोली की भाषा-शक्ति विकसित हुई। राजनीति में तिलक और साहित्य में द्विवेदी दो बड़ी कठोर अनुशासन वाली ताकतें थीं जो अपने-अपने क्षेत्र में क्रियारत थीं। वीर-स्तवन करना उस युग की मनस्थिति के लिए स्वाभाविक कार्य था।

**(३) वर्तमान पर क्षोभ :**

'चिन्ता निमग्न निसि वासर वर्तमान'[2]

(महावीरप्रसाद द्विवेदी)

देश की परिस्थिति की ओर से आँख मूँदकर जिन कवियों ने परकीयाओं और स्वकीयाओं के शृंगार प्रधान वर्णनों पर ही ध्यान केन्द्रित रखा, उन्हें द्विवेदीजी ने खूब फटकारा। समस्यापूर्ति करना और शृंगारी कविता लिखना उन्हें समयोचित नहीं जान पड़ा। देश की वर्तमान दशा को देखकर उन्होंने लिखा था :

विचार ऐसे जब चित्त आते।
विषाद पैदा करते सताते।
न क्या कभी देव दया करेंगे।
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ॥

---

१. एक भारतीय आत्मा, साप्ताहिक प्रताप, विजयादशमी विशेषांक, सन् १९१९
२. द्विवेदी काव्य-माला, कर्तव्य पंचदशी, पृ० ४१९

देश की गुलामी, कुरीतियाँ, अशिक्षा, रूढ़ियाँ और प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त हीनता, पतन, गरीबी तथा अतिचारों के कारण समाज का साधारण जीवन गन्दे कपड़ों की गठरी के समान फेंकने योग्य हो रहा था। एक नये जीवन और नयी सामाजिक चेतना की तलाश जारी थी। वर्तमान जीवन के प्रति क्षोभ और करुणा एक साथ दिखायी देती है। छटपटाहट, क्रोध, ऊब और चिढ़ तेज-तर्राट व्यंग्य की पीठ पर लदकर करुण अनुभूति को ही व्यक्त कर रहे थे। भारतेन्दु युग अब बिना किसी हिचकिचाहट के दहशत या निराशा को छोड़कर तिलक, गोखले, गाँधी, विवेकानन्द और अन्य नेताओं के साथ चलकर परिवर्तित स्थिति में आ गया था। आलोच्य काल के सभी कवियों ने अपनी वर्तमान दशा पर क्षोभ व्यक्त किया है। सन् १९०५ में होली के दिन कनौजिया सम्मेलन में द्विवेदीजी ने ठहरौनी की निन्दा करते हुए यह मजाक किया था :

> "जरा देर के लिए समझिए आप षोडशी क्वारी हैं,
> क्षमा कीजिये असभ्यता यह हम ग्रामीण अनारी हैं।
> मान लीजिए, नेत्र आपके कानों तक बढ़ आये हैं,
> पीन पयोधर देख आपके, कुंजर कुंभ लजाये हैं।"[१]

'कान्यकुब्ज अबला विलाप' में द्विवेदीजी ने कान्यकुब्ज अबलाओं की दुर्दशा और सामाजिक विपन्नता के सम्बन्ध में अपना असन्तोष तथा आक्रोश व्यक्त किया :

> "कितने ही तुम मजिस्ट्रेट जग न्यायासन के अधिकारी,
> बड़े शरम की बात दुख जो पावें तुम से ही नारी।
> × × ×
> अपनी दशा याद करते ही फटा कलेजा जाता है
> × × ×
> पैदा जहाँ हुई हम घर में सन्नाटा छा जाता है
> ढोल तुल्य ताड़न अधिकारी हमीं बनाई जाती हैं
> दुख-सागर में डूब रहा है, अबलाओं का जीर्ण जहाज ॥"

द्विवेदी युग के बीस वर्ष दुर्भिक्ष, बीमारी, पराधीनता और सामाजिक पतन के वर्ष थे। 'गली-गली कंगाल पेट पर हाथ दोउ धरि धीर' और 'मरे-मरे अब

---

१. द्विवेदी काव्य-माला, ठहरौनी, पृ० ४३८ (सरस्वती, नम्बर १९०६)

२. वही, कान्यकुब्ज अबला विलाप, पृ० ४२४-४२८ (सरस्वती, सितम्बर १९०६)

अवसि आजु इमि बोलत लाखन प्रानी' की सी दशा 'भारत दुर्भिक्ष' रचना में प्रकाशित करते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है :

भरतखंड के धनिक धुरन्धर तुम्हें न कोउ जगावै,
देखत दारुण दशा देश की निशि निद्रा किमि आवै ॥[1]

'नागरी तेरी यह दशा' जून १८९८ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुई। द्विवेदीजी ने नागरी या हिन्दी की दशा देखकर लिखा था :

"हिन्दू तजैं यदि अकारण दोष कांही ?
× × ×
होवैं परन्तु दुख देखि कृतघ्नताई ॥"[2]

और 'बाल-विधवा विलाप' में यह कहा :

"पै देव! तोहि मम नेकु दया न आई,
रे दुष्ट ! रे कुटिल ! रे शठ ! रे कसाई !"[3]

'प्रार्थना' में हिन्दी की दशा पर लिखते हुए द्विवेदीजी ने लिखा कि— "गली-गली आजु मलीन दीन, मारी फिरै है अवलम्बहीना।"[4] 'अयोध्या विलाप' रचना में अयोध्या की चुनौती में एक चीख सुनायी पड़ती है—

जो देशभक्ति हित में कछुहू तिहारे,
तो धाय शीघ्र अब कष्ट हरौ हमारे ॥

उर्दू के साथ-साथ जिस दिन उत्तरप्रदेश में सरकारी आदेश से न्यायालयों में हिन्दी को भी स्थान दिया गया, उस अवसर की अप्रैल १९०० के 'सुदर्शन' में प्रकाशित द्विवेदी जी की कृतज्ञताप्रकाश' रचना में उनकी अपार प्रसन्नता प्रकट हुई। मैकडानल्ड के प्रति उन्होंने लिखा :

"हे न्यायधाम ! गुण गौरव-धर्म-धाम,
सत्शीलधाम ! म्यकडानल पूर्ण काम !

---

१. द्विवेदी काव्य-माला, भारत दुर्भिक्ष, पृ० १७६ (११ मार्च १८९७ के हिन्दोस्तान में प्रकाशित)

२. वही, काव्य मंजूषा, नागरी तेरी यह दशा, पृ० १९९

३. वही, बाला-विधवा विलाप, पृ० २१२

४. वही, प्रार्थना, पृ० २४४

सारी प्रजा पुलक पूरित गात धारी,
उन्मत्तवत् कहहिं 'जै जय जै' तिहारी।,"[१]

परन्तु इन्हीं अंग्रेजों ने जहाँ भारत को नीचा दिखाया है, वहाँ उन्होंने अंग्रेजों की निन्दा भी की है। द्विवेदीजी ने वर्तमान पर क्षोभ और करुणा व्यक्त की है, उसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

"शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार,
लिखवाता है उनके कर से नये-नये अखबार।।"[२]

('विधि विडम्बना' में)

अभी मिलैगा ब्रजमण्डलान्त का
सुशुक्त भाषामय वस्त्र एक ही।[३] ('हे कविते' में)

इधर उधर से जोड़ बटोर,
लिखते हैं जो तोड़ मरोड़,
इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं।[४]

"आलस्य फूट मदिरा मद दोष सारे,
आये यहाँ सब कहीं टरत न टारे।"[५]

'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' रचना में द्विवेदीजी ने तत्कालीन समस्या पर कटुता प्रकट की है। इससे उनके देशप्रेम और स्वदेशी प्रेम पर प्रकाश पड़ता है :

"अजब हालत हमारी है विधाता !
× × ×
विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे हैं ?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं ?
× × ×
हजारों लोग भूखों मर रहे हैं

---

१. द्विवेदी काव्य-माला, कृतज्ञता प्रकाश, पृ० २७१
२. वही, पृ० २९१
३. वही, हे कविते, पृ० २९४
४. वही, ग्रन्थकार लक्षण, पृ० २९६
५. वही, भारत की परमेश्वर से प्रार्थना, पृ० ३६२

इधर तू मंजु मलमल ढूँढ़ता है
× × ×
विदेशी धोबियों तक ने हमारी,
समझ पर है कलप की ईंट मारी।
× × ×
स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै"[१]
"विद्या नहीं है, बल नहीं है, धन भी नहीं है,
क्या से हुआ है क्या, यह गुलिस्तान हमारा ॥"[२]

और भी देखिए :

"वह जंगल की हवा कहाँ है ?
वह इस दिल की दवा कहाँ है ?"[३]
दुर्भिक्ष राक्षस जहाँ सबको सताता,
लाखों मनुष्य यह प्लेग कृतान्त खाता।
× × ×
सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहाँ है
× × ×
देश कला सकल नष्ट हुई जहाँ है
× × ×
विद्वज्जन प्रिय जहाँ परकीय भाषा
होती तिरस्कृत जहाँ निज मातृभाषा।
× × ×
प्राचीन हैं न तजते इससे कु-रीति।
× × ×
अन्यान्य-वैर रत वर्ण जहाँ समस्त
× × ×
है भूतकाल सब स्वप्न कथा समान
चिन्ता-निमग्न-निशि वासर वर्तमान।[४] (प्यारा वतन)

---

१. द्विवेदी काव्य-माला, स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार, पृ० ३६८-३७०

२. वही, महिला परिषद के गीत, पृ० ३८३

३. वही, प्यारा वतन, पृ० ३९१

४. वही, कर्तव्य पंचदशी, पृ० ४१७-४१९

देश की दीनहीन दशा का 'दुखाग्नि दग्ध' चित्र खींचने वाले द्विवेदीजी ने इस दशा के लिए भारतीयों को ही उत्तरदायी माना तथा उन्हें 'आत्मशत्रु' कहा। उनका यह सामयिक उपदेश है :

"त्यागो तुरन्त विषतुल्य विदेश-वस्तु।"[१]

'बलीवर्द', 'गर्दभ काव्य' और 'महिष-शतक' में भी उन्होंने व्यंग्यपूर्वक तत्कालीन दशा का दिग्दर्शन कराया था। व्यंग्य और हास्य से जहाँ मनोरंजन तथा उपदेश मिलता था वहाँ गौरव और आत्माभिमान के स्मरण से ओज भी पैदा होता था।

महाकवि पं० नाथूराम शंकर शर्मा क्रान्तिकारी कवि थे। सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक और स्वदेश-विषयक उन्होंने तीखे हास्य या करुणा व्यक्त किये हैं। भक्ति, वेदान्त, समाज-सुधार और धर्म-सुधार के विषय उनके काव्य में प्रचुर रूप से आये हैं। भाषा के वे अधीश्वर थे। सम्प्रदायवाद, गुरुडम और धूर्तता देश में फैली हुई थी, अतः उन्होंने लिखा था :

"मत, पन्थ असंख्य असार बने;
गुरु लोलुप लंठ लबार बने।
शठ सिद्ध-कुधी कविराज बने
अनमेल अनेक समाज बने॥"[२]

दीनों और दरिद्रों की दशा का यथार्थ और प्रगतिशील चित्र प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं :

"कस पेट अकिंचन सोय रहे, बिन भोजन बालक रोय रहे,
चिथड़े तक भी न रहे तन पै, धिक धूल पड़े इस जीवन पै।"[३]

'रंक रोदन' (शंकर-सर्वस्व, पृ० ६४) में वे कहते हैं कि "प्रतिभा को प्रतिवाद प्रचण्ड पछाड़ चुका है" पर "दरसे देश उदास, जाति अनुकूल नहीं है," और शत्रु करें उपहास, मित्र सुखमूल नहीं हैं।" वे देश की विपन्नता और

---

१. द्विवेदी काव्यमाला, देशोपालम्भ, पृ० ४२३ (सरस्वती, अगस्त १६०६)
२. शंकर-सर्वस्व, कवित्त कुंज, सम्मुखोद्गार, पृ० ६१
३. वही

दुर्दशा का वास्तविक चित्रण करते हैं। 'शंकर' तो साफ-साफ कहने वाले थे, जैसे :

"दुखड़ों की भरमार यहाँ सुखसाज नहीं है।
किसका गोरस, भात, मुठी भर नाज नहीं है।
भटकें चिथड़े धार धुले पट पास नहीं हैं,
कुनबेभर में कौन अधीर, उदास नहीं है।"[१]
"दिया जले किस भाँति तेल को दाम नहीं हैं।"[२]
लड़ते हैं मत पन्थ परस्पर मेल नहीं है।[३]
व्यभिचारी पेट के पुजारी, बन बैठे बाल ब्रह्मचारी।"[४]

"जल काकर, बीज, ब्याज, पोता,
भूलें न किसान भूमि जोता।"[५]
× × ×
"परदेशी माल आ रहे हैं।"[६]

कितने ही राज कर्मचारी, जिनके कर बाग है हमारी।
वेतन भरपूर पा रहे हैं, तिस पर भी घूस खा रहे हैं॥"[७]

"अंगरेजी खिलखिला रही है,
उरदू खुश गुल खिला रही है।
दोनों से नागरी बड़ी है,
तो भी चुपचाप ही खड़ी है॥"[८]

"कंगाली भी जला रही है, मंहगी बरछी चला रही है"[९]

---

१. शंकर-सर्वस्व, रंक रोदन, पृ० ६४
२. वही, पृ० ६६
३. वही
४. वही, 'हमारा अधःपतन, पृ० १४८, सरस्वती मई, १९०६ ई०
५. वही, पृ० १५०
६. वही
७. वही
८. वही, पृ० १५१
९. वही, पृ० १५२

"सिंहों में स्यार गिन गये हैं, सबके हथियार छिन गये हैं"[१]
"अब क्या हम और भी गिरेंगे, अथवा फिर दैव दिन फिरेंगे"[२]
"कीचड़ में केहरी पड़ा है, गीदड़ दल घात में खड़ा है"
गिद्धों ने घाव कर लिये हैं, कौओं ने पेट भर लिये हैं"[३]

उनकी 'हमारा अधःपतन' कविता सरस्वती, मई, १९०६ में प्रकाशित हुई थी। समाज पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं :

"अमीरो धुआ धार छोड़ा करो।
पड़े खाट के बान तोड़ा करो।"[४]
"नयी ज्योति की ओर जाना नहीं
पुराने दिये को बुझाना नहीं।"[५]
"करो चाकरी घूस खाया करो।"[६]

"सुनो तुक्कड़ो बात भद्दी नहीं, तुकों की करामात रद्दी नहीं।
यहाँ भूल का काफिया तंग है, अरे नागरो, नागरी दंग है॥"[७]

कवि की 'पंचपुकार' में (शंकर-सर्वस्व, पृष्ठ १६४-१६८) तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तथा राजनीतिक विषयों पर बड़े चतुर व्यंग्य संगृहीत हैं। इसी शंकर-सर्वस्व के पृष्ठ २०१ पर 'तागड़ दिन्ना नागर बेल' में वर्तमान की राजभक्ति, होमरूल, मार्शल लॉ, रोलटबिल, आदि को लपेट कर बड़े तीखे प्रहार किये गये हैं। 'भारत का भार' (पृष्ठ २२४-२२९) में राजकर्मचारी, अंग्रेजीपरस्त, भारतीयों का विदेशीपन, नयी सभ्यता, चापलूसी, दरिद्रता, फूट, भेदभाव, वैर और परतन्त्रता के दोषों को और तत्कालीन अभावों को भाषा की शतरंजी चाल में इस तरह फँसाया है कि आज का प्रगतिशील व्यंग्य भी उसके सामने झख मारता है :

---

१. शंकर सर्वस्व, हमारा अधःपतन, पृ० १५३
२. वही
३. वही
४. वही, अविद्यानन्द का व्याख्यान, पृ० १५६
५. वही, पृ० १५६
६. वही, पृ० १५८
७. वही, पृ० १५९

"संकट की मूलाधार, दुलही दरिद्रता से,
आँख भट्ट भारती भिखारी की लड़ी रहे।"[१]

"शंकर-क्रन्दन' में पृष्ठ २३० पर उन्होंने कहा है कि "रोने को मानो, भारत गौरव-गान"। आलोच्य काल में :

लागू टैक्स नहीं घटते हैं, घटते नहीं लगान,
घटते हैं कंगाल प्रजा के, उद्यम-वारि-विहान ।। ४५
सारी प्रजा झुंड चिड़ियों का, चाकर चक्र शचान ।। ५३
ओ डायर ने जाना, जिसको दमन-स्थान
तारे शोकसिन्धु से हमको, वही बाग जलयान ।। ५४
मान घटाना भूतकाल का, वर्तमान अपमान।
क्या भविष्य का पेट भरेगा, सर्वनाश अवसान ।। ५५
उतरे हैं गाँधीजी अगुआ, खा परहित का पान ।। ५६

'बलिदान गान' (पृष्ठ २४८) में कवि कहता है :

"देशभक्त वीरो, मरने से नेक नहीं डरना होगा,
प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा।
लोकमान्य गुरु गाँधीजी का प्रेम मन्त्र पढ़ना होगा

× × ×

पोल खोल खोटे कुराज्य को दुःशासन कहना होगा,
पशुबल ठेलेगा जेलों में वर्षों तक रहना होगा।

× × ×

समता की प्यार पद्धति पै निर्विराम चलना होगा ।।"[२]

'हमारा ह्रास' (शंकर-सर्वस्व', पृष्ठ २५२-२५६) में भारतीयों की पतनावस्था पर व्यंग्य किया गया। 'कजली कलाप' में वर्तमान जीवन की भूलों को गिनाया गया। 'दिवाली नहीं दिवाला है', 'अन्धेर खाता', 'विधवा विलाप', 'कलियुग राज', 'खिलाड़ी खटमल', 'अनोखे उल्लू', आदि उनकी रचनाएँ व्यंगपूर्ण और समय की माप करने वाली हैं। कवि ने समस्या-पूर्ति में पृष्ठ ३११ पर एक बहुत ही समयोचित बात कही है :

---

१. शंकर-सर्वस्व, भारत का भाट, पृ० २२८
२. वही, बलिदान गान, पृ० २४८

"रुचि रोक भयाकुल भारत को यह शासन-साँप खिलावनो है।"[१]

तिलक की मृत्यु पर उन्होंने लिखा :

"मुकुटविहीन जिसे देखते हो हाय, उस
भारत के भाल पर तिलक भी रहा नहीं।"[२]
"नेकहू रह्यो न न्याय वर्तमान शासन में,
उग्रता अनीति को न मो पै सही जाति है॥"[३]

इन समस्त उद्धरणों से वर्तमान दशा और उसके प्रति कवि का क्षोभ तथा देश की करुण दशा का चित्रण स्पष्ट होता है। इतनी सशक्त भाषा में और किसी ने वर्तमान दशा का चित्रण उस समय नहीं किया था। शासन की निन्दा, जनमत का सम्मान और देशभक्ति का नारा इन सब रचनाओं में व्याप्त है। गिरधर शर्मा ने 'कलंकी का एड्रेस' रचना में शासन की निन्दा करते हुए लिखा था :

"रे दोषाकर पश्चिम बुद्धि, कैसे होगी तेरी शुद्धि।
× × ×
अब तक नहीं हुए दो चार, बेहद तेरे अत्याचार।
अंग-भंग तू करता है, पातक से न जरा तू डरता है॥"[४]

यह 'बंग-भंग' पर लिखा गया व्यंग्य जनता के मन को सीधा छूता था। भारत माँ की भव्य मूर्ति को काँच की तरह तोड़ने वाले शासन के विरुद्ध दोषारोपण किया गया था। श्री वीरात्मा ने आदिम रक्त की गर्मी के साथ अपनी 'स्वदेश माता' रचना में लिखा :

"मत रोओ मतवालों से अब एक बार भिड़ जाने दो,
× × ×
अन्यायी खूँखारी शासन, जग से अब उठ जाने दो।"[५]

माधव शुक्ल ने 'जाग्रत भारत' में लिखा :

---

१. शंकर-सर्वस्व, समस्या पूर्तियाँ, पृ० ३११
२. वही, पृ० ३३५
३. वही, पृ० ३३६
४. गिरधर शर्मा, 'कलंकी का एड्रेस', सरस्वती, दिसम्बर १९०५
५. श्री वीरात्मा, 'स्वदेश माता', सरस्वती, मार्च १९०८

या स्वतन्त्रता लहरायगी या तो होगा हिन्द मसान
तेंतीस कोटि पर शासन तब करना सुख से मतिमान ।।

मन्नन द्विवेदी ने दासत्व को नीचकर्म कहकर तत्कालीन दासता के विरुद्ध ज्वार पैदा किया । ठाकुर हरिद्वारसिंह मालग्रामी ने 'आल्हा' की लय पर 'स्वदेशोद्धार शतक' लिखा और देश की वर्तमान दशा पर क्षोभ प्रकट किया :

भये आलसी दिन उद्यम के भोगी करैं अनेक विलास,
बढ़ो विरोध महान परस्पर सबही सुख सम्पति भइ नास ।

रूपनारायण पाण्डेय ने 'पद्य पुष्पांजलि' के प्रथम संस्करण में पृष्ठ ३० पर लिखा :

"रोज सैकड़ों लोग प्राण तजते हैं, हा हा,
भारत सा अति रम्य देश होता है स्वाहा,
वसनहीन अति दीन ठंड फिर बादल ऊपर,
पुनः प्लेग का कोप त्राहि अब हे परमेश्वर ।।"

मातादीन शुक्ल ने 'निस्सार जीवन', चित्रमय जगत, नवम्बर १९१७ ई० में, गरीबों की वकालत की थी—

"भूख से हैं मर रहे जो मरभुखे हैं,
कभी फूटी नजर देखा उन्हें ।"

"त्रिशूल' ने सरस्वती की संख्या १२ सन् १९१८ ई० में लिखा था :

"आती हैं नित नयी सिरों पर हाय बलायें ।।
बच्चे दाबे हुए बगल में भूखी मांएँ ।
भग्न हृदय है नग्न सी खेत निराने में लगी ।।"

रामचरित उपाध्याय ने देश की करुण दशा और बाल-विवाह तथा वृद्ध-विवाह पर व्यंग्य कसे । उन्होंने छुआछूत, विलासिता और वर्तमान सामाजिक दशा का चित्रण भी किया । केशवप्रसाद मिश्र ने लिखा था :

"हाहाकार मचा भूखों का है धनिकों के पास,
फिर कैसे वे तोंद फुलाये खाते विषमय ग्रास ।
सभा समाज देशी सेवा एवं वाद-विवाद,
जठर पिठर में चारा रहते आते हैं सब याद ।।"[१]

---

१. केशवप्रसाद मिश्र, वर्षा और निर्धन, सरस्वती, अगस्त, १९१६ ई०

रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा :

"अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है, उद्यम का न उपाय,
वन भी नहीं और टिकने को, कहाँ जाय क्या खाय।
लाखों नहीं करोड़ों की है सुख से हुई न भेंट।
मिलता नहीं जन्म भर उनको खाने को भरपेट ॥"[१]

साप्ताहिक 'प्रताप' १० जून १६१८ ई० सं० ३१ के मुखपृष्ठ पर ये पंक्तियाँ प्रकाशित हुई थीं :

"धर्मयुद्ध में बड़ी बड़ाई, आनबान की,
रहे निभाते शान सदा देशाभिमान की ॥"

रामपदार्थसिंह शर्मा ने 'विचार' शीर्षक (साप्ताहिक 'प्रताप', २४ अप्रैल १६१६ ई०) कविता में देश को 'दुर्दश' कह कर युवकों का आह्वान किया। 'एक भारतीय आत्मा' ने जनमानस के बहुत पास आकर समय की पुकार को गुंजरित किया :

"नहीं सुनेंगे किसी की अब हम, स्वराज्य लेंगे, स्वराज्य लेंगे।
किसी से क्या हम हैं विश्व में कम, स्वराज्य लेंगे, स्वराज्य लेंगे।
गुलाम बनकर न अब यहाँ पर किसी तरह भी दबे रहेंगे।
बहुत दिनों तक रुके रहे हम, स्वराज्य लेंगे, स्वराज्य लेंगे ॥"[२]

लक्ष्मीप्रसाद रमा ने 'विधवा' की वर्तमान सामाजिक दशा का चित्रण (प्रताप, १४ अप्रैल १६२६ ई०) किया। गंगाप्रसाद विशारद ने गाँधी टोपी, चरखा और खादी पर कविताएँ लिखीं, श्री लक्ष्मणसिंह ने भारतसेवा को देश से भी बड़ा माना। माखनलाल चतुर्वेदी ने (२ जून १६१६ ई० के 'प्रताप' में) 'सत्याग्रही' के मूलतत्व बताये।

हरिश्चन्द्र देव विद्यार्थी ने ('प्रताप' दीपमालिका, १५ नवम्बर १६२० ई० के अंक में) लिखा :

"सत्य स्वदेशी व्रत हो प्यारा।
हिन्दू हिन्दी हिन्द दुलारा।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन, पृ० २२, १३

२. एक भारतीय आत्मा, स्वराज्य लेंगे, प्रताप, ८ जनवरी, १६१७ ई०

गूँजे असहयोग जयकारा।
सुख स्वराज्य सत्वर दरशाओ।
दीपावलि दुख दूर भगाओ।"

श्री भारतभक्त ने 'उज्ज्वल अन्त' कविता में ('प्रताप' १० सितम्बर १९१७ ई०) लिखा :

"रामनाम की जगह रथी पर होगा जब स्वराज्य का नाद।
शव भी मेरा पुलकित होकर भूलेगा सब पूर्ण विषाद॥"

सियारामशरण गुप्त ने 'हमारा हर्ष' कविता लिखी :

बल बुद्धि वीर्य सभी हमारा हो चुका निःशेष
जातीयता तो नाम को भी न हम में शेष है॥[१]

'मर्यादा' १९१२ ई० मार्च में, रामचरित उपाध्याय की 'पराधीन सिंह' रचना में विचारों की छटपटाहट दिखायी देती है। मार्च, १९१३ ई० की 'मर्यादा' में 'भ्रमर' कवि ने शोषक साम्राज्यवाद को मूषक, खटमल, घुन आदि कहा है :

गोरा दिया वपु तुझे विधि ने निराला।
क्यों है दिया फिर तुझे बक चित्त काला॥

'मर्यादा' के ही अक्टूबर के अंक में रामचरित उपाध्याय की रचना का यह अंश द्रष्टव्य है :

धूर्त्त वक्र ! तू हंस ही सा श्वेत वपु है यह सही,
किन्तु उसकी चाल मत चल, वह नहीं जाती सही।

इन सबसे अधिक स्पष्ट, तेज, तीखी, शालीन और गुरु-गम्भीर शैली मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' की है, जिसमें देश की वर्तमान दशा का सम्पूर्ण और सर्वांग चित्रण प्रस्तुत किया गया है :

"उच्छिन्न होकर अर्द्धमृत सा छटपटाता देश है,
सब ओर क्रन्दन हो रहा है क्लेश को भी क्लेश है।"[२]

---

१. सियारामशरण गुप्त, हमारा हर्ष, सरस्वती, खण्ड १४, सं० ४, सन् १९१३ ई०

२. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, वर्तमान खण्ड, पृ० १०८

"दुर्भिक्ष मानो देह धर के घूमता सब ओर है,
हा अन्न ! हा ! हा ! अन्न का रव गूँजता घनघोर है।"[१]
"है एक चिथड़ा ही कमर में और खप्पर हाथ में।"[२]
"जननी पड़ी है और शिशु उसके हृदय पर मुख धरे,
देखा गया है किन्तु वे माँ-पुत्र दोनों हैं मरे।"[३]
"पानी बनाकर रक्त का कृषि कृषक करते हैं यहाँ,
फिर भी अभागे भूख से दिनरात मरते हैं यहाँ।"[४]

गुप्तजी ने गोवध, व्याधियाँ, व्यापार, अविद्या, शिक्षा की दशा, धर्म की दशा, साहित्य, संगीत, तीर्थ, पंडे, मन्दिर, महन्त, साधु-सन्त, वर्ण-विभेद, स्त्रियाँ, सन्तान, समाज, अन्ध-परम्पराएँ, अनमेल विवाह, व्यभिचार, गृहकलह, आदि विषयों को सम्मुख रखकर देश की तत्कालीन दशा पर व्यंग्य किये और वास्तविकता का गम्भीर चित्रण किया। यह देश की दशा है। "यह फूल कैसा है कि इसमें गन्ध है न पराग है"[५] परन्तु है यह सत्य :

"वह वेष-भूषा और भाषा, सब विदेशी हैं यहाँ"[६]
"जातीयता क्या वस्तु है, निज देश कहते हैं किसे ?
क्या अर्थ आत्मत्याग का, वे जानते हैं क्या इसे ?"[७]
"विद्या बिना अब देख लो हम दुर्गुणों के दास हैं।"[८]
"बिकने लगी विद्या यहाँ अब शक्ति हो तो क्रय करो।"[९]
"अश्लील ग्रन्थों से हमारा शील चौपट हो रहा।"[१०]
"उद्देश्य कविता का प्रमुख शृंगार रस ही हो गया।"[११]

१. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, वर्तमान खण्ड, पृ० ९३
२. वही, पृ० ९४
३. वही, पृ० ९५
४. वही, पृ० ९९
५. वही, पृ० १०४
६. वही, पृ० १०९
७. वही, पृ० ११७
८. वही, पृ० १२२
९. वही
१०. वही, पृ० १२७
११. वही, पृ० १२७

"श्री कृष्ण की हम आड़ लेकर हानि करते लोक की।"[१]
"बस कागजी घुड़दौड़ में हैं आज इतिकर्तव्यता।"[२]
"यों फूट की जड़ जम गयी, अज्ञान आकर अड़ गया,
हो छिन्न-भिन्न समाज सारा दीन-दुर्बल पड़ गया।।"[३]
"हम आड़ लेकर धर्म की अब लीन हैं विद्रोह में।"[४]
"अब मन्दिरों में रामजनियों के बिना चलता नहीं।"[५]
"पाले हुए पशु-पक्षियों का ध्यान तो रखते सभी,
पर नारियों की दुर्दशा क्या देखते हैं हम कभी।।"[६]
"बिकता कहीं वर है यहाँ, बिकती तथा कन्या कहीं।"[७]

श्रीमती रमादेवी तिवारी (सं० १९४० में जन्म) ने आलोच्य काल में 'अबला पुकार' और 'रमा-विनोद' पुस्तकें लिखीं। तत्कालीन युग की दशा का चित्रण उनके शब्दों में इस प्रकार हुआ है :

"चीज भई मँहगी है बाजार में गेहूँ लगा अब डेढ़ अढ़य्या।
भूखे रहैं तन ढाँक सकैं नहिं भारत के शिशु लोग-लुगय्या।"[८]
"जुल्म कितने हो गये इस देश में देखो 'रमा'।
किन्तु बस लाली लहू को गुल है समझा आपने।।"[९]

तोरनदेवी शुक्ल 'लली' ने 'जागृति' रचना में लिखा :

"कर दो दूर आज परदे सा, अन्तिम अत्याचार।
इस घूँघट ही के पट में क्या-क्या न हुआ सदियों से।।"[१०]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, पृ० १२७
२. वही, पृ० १३१
३. वही, पृ० १३२
४. वही
५. वही
६. वही, पृ० १३४
७. वही, पृ० १४४
८. रमादेवी, स्त्री कवि कौमुदी, पृ० २७१ ले० ज्योतिप्रसाद निर्मल, हिन्दी गौरव ग्रन्थमाला ४६वाँ ग्रन्थ (प्रथम सं० मार्च, १९३१)
९. वही, पृ० २७४
१०. वही, पृ० ३०३

"पराधीन है देश हमारा, निर्बल हीन समाज।
'लली' न जाने कहाँ छिपी है देश-धर्म की लाज ॥"

रूपनारायण पाण्डेय की दृष्टि में :

"मिटा देश की भक्ति, शक्ति भी साथ सिधारी,
स्वावलम्ब या स्वाभिमान तज हुए भिखारी ॥"[१]
"दु:शासन पकड़े खड़ा भारत माँ के केश,
इस अनीति के दृश्य से क्षुब्ध हो उठा देश ॥"[२]
"वस्त्र विलायती बेच बजाज जी, देश के शीश कलंक न लीजो।"[३]

हरिऔध ने 'चुभते चौपदे' में देश-दशा पर इस प्रकार लिखा है :

"डालते थे जान जो बेजान में, आज वे हैं जानवर जाते गिने"[४]
"क्या कहें किससे कहें जायें कहाँ।
हैं बिगड़ते कुछ भी बन आयी नहीं ॥
दौड़ में हम हैं बहुत पीछे पड़े।
पर किसी ने आँख दौड़ायी नहीं ॥"[५]
"है जहाँ पर पेट भी पलता नहीं।
किस तरह सुख से वहाँ कोई जिये ॥"[६]

'जगाने की कल' में हरिऔधजी ने यह भी कहा है :

है जिसे पेट देश से प्यारा।
जो जने जाति का अहितकारी ॥
मर गया वह न क्यों जनमते ही।
क्यों गयी कोख वह नहीं मारी ॥

(चुभते चौपदे, पृ० ११३)

---

१. रूपनारायण पाण्डेय, 'जाति विषयक दिग्दर्शन', पराग, पृ० ५
२. वही, पृ० २५
३. वही, पृ० १२८
४. हरिऔध, चोखे चौपदे, "क्या के क्या हो गये", प्रथम सं० १९२४, पृ० २९
५. वही, संजीवनी बूटी, पृ० ७२
६. वही, पृ० ८९

स्त्रियाँ, अछूत, बेजोड़ ब्याह, वृद्ध विवाह, धर्म, कर्म-कांड, आदि कई विषयों पर कवि ने अपना रोष प्रकट किया है।

ऊपर दिये गये उदाहरणों से द्विवेदीयुगीन काव्य में वर्तमान के प्रति क्षोभ की गहरी और बुनियादी मुद्रा स्पष्ट होती है। इस युग के अधिकांश कवि अपने युग और समाज तथा देश के प्रति उत्तरदायित्व का भाव लिये हुए हैं तथा अपने क्षोभ या असन्तोष को सीधे-सीधे प्रकट करते हैं।

(४) **बलिपन्थी भावना :** प्रायः एक युग का स्वप्न दूसरे युग का सत्य बन जाता है। राम के अग्निबाण और अर्जुन के गाण्डीव से छूटे हुए विषैले तीर पाषाण युग के आदिम निवासियों के स्वप्न रहे होंगे। गुफाओं में रहने वाला वनवासी आज गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में रहता है। इन भवनों और प्रासादों का उसने कभी सपना देखा होगा। पिछले युग के कितने सपने, आज के वैज्ञानिक युग में सत्य हो चुके हैं। साहित्य में समाज, संस्कृति और कला के सारे सपने सृजनात्मक चेतना की सूचना देते हैं। द्विवेदीयुगीन काव्य में राष्ट्रीय धारा को जिस क्रूरतम परिस्थिति और विषम वातावरण में से गुजरना पड़ा, उन्हीं परिवर्तन-क्रमों ने हमारे जन-नायकों को बलिपन्थी बना दिया और उसी की छाप साहित्य की बलिदानी प्रवृत्ति बन कर हमें आजादी के सत्य तक ले आयी। आलोच्य काल का बलिदान भारतीय स्वतन्त्रता के रूप में प्रतिफलित हुआ है। द्विवेदी युग की उग्र राज-नीतिक चेतना के कारण जो प्रचण्ड देशभक्ति, राष्ट्रीयता और जन्मभूमि-प्रेम जागा उसकी उत्तेजना ने बलिपन्थी काव्य को जन्म दिया और देशभक्तों के बलिदानी वृत्ति को तीव्र किया। लगभग सभी तत्कालीन कवियों ने देश के लिए बलि हो जाने की इस प्रवृत्ति के काव्य रचे।

'प्रेमघन' को १९०६ ई० में ही यह सत्य साफ-साफ दिखायी देने लगा था कि :

"उन्नति-पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखायी।
खग वन्देमातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनायी॥"[१]

१९०६ ई० में बंग-भंग के कारण देश में मातृभूमि के टुकड़े करने वाले आततायियों के विरोध में बलि होने की भावना सर्वत्र व्याप्त थी। श्री तिलक की प्रखर राष्ट्रीयता और मिन्टो-मार्ले सुधार, महायुद्ध, मुसलमानों को पृथक् निर्वाचनाधिकार, मुस्लिम लीग की स्थापना, रूस की क्रान्ति, जलियाँवाला

१. प्रेमघन, आनन्द अरुणोदय, १९०६ ई० में प्रकाशित (प्रेमघन सर्वस्व, सं० श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय) पृ० ३७३

बाग का काण्ड, असहयोग आन्दोलन का आरम्भ, तिलक का यह उद्घोष कि स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, देशी के स्वीकार और विदेशी के बहिष्कार की नीति, आदि हमारे जनमानस को अन्याय का मुकाबला करने के लिए प्रेरित करती रही थीं। धार्मिक मत-मतान्तरों, साम्प्रदायिक उत्तेजनाओं, धार्मिक सुधारों तथा सामाजिक सुधारों का उस समय ज्वार उठ रहा था।

प्रेमघन की दृष्टि में--'प्रजा मेंमना सी चिल्लाय' दशा बड़ी अपमान-जनक थी। पं० रूपनारायण पाण्डेय की वाणी में अधिक खरापन है। वे कहते हैं कि 'राम कृष्ण अर्जुन विक्रम भी तुम सब में ही हैं प्रच्छन्न'[१] और भारतमाता का भव्य चित्र दिखा कर एकता के गीत सुनाते हैं :

> जैन बौद्ध पारसी यहूदी मुसलमान सिख-ईसाई।
> कोटि कंठ से मिलकर कह दो "हम सब हैं भाई-भाई"।
> पुण्यभूमि है, स्वर्णभूमि है, जन्मभूमि है देश यही।
> इससे बढ़कर या ऐसी ही दुनिया भर में जगह नहीं॥[२]

'अहिंसा-संग्राम' रचना में उन्होंने अँग्रेजों को दु:शासन की उपमा दी :

> "दु:शासन पकड़े खड़ा भारत मां के केश,
> इस अनीति के दृश्य से क्षुब्ध हो उठा देश॥"[३]
> "हमारा है उद्देश्य पवित्र झुकेगी निश्चय यह सरकार।"[४]

और प्रण किया कि :

> "मशक्कत, कद, तनहाई, सभी झेलेंगे हँस-हँस कर।
> जगत में 'शान्ति' के सिक्के को परखा करके छोड़ेंगे॥"[५]
> "जायँ चाहे तुच्छ प्राण, खण्ड-खण्ड करें बाण,
> करिए निज देश त्राण, धुन यही समायी।"[६]

---

१. रूपनारायण पाडेय, देश सम्बन्धी प्रोत्साहन, पराग, पृ० २१
२. वही, पृ० २५
३. वही, अहिंसा-संग्राम, पृ० २५
४. वही, पृ० २६
५. वही, हमारा प्रण, पृ० ३६
६. वही, राष्ट्रीय गीत, पृ० ४१

सच तो यह है कि द्विवेदी युग राष्ट्रीय जागरण और उन्नयन का युग है। चारों ओर 'देश का अपमान न होने देंगे, हम स्वराज्य लेंगे, लेंगे"[१], का नारा गूँज रहा था। देश के खण्ड नहीं कर सकते थे, क्योंकि 'यह सारा देश हमारा' भावना प्रबल थी। गोखले, लाल, बाल, पाल, मालवीय, तिलक, गांधी और दादाभाई नौरोजी के आदर्श भारत का प्राणोदय कर रहे थे। कवि उन्हीं का सन्देश काव्यबद्ध कर रहे थे :

घिरें विपद के बादल काले, चलें जुल्म के भीषण भाले।
पड़े कठिन कष्टों के पाले, रहे देश का प्यार।

× × ×

हृदय मचलता है मरने को, हम सब हैं तैयार।

× × ×

मरना भी मंजूर करेंगे, जो हो देश-सुधार।"[२]

बलिपन्थी की सच्ची रूपरेखा पाण्डेयजी ने स्पष्ट की थी :

"मैं जेल में पड़ा हूँ, हाथों में हथकड़ी हो
सादी सजा हो अथवा, वह खूब ही कड़ी हो।
कोड़ों की मार मुझ पर चाहे बहुत पड़ी हो,
मेरी प्रवृत्ति लेकिन इस बात पर अड़ी हो।—
मैं देश-भक्त नर हूँ, मेरा यही है शेवा,
उड़ जायँ बोटियाँ भी छोड़ूँ न देश-सेवा।"[३]

इस काल में रूपनारायण पाण्डेय की 'एक देशभक्त की उक्ति' और 'देश-सेवा' रचना सम्भवतः तत्कालीन देशभक्तों की मनोभावना को बहुत ईमानदारी से स्पष्ट करती हैं :

"या तो स्वतन्त्र होंगे या काल का कलेवा।"[४]

इतना रोमांचकारी नारा, सन् १९४२ ई० के 'करो या मरो' के नारे से भी ज्यादा प्रेरक प्रतीत होता है। द्विवेदीजी ने देश-प्रेम की रचनाओं को

---

१. रूपनारायण पाण्डेय; राष्ट्रीय गीत, पराग, पृ० ४३
२. वही, राष्ट्रीय गीता, पृ० ४६
३. वही, पृ० ४८
४. वही, देश-सेवा, पृ० ४९

विद्रोही स्वर दे दिया था। हर रचना में रक्त देने की बात होती थी। बेचैनी की यह माँग थी। विरोध, विद्रोह, अन्तहीन लड़ाई या संघर्ष की प्रवृत्ति तथा बलिदान की भावना को प्रचारित करना कवि अपना धर्म समझता था। गहरी घृणा और अग्निमयी विरोधवृत्ति देशप्रेमी को ताकतवर बनाती है। स्वाधीनता की उत्कट इच्छा 'जो मुर्दे को मर्द बना देती है पल में,'[१] वीरों के लिए सुख की साँस थी। उनके लिए तो 'हथकड़ी बेड़ी हैं गहने', 'जेल हैं तीर्थ' और अगर 'वहाँ रहने पावें तो क्या कहने' में उनकी आकांक्षा ज्वालामुखी को मन में छिपाये हुए थी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके आसपास के कवियों तथा साहित्यकारों ने इस कविता को नया ओज दिया।

'पूर्ण' जी ने 'स्वदेशी कुण्डल' में स्पष्ट कहा है कि "जाय न मुख में अन्न, बिना पुरुषार्थ न कुछ हो।" उनका ख्याल था कि देश की दुरवस्था का कारण यही है कि "है बस भारत-प्रजा घोर निन्द्रा में सोयी।" इतनी जातियाँ और प्रान्त ये सब नाव और पानी का सा संयोग है। वे कहते थे :

"सपना हो तो देश के हित ही का हो मित्र।"[२]

देश के नवयुवकों का ध्यान अपनी मातृभूमि की ओर खींचने की उन्होंने कोशिश की थी। 'पूर्णजी' ने वह विद्रोही स्वर, जो रूपनारायण या अन्य कवियों में थे, व्यक्त नहीं किये। द्विवेदीजी ने तो मार्गदर्शन कर दिया था कि :

"जग में जन्मभूमि सुखदायी,
जिस नर पशु के मन न समायी।
उसके मुख-दर्शक नर-नारी,
होते हैं अघ के अधिकारी॥"[३]

देश की तत्कालीन दशा को देखकर द्विवेदीजी परेशान थे। वे जब कुछ लिखने बैठते तो लिखना पड़ता था कि—"कलम को कँपकपी सी आ रही है।"[४] 'कविता-कलाप' की 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा' रचना में वे कौरवों के प्रतीक द्वारा संकेत करते हैं कि :

---

१. रूपनारायण पाण्डेय, स्वाधीनता, पराग, पृ० ५०
२. राय देवीप्रसाद पूर्ण, पूर्ण-संग्रह, स्वदेशी कुण्डलियाँ, २७, पृ० २१२
३. महावीरप्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्य-माला, जन्मभूमि, पृ० ३६६
४. वही, स्वदेशी वस्तु का स्वीकार, पृ० ३६८

"निज शत्रु का साहस कभी बढ़ने न देना चाहिए ।
बदला समर में वैरियों से शीघ्र लेना चाहिए ।
× × ×
फिर भी इन्हें मारे बिना हम लोग यदि जीते रहें ।
तो सोच लो संसार भर के वीर हमसे क्या कहें ।।"[१]

द्विवेदीजी ने खड़ी बोली कविता को उचित पथ पर चलाया। वे कवि से अधिक कवि-निर्माता थे। उनके प्रभावक्षेत्र के भीतर के 'श्री राष्ट्रीय पथिक' ने आत्मबलि की भावना को इस तरह व्यक्त किया :

"करने दे हे हृदय ! देश-हित मुझे आत्मबलि,
मरने दे, प्रिय जन्मभूमि के अर्थ, मुदित हो मरने दे ।"[२]

'एक भक्त' की यह कामना थी कि :

"मातृभूमि के हित जो आवे मोददायिनी कजा वहीं ।
उसी मृत्यु में मिलना है क्या जीने का सा मजा नहीं ।।"[३]

सत्यनारायण पाण्डेय ने 'बलिदान' रचना में 'प्रताप' के ५ नवम्बर १९२३ के अंक में, पृष्ठ ८ पर, उस समय की सामान्य जनभावना को फैसले का रूप दे दिया है :

कोने-कोने में सत्याग्रह का जयशंख बजाने दो ।
विपदाओं के गिरि श्रृंगों को ठोकर से ठुकराने दो ।।
स्वतन्त्रता के युद्धस्थल में मरते हैं मर जाने दो ।
जन्मभूमि के श्री चरणों में जीवन-पुष्प चढ़ाने दो ।।[४]

माखनलाल चतुर्वेदी की कविता में उनकी बलिदानी प्रवृत्ति साफ दिखायी देती है :

"चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ ।
चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ ।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि, डाला जाऊँ ।
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ ।

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्य-माला, कविता-कलाप, उत्तरा से अभिमन्यु की विदा, पृ० २२
२. श्री राष्ट्रीय पथिक, साप्ताहिक प्रताप, १० मार्च १९१९ ई०, पृ० १७
३. 'एक भक्त', २५ फरवरी १९१८ ई०, पृ० ६
४. सत्यनारायण पाण्डेय, साप्ताहिक प्रताप, ५ नवम्बर १९२३ ई०, पृ० ८

मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक ।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जायें वीर अनेक ।।"[१]

साधारण से साधारण कवि भी अपने युग-धर्म का निर्वाह कर रहा था । श्री भगवतीदयाल का कहना था :

"वह जेल द्वार फिर मुझे स्वर्ग सम भाया ।
जिसने दुख बेड़ी काट सुदिन दिखलाया ।"[२]

माखनलालजी चतुर्वेदी की कविता में जीने की शर्त है, शक्ति है और आजादी के लिए प्राण देने की दिलचस्पी है :

"पृथिवी के आकर्षण के प्रतिकूल उठूँ, दिन लाओ ।
जल से प्रथम मुझे आतप की किरणों में नहलाओ ।
कई गुना होकर अर्पित यह मिट्टी में मिल जाना ।
हरियाला मस्ताना दाना कहे कि मुझको जाना ।।"[३]

मैथिलीशरण गुप्त ने 'कर्मवीर' को इस बोध-वाक्य द्वारा अपना उद्देश्य दिखाया था :

"कर्म है अपना जीवन प्राण, कर्म पर हो जाओ बलिदान ।"

सियारामशरण गुप्त ने 'प्रताप' में लिखा था :

"उद्देश्यों को पूर्ण करेंगे, यही रहेगा ध्यान ।
करना पड़े भले ही हमको प्राणों का बलिदान ।।"

'राष्ट्रीय पथिक' ने 'समरभेरी' में ललकारा था कि :

"स्वशासन कौन देता है, खुशी से पैर पड़ने से,
अगर हो हिम्मते मरदाँ, तो खुद कब्जा जमा लीजे ।"

मयंक ने प्रतिज्ञा की मुद्रा में तत्कालीन जनभावनाओं को उभारने वाली बात कही :

---

१. माखनलाल चतुर्वेदी, साप्ताहिक प्रताप, १० अप्रैल १९२२ ई०, पृ० ८
२. श्री भवानीदयाल, नैटाल का कारखाना, ३ नवम्बर १९१९ ई०, पृ० ८
३. सम्पादक श्रीकान्त जोशी, मरण ज्वार, पृ० १६

"चलो हम आहुति दे दें प्राण !
न होगा कर्म-यज्ञ बिन त्राण।
करेंगे तन-मन-धन बलिदान।
सुदृढ़ तैंतीस कोटि सन्तान ॥"

१९१४ ई० और १९२० ई० के बीच खिलाफत और असहयोग आन्दोलनों की एकता के द्वारा समन्वित राष्ट्रीयता दिखायी दी। 'एक भारतीय आत्मा' ने मुँहबन्दी, कलमबन्दी, भारत-रक्षा के काले कानून और जलियाँवाले बाग-काण्ड की खुलकर निन्दा की। उनकी शैली में विरोध की मुद्रा और व्यंग्य की कसावट पहचानी जा सकती है, जैसे :

"मैं 'मुँहबन्दी' का हार हिये
'मत लिखो' कठिन कंकण धारे।
भारत-रक्षा के शूलों की
पाँवों में बेड़ी झनकारे ॥
हथियार न लोहे की हथकड़ियाँ,
रौलट का हिय में घाव लिखे।
डायर से अपने लाल कटा,
कहती थी आँचल लाल किये ॥"

सनेही ने 'देश की भावनाओं का कर्तव्य' में कहा था :

"आत्मा अमर है, देह नश्वर है समझ जिसने लिया।
अन्याय की तलवार से वह क्यों भला डर जायगा ?"

मैथिलीशरण गुप्त ने नवयुग का स्वागत करते हुए लिखा :

"कारागार कृष्ण मन्दिर होगा।
शूली ? वह ईसा की शोभा, प्रस्तुत हूँ मैं सभी प्रकार।"

रामनरेश त्रिपाठी भी समानधर्मी थे। उन्होंने मृत्यु को वरणीय समझा था। "मैं अमर हूँ मौत से डरता नहीं," चाहे आज केवल नारा प्रतीत हो, पर आलोच्य युग के कवि की ईमानदारी अवश्य प्रकट करता है। जगन्नाथ जोशी ने कहा—"हम कठिन कारागार को भी स्वर्ग सम अपनायेंगे।"[१]

---

१. जगन्नाथ जोशी, राष्ट्रीय वीणा, इष्टपथ, सन् १९१६-१९१७ ई०, पृ० २३

मैथिलीशरण गुप्त की उक्ति अधिक स्पष्ट थी—"खुली है कूटनीति की पोल, महात्मा गाँधी की जय बोल।" सियारामशरण गुप्त ने कहा था :

"उद्देश्यों को पूर्ण करेंगे, यही रहेगा ध्यान।
करना पड़े भले ही हमको प्राणों का बलिदान।"[१]

गंगाप्रसाद विशारद ने चर्खे को सुदर्शन चक्र बताया था। माखनलाल ने सत्याग्रही के मूल तत्व गिनाते हुए लिखा—"मेरे रक्त, स्वेद, आँसू से उन्हें विश्व को हो आनन्द।" 'कैदी और कोकिला' रचना में उनके सामयिक जीवन की राष्ट्रीय संवेदना का असाधारण क्षण तालबद्ध लय के साथ अंकित हो गया है। एक बलिपन्थी जेल की दीवारों के भीतर अपनी तड़प को कोकिल की मीठी आवाज सुनकर मार्मिक अभिव्यक्ति देता है, यही ध्यातव्य है :

"क्या? देख न सकती जंजीरों का गहना?
हथकड़ियाँ कौन? यह ब्रिटिश राज का गहना।
कोल्हू का चर्रक चूँ, जीवन की तान।
गिट्टी पर लिखे अंगुलियों ने क्या गान?
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूँआ
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूँआ।"

द्विवेदीयुगीन काव्य की यह बलिपन्थी राष्ट्रीय धारा स्वतन्त्रता के लिए बेचैन जन-मानस की एक अनिवार्य और स्वनिर्मित स्थिति थी। देश का कोई कवि राष्ट्रीय धारा के काव्य-वृत्त के बाहर नहीं छूटा। द्विवेदीजी, मैथिलीशरण गुप्त, सनेही, पूर्ण, बालमुकुन्द गुप्त, सियारामशरण, रूपनारायण पाण्डेय, माखनलाल चतुर्वेदी और अन्य समकालीन कवि राष्ट्रीय ओज को मुखरित कर रहे थे। पूरा देश जेल, हथकड़ी, फाँसी, दमन और गोलियों का सामना करने के लिए कटिबद्ध था। अपना खून देना, देश के लिए बलिदान होना, शहीद होना, फाँसी पर झूल जाना, अन्यायी शासन का विरोध करना उस समय की राष्ट्रीय आवश्यकता थी।

(५) **जागरण और अभियान गीत** : आलोच्य युग की देशभक्ति, राष्ट्रीयता, संस्कृति, धर्म, आचरण, शील और त्याग नैतिक चेतना के साथ समन्वित हो गये थे। जागरण और अभियान के गीतों ने जन्मभूमि, मातृभूमि, पितृभूमि या देश

---

१. सियारामशरण गुप्त, वांछा, साप्ताहिक प्रताप, विजयादशमी, सं० १९७३, पृ० १४

के क्रूर और अन्यायी शासक के विरुद्ध जनमानस को तैयार किया। जनता को जगानेवाले गीतों में शक्ति थी। अभियान में गरमी और लक्ष्यभेद की एकान्त स्थिरता है। बालमुकुन्द गुप्त को जो कुछ कहना होता था, उसे वे निर्भीकता से कहते थे। उनका कार्यकाल १८६५ ई० से १९०७ ई० के मध्य है। उनका कविकर्म भारतेन्दु के पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ था। लॉर्ड कर्जन के काल में जब सारा देश मुक्ति की छटपटाहट अनुभव कर रहा था, तब पंजाब की हालत पर व्यंग्य करके उन्होंने जागरण का यह सन्देश दिया था :

"सब के सब पंजाबी अब हैं लायल्टी में चकनाचूर,
सारा ही पंजाब देश बन जाने को है लायलपूर!

× × ×

लायल्टी लाहौर में अब भूसे से भी कुछ सस्ती है।
केवल दो डिसलायल थे वाँ एक लाजपत एक अजीत॥"

आज भी इस प्रकार के व्यंग्यों से आदमी तिलमिला उठता है। अपने विचारों की स्वाधीनता के लिए स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण भट्ट, अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी, कृष्णकान्त मालवीय, माखनलाल चतुर्वेदी, श्री रामजी शर्मा और श्री कृष्णदत्त पालीवाल, आदि ने बड़े कष्ट झेले।

पं० नाथूराम शंकर शर्मा ने 'भारत भक्ति' में कहा कि "अरी परतन्त्रता ठगिनि न तेरे पग पखारेंगे।" 'बलिदान गान' में वे कहते हैं :

"लो स्वराज्य स्वातंत्र्य को दो जीवन बलिदान।

× × ×

देशभक्त वीरो, मरने से नेक नहीं डरना होगा।
प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा।

× × ×

पोल खोल खोटे कुराज्य को दुःशासन कहना होगा।
पशुबल ठेलेगा जेलों में वर्षों तक रहना होगा।
मार खाय निर्दय दुष्टों की घोर कष्ट सहना होगा।

× × ×

समता की प्यारी पद्धति पै निर्विराम चलना होगा।

कुटिला कूटनीति के आगे हेकड़ हो अड़ना होगा।
शंकर यों 'भारतमाता' का ह्रास-त्रास हरना होगा॥"[१]

'शंकर-सर्वस्व' (पृ० २५६) की 'महादेव को न भूलो' रचना में पं० नाथूराम शंकर शर्मा का कथन है—"न छूना छड़ी देश विद्रोह की प्रजा की प्रशंसा घटाना नहीं।" और आगे (पृ० ४८६) वे लिखते हैं :

"जन्म होता है भलों का देश के उद्धार को,
प्रेम की पूजा भलाई भूल जाने की नहीं।"

रूपनारायण पाण्डेय ने जागरणधर्मी कविताओं में खुलकर कहा है कि :

"उठो, उठो, क्यों शिथिल पड़े हो ? देखो सुदिन सबेरा है।"[२]
"न होगी हैट नैकटाई, न कालर और पतलूनें,
हम इंग्लिश कोट को फिर से अँगरखा करके छोड़ेंगे।"[३]
"आओ करें देश-उद्धार..................
हम स्वदेश के, देश हमारा, उस पर हमने जीवन वारा,
ईश्वर का है हमें सहारा, रूठा रहे संसार॥ आओ०॥
माता के दुख दूर करेंगे, चिन्ता चित की चूर करेंगे
मरना भी मंजूर करेंगे, जो हो देश सुधार॥ आओ॥"[४]
"मर कर अमर बनेंगे करके स्वदेश-सेवा"[५]
बढ़ा वर वीर धन्य हो लो, देश की जी से जय बोलो।
स्वदेशी का आवाहन हो, विदेशी वस्त्र विसर्जन हो,
तभी तुम जो चाहो सो लो, देश की जी से जय बोलो॥"[६]

उन दिनों जेल जाने में लोग हिचकते थे। रूपनारायण पाण्डेय ने उन जेलों को "वह हमें तो तीर्थ काशी से बड़ा" कहा और जेल जाने को तीर्थयात्रा की संज्ञा दी। उनका कथन है—

---

१. सं० हरी शंकर शर्मा, 'शंकर-सर्वस्व', बलिदान गान, पृ० २४८
२. रूपनारायण पाण्डेय, पराग, देश सम्बन्धी प्रोत्साहन, पृ० २०
३. वही, पराग, हमारा प्रण, पृ० ३६
४. रूपनारायण पाण्डेय, पराग, राष्ट्रीय गीत, पृ० ४५-४६
५. वही, पृ० ४६
६. वही, वीरवाणी, पृ० ५६

"देश सेवा में हमारा ध्यान हो।
× × ×
एक वन्देमातरम् का गान हो।
× × ×
जेल जीवन आज जीवन मुक्ति है।"[१]

"स्वदेशी कुण्डल' में पूर्णजी ने भारत-सन्तान को जागरण-भेरी सुनायी थी :

"देशी प्यारे भाइयो ! हे भारत-सन्तान,
अपनी मातृभूमि का है कुछ तुमको ध्यान ?
है कुछ तुमको ध्यान ? दशा है उसकी कैसी ?
शोभा देती नहीं किसी को निद्रा ऐसी।"[२]
"जागो जागो बन्धुगण आलस सकल विहाय।
देश हेतु अर्पण करो मन वाणी अरु काय॥"[३]

इलाचन्द्र जोशी का भी जागरण-गीत है :

"अब उठो हिन्द के नरनारी।
अब वीर बनो, अति धीर बनो, रणधीर बनो,
फिर दूर करो सब अँधियारी॥"[४]

श्री जगमोहन 'विकसित' ने 'प्रताप' में (१५ मई १९१६ को पृष्ठ ५ पर) यह सम्बोधन किया—"उत्तेजित होकर उठ बैठो, तजो स्वप्न दासत्व"। श्रीकान्त त्रिपाठी ने 'प्रताप' (११ अक्टूबर १९२०) में 'प्यारा हिन्दुस्तान हमारा' गीत और जागरण का सन्देश दिया :

"इससे स्वदेश भक्तो, अब द्वेष द्रोह छोड़ो।
तब एकता प्रिया है, नाता उसी से जोड़ो॥"[५]

---

१. रूपनारायण पाण्डेय, पराग, कारागार, पृ० ६१
२. सं० लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, पूर्ण संग्रह, स्वदेशी कुण्डलियाँ, पृ० २०५
३. वही, पृ० २१९
४. इलाचन्द्र जोशी, साप्ताहिक प्रताप, विजयादशमी, सं० १९७३, पृ० २४
५. श्रीकान्त त्रिपाठी, साप्ताहिक प्रताप, ११ अक्टूबर १९२०

तथा श्रीधर पाठक ने कहा :

"प्यारा हिन्दुस्तान हमारा
तुझको दिल से प्यार करें हम, तुझ पर जान निसार करें हम,
तेरा दम हर बार भरें हम, तू दिलवर, तू यार हमारा।"[१]

'राष्ट्रीय वीणा' का यह गीत तो देश भर में प्रसिद्ध था :

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं, नर पशु निरा है, और मृतक समान है॥"

मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' कृति तो राष्ट्रीय जागरण की मूल आधार बन गयी थी। उसकी मानवीय कोमलता और प्रचण्ड राष्ट्रीय गरमाई का व्यापक प्रचार देखकर तत्कालीन जन-रुचि का अनुमान किया जा सकता है। "हम चाहते तो एक होकर क्या न कर सकते भला" (पृष्ठ ८४) का मन्त्र देने वाली यह कृति देश भर में राष्ट्रीय जागरण की सहायक सिद्ध हुई।

"सुख और दुख में एक सा सब भाइयों का भाग हो
अन्तःकरण में गूँजता राष्ट्रीयता का राज हो।"[२]
"हे भाइयो, सोये बहुत अब तो उठो जागो, अहो!
देखो जरा अपनी दशा आलस्य को त्यागो, अहो।"[३]
"है ज्ञात क्या तुमको नहीं तुम लोग तीस करोड़ हो।"[४]
"आओ मिलें सब देश बान्धव हार बनकर देश के।"[५]
"क्या हम जड़ों से भी जगत, हैं गये बीते नहीं?
हे भाइयो! इस भाँति तो तुम थे कभी जीते नहीं।"[६]
"हे आर्य सन्तानो, उठो, अवसर निकल जावे नहीं।"[७]

---

१. श्रीधर पाठक, साप्ताहिक प्रताप, २ जुलाई १९१७, पृ० ७
२. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, पृ० १८६
३. वही, पृ० १६१
४. वही, पृ० १६२
५. वही, पृ० १६३
६. वही, पृ० १६५
७. वही, पृ० १६९

गुप्तजी की 'भारत भारती', 'स्वदेश-संगीत' और 'पद्य प्रबन्ध' राष्ट्रीय गीतों से परिपूर्ण हैं। 'भारत भारती' की विनय में कहा गया है :

"इस देश को हे दीनबन्धो ! आप फिर अपनाइये।
भगवान भारतवर्ष को फिर पुण्यभूमि बनाइये।"

आलोच्य युग के प्रत्येक कवि ने जागरण-गीत लिखे। वह समय की अपेक्षा थी। कवियों का संसार देश की तत्कालीन दशा पर अधिक निर्भर था। वीरता, राष्ट्रीयता या देशप्रेम की प्रवृत्ति को कविगण जागरण और अभियान-गीतों में उजागर कर रहे थे। स्वदेशी के स्वीकार और विदेशी के बहिष्कार के लिए जन-जागरण की आवश्यकता थी। द्विवेदीजी इस विषय को बड़ा महत्व देते थे—

"अरे भाई ! अरे प्यारो ! सुनो बात,
स्वदेशी वस्त्र से शोभित करो गात।
वृथा क्यों फूँकते हो देश का दाम,
करो मत और अपना नाम बदनाम॥"[1]

हरिऔधजी ने उन्हीं को कर्मवीर माना, जो :

"जो कि हँस हँस के चबा लेते हैं लोहे के चना,
'है कठिन कुछ भी नहीं' जिनके है जी में यह ठना।"[2]

'प्रियप्रवास' में वे कहते हैं :

"बढ़ो, करो वीर, स्वजाति का भला।
अपार दोनों विध लाभ है हमें।"

उन्होंने 'भारत-गीत' में लिखा :

"वन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बान्धवता में बँधे, परस्पर परता के अज्ञानी हों।
निन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अज्ञानी हों।
सब प्रकार परतन्त्र परायी प्रभुता के अभिमानी हों॥"[3]

---

१. द्विवेदी काव्य-माला, संग्रहकार देवीप्रसाद शुक्ल, पृ० ३७०

२. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, पद्य प्रमोद, कर्मवीर, पृ० ४७

३. श्रीधर पाठक, भारतगीत, स्मरणीय भाव, द्वि० सं० १९८५ वि० गंगा-पुस्तक माला, लखनऊ, पृ० २५

'भारतोत्थान' में वे कहते हैं :

'भारत चेतहु नींद निवारौ ।
बीती निशा उदित भये दिनमनि कब कौ भयौ सकारौ ।
× × ×
गहरी नींद परे मत सोवहु, बात हमारी मानहु ।
'सोय खोय जागत पावत' जग कहन सत्य अनमानहु ।[१]

पाठकजी ने 'चरगीत' लिखा :

"मन में अटल देश व्रत भर ले
तन में अतुल तेज बल भर ले
शुभ संकल्प प्रेम-पण कर ले
तज दे छल छन्दे ।
द्वेष के तज दे छल छन्दे
देश की सेवा कर बन्दे ॥"[२]

मन्नन द्विवेदी गजपुरी की यह रचना देखिए :

"बता दे गंगा, कहाँ गया है
प्रताप पौरुष विभव हमारा ।"

और

"अटल नियम को भूल न जाना
जग में सबका नाश चमेली ।"[३]

बदरीनाथ भट्ट ने अप्रैल १९१५ ई० की 'सरस्वती' में 'प्रार्थना' कविता में भारतमाता की कल्याण-कामना की है । गिरधर शर्मा ने प्रान्तीयता को हेय बताकर राष्ट्रीयता को श्रेष्ठ कहा है :

"पंजाबी गुजरात निवासी
बंगाली हो या ब्रजवासी ॥

---

१. श्रीधर पाठक, भारतगीत, भारतोत्थान, पृ० ५१
२. वही, चरगीत, पृ० १२६
३. मन्नन द्विवेदी, चमेली, सरस्वती, जनवरी, १९१६

राजस्थानी या मद्रासी।
सब के सब हैं भारतवासी।।"[1]

विश्वनाथ सिंह ने 'ऐक्य' का संकेत इन शब्दों में किया :

"कृषको, उठो, छात्रगण, जागो, मजदूरो, रोना छोड़ो।
अपना सच्चा रूप देखलो, गली गली रोना छोड़ो।।"[2]

इस प्रकार की रचनाओं से कवियों ने देश की सुप्त आत्मा को जगाया। गाँधी के इस्पाती मन और शान्त तथा गम्भीर सन्देश ने देश को आजादी के सबसे बड़े मोड़ पर १६२१ ई० में लाकर खड़ा कर दिया। राजनीति और साहित्य का इस युग में जितना साथ रहा, वह आश्चर्यजनक ही कहा जायेगा।

(६) **प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण की प्रवृत्ति** : प्रकृति अपनी सजीवता और ताजगी से, अपने सौन्दर्य और रंगीन साक्षात् से तथा अपनी मानव-सम्बन्धों से जुड़ी हुई तात्कालिकता से कवि को इतना कच्चा माल देती है कि उससे न जाने कितनी सशक्त, प्राणवान, और चेतनामयी रचनाएँ तैयार हो जाती हैं। आलम्बन और उद्दीपन के रूप में कविता में प्रकृति का चित्रण होता है। आलम्बन रूप में आने वाली प्रकृति को कवि स्वतन्त्र रूप में चित्रित करता है।

आलम्बन के रूप में प्रकृति कवि के लिए साधन न होकर साध्य होती है। कवि प्रकृति के दर्शन से इतना आत्मविभोर हो जाता है कि पग-पग पर प्रकृति प्राणवान्, चेतन, मानवीकरण से अलंकृत और प्रेरक प्रतीत होती है। आलम्बन के रूप में जब प्रकृति का चित्रण होता है, तब प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन जैसा आनन्द मिलता है। बाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, प्रसाद, पन्त और हरिऔध के चित्रणों में यह संश्लिष्ट वर्णनशैली प्रत्यक्ष दिखायी देती है। कालिदास के मेघदूत का प्रकृति चित्रण, कुमारसम्भव का हिमालय वर्णन, ऋतुसंहार में छह ऋतुओं के भव्य वर्णन, भवभूति के उत्तर रामचरित में दंडक-वर्णन और तुलसी की गीतावली में "सब दिन चित्रकूट नीको लागत"[3] आदि प्रकृति-वर्णनों में कवि प्रकृति से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करता है। जड़

१. गिरधर शर्मा, राष्ट्रीय गान, दिसम्बर १६२०

२. विश्वनाथसिंह, सरस्वती, खंड १८, संख्या ५, मई १६१७

३. तुलसीदास, गीतावली, अयोध्याकांड, ५०

प्रकृति कवि के लिए चेतन हो जाती है। प्रकृति का सहज सौन्दर्य कवि को सर्वोत्तम आकर्षण प्रदान करता है। प्रकृति में भी मानव-हृदय जैसा स्पन्दन प्रतीत होता है। प्रकृति के विराट स्वरूप को ग्रहण करने से कवि का विषय-क्षेत्र विस्तृत और रंजनकारी हो जाता है। आलम्बन रूप में प्रकृति का यथा-तथ्य वर्णन भी किया जाता है।

उद्दीपन रूप में प्रकृति का क्षेत्र प्रायः संकुचित होता है। उन्मुक्त चित्रण के स्थान पर परम्परागत रूढ़ वर्णन प्रधान हो जाते हैं। जब कवि का प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह राज-दरबारों की संकुचित सीमा प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण का आनन्दोपभोग नहीं कर पाता, तब परम्परागत रूप से व्यक्त प्रकृति का सीमित क्षेत्र में चित्रण करने की परिपाटी चल पड़ती है। और प्रकृति का उद्दीपक रूप नायक और नायिका के भावों को उद्दीप्त करने का साधन बन जाता है। रीतिकाल का प्रकृति-वर्णन मुख्यतः उद्दीपन रूप में पाया जाता है। रीतिकाल के वियोग-वर्णन में बारह-मासा और संयोग-वर्णन में षट्ऋतु-वर्णन उद्दीपन ही हैं। शृंगार रस की कविता में उद्दीपन अधिक महत्व पा जाते हैं। जायसी के नागमती वियोग-वर्णन तथा भ्रमरगीत की गोपियों की विरहावस्था में प्रकृति का प्रतिकूल चित्रण उद्दीपन के क्षेत्र में ही हैं। उद्दीपन में प्रकृति का स्वतन्त्र महत्व नहीं है, क्योंकि वह भावों को उद्दीप्त करने का साधन मात्र है। आलम्बन में वही साध्य होती है।

इन दोनों प्रकार के—आलम्बन और उद्दीपन—चित्रणों में, निश्चय ही आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण बड़े सूक्ष्म निरीक्षण और व्यापक प्राकृतिक दृश्यों के अवलोकन की अपेक्षा रखता है। मानवीय जीवन से आलम्बन रूप प्रकृति का सम्बन्ध निर्मल, अकृत्रिम, सीधा, स्वस्थ और प्रथम आवेश से संयुक्त होता है।

भारतेन्दु काल में प्रकृति का आलम्बन रूप में स्वतन्त्र चित्रण नहीं हुआ। उस युग में परम्परागत प्रकृति-वर्णन तथा अलंकारों का प्रदर्शन ही अधिक हुआ है। द्विवेदी युग और विशेषकर उसके उत्तरार्द्ध में प्रकृति का व्यापक रूप में स्वतन्त्र चित्रण हुआ है। भारतेन्दु के 'यमुना-वर्णन' में प्रकृति का अलंकृत चित्रण देखा जा सकता है :

"कबहुँ होत सतचन्द, कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिम्ब रूप जल में बहु साजत॥

मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै।
कै बालगुड़ी नभ में उड़ी, सोहत इतै उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोउ, ब्रजरमनी जल आवती ॥"

ठाकुर जगमोहनसिंह का प्रकृति-चित्रण अधिक आकर्षक है :

"अरपा सलिल अति विमल विलोल तोर सरपा सी चाल बन जामुनह्वैं लहरै।
तरल तरंग उर बाढ़त उमंग भारी कारे से करोरन करोर कोटि कहरै।"[1]

दण्डकारण्य के चित्रण में भी यही विशेषता है :

"विन्ध्याटवी ललाम तीर तरुवर सों छाई।
केतिक कैरव कुमुद कमल के बदन सुहाई ॥"[2]

इसी प्रकार प्रतापसिंहजू देव ने 'नागरी नीरद' में नैनीताल की ग्रीष्म-कालीन प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण किया है। बालमुकुन्द गुप्त द्विवेदी युग के कवि हैं। उनका 'वसन्तोत्सव' इसी स्वतन्त्र प्रकृति के चित्रण का अच्छा उदाहरण है :

"कोसों तक पृथ्वी पर रहती सरसों छायी।
देती दृग की पहुँच तलक पीतिमा दिखायी।
सुन्दर-सुन्दर फूल वह उसके चित्र लुभाने।
बीच-बीच में खेत गेहूँ जौ के मनमाने।
वह बबूल की छाया मन को हरने वाली।
वह पीले फूलों की छटा निराली।
आसपास पालों के वटवृक्षों का भूमर,
जिसके नीचे वह गायें भैंसों का पोखर ॥"[3]

श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा', जिसका प्रथम संस्करण सं० १९६१ में छपा था, स्वतंत्र प्रकृति-चित्रण का महत्वपूर्ण उदाहरण है :

"प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेष छनिक छवि छिन छिन धारति ॥

---

१. ठा० जगमोहनसिंह, श्यामा सरोजिनी, भारत जीवन प्रेस, सन् १८८७
२. वही, श्यामा स्वप्न, एजुके० सोसा० प्रेस, १८८८
३. बालमुकुन्द गुप्त, स्फुट कविता, वसन्तोत्सव, पृ० ७३

बिहरति विविध विलासभरी जीवन के मद सनि।
ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बन ठनि।।"[१]

भारतेन्दु युग में परम्परागत प्रकृति-वर्णन ही अधिक होता था। परन्तु यह श्रेय श्रीधर पाठक जी को ही है कि उन्होंने इस प्रकार प्रकृति का मुक्त और यथातथ्य चित्रण करते हुए भी रसान्विति की रक्षा की। देहरादून के पास के जंगल का चित्रण करते हुए वे कहते हैं :

"अगम घोर घन बनवा जङ्गल जार।
गहवर गर्त कठिनवा कुवट कुढार।
भिरन जहाँ तरवरना निरवा बाँस,
भरत बतास अधिकवा दीरघ साँस।।"[२]

मंसूरी का चित्रण भी देखिए :

"शिखर-श्रेनि बन विचवा सो सित मात,
चित सुदूर उचनिचवा निपट सुहात।।
तहँ जब धुँअर बदरवा पट लपटात,
सुन्दर झीन चदरवा सम दरसात।।
छिन दरसात दरसवा छिन दुरि जात,
छिन छिन जुरत बदरवा छिन छितरात।।
पुनि जब स्याम सघनवाँ घन घुमड़ात,
गिरिबन सिखर भवनवाँ सबहिं दुरात।।[३]

यद्यपि पाठक जी ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है, परन्तु उनके प्रकृति-चित्रण में स्वतन्त्र ऐश्वर्य था। प्रकृति के आलम्बन रूप के वर्णन में संवेदना उसी में घुली-मिली थी। द्विवेदीजी अश्लील, विलासितापूर्ण, कामुक, वासनामय और जन-समाज को पतनोन्मुख करने वाले शृंगार के तीव्र विरोधी थे। उन्होंने शृंगार की अमर्यादा से बचते हुए समाज से सम्बन्धित छोटे-बड़े किसी भी ऐसे विषय पर काव्य लिखने की प्रेरणा दी, जिससे देश में समकालीन यथार्थवादी समस्याओं और कष्टों का निराक रण हो। उन्होंने प्रकृति के विलासमय

१. श्रीधर पाठक, काश्मीर सुषमा, पृ० ५
२. वही, देहरादून, पृ० २२
३. वही, पृ० २४

उद्दीपन रूप की अपेक्षा उन्मुक्त वैभव के प्रकृति-चित्रों को प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी थी :

"नव वसन्त बहार भई जबै, सब कली वन की विकसी तबै।
सुखद शीतल मन्द सुहावनी, विमल वायु बही मनभावनी।
चिर मौरन के रस तें पगी, पिक कुहू कुहू बोलन है लगी।
भँवर फूलन फूलन जावहीं, निज मनोहर शब्द सुनावहीं॥"[१]

द्विवेदीजी का वर्णन अभिधात्मक और यथातथ्य होता था। उनकी शैली वर्णनात्मक थी। उन्होंने शृंगार-वर्णन पर अंकुश लगा दिया और शृंगार की भारतेन्दुकालीन काव्य-धारा को संयत, संतुलित और स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण की ओर मोड़ा। पं० अयोध्याप्रसाद सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की प्रकृति जन-कल्याणी है। आलम्बन, उद्दीपन और अलंकृत रूप में भी प्रकृति का उपयोग करते हुए उन्होंने उपदेश, सहानुभूति, संवेदना, अनुराग, साहचर्य आदि भावों को प्रकृति की पृष्ठभूमि दी। कोमल, मधुर, विराट् या भयंकर सभी प्रकार के चित्रण कवि ने किये हैं। सीता के आश्रम का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा :

"प्रकृति का नीलाम्बर उतरा, श्वेत साड़ी उसने पायी।
हटा घन घूँघट शरदाभा, बिहँसती महि में थी आई॥
पादपों के श्यामल दल ने, प्रभा पारद सी पाई थी।
दिव्य हो हो नवलतिका, विभा सुरपुर से लाई थी॥"[२]

'प्रियप्रवास' (नवें सर्ग के छन्द १७, १८, ३३ और ६१ में) यह प्राकृतिक चित्रण बहुत सशक्त रूप में व्यक्त हुआ है। प्रकृति पर मानवीय व्यापारों का आरोप करते हुए कवि ने लिखा है :

"प्रकृति-वधू ने असित वसन बदला, सित पहना।
तन से दिया उतार तारकावलि का गहना।
उसका नव अनुराग नील नभ तल पर छाया।
हुई रागमय दिशा, निशा ने बदन छिपाया॥"[३]

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्य-माला, (सरस्वती १९०१) पृ० ३५८

२. हरिऔध, वैदेही वनवास, दशम सर्ग

३. वही, प्रियप्रवास, पारिजात, पृ० ५४

और 'प्रियप्रवास' के तृतीय सर्ग का यह पद्य देखिए :

"विकलता उनकी अवलोक के—
रजनी भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिष ओस के
नयन से गिरता बहु वारि था।"[१]

इसी प्रकार :

"फूलों पत्तों सकल पर हैं वारि बूँदें दिखातीं,
रोते हैं या विटप सब यों आँसुओं को दिखाके।"[२]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण अपने महाकाव्य 'बुद्ध चरित' में प्रस्तुत किये हैं :

"डोलत हैं बहु भृंग पतंग सरीसृप मंगल मोद मनाय।
भाग़त झाड़नि सों कढ़ि तीतर पास कहूँ कछु आहट पाय।"[३]

इसी प्रकार :

"अरुण नील औ पीत होत वन खण्ड मनोरम।
काहू पै चढ़ि जात सुनहरी गोट चमाचम॥
सब जग जीवन मूल प्रतापी परम प्रभाकर।
दिनपति प्रगटत धारि ज्योति परिधान मनोहर॥"[४]

शुक्लजी का प्रकृतिगत सूक्ष्म निरीक्षण कितना निर्विकार, भावात्मक और मौलिक होता है, यह बात निम्न उदाहरणों में देखी जा सकती है :

"सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई,
लाल काइयों की भूमि पार करते।
गहरे पड़े गोपद के चिह्नों से अंकित जो,
श्वेत बक जहाँ हरी दूब में विचरते॥"

---

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, पद ८७, पृ० ३५
२. वही, सर्ग ५/५
३. पं० रामचन्द्र शुक्ल, बुद्ध चरित, पृ० १८
४. वही, पृ० १०३

धरती पर सरसों की खेती का यह चित्र देखिए :

"भूरी हरी घास आसपास फूली सरसों है
पीली पीली बिंदियों का चारों ओर प्रसार है।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार है।।"[१]

उत्तप्त ग्रीष्म का वर्णन इस प्रकार है :

"प्रखर प्रणयपूर्ण दृष्टि से प्रभाकर की
ललक लपट भरी भूमि भभराई है।
पीवर पवन लोट लोट धूल धूसरित
झपट रहा है बड़ी धूम की बधाई है ।।
सूखे तृणपत्र लिये कहीं रेणु-चक्र उठा
घूर्णित प्रमत्त देता नाचता दिखायी है
झाड़ और झपेट झेल झूमते खड़े हैं पेड़
मर्मर मिलित हू हू दे रहा सुनायी है।।"[२]

ग्राम-सुषमा का प्राकृतिक वर्णन भी शुक्लजी ने किया है —

"गया उसी देवल के पास से है ग्राम-पथ
श्वेतधारियों में कई घास को विभक्त कर।
धूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे
गोरज से धूम ले जो खड़े हैं किनारे पर।।"[३]

शुक्लजी के प्रकृति-चित्रण में, जो तटस्थ और यथातथ्य वर्णन हैं, रचनाकार की भावुक सजगता है, और पुरानी पीढ़ी की परम्परावादी संकीर्णता को त्यागने का आग्रह भी।

मैथिलीशरण गुप्त जी राष्ट्रीय कवि हैं। उनकी प्रकृति देशप्रेम का पोषण करने वाली है। संस्कृति, समाज, धर्म, शील और सदाचार के उन्नयन में वह सहायक है। गुप्तजी ने कहीं-कहीं अलंकार-योजना के लिए

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'काव्यांग कौमुदी' (प्रथम संस्करण), पृ० ४०५
२. वही, झलक, पृ० ३
३. वही, पृ० ३

भी उसका उपयोग किया है। 'पंचवटी' का प्रकृति-प्रेम सरल, स्वाभाविक और मन को छूने वाला है :

"चारुचन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल थल में
शुभ्र चाँदनी बिछी हुई थी अवनि और अम्बरतल में ॥"[१]

तथा पंचवटी में ही (पृ० ३७ पर) :

इसी समय पौ फटी पूर्व में पलटा प्रकृति पटी का रंग।
किरण कंटकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग ॥"

इसी में कवि ने यह लिखा है :

"है बिखेर देती वसुन्धरा मोती सबके सोने पर।
रवि बटोर लेता है उनको सदा सवेरा होने पर।
और विरामदायिनी अपनी संध्या को दे जाता है।
शून्य श्याम तनु, जिससे उसका नया रूप झलकाता है ॥"[२]

पंचवटी में ही—"हँसने लगे कुसुम कानन के" या "कौन कौन से फूल खिले हैं, उन्हें गिनाने लगा समीर" तथा साकेत में :

"वहीं सहज तरु तले कुसुम-शय्या बनी
ऊँघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी।
घुस धीरे से किरण लोल दल-पुंज में
जगा रही है उसे हिलाकर कुंज में ॥

ये उदाहरण गुप्तजी की प्रकृति-चित्रण-क्षमता के साक्षी हैं। उनकी 'हेमन्त', निदाघ वर्णन', 'वर्षा वर्णन', 'होली में हर्ष' आदि कविताओं में शुद्ध प्रकृति-वर्णन है, जिन पर कालिदास के ऋतुसंहार की छाया भी है। स्वतन्त्र रूप से प्रकृति का चित्रण गुप्तजी के काव्य में कम मिलता है। उन्होंने नीति-वादी, उपदेशात्मक या इतिवृत्तात्मक प्रकृति-वर्णन ही अधिक किया है।

आलम्बन के रूप में प्रकृति स्वयं वर्ण्य-विषय बन जाती है। इस दशा में प्रकृति की आकृति तो उभर आती है, पर उसकी आत्मा के दर्शन सर्वत्र नहीं

१. मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी, पृ० १
२. वही, पृ० ७

होते। भावनाओं के ऐसे चित्रों में स्वाभाविकता तो रहती है, परन्तु अपनापन नहीं होता। प्रकृति के अंग-प्रत्यंग दिखायी देने पर भी उसकी आत्मा नहीं पकड़ी जा सकती। इसी वास्तविकता के साथ जब कल्पना अधिक प्रभावोत्पादक हो जाती है, तब प्रकृति में नवजीवन का संचार हो जाता है। द्विवेदीयुगीन कविता में यह स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण की धारा स्वाभाविक और कल्पनायुक्त प्रायः रही।

लोचनप्रसाद पाण्डेय ने 'धुँआधार' का चित्रात्मक वर्णन इस प्रकार किया :

"रव झर्झर सुखकर सुभग धारा दुग्ध समान।
प्रखर प्रताप प्रवाहयुत नीर पतन उत्थान॥
नीर पतन उत्थान शैल सुषमा से शोभित।
उत्थित धूमाकार जहाँ हैं जलकण अगणित॥
करते रविकर इन्द्रधनुषमय जिसका अवयव।
धुँआधार का दृश्य नर्मदा-ताण्डव भैरव॥"[१]

मुकुटधर पाण्डेय की ग्राम-सम्बन्धी रचना में स्वाभाविकता है :

"छोटे छोटे भवन स्वच्छ अति
दृष्टि मनोहर आते हैं।"

या

"खेतों में आते ये देखो
हिरणों के बच्चे चुपचाप॥"[२]

राव देवीप्रसाद पूर्ण का वर्षा-वर्णन :

हरित मन के रंग लागी भूमि मन को हरन।
लसित इन्द्रवधूनि अबली छटा मानिक वरन।
विमल बगुलन पाँति मनहुँ विसाल मुक्तावली।
चन्द्रहास समान चमकति चंचला त्यों भली॥"[३]

---

१. लोचनप्रसाद पाण्डेय, धुँआधार, सरस्वती, १९१८, सं० ५

२. मुकुटधर पाण्डेय, पूजा फूल, प्र० सं०, पृ० २८

३. कविता कुसुम माला (काव्य संग्रह), चतुर्थ सं०, पृ० १३४

और रूपनारायण पाण्डेय का वर्षा-चित्रण भी द्रष्टव्य है :

"घिर आयी घन घटा-घटाकर धारे धाम को
चली और ही हवा, न गर्मी रही नाम को।
पड़ने लगी फुहार, हुआ अभिषेक भूमि का
नव अभिनय की हुई, अहो अभिनीत भूमिका ॥"

द्विवेदीयुगीन काव्य में प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ चित्रण १९१६ ई० के पूर्व पं० रामनरेश त्रिपाठी का लिखा हुआ दिखायी देता है। 'पथिक' में दक्षिण भारत और 'स्वप्न' में काश्मीर का स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण हुआ है। 'पथिक' में :

"कहीं श्याम चट्टान, कहीं दर्पण सा उज्जवल स्तर है।
कहीं हरे तृण खेत, कहीं गिरि स्रोत प्रवाह प्रखर है।
कहीं गगन के खम्भ नारियल, तार भार सिर धारे।
रस-रसिकों के लिए खड़े ज्यों सुप्त नकार इशारे ॥"[१]

⊠ ⊠ ⊠

"नीचे नील समुद्र मनोहर, ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ, यही चाहता मन है ॥"
"इन्द्रधनुष खेला करता है, झरनों से हिलमिल कर दिनभर।"[२]

प्रकृति के माध्यम से मानव-संवेदनाओं का चित्रण करते हुए कवि ने 'स्वप्न' में कहा है :

"पता नहीं किसके वियोग में, वन में नदी तटों पर तरुवर
मेरी तरह रुदन करते हैं, फूल नाम के अश्रु गिराकर ॥"[३]

गुरुभक्तसिंह ने 'नूरजहाँ' में लिखा है :

"विकट है रूखा रेगिस्तान, वनस्पति का है नहीं निशान।
नाचती हैं किरणें भू पर, आग जलती नीचे ऊपर ॥"

निशा के वर्णन में वह कहता है :

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, 'पथिक', पृ० ३३
२. वही, प्रथमसर्ग
३. वही, स्वप्न

"दिशा फूली है निशा के आगमन से।
लगे हैं झाँकने उडुगन गगन में।
मलय ने आ कली को गुदगुदाया।
लिपट कर खूब जूही को हँसाया।"[१]

'प्रताप' साप्ताहिक में ९ अप्रैल १९१७ ई० को पृष्ठ ५ पर श्री चन्द्रबली मिश्र ने उपदेशक की सी प्रवृत्ति से स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण की शैली का प्रयोग किया था :

"देखो सज्जन ! ऊषा सुन्दर मूर्ति मोहनी दिखा रही है।
'परोपकार नित रहना' यह हम सबको सिखा रही है ॥"

द्विवेदीजी के 'वसन्त वर्णन' में इतिवृत्तात्मकता आ गयी है :

"नव वसन्त बहार भई जबै,
सब कली वन की विकसी तबै।
सुखद शीतल मन्द सुहावनी,
विमल वायु मनभावनी।
चिर मोरन के रस में पगी
पिक कुहू-कुहू बोलन है लगी।"[२]

होली की ठिठोली में प्रकृति का रूप और आकर्षक है :

"जब दिवाकर ने निज कर से
ऊषा के घूँघट को टाला।
रात परदे में जा बैठी
भगी छिपकर तारकमाला ॥"[३]

होली कवि को एक व्यथित नारी प्रतीत होती है :

"कहाँ गयी मुखड़े की लाली।
किसने छीनी छटा निराली।

---

१. गुरुभक्तसिंह, नूरजहाँ, पृ० ३९
२. महावीर प्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्य-माला, पृ० ३५८
३. डॉ० किरण कुमारी, कल्पलता, हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण, पृ० ३३६ से उद्धृत

पीला क्यों पड़ गया होलिके !
तेरा गोरा गाल ?"[१]

गिरधर शर्मा की 'शरद' में भी प्रकृति वर्णनात्मक प्रतीत होती है :

"शोभा देते खूब सरोवर, सरसीरुह खिल रहे मनोहर।
गूंज रहे मतवाले मधुकर, श्रवण सुखद रव हंस रहे कर ॥"

सत्यशरण रतूड़ी ने (सरस्वती, १९०४ ई०) 'शान्तिमयी शय्या' रचना में प्रकृति की प्रसन्नता का वर्णन किया है :

"सुरीली वीणा सी सरस नदियाँ वादन करैं।
कभी मीठी मीठी मधुर ध्वनि में गायन करैं।
सदा ही नाचै हैं झरित झरने नाच नवल।
निराली शोभा है विपिन वर की कौतुकमयी ॥"

प्रसादजी ने ( सरस्वती, १९११ ई० ) 'जलद-आवाहन' कविता में लिखा :

"धूलि धूसर है धरा मलिना तुम्हारे ही लिए।
है फटी दूर्वादलों की श्याम साड़ी देखिए।
डालकर पर्दे हरे तरु पुंज के निज बाग से।
देखती है शून्य पथ की ओर अति अनुराग से ॥"

स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत मानवीकरण के सैकड़ों उदाहरण पाये जाते हैं। रामचरित उपाध्याय का 'पवनदूत', हरिऔध के प्रियप्रवास की 'पवनदूती' तथा निराला की 'जुही की कली' (१९१७ ई०) प्रकृति के मानवीकरण को सुन्दर रूप में प्रकट करती हैं। 'जुही की कली' का मानवीकरण इस प्रकार है :

"विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल-कोमल-तनु तरुणी जुही की कली,
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।
× × ×
फिर क्या ? पवन

---

१. डॉ० किरण कुमारी, कल्पलता; हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण, पृ० ३३७ से उद्धृत

उपवन-सर-सरित-गहन गिरि-कानन
कुंज-लता-पुंजों को पारकर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली खिली साथ !

× × ×

निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की—
झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गाल
चौंक पड़ी युवती ।"

इस कविता में जुही की कली और पवन को क्रमशः नायिका तथा नायक बनाकर उनकी उद्दाम केलि या रति-क्रीड़ा का मानवीय व्यापार शास्त्रीय संकेतों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। प्रसाद के 'झरना' की 'किरण' और 'पथिक' रचना में यही मानवीकरण सर्वप्रमुख है। पन्त की प्रकृति-विषयक यह भावना देखिए :

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले ! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

पन्त की काव्य-धारा में प्रकृति का मानवीकरण प्रायः पाया जाता है :

"कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय, तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल-सा निष्ठुर कोई ?"

द्विवेदी युग की यह प्रवृत्ति रही है कि प्रकृति के द्वारा उपदेश भी दिये जायें। श्यामसेवक मिश्र की (सरस्वती, १९१४ ई० में) 'शरद' रचना में :

"स्वच्छ कौमुदी देख कुमुदिनी प्रमुदित विकस रही कैसे
महाशयों की कीर्ति श्रवण कर सज्जन हृत्कलिका जैसी ।"

द्विवेदीयुगीन काव्य में प्रकृति राष्ट्रीय और सामाजिक प्रवृत्तियों के प्रति समर्पित दिखायी देती है। वह मानव की निष्काम सेवा करती है। प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व उतना महत्व नहीं रखता जितना कि उसका मानवाश्रित होना।

'बुद्ध चरित' और 'प्रियप्रवास' से ज्ञात होता है कि द्विवेदी युग का कवि प्रकृति के स्वतन्त्र वर्णन के दृश्यों के वर्ण-योजना और नाद-सौन्दर्य का भी ध्यान रखता था, जैसे :

"ढरत पीत अंगार बिम्ब सम गिरि तट दिनकर ।"[१]
"काई पै चढ़ि जात सुनहरी गोट चमाचम ॥"[२]
"अश्वेत ऊदे अरुणाभ बैंगनी । हरे अबीरी सित पीत सन्दली ॥"[३]

प्रकृति का यह स्वतन्त्र चित्रण वर्णनात्मक अधिक है। उसमें स्वच्छन्द प्रवृत्ति के दर्शन तो द्विवेदी युग के अन्तिम दिनों में ही हुए। श्रीधर पाठक ने स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण की जो परम्परा प्रारम्भ की थी, वह द्विवेदी युग के अन्त में छायावादी काव्य की पीठिका बन गयी।

आदि युग से ही काव्य में प्रकृति-चित्रण आलम्बन, उद्दीपन, अलंकारिक, उपदेशात्मक और पृष्ठभूमि के रूप में होता आया है। रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्ति अलंकरण थी और प्रकृति से ही इस हेतु अधिकांश उपमान गृहीत किये गये थे। भारतेन्दु ने भी प्रकृति का विविध प्रकार से उपयोग किया। शुक्लजी का मत ठीक ही है कि "अपने समय के कवियों में प्रकृति का वर्णन श्रीधर पाठक जी ने सबसे अधिक किया, इससे हिन्दी-प्रेमियों में वे प्रकृति के उपासक कहे जाते थे।"[४]

हरिऔध और गुप्त का प्रकृति-चित्रण परम्परागत रूप से भिन्न है। गुप्त जी का मानवीकरण तो दर्शनीय नवीनता लिये हुए है।

"अरी सुरभि तू लौट जा अपना अंग सहेज।"

आगे चलकर छायावादी काव्य में प्रकृति पर चेतना का आरोप किया जाने लगा।

(७) **इतिवृत्तात्मकता :** द्विवेदीयुगीन काव्य देशप्रेम की छटछपटाहट आन्दोलनों का क्षोभ और सभी प्रकार की सुधार-योजनाओं के लिए उपदेशक प्रवृत्ति का तेज-तर्रार काव्य है। उसकी आधुनिक रूप-रेखा में मानवता-विषयक

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, बुद्ध चरित, पृ० १०२
२. वही, पृ० १०३
३. हरिऔध, प्रियप्रवास
४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५८०

रंग-योजना है। हिन्दी में सन् १९१२ ई० तक सूक्तियों, अन्योक्तियों और सुभाषितों का ही दौर व्यापक रूप से चला। गिरधर शर्मा, पूर्ण, रामचरित उपाध्याय और आचार्य द्विवेदी आदि सभी सूक्तियाँ लिखते थे। परन्तु धीरे-धीरे यह पद्धति बदली। द्विवेदीजी ने काव्य के लिए नये-नये वर्ण्य-विषय सुझाये। काव्य का विषय जन्मभूमि भी था। काव्य के विषय, स्वरूप, भाषा-शैली, छन्द, आदि बदल रहे थे। द्विवेदीजी इस नयी क्रान्ति के वैतालिक थे। वे कविता को अराजकता से बचाने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों में स्वयं कवि बनने के रास्ते से हट गये और समीक्षक, व्यंग्यकार तथा भाषा के परिष्कारक रूप में प्रतिष्ठित हुए। अपने कवि को उन्होंने दबाया और समीक्षक को पनपने दिया। उन्होंने खड़ी बोली के पद्य की काव्यशक्ति को पूर्ण रूप से व्यक्त कर सकने वाला परिस्थितियों का निर्माण किया। उन्होंने स्वयं वर्णनात्मक ढंग या इतिवृत्तात्मक कही जाने वाली अनेक रचनाएँ लिखीं—

> "शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार।
> लिखवाता है उनके कर से नये-नये अखबार॥"[1]

काव्य में वस्तुओं का यथातथ्य वर्णन इतिवृत्त है। उसमें कल्पना या भावोद्‌बोध का अभाव रहता है। केवल वस्तु के स्वरूप का बोध कराने वाले इतिहास, विज्ञान या अर्थशास्त्र को काव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इसीलिए केवल वस्तुओं का यथातथ्य वर्णन काव्य की क्षमताओं को नहीं छू पाता। आनन्द वर्धन ने ध्वन्यालोक (३।१४) में कहा है कि इतिवृत्तमात्र का निर्वाह कर देने से कवि का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। शब्द और अर्थ एवं उनके द्वारा भाव के उपस्थापन की यह विलक्षणता काव्यत्व निर्माण करती है। जनभाषा और काव्य-भाषा में भिन्नता होती है।

छायावादा आलोचकों ने द्विवेदीयुगीन काव्य की इतिवृतात्मकता पर प्रहार किये थे। सन् १९०० ई० से १९२० ई० तक का सम्पूर्ण काल राजनीतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय उथलपुथल तथा राजनीतिक आन्दोलनों और आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा भाषा-सम्बन्धी हलचलों का युग था। ऐसे बवण्डर में कवि एकान्त साधना नहीं कर सकते थे। उनकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी थी और कविता वर्णनात्मक। संस्कृत की कथात्मक काव्यशैली और द्विवेदीजी की कठोर नीतिवादी, आदर्शवादी तथा सुसंस्कृतता का इतना प्रभाव था कि द्विवेदीयुगीन

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्यमाला, विधि विडम्बना, पृ० २९१

काव्य इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता से न केवल बोझिल हो गया, बल्कि अनेक स्थलों पर तुकबन्दी का रूप धारण कर गया। द्विवेदी युग के अन्तिम चरण में ये सारे दोष धीरे-धीरे अपने आप समाप्त हो गये, क्योंकि इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति स्थायी प्रवृत्ति नहीं थी। कवियों ने समाज-सुधार, राष्ट्र-प्रेम और देश की राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता का इतना आग्रह किया था कि यह संकुचित प्रवृत्ति स्थायी नहीं हो सकी। अंग्रेजी, बँगला, मराठी और हिन्दी में आदान-प्रदान बढ़ जाने के कारण काव्य के विषय और उपादान तथा रूप एवं शैली प्रभावित हुईं। द्विवेदीजी ने कवियों को समाज-सुधार, कुरीति-निवारण, स्वदेशी-प्रचार और हिन्दी-प्रेम के प्रचार-प्रसार की दिशा दिखायी। इतिवृत्तात्मक रचनाएँ रुक्ष भी प्रतीत होती हैं :

"बलीवर्द ! मत बुरा मानना बात सत्य हम कहते हैं।
झूठ बोलने वालों से हम सदा दूर ही रहते हैं॥"[१]
"छोड़ो सब कुरीतियाँ कुल की छोड़ो अब तो निठुराई।
बहुत हो चुका कनवजियापन, सुनिए हे प्यारे भाई॥"[२]
"मुँह पर बाल हुए जब काले।
तब टेसूजी गये निकाले॥
गिरे धड़ाम उड़ गये धुर्रे।
बोलो लड़को "हिप हिप हुर्रे॥"[३]

"कोकिल', 'बुलबुल' या 'तरुणा तू चल बसी अभी' आदि रचनाओं को देखकर कन्हैयालाल पोद्दार ने लिखा था :

"पीती स्वयं है, नहिं तू पिलाती,
प्रमत्त हो हो ध्वनि है सुनाती।
तथापि उन्मत्त अहो बनाती,
बता कहाँ मादक द्रव्य पाती?"[४]

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्य-माला, पृ० २७५ (१९ अक्टूबर १९०० ई० के वेंकटेश्वर समाचार में प्रकाशित)
२. वही, कान्यकुब्ज अबला-विलाप, पृ० ४२८
३. वही, टेसू की टाँग, पृ० ४२९
४. डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी काव्य का क्रान्ति युग, पृ० १०१ से उद्धृत

अनन्तराम पाण्डेय ने 'पितृ-वियोग' शीर्षक से शुद्ध वर्णनात्मक काव्य का सृजन किया। मैथिलीशरण गुप्त ने 'ग्रन्थ-गुण-गान' में लिखा :

"हे ग्रन्थ ! सदगुरु सदा तुम हो हमारे।
हैं सर्वदा हम ऋणी जग में तुम्हारे।
दे ज्ञान क्योंकि नित मंगलमूलकारी।
हो नित्य नाश करते विपदा हमारी ॥"

सामाजिक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि और नागरी लिपि तथा हिन्दी खड़ी बोली पद्य की भाषा के आन्दोलन ने शंकर, पूर्ण, सनेही, 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी, आदि सभी कवियों को सक्रिय बना दिया था। ग्रन्थ-गुण-गान, दिल्ली-दरबार, प्रयाग की प्रदर्शिनी, ग्राम्य जीवन, किसान, मेघ, पुस्तकप्रेम और संसार की असारता या कोई भी विषय क्यों न हो, जैसे—गर्दभ, प्लेग, वलीवर्द, स्वदेशी वस्त्र, ठहरौना, टेसू की टाँग, विवाह, मांसाहारी को हण्टर, होली, दशहरा आदि—कवियों ने सभी विषयों पर कलम चलायी। वर्णनात्मक या इतिवृत्तात्मक होते हुए भी ये रचनाएँ हिन्दी काव्य के विकास की सीढ़ी हैं। द्विवेदीजी की 'हे कविते' रचना इतिवृत्तात्मक है :

"सुरम्य रूपे ! रसराशि-रंजिते !
विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गयी ?
अलौकिकानन्द विधायिनी महा-
कवीन्द्र-कान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?"[१]

'सरस्वती की विनय' भी इसी तरह की रचना है :

"यद्यपि वेश सदैव मनोमोहक करती हूँ,
वचनों की बहु भाँति रुचिर रचना करती हूँ।
उदर हेतु मैं अन्न नहीं तिस पर पाती हूँ,
हाय ! हाय ! आजन्म दुःख सहती आती हूँ।"[२]

ग्रन्थकारों से विनय इस तरह की गयी है :

"माता है जैसी पूज्य सुनो हे भाई,

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी काव्य-माला, पृ० २६१ (जून १६०१ ई० की सरस्वती में प्रकाशित)

२. वही, पृ० ३६४ (फरवरी-मार्च १६०३ ई०)

भाषा है उसी प्रकार महामुददायी ।
माता से पूज्य विशेष देश-भाषा है,
मिथ्या यह हमने वचन नहीं भाखा है ।।"[१]
"विदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै
विनय इतना हमारा मान लीजै ।"[२]

'ग्रन्थकार लक्षण' में (जो सरस्वती में १६०१ ई० अगस्त में प्रकाशित हुई थी) कहा गया :

"ए बी सी डी का भी ज्ञान,
जिनको अच्छी भाँति हुआ न ।
अँग्रेजी उद्धृत करने में किन्तु न जो शरमाते हैं
ऐसे विद्या-बुद्धि-निधान
जिनका बड़ा मान-सम्मान
निश्चय ही वे परम प्रतिष्ठित ग्रन्थकार कहलाते हैं ।"[३]

द्विवेदीजी की प्रेरणा और वर्ण्य-विषय तथा शैलीगत निर्देशन से तत्कालीन काव्य पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि कल्पना, स्वच्छन्दता, भावात्मकता या कोमल विन्यास को महत्व नहीं मिला । १६०५ ई० में सत्यशरण रतूड़ी ने सभ्यता पर व्यंग्य किया :

"आते ही तू जन-समाज पर निज अधिकार जमाती है,
सारे जग की सभ्य जाति को नूतन नाच नचाता है ।
झूठ बुलाती, कसम खिलाती और अपेय पिलाती है,
कभी हँसाती, कभी रुलाती, नाना खेल खिलाती है ।"

सनेही जी ने १६१४ ई० के युद्ध पर लिखा था :

"मनुज पतंगों की तरह भुनते रण की आग से ।
दल के दल हैं काटते निर्भय होकर साग से ।।"[४]

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्य-माला, पृ० ३७३ (फरवरी १६०५ ई०)
२. वही, पृ० ३७० (जुलाई १६०३ ई०)
३. वही, पृ० २६८ (अगस्त १६०१ ई० सरस्वती)
४. डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी काव्य में युगान्तर, पृ० ६० से उद्धृत

रामचरित उपाध्याय ने सरस्वती, जून १६६६ ई० में 'मेघागम' में लिखा :

"निश्छल थे व्यवहार सब, कुटिल चाल चलते न थे।
ध्रुव टल जाता, किन्तु हम निज प्रण से टलते न थे ॥"[1]

बागीश्वर मिश्र की प्रकृति में :

"वही इन्द्र का चाप है सप्तरंगी,
जहाँ ज्योति के साथ बूँदें घनी हैं ।
कुसुम्भी हरा लाल नीला नरंगी,
कहीं पीत शोभा कहीं बैंगनी है ।"

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का वर्णनात्मक, नीरस और अपने ही जन्म के बोझ से दबी-दबी रचनाएँ इस काल के प्रथम चरण में काफी मात्रा में लिखी गयीं। जब आन्दोलनों का तूफान आता है, या क्रोध, आक्रोश, चिढ़ और ऊब पैदा होती है, तब इसी प्रकार की काव्यात्मक सपाटबयानी आ जाती है। पं० बालकृष्ण भट्ट ने द्वितीय 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के स्वागताध्यक्ष-पद से बोलते हुए इतिवृत्तात्मक काव्य को 'काव्य कहने में भी कविता की हँसी करना' कहा है। स्वयं मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी १६०१-१६१० ई० तक की रचनाओं के संकलन को 'पद्य प्रबन्ध' नाम देते समय लिखा कि "कविता मनोविकारों की सजीव प्रतिमा, अतएव लोकोत्तर आनन्द की जननी है। और पद्य छन्दोबद्ध, वाक्य-नियम विशेष पर तुला हुआ वर्ण-समूह है।" गुप्तजी ने अपनी रचनाओं को पद्य कहकर उसे कविता की श्रेणी से भिन्न वर्णसमूह मात्र कहा है। इससे तत्कालीन इतिवृत्तात्मक काव्य का स्वरूप प्रकट होता है। यह भी याद रखना चाहिए कि द्विवेदीयुगीन कवियों को गद्य की अपरिष्कृत भाषा में काव्य-रचना करनी पड़ रही थी। "हाथी से लेकर चींटीपर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राज-पर्यन्त मनुष्य, विन्दु से लेकर समुद्रपर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी और अनन्त पर्वत" तक के विषय काव्य के वर्ण्य-विषय थे। उपदेश और मनोरंजन की माँग थी । ऐसी दशा में कविता का केवल छन्दबद्ध होना या वर्णनात्मक मात्र हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

द्विवेदीजी पर बँगला की अपेक्षा मराठी की वर्णप्रधान शैली का अधिक प्रभाव था। पौराणिक आख्यानों की गद्यात्मकता का रूप लिये हुए यह शुष्क

---

१. डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी काव्य में युगान्तर, पृ० ६१

इतिवृत्तात्मक शैली आगे चलकर प्रतिक्रिया पैदा करने लगी और छायावाद का उदय हुआ। 'आशा', 'साहस', 'सन्तोष', आदि विषयों पर लम्बी-लम्बी उपदेशजन्य रचनाएँ लिखी गयीं, जो नीरस थीं। इस प्रकार इतिवृत्तात्मक काव्य में निम्नलिखित तथ्य पाये जाते हैं :—

(१) काव्य के विषय पौराणिक तो थे ही, परन्तु नवीन विषयों की अनेक-रूपता का भी आग्रह था।

(२) काव्य में नीरसता, गद्यशैली की-सी सरलता, उपयोगिता, उपदेश-वादिता और मनोरंजकता का प्राचुर्य्य था।

(३) कवियों का उद्देश्य उच्च कोटि के साहित्य की रचना करने से अधिक हिन्दी का प्रचार करना था। खड़ी बोली को पद्य के क्षेत्र में और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समर्थ सिद्ध करना था। तत्कालीन प्रत्येक आन्दोलन को प्रभविष्णु रूप से व्यक्त कर सकने की क्षमता प्रदर्शित करनी थी। इसलिए इस युग की काव्य-रचना वर्णनात्मक हो गयी।

(४) द्विवेदीजी भाषा-संस्कारक थे, आलोचक थे और व्यावहारिक भाषा के पक्षपाती थे। विचारात्मकता का तब प्राधान्य था। इसीलिए काव्य में शुष्कता, नीरसता और गद्यात्मक शैली की सरलता पायी जाती है।

(५) आन्दोलनों की अभिधा-भरी वर्णनात्मकता में आदर्श निरूपण अधिक हुआ है।

(६) खड़ी बोली का आन्दोलन गर्व का विषय बन गया था। उसके पीछे राष्ट्रीय समस्या और समाधान जुड़ गये थे।

(८) **धार्मिक कविता की प्रवृत्ति** : भारत में आस्तिकता की प्रवृत्ति के कारण हमारा काव्य सदा ईश्वर में विश्वास भी प्रकट करता आया है। द्विवेदीयुगीन काव्य भक्ति काल की अपेक्षा सामाजिक आवश्यकताओं की धार्मिक दृष्टि से बड़े पैमाने पर पूर्ति कर रहा था। भगवान के गुणगान और बड़े-बड़े शास्त्रीय सिद्धान्तों की अपेक्षा मानवीय आदर्शों को अधिक महत्व दिया जा रहा था। समाज-सुधार और राजनीतिक आन्दोलनों की हवा ने धर्म की चन्दन चढ़ी जिल्द खोलकर उसके भीतर से मानवता के पाठ पढ़ने आरम्भ किये। दरिद्रों, पीड़ितों और दुखियों के आँसुओं में अब ईश्वर दिखायी देने लगा। ठाकुर गोपालशरण सिंह ने ठीक ही कहा था :

> "जग की सेवा करना ही बस, है सब सारों का सार।
> विश्वप्रेम के बन्धन ही में, मुझको मिला मुक्ति का द्वार॥"

पं० रूपनारायण पाण्डेय ने 'जाति-विषयक दिग्दर्शन' रचना में लिखा है कि :

"जो कुछ है सो धर्म ही, यही यहाँ सिद्धान्त था,"[१]
"सत्य जानिये धर्म ही प्राणों का भी प्राण था।"[२]

वही धर्म की प्रवृत्ति द्विवेदी युग में कहाँ पहुँच गयी। वे कहते हैं :

"हा कपूर सा उड़ रहा धर्म भाव कुछ रोज से
× × ×
आस्तिकता में आज घोर नास्तिकता छायी।"[३]

इसी से स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही वैज्ञानिकता के प्रभाव ने धर्म की अनावश्यक बातें नकार दी थीं। समाज में मनुष्य ही वरेण्य था। ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, छूत-अछूत, राजा-प्रजा और जातिगत भेद-भाव की परम्परा टूट रही थी। कल तक के जीवन्त धर्म का अवदान द्विवेदीयुग की व्यापकता में मानवता का उपकरण बन गया था। सामन्तवाद का विरोध हो रहा था। राम और कृष्ण देवता के स्थान पर मानव ही अधिक थे। डॉ० शुक्ल ने द्विवेदीकालीन धार्मिक काव्य का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा : "भारतेन्दु युग की कविता से यह निसन्देह अधिक उन्नत है। उपदेशात्मक प्रवृत्ति को छोड़कर कवियों ने मानवतावाद को ग्रहण किया। उदारता और व्यापक मनोदृष्टि इस समय की धार्मिक कविता के विशेष लक्षण हैं।... विश्वप्रेम और जनसेवा की भावना द्वारा द्वितीय उत्थान के कवियों ने धार्मिक कविता को अधिक उन्नतिशील बनाया।"[४]

बीसवीं शताब्दी में प्राचीन भावों, विचारों और संस्कारों का नवीकरण हो रहा था। अवतारवाद पर बुद्धिवादी रंग डाला गया था। आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज ने अवतारवाद का खण्डन किया था। राम, कृष्ण, बुद्ध, सीता, राधा, शंकर और पार्वती आदि सब अपना लोकोत्तरत्व छोड़कर लोक-कल्याण के अनुकरणीय पात्रों के रूप में काव्य में स्थान पाने लगे थे। भगवान अब मन्दिरों की अपेक्षा दीनों, दुखियों और पीड़ितों के बीच तथा झोंपड़ियों में खोजा जाने लगा। हरिऔध के 'प्रियप्रवास' के राधा-कृष्ण (१९१४ ई०) और 'साकेत'

---

१. रूपनारायण पाण्डेय, पराग (सं० १९८१ वि०), पृ० ३
२. वही, पृ० ४
३. वही, पृ० ६
४. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, आधुनिक काव्य धारा, पृ० १५८

के राम, सीता, लक्ष्मण और भरत आदर्श मानव के रूप में चित्रित किये गये। भक्ति के स्थान पर मानवता का उद्घाटन ही प्रमुख रूप से हुआ। इस मानवतावादी दृष्टि ने कवियों को उदार और व्यापक दृष्टि दी तथा आध्यात्मिक सम्बल भी दिया। कृषक के पसीने में और पतितों की पीड़ा में भगवान दिखायी देने लगा। मुकुटधर पाण्डेय ने लिखा है :

खोज में हुआ वृथा हैरान, यहाँ ही था तू हे भगवान
दीनहीन के अश्रुनीर में, पतितों की परिताप-पीर में,
सरल स्वभाव कृषक के हल में, श्रम सीकर से सिंचित धन में,
तेरा मिला प्रमाण।"[१]

केशवप्रसाद मिश्र ने समता पर आधारित न होने से सभ्यता की निन्दा की :

"अगर समस्या आज भरे ही को है भरना
नहीं भूलकर कभी गरीबों का हित करना।
तो सौ सौ धिक्कार सभ्यता को है ऐसी।
जीवमात्र को लाभ नहीं तो समता कैसी॥"[२]

मुकुटधर पाण्डेय को ईश्वर की झलक निम्नलिखित रूपों में मिली :

"वाद विहीन उदार धर्म में, समतापूर्ण ममत्व मर्म में।
× × ×
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में, था तव क्रीड़ा स्थान।
देखा मैंने यहीं भुक्ति थी, यहीं भोग था, यहीं मुक्ति थी।
घर में ही सब योग युक्ति थी, हुआ न तो भी ज्ञान॥"[३]

द्विवेदी युग में धार्मिक सम्प्रदायों के आचार-विचार काव्य में अभिव्यक्ति नहीं पा सके। कुछ कवियों ने अन्योक्तियों आदि में धार्मिक मतवादों को लिखा अवश्य, लेकिन अहंकार, सांसारिक माया-मोह और जीवन की क्षण-भंगुरता को हेय ही सिद्ध किया। बदरीनाथ भट्ट ने, सरस्वती खण्ड १७, सं० ४, सन् १९१६ में लिखा :

---

१. सरस्वती, खण्ड १८, सं० ६, १९१७ मुकुटधर पाण्डेय
२. केशवप्रसाद मिश्र, सरस्वती, खंड १६, सं० १, सन् १९१५
३. मुकुटधर पाण्डेय, सरस्वती खंड १८, सं० २, सन् १९१७

"सागर में तिनका है बहता ।
उछल रहा है लहरों के बल, मैं हूँ मैं हूँ कहता ।।"

रायकृष्णदास ने सन् १९१८ की सरस्वती, खण्ड १९, सं० ५ में कहा :

"हे राजहंस यह कौन चाल ।
तू पिंजरबद्ध चला होने, बनने अपना ही आप काल ।"

मुकुटधर पाण्डेय उसकी झलक के लिए लालायित हैं :

"मानस भवन पड़ा है सूना, तमोधाम का बना नमूना ।
कर उसमें प्रकाश अब दूना, मेरी उग्र वेदना हर जा ।"[१]

रात में जुगनू उसी प्रियतम की खोज करते हैं :

"अन्धकार में दीप जलाकर किसकी खोज किया करते हो ?
तुम खद्योत क्षुद्र हो तब फिर क्यों ऐसा दम भरते हो ?
तम में ये नक्षत्र आज तक घूम रहे हैं उसके कारण ।
उसका पता कहाँ है, किसको होगा यह रहस्य उद्घाटन ।।"[२]

मुकुटधर पाण्डेय के काव्य में रहस्यात्मकता भी थी :

"जब सन्ध्या को हट जावेगी भीड़ महान् ।
तब जाकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निज गान ।।"[३]

मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा था :

"तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ।
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है, कैसे भीतर जाऊँ मैं ।"[४]

सियारामशरण गुप्त ने भी इस रहस्य-धारा के विकास में योग दिया था :

"करो नाथ स्वीकार आज इस हृदय कुसुम को ।
करें और क्या भेंट राजराजेश्वर तुमको ।।"[५]

---

१. मुकुटधर पाण्डेय, सरस्वती, खण्ड २०, सं० ४, सन् १९१९
२. वही, खण्ड २१, सं० ३, सन् १९२०
३. वही, खण्ड २१, सं० ४, सन् १९२०
४. मैथिलीशरण गुप्त, सरस्वती, खण्ड १९, सं० ५, सन् १९१८
५. वही, सरस्वती, खण्ड २०, सं० ४, सन् १९१९

इस काल में धार्मिक कविता का रहस्यवादी प्रवृत्ति ग्रहण करना और मानवतावादी काव्य का रहस्यवाद द्वारा संस्कारित होना दिखायी देता है। यह संस्कार उपादेय था। यही रहस्यवादी प्रवृत्ति आगे चलकर पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी के काव्य में विशेष रूप से लक्षित होने लगी तथा छायावादी काव्य की विशिष्ट प्रवृत्ति बन गयी। 'जयद्रथ वध' में (पृ० ६८) गुप्तजी ने तो स्पष्ट स्वीकार किया है कि इस सारी सृष्टि का कर्ता-धर्ता तो वह परमात्मा ही है और हम लोग निमित्त मात्र हैं :

"हैं हेतु मात्र सदैव हम कर्त्ता तुम्हीं हो सर्वथा।"

'रंग में भंग' में (पृष्ठ ३१) गुप्तजी का यह मत है कि :

"धर्म के सम्बन्ध में नृप और रंक समान हैं।"

कवि ने 'विश्व-वेदना', जिसका प्रथमांश प्रथम महायुद्ध के अन्त में लिखा गया था, लिखा है :

"धर्म अब परिणत है धन में,
विकट वणिजता शासन में॥"

द्विवेदीयुगीन जीवन में धर्म का सही चित्र मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' में देखा जा सकता है :

"था धर्म प्राण प्रसिद्ध भारत, बन रहा अब भी वही।
पर प्राण के बदले गले में आज धार्मिकता रही॥
धर्मोपदेश सभा-भवन की भित्ति में टकरा रहा,
आडम्बरों को देखकर आकाश भी चकरा रहा।
धनवान ही धार्मिक बने यद्यपि अधर्मासक्त हैं।
हैं लाख में दो-चार सु-हृदय, शेष बगुला-भक्त हैं॥"[१]
आक्षेप करना दूसरों पर धर्मनिष्ठा है यहाँ।
पाखण्डियों की ही अधिकतर अब प्रतिष्ठा है यहाँ॥
हम आड़ लेकर धर्म की अब लीन हैं विद्रोह में
× × ×
पर अब पथों को ही यहाँ पर धर्म हैं हम मानते॥"[२]

१. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, पृ० १३१
२. वही, पृ० १३२

धर्म तो निस्वार्थता सिखाता है और हम उसे भूल गये हैं। सनातन हिन्दू धर्म में जो पवित्र विधान हैं, उनको हमने भूला दिया है :

"धृति, शान्ति, शौच. दया, क्षमा, शम, दम, अहिंसा, सत्यता
पर हाय, इनमें से किसी का आज हम में है पता ?"

× × ×

"वे तीर्थ-पण्डे हैं जिन्होंने स्वर्ग का ठेका लिया।"[१]

या

"अब मन्दिरों में रामजनियों के बिना चलता नहीं।"[२]

राय देवीप्रसाद पूर्ण ने लिखा है :

"परमेश्वर की भक्ति है मुख्य मनुज का धर्म।"[३]
"विप्रधर्म को भूलि तेजहत बंस लजावै।"
"है तीनि काल में अहितकर, धर्म छाड़ियो एक पल।"[४]

द्विवेदी युग में राम और कृष्ण अनुकरणीय चरित्र माने गये। लोक-कल्याण और लोक-सेवा में तथा दुखियों के प्रति सहानुभूति रखने वाला ब्रह्म ही अब काव्य का विषय था :

"मेरे लिए खड़ा था, दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥"[५]

गुप्तजी का 'किसान' १९१५ ई०, सनेही का 'कृषक-क्रन्दन' १९१६ ई०, सियारामशरण गुप्त का 'अनाथ' १९१७ ई० में, किसान और श्रमजीवी की पीड़ा की कथा है। इसके पीछे धर्म-सुधार की भावना भी है।

प्रियप्रवास में हरिऔधजी ने राधा द्वारा पवन से कहलाया है कि किसी भी दुखी के कष्ट को वह किस प्रकार मिटाये :

"कोई क्लान्ता कृषक-ललना खेत में जो दिखावे।
धीरे-धीरे परस उसकी क्लान्तियों को मिटाना।"[६]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, पृ० १३३
२. वही, पृ० १३४
३. राय देवीप्रसाद पूर्ण, पूर्ण संग्रह, पृ० २०६
४. वही, पृ० १८४
५. रामनरेश त्रिपाठी, माधुरी, भाग १, खण्ड १, सं० १, पृ० ३१
६. हरिऔध, प्रियप्रवास, सर्ग ६, छंद ४६, पृ० ६६

वे चाहते हैं कि "प्यारे जीवें जग हित करें, गेह चाहे न आवें"। 'साकेत' के कवि ने पूछा था :

"राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?"[१]

इसी से स्पष्ट है कि राम की ईश्वरता का पूर्वयुगीन विश्वास अब राम की मानवता के संस्कार के रूप में बदल गया था। 'साकेत' में गुप्तजी ने मनुष्य की महानता को विशेष महत्व दिया है :

"अमर वृन्द नीचे आवें, मानव चरित देख जावें।"

द्विवेदी काल में सच्चा धर्म मानवधर्म ही है। काव्य की आत्मा राष्ट्रीय और सामाजिक थी, परन्तु उसका परिधान धार्मिक था। सर्वधर्म-समन्वय, मानव-प्रेम और मानव-एकता की भावना में वृद्धि हुई थी। इस प्रकार द्विवेदी-युगीन काव्य में धार्मिकता की निम्नलिखित विशेषता पायी जाती है :

१. राष्ट्रीयता के आवरण का रूप।
२. लोक-कल्याण, जनहित की दृष्टि और मानव-प्रेम के प्रसार की दृष्टि।
३. नैतिकता के स्थान पर रहस्यवादी प्रवृत्ति का प्रसार।
४. नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा बढ़ी।
५. जीवन के अभावों के प्रति सहज मानवीय करुणा तथा सहानुभूति का उद्रेक हुआ। पीड़ित मानवता की सेवा में ईश्वर दिखायी पड़ा।
६. ईश्वर को जन्मभूमि का स्थान दिया जाने लगा और जन्मभूमि को ईश्वर के समान प्रणम्य माना जाने लगा।

'पथिक' के तीसरे सर्ग में रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा :

फिर बोला—"हे जन्मभूमि, हे देश, प्रेमघन मेरे !
मैं यह जीवन-पुष्प चढ़ाता हूँ चरणों में तेरे॥"

ईश्वर इस युग में मानव-मात्र का सामान्य आलम्बन हो गया। गुप्तजी ने 'सिद्धराज' में (पृष्ठ २०) पर लिखा है :

"मन्दिर का द्वार जो खुलेगा सब के लिए,
होगी तभी मेरी वहाँ विश्वम्भर भावना।"

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, प्राक्कथन

पं० रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' काव्य में रहस्य-दर्शन भी है :

"जग क्या है ? किसलिए बना है ? क्यों है यह इतना आकर्षक ?
कोई इसका अभिनेता है—मैं हूँ कौन दृश्य या दर्शक ?"

तात्पर्य यह है कि द्विवेदीयुगीन काव्य में धार्मिक प्रवृत्ति भी सक्रिय थी। कवियों ने युगधर्म को पहचान कर जनकल्याण, लोकभावना, त्याग, परदु:ख-कातरता और राष्ट्र की अन्य समस्याओं की ओर धर्म को मोड़ा। संकुचित धर्म-भावना के बदले विश्वधर्म को अपनाना श्रेयस्कर समझा गया और भारतीय संस्कृति के अनुरूप करुणा का प्रसार हुआ। धर्म की तात्विक चेतना को ही इस युग के काव्य में ग्रहण हुआ।

(६) **सामाजिक साहित्य की प्रवृत्ति** : द्विवेदीयुगीन काव्य की यह एक विशेष प्रवृत्ति रही है कि आलोच्य युग के लगभग प्रत्येक कवि ने भारतीय समाज को केन्द्र बनाकर साहसिक और दृढ़ तत्परता के साथ अपना मत काव्य के माध्यम से व्यक्त किया है। राजनीतिक आदर्श की ओर इंगित करता हुआ समाज का यथार्थ व्यक्त हुआ है। समाज की दुर्बलताओं, सुधारों की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के मध्य कवियों ने देश के राजनीतिक तनावों और उलझनों के बीच समाज को नये झरोखों से देखा और नयी सम्भावनाओं की ओर मोड़ा।

भारतेन्दु काल से ही आर्य समाज, ब्राह्म समाज, सनातन धर्म, तदीय समाज, रामकृष्ण आश्रम और थियोसोफिकल सोसाइटी आदि नये सामाजिक संस्थानों के कारण और राष्ट्रीय जन-आन्दोलन, राजनीतिक उथल-पुथल और मानवतावादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप सामाजिक काव्य-रचना की प्रवृत्ति का गम्भीर प्रसार हुआ। विषयों का नया भण्डार मिला, जिसमें विधवा, किसान, अछूत, नारी, दुर्भिक्ष, दलित, बाल और वृद्ध-विवाह, छुआछूत, मद्यपान, मांस-भक्षण, दम्भ, छल-कपट, आडम्बर, निर्धनता, अविद्या, धार्मिक और नैतिक पतन, पर्दा, दहेज, ठहरौनी, शिक्षा, पुजारी, तीर्थ, पण्डे, रईसों की विलासिता, हिन्दू-मुसलिम समस्या, उर्दू-हिन्दी की समस्या, ब्रज और खड़ी बोली की समस्या, ग्राम्य जीवन, विदेशी-बहिष्कार, धार्मिक मतवाद और कुरीतियाँ, सामाजिक भ्रष्टाचार, हिन्दुओं की दुर्दशा, आदि न जाने कितने विषय थे, जिन पर कवियों ने लिखा और समाज-व्यवस्था में परिवर्तन की माँग प्रस्तुत की। 'भारत-भारती' (१९१२ ई०) और किसान (१९१७ ई०) में इन समस्याओं को शब्दबद्ध किया गया।

श्रीधर पाठक ने हिन्दुओं की दुर्दशा के समकालीन चित्र प्रस्तुत करते हुए सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया था। बाल-विधवाओं का करुण चित्र प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं :

"दुखी बाल-विधवाओं की है जो गती।
कौन सके बतला, किसकी इतनी मती।
दुख-सुख मरना-जीना एक समान है।
जिनके जीते जी दी गयी तिलांजली।"[१]

× × ×

"बाल-विधवा श्रापवश यह भूमि पातक भई।
होत दुःख अपार सजनी निरखि जग निठुरई॥"[२]

"बालक विवाह कितने नहिं होते हैं।
जिनके फल लखि लखि कौन नहीं रोते हैं।"[३]

"अहो पूज्य भारत महिलागण, अहो आर्य कुल प्यारी।

× × ×

आर्य-जगत में पुनः जननि, निज जीवन ज्योति जगाओ॥"[४]

श्री नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने आर्य-समाज की आलोचना की। 'अविद्यानन्द का व्याख्यान', 'कजली-कलाप,' 'प्रशस्ति पाठ' और 'पंचपुकार' में उन्होंने व्यंग्योक्तियाँ लिखीं। 'हमारा अधःपतन' कविता में (शंकर-सर्वस्व, पृष्ठ १४८) वे कहते हैं :

"व्यभिचारी पेट के पुजारी
बन बैठे बाल ब्रह्मचारी।
मिथ्या तव 'सोऽहमस्मि' बोलें
साकार अनेक ब्रह्म डोलें।"

किसानों की दुर्दशा पर लिखते हुए उन्होंने 'करभार' को भुजंग कहा है :

"कुछ दीन किसान कमाय रहे

× × ×

---

१. श्रीधर पाठक, मनोविनोद, पृ० ७६

२. वही, पृ० १७०

३. वही, बालविलास, ४ जून, सन् १९०५ ई०

४. वही, मनोविनोद, पृ० ३२

इनको करभार भुजंग हुआ ।"[१]

..ीन-दशा पर वे कहते हैं :

"कस पेट अकिंचन सोय रहे।
बिन भोजन बालक रोय रहे।
चिथड़े तक भी न रहे तन पै।
धिक् धूल पड़े इस जीवन पै ।।"[२]

उस समय सम्प्रदायवाद और धार्मिक भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर था, जैसे :

"मत-पन्थ असंख्य असार बने।
गुरु लोलुप, लण्ठ, लबार बने ।।
शठ सिद्ध, कुधी कविराज बने।
अनमेल अनेक समाज बने ।।"[३]

रिश्वतखोर अफसरों को वे फटकारते हुए कहते हैं कि "करो चाकरी घूस खाया करो, मिले वेतनों को बचाया करो ।" सूदखोरों को डाँटते हुए उन्होंने लिखा था कि "अमीरो धुआधार छोड़ा करो, पड़े खाट के बान तोड़ा करो।" 'शंकर' कवि ने विविध धार्मिक और सामाजिक प्रसंगों पर रचनाएँ की हैं : 'नरकवि दर्शन' में वे कहते हैं :

"सामाजिक बल को लग बैठी, छल की छूत अछूत,
जलकर जाति पाँति ने तोड़ा, सुख-साधन का सूत ।।"[४]

और 'रंकरोदन' में :

"दिया जले किस भाँति तेल को दाम नहीं हैं।"

तत्कालीन समाज की दशा का चित्रण बड़ा कारुणिक है :

"गली गली में भूखे डोलें, व्याकुल आरत वाणी बोलें।

---

१. शंकर-सर्वस्व, सम्पादक हरिशंकर शर्मा, पृ० २६
२. वही, पृ० २७
३. वही, नर कवि दर्शन, १५
४. वही

तन में केवल रही लँगोटी, मिले न हाय पेट भर रोटी।''[१]

'विधवा-विलाप' में विधवाओं की नरक जैसी पारिवारिक दशा का चित्रण करते हुए वे उन्हीं के मुँह से कहलाते हैं कि—''अपने करें अनेक विवाह, हमरे लिए एक ही नाह।''[२] 'शंकर-क्रन्दन' में (पृष्ठ २३४, 'शंकर-सर्वस्व') वे कहते हैं :

''जागा क्षुब्ध राष्ट्र-सागर में, असहयोग तूफान,
जनता में जातीय जोश के, उठने लगे उफान।''

तत्कालीन शिक्षा तथा अन्यान्य विषयों पर 'हमारा अधःपतन' (पृष्ठ १४५, 'शंकर-सर्वस्व') कविता पढ़ने योग्य है। भारत की दुर्दशा का यह चित्र द्रष्टव्य है :

''कीचड़ में केहरी पड़ा है,
गीदड़ दल घात में खड़ा है।''[३]

राय देवीप्रसाद पूर्ण ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा :

''मुसलमान हिन्दुओ, वही है कौमी दुश्मन,
जुदा जुदा जो करे, फाड़कर चोली दामन।''[४]

पूर्णजी का मत है कि ''हैं भ्राता सब मनुज'' का गाँधीवादी मन्त्र ही उपादेय है। यही बात नाथूराम शर्मा शंकर ने कही थी :

''जाति पाँति के धर्म-जाल में उलझे पड़े गँवार।
मैं इन सबको सुलझा दूंगा, करके एकाकार।''[५]

उन्होंने पुराणपन्थियों पर व्यंग्य भी किया था :

''सुनो स्वर्ग से लौ लगाते रहो, पुनर्जन्म के गीत गाते रहो।
डरो कर्म प्रारब्ध के योग से, करो मुक्ति की कामना भोग से।

---

१. शंकर सर्वस्व, संवत् १९५३-५४, पृ० २७०
२. वही, विधवा-विवाह, पृ० २७०
३. वही, हमारा अधःपतन, पृ० १५३
४. पूर्ण संग्रह, संग्रहकर्ता लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, पृ० २१२, स्वदेशी कुण्डलियाँ, २३
५. नाथूराम शर्मा शंकर, सरस्वती, खण्ड ९, सं० ५, सन् १९०८ ई०

नयी ज्योति की ओर जाना नहीं, पुराने दिये को बुझाना नहीं।"[१]

'शंकर' आर्यसमाजी थे और पूर्णजी सनातन धर्मावलम्बी थे।

१६०० ई० से १६२० ई० के बीच का समय सामाजिक विषमताओं से जूझने का समय था। पर हिन्दी खड़ी बोली की कविता में इस संघर्ष को काव्यात्मक रूप देने की वयस्कता का अभाव पाया जाता है। गहरी भावात्मक और उपयुक्त बिम्बों के अभाव में तत्कालीन बौद्धिकता धूमिल-सी लगती है। रामचरित उपाध्याय ने स्त्री-शिक्षा और बाल या वृद्ध-विवाह पर व्यंग्य किये, पर ये व्यंग्य केवल उपचार थे :

"यदि स्त्रियाँ शिक्षा पातीं तो परदा सिस्टम होता दूर।
और शिक्षिता हो वे धारण क्यों करतीं चूड़ी-सिन्दूर?"

× × ×

"बाल-विवाह रोक हम देते यदि हमको मिलते अधिकार।"

पं० सत्यनारायण कविरत्न ने हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए अपील करते समय जो कविता १६१० ई० के आसपास लिखी थी, उसमें कहा था कि :

"सभ्य समाज शिरोमनि पहले रह्यो आपको भारत।
विद्या बिन जलहीन मीन सम वही हाय अति आरत॥"[२]

बदरीनाथ भट्ट ने 'पतित का उलाहना' लिखा :

"हमें मत छूना हे द्विजराज।
हम हैं शूद्र अछूत, आप हैं आर्य जाति सिरताज।"

केशवप्रसाद मिश्र तो दुर्भिक्ष और दरिद्रता को देखकर इतने दुखी थे कि उन्हें कहना पड़ा :

"हाहाकार मचा भूखों का है धनिकों के पास।
फिर कैसे ये तोंद फुलाये खाते विषमय ग्रास?"

---

१. नाथूराम शर्मा शंकर, सरस्वती, खण्ड ८, सं० १, सन् १६०७ ई०

२. बनारसीदास चतुर्वेदी, कविरत्न सत्यनारायणजी की जीवनी, सं० १६६१ वि०, पृ० ६३

केशवराम ने ('मर्यादा', अक्टूबर १९१४ ई० में) लिखा था :

"नख शिखान्त ओढ़े जब नारी
निकले होकर पथ संचारी।
दिखती है तब वह बेचारी
मानो प्राणी द्विपाद चारी ॥"

केशवप्रसाद मिश्र की 'जाड़ा' और 'निर्धन' कविताएँ 'सरस्वती' के फरवरी १९१५ ई० अंक में प्रकाशित हुईं :

"सिर पर सदा घास का बोझा, तन पर नहीं एक भी सूत।
हाय हाय कम्पित होता है, जाड़े से भारत का पूत ॥
छोटे-छोटे बच्चे घर पर देख रहे हैं उसकी बाट।
किन्तु आज वह दुःखित लौटा विफल हुई है उसकी हाट ॥
× × ×
एक दरिद्र कृषक है, जिसने किया खेत में दिन भर काम।
किन्तु पेट भर ही रोटी मिलना उसको है जय सीताराम ॥"

रामचरित उपाध्याय ने जातीय उद्‌बोधन-विषयक रचनाएँ लिखीं। उनमें व्यंग्य भरा आक्रोश था :

"दूर क्यों भागते हो भले कर्म से।
क्यों घृणा हो गयी है तुम्हें धर्म से ?"[1]

रूपनारायण पाण्डेय ने ब्राह्मणों को उद्‌बोधित किया :

"ब्रह्मदेव फिर उठो देश का हित करने को।
रोग-शोक दारिद्रच दुःख दुर्मति हरने को।
देखो सारा विश्व फिर क्या है सच्ची सभ्यता।
पराकाष्ठा धर्म की और भाव की भव्यता ॥"

ठाकुर गोपालशरण सिंह ने दहेजप्रथा का विरोध किया तथा स्त्रियों की अशिक्षा और हीन-दशा पर भी लिखा :

"भगवान हिन्दू जाति का उत्थान कैसे हो भला।
नित यह कुरीति दहेजवाली घोंटती उसका गला।

---

१. रामचरित उपाध्याय, अद्‌भुत आक्षेप, सरस्वती, मार्च १९१६ ई०

सुकुमारियाँ वे भोगती हैं यातना कितनी बड़ी।
जो पूर्ण यौवन काल में भी हैं बिना ब्याही पड़ीं॥
अगणित कुटुम्बों का किया इस राक्षसी ने नाश है।
तो भी बुझी न अभी अहो, इसकी रुधिर की प्यास है॥"[1]
"आज अविद्या मूर्ति सी हैं सब श्रीमतियाँ यहाँ।
दृष्टि अभागी देखले उनकी दुर्गतियाँ यहाँ॥"[2]

गुप्तजी की 'भारत भारती' (१९१२ ई०) में सामयिक समाज का जो सच्चा चित्र मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गुप्तजी ने भारतीय समाज के प्रत्येक पक्ष पर लिखा है। यथा :

दुर्भिक्ष :

"दुर्भिक्ष मानो देह धर के घूमता सब ओर है।
हा! अन्न! हा! हा! अन्न का रव गूँजता घनघोर है॥" (पृष्ठ ८७)
"जननी पड़ी है और शिशु उसके हृदय पर मुख धरे।
देखा गया है किन्तु वे माँ-पुत्र हैं दोनों मरे॥" (पृष्ठ ८९)

कृषक :

भिक्षुक बनाते पर विधे! कर्षक न करना था उन्हें। (पृष्ठ ९६)

गोहत्या :

"गो-वंश -के उपकार की सब ओर आज पुकार है,
तो भी यहाँ उसका निरन्तर हो रहा संहार है।" (पृष्ठ ९८)

गुप्तजी ने इस बात पर दुख प्रकट किया कि यहाँ का वस्त्रों का व्यापार मर गया है। शिक्षा में विदेशी भावना घर कर गयी है, धर्म की दुर्दशा है और भ्रष्ट आचरण प्रमुख हो उठा है।

महीन वस्त्र :

रक्खा नली में बाँस की जो थान कपड़े का नया।
आश्चर्य, अम्बारी सहित हाथी उसी से ढँक गया।
वे वस्त्र कितने सूक्ष्म थे करलो कई जिनकी तहें
शहजादियों के अंग फिर भी झलकते जिसमें रहें॥ (पृष्ठ १०८)

---

१. ठा० गोपालशरण सिंह, सरस्वती, खण्ड १४, सं० १, सन् १९१३
२. वही, सरस्वती, खण्ड २६, सं० ६, सन् १९२५

रईस :

"जातीयता क्या वस्तु है, निज देश कहते हैं किसे,
क्या अर्थ आत्मत्याग का, वे जानते हैं क्या इसे ?
सुख-दुख जो कुछ है यहीं है, धर्म्म कर्म्म अलीक है,
खाओ पिओ मौजें करो खेलो हँसों सो ठीक है।" (पृष्ठ १११)

शिक्षा :

"हम में विदेशी भाव भरके वह भुलाती है हमें।" (पृष्ठ ११८)

कविता :

"उद्देश्य कविता का प्रमुख श्रृंगार रस ही हो गया।
× × ×
यों भक्ति रस भी सन गया अश्लीलता के नील में।" (पृष्ठ १२३)

धर्म की दशा :

"जितने पुरुष अब हैं यहाँ, उतने समझ लो पन्थ हैं।" (पृष्ठ १२५)

तीर्थ और पण्डे :

"वे तीर्थ पण्डे हैं जिन्होंने स्वर्ग का ठेका लिया।" (पृष्ठ १२७)
"हैं देव आप महन्त ही, देवियाँ हैं दासियाँ।" (पृष्ठ १२८)

साधु-सन्त :

"भूखों मरें कि जटा रखाकर साधु कहलाने लगे।
चिमटा लिया भस्मी रमायी माँगने खाने लगे॥" (पृष्ठ १२९)

समाज :

"हिन्दू समाज कुरीतियों का केन्द्र जा सकता कहा।
ध्रुव धर्म-पथ में कुप्रथा का जाल-सा है बिछ रहा॥" (पृष्ठ १३९)
"सब अंग दूषित हो चुके हैं अब समाज शरीर के।
संसार में कहला रहे हैं हम फकीर लकीर के।" (पृष्ठ १४०)

गुप्तजी ने दहेज-प्रथा के विरोध में यह कहा है :

"बिकता कहीं वर है यहाँ, बिकती तथा कन्या कहीं।" (पृष्ठ १४९)

गुप्तजी ने तत्कालीन समाज की सारी कुरीतियों पर लिखा है। वे समाज-सुधार की प्रेरणा से भी काव्य-रचना कर रहे थे।

कामताप्रसाद गुरू ने 'पराधीन प्रकृति' में भारतीयों की अंग्रेजों के प्रति खुशामदी प्रवृत्ति पर इस प्रकार आक्षेप किया था :

"पराधीनता में रह कर यह अपना सब कुछ भूल गयी।
भाषा, भोजन, भेष, भाव भावी सब बातें हुई नयी ॥
अपनी जन्मभूमि का भी अब इनको कोई ध्यान नहीं।
वन के जो प्यारे साथी हैं, उनकी भी पहचान नहीं ॥"

ठा० गोपालशरणसिंह का 'उलाहना' १९१४ ई० में 'सरस्वता' में प्रकाशित हुआ। बदरीनाथ भट्ट का 'मौत का डंका' (सरस्वती, फरवरी १९१५ ई०), 'समय का फेर' (सरस्वती, मार्च १९१५), ज्योतिषचन्द्र की 'रे मन' (सरस्वती, अप्रैल १९१५) रामचरित उपाध्याय की 'विधि विडम्बना' (सरस्वती, मई १९१५), गुप्तजी की 'सम्बन्ध' (सरस्वती, जून १९१५) आदि रचनाएँ जातीय तथा सामाजिक व्यंग्य-उद्बोधन से सम्बन्धित हैं। हरिऔध ने समाज-कल्याण और लोक-सेवा को प्रमुखता दी थी। वे जाति-सेवा की प्रेरणा देते हैं और वीरों के आदर्श का वर्णन करते हैं। लोकसेवक के प्रति उनकी श्रद्धा असीम है :

"जी से प्यारा जगत हित और लोकसेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है।" (प्रियप्रवास)

हरिऔधजी ने अछूतों के प्रति सहानुभूति प्रकट की तथा सामाजिक आडम्बरों का विरोध किया। वे केवल कुलीनता को विवाह का आधार नहीं मानते हैं :

"परन्तु है आज विचित्र ही दशा, विडम्बना है नित ही कुलीनता।"[१]

'सरस्वती', खण्ड १९, सं० २, सन् १९१८ में, छापातिलक पर उन्होंने लिखा था :

"इस तरह के हैं कई टीके बने।
जो कि तन के रोग को देते भगा।
जो न मन के रोग का टीका बना।
तो हुआ क्या लाभ वह टीका लगा।"

---

१. हरिऔध, सरस्वती खण्ड १७, सं० १, सन् १९१६

वे यह चाहते हैं कि :

"हमें चाहिए परम सुजान सुधारक ऐसा
जिसकी रुचि जातीय रंग के बीच रँगी हो।"[१]

द्विवेदीजी ने ( द्विवेदी काव्य-माला में संगृहीत, पृ० ४१८ ) 'कर्तव्य-पंचदशी' में सामाजिक दशा का चित्रण इस तरह किया है :

"पाता न शिक्षण जहाँ शिशुवृन्द सारा
बाला-समूह सब मूर्ख जहाँ हमारा।
नाना कला-कुशलता न कहीं जहाँ है
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?"[२]

विद्वान परकीय भाषा में ही रुचि रख रहे थे और मातृभाषा का तिरस्कार हो रहा था। सभी जन दासत्व के दुर्गुणों में निमग्न थे,

"है भूतकाल सब स्वप्न-कथा समान।
चिन्ता-निमग्न निशि-वासर वर्तमान।"[३]

भारतवर्ष की ऐसी दीन दशा को देखकर द्विवेदीजी बड़े दुखी थे। देशो-पालम्भ' में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि :

"त्यागो तुरन्त विष तुल्य विदेश वस्तु।"[४]

'कान्यकुब्ज-अबला-विलाप' (सरस्वती, अक्टूबर १९१६, ठहरौनी, नवम्बर १९०६) आदि रचनाएँ तत्कालीन समाज का चित्र उपस्थित करती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी सामाजिक विषयों पर रचनाएँ कीं और सामाजिक उन्नति में योग दिया। इस युग की समाज-सम्बन्धी कविता में

(१) समाज द्वारा सताये हुए प्राणियों से सहानुभूति,

(२) व्यंग्य और सीधी अपील,

(३) स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, दहेज, कुरीतियाँ, अन्धविश्वास, पराधीनता की प्रवृत्ति,

---

१. हरिऔध, सरस्वता, खण्ड १८, सं० ३, सन् १९१७
२. महावीरप्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्य-माला, पृ० ४१८
३. वही, पृ० ४१९
४. वही, पृ० ४२३

(४) सामाजिक सुधार की प्रेरणा,

(५) बौद्धिक तत्व की प्रधानता और भावतत्व की कमी है।

भारतीय समाज की विवशता का विस्तार से चित्रण आलोच्य काल में किया गया है। कृषकों की दयनीयता का विस्तार के साथ वर्णन किया जाने लगा। 'कृषक कीर्ति-गान' (गिरधर शर्मा) और 'कृषक क्रन्दन' (सनेही) जैसी रचनाएँ लिखी गयीं। 'रामलाल' (मन्नन द्विवेदी गजपुरी, १९१७ ई०) ने ग्रामीण जीवन के परिवृत्त में पुलिस, पटवारी, अदालत, साहूकार, आदि परोपजीवियों का चित्रण किया गया। सामाजिक जीवन की विकृति और विडम्बनाएँ, नारी की विवशता, शिक्षा-दीक्षा, स्वतन्त्र जीविकोपार्जन तथा वैवाहिक विडम्बनाओं के उभरते चित्र साहित्य में अंकित हुए। यह मध्यवर्ग की जीवन-विधि के परिवर्तन का युग था। परिवार-व्यवस्था में परिवर्तन हो रहा था। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना बढ़ने लगी थी। साहित्य को समाज का दर्पण मान लिया गया था।

(१०) **अनुवाद की प्रवृत्ति** : महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जब 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य अपने हाथ में लिया, उस समय देश में होने वाली घटनाएँ और राजनीतिक आन्दोलनों तथा सामाजिक सुधारों की नया चेतना ने लेखकों का अन्य भाषाओं के साहित्यों के साथ सम्पर्क बढ़ाया। द्विवेदी युग की यह एक विशेष प्रवृत्ति बन गयी थी कि अंग्रेजी, बँगला और मराठी से उत्तम साहित्य का खड़ी बोली में अनुवाद किया जाये। १९०९ ई० में मई की 'सरस्वती' के अंक में लल्लीप्रसाद पाण्डेय का 'कविता का दरबार' लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें होमर, वार्जेल, दाँते, चासर, स्पेंसर, मिल्टन, ड्राइडन, पोप, शेक्सपीयर, ग्रे, गोल्डस्मिथ, कूपर, लांगफैलो, बर्न्स, कॉलरिज, मूर, सदे, स्काट, बायरन, शैली और टेनीसन कवि रखे गये थे। शेक्सपीयर पर सन् १९०७ फरवरी की 'सरस्वती' में एक निबन्ध भी प्रकाशित हुआ था। खुशीलाल वर्मा ने मार्च १९०४ ई० में, मिल्टन पर, बदरीनारायण भट्ट ने नवम्बर १९११ में शेक्सपीयर पर तथा मार्च १९१५ में श्यामसुन्दर जोशी ने गेटे पर 'सरस्वती' में निबन्ध प्रकाशित कराये थे। इन निबन्धों में पाश्चात्य काव्य की विशेषताएँ और उनमें व्यक्त मातृभाषा-प्रेम, मातृभूमि-प्रेम, विद्रोह-वृत्ति और स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम पर विशेष रूप से बल दिया गया था।

मधुसूदन शर्मा का 'स्वतन्त्र विचार में रुकावटें' निबन्ध 'सरस्वती', जून १९१५ ई० में प्रकाशित हुआ। द्विवेदीजी ने मिल की 'लिबर्टी' का अनुवाद किया।

उन्होंने १९०३ ई० से १९०८ ई० के बीच कई अनुवादों को प्रकाशित किया। डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य पर आंग्ल प्रभाव' में (पृष्ठ ९०-९१ पर) कुछ महत्वपूर्ण अनुवादों की सूची दी है, जो इस प्रकार है—

| मास और वर्ष | अंग्रेजी कविता | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| जून १९०३ ई० | बायरन की फेअर दी वैल | गौरीदत्त वाजपेयी द्वारा 'आशीर्वाद' |
| फरवरी १९०४ ई० | जेम्स टेलर की माई मदर | जैनेन्द्रकिशोर द्वारा 'मेरी मैंया' |
| जून १९०४ ई० | बायरन की 'एण्ड आर्ट दाउ डेड सो यंग एण्ड फेअर | गौरीदत्त वाजपेयी द्वारा 'तरुणी तू चल बसी कभी' |
| अगस्त १९०४ ई० | लांगफैलो की 'प्लाजम ऑफ लाइफ' | लक्ष्मीनारायण द्वारा 'जीवन गीत' |
| फरवरी १९०५ | शेक्सपीयर की 'फ्रैण्ड-शिप' | कालीशंकर व्यास द्वारा 'मित्रता' |
| जुलाई १९०५ ई० | सदे की 'स्लीप' | सनातन शर्मा द्वारा 'निद्रा' |
| फरवरी १९०६ ई० | पीस एट होम | रामरणविजय सिंह द्वारा 'घर में शान्ति' |
| अप्रैल १९०६ ई० | 'दि कुकू' | जीतन सिंह द्वारा 'कोयल' |
| जुलाई १९०६ ई० | अर्नेस्ट जोन्स की 'दी पोयट एण्ड लिबर्टी' | महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'कवि और स्वतन्त्रता' |
| मार्च १९०८ ई० | ग्रे की 'एलिजी' | कामताप्रसाद गुरू द्वारा 'ग्रामीण गीत |

इन रचनाओं के अतिरिक्त 'सरस्वती' में अन्य रचनाएँ भी अनूदित होकर प्रकाशित हुईं :—

| | | |
|---|---|---|
| वाल्टर स्कॉट की | 'लव ऑफ दी फादरलैण्ड' | 'स्वदेश प्रीति' शीर्षक से |
| ग्रे की | 'नाइटेन्गेल एण्ड ग्लोवर्म' | 'बुलबुल और जुगनू' |
| सदे की | 'स्कालर' | 'पुस्तकावलोकन प्रेमी विद्वान' |
| कैम्पबेल की | 'लॉर्ड डलिन्स डाटर' | 'लॉर्ड डलिन कुमारी' |
| टामस मूर की | 'दी लास्ट रोज़ ऑफ समर' | 'ग्रीष्म का अन्तिम गुलाब' |
| वर्ड्सवर्थ की | 'दि एफ्लिक्शन ऑफ मार्गरेट' | 'माता का विलाप' |
| पोप की | 'दि हैपीनेस ऑफ रिटायरमेण्ट' | 'एकान्तवास का सुख' |

हिन्दी में अंग्रेजी काव्य के अनुवाद की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित न होते हुए भी कामताप्रसाद गुरू ने 'यूलिसस' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'होरेशस' पर काव्य लिखे। मैथिलीशरण गुप्त ने 'सरस्वती' जुलाई १९१२ ई० में 'टायटेनिक की सिन्धु-समाधि' रचना द्वारा 'टायटेनिक जहाज' के डूबने की घटना लोक-विश्रुत कर दी। रूसो, मिल, बेन्थम और स्पेन्सर का प्रभाव भी इसी पाश्चात्य दर्शन से हिन्दी पर पड़ना प्रारम्भ हुआ। लोचनप्रसाद पाण्डेय की 'कविता कुसुममाला' और १९१४ में प्रकाशित 'माधव-मंजरी' काव्य-संग्रह में अनेक अनूदित रचनाएँ संकलित हुई हैं।

श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के 'दि हरमिट' का हिन्दी अनुवाद सन् १८८६ ई० में 'एकान्तवासी योगी' के नाम से किया। उन्होंने 'दि डेजर्टेड विलेज' का अनुवाद १८८९ ई० में 'ऊजड़ ग्राम' के नाम से प्रस्तुत किया। श्रीधर पाठक ने 'दि हरमिट' का अनुवाद पहले 'एडविन और एनजेलिना' के नाम से भी किया था। बालकृष्ण भट्ट ने मई १८८९ ई० के 'प्रदीप' में इस काव्य के विषय में लिखा था कि "जहाँ ग्रन्थकार ने अपनी ओर से मिलाया वह भाग अधिक रसीला और माधुर्यपूर्ण है।" इसी अनुवाद से हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी तत्व का प्रवेश हुआ। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, निर्विकार प्रेम और यथार्थ जीवन की झाँकी इसके गुण हैं। मूल काव्य के चालीस पदों को पाठक जी ने उनसठ लावनी छन्दों में रूपान्तरित किया और उसे भारतीय वातावरण से संयुक्त कर दिया। इस अनुवाद की सर्वत्र प्रशंसा की गयी। ६ जुलाई १८८६ ई० के अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट ने लिखा था कि "अनुवाद दुर्लभ गुणों से युक्त है और यह अनुवाद की प्रवृत्ति एवं विवेक के लिए प्रशंसनीय

है।" पिन्काट महोदय ने इस काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि "आपका अनुवाद आपकी प्रतिभा की विजय है।" इसी प्रकार १७७० ई० में प्रकाशित गोल्डस्मिथ के 'दि डेजर्टेड विलेज' का ब्रजभाषा में 'ऊजड़ ग्राम' के नाम से सन् १८८९ ई० में किया गया अनुवाद भी सुन्दर था। उसमें वैयक्तिक अनुभूति से युक्त यथार्थ का चित्रण था। मूल काव्य की ४३० पंक्तियों का अनुवाद पाठकजी ने ५१४ पंक्तियों में किया था। इसमें भारतीय वातावरण, भारतीय ग्राम्य दर्शन और स्वच्छन्दतावादी धारा को आगे बढ़ाया गया था। पाठक जी ने 'शेफर्ड एण्ड दि फिलॉसफर' का 'गड़रिया और आलिम' (१८८४ ई०), लांगफैलो की 'इवैंजेलीन' का अंजलैना और पर्नेल की हरमिट को 'योगी' का रूप दिया था। अंग्रेजी के एक समाधि-लेख (एपीथेट) को 'शव-शिला-लेख' शीर्षक से अनूदित किया गया था।

ग्रे की 'एलिजी' के तीन अनुवाद किये गये। सर्वप्रथम आबू पर्वत के विद्यारसिक ने ग्रामस्थ शवागार लिखित 'शोकोक्ति' (१८९७ ई०) लिखी। फिर कामताप्रसाद गुरू ने 'सरस्वती' १९०८ ई० में और महेशचन्द्र द्वारा १९१५ ई० में स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में अनुवाद किया गया। लोचनप्रसाद पाण्डेय ने अपने काव्य-संग्रह 'माधव-मंजरी' में (१९१४ ई०) कुछ अंग्रेजी के रूपान्तर इस प्रकार किये थे—

'दि बी' का अनुवाद 'मधुमक्खी', 'थैंकफुलनेस' का अनुवाद 'निहोरा', 'दि थ्री रूल्स' का 'नियमत्रय', 'दि चाइल्ड एण्ड दि बर्ड' का 'चिड़िया और बालिका', 'दि वैस्प एण्ड दि बी' का 'मधुमक्खी और बर्रैया', 'ट्रेवलर्स रिटर्न' का 'घर का प्रभाव', 'होम' का अनुवाद 'घर' के रूप में किया गया। इसके अतिरिक्त 'सरस्वती' में और भी अनुवाद प्रकाशित हुए। 'रूल ब्रिटेनिया' का जेम्स टामसन द्वारा लिखित इंगलैण्ड का राष्ट्रीय गीत और अमरीकी कवि लॉयल की रचना का अनुवाद 'स्वदेश' भी प्रकाशित हुए।

श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी में भी कुछ रचनाएँ लिखीं। 'दि क्लाउडी हिमालय' ३० अगस्त १९००, 'प्रेयर' १९१५, 'एडवाइस' १९१५, 'टु केस्टी' (सितम्बर १९१५), 'ओ डियर', 'ए क्वेरी', २६ अगस्त १९१५ और मैडम ब्लावेटेस्की ८ मई १९१७ आदि। अंग्रेजी कविताओं के हिन्दी अनुवाद सर्वप्रथम लाला श्रीनिवासदास के उपन्यास 'परीक्षागुरु' (सं० १८८२) में मिलते हैं। इसके एक पात्र शम्भूदयाल के माध्यम से शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' की पोर्शिया के कथन की कुछ पंक्तियों का रूपान्तर कुण्डलिया छन्द में किया गया है।

लोचनप्रसाद पाण्डेय ने 'हरमिट' का अनुवाद 'योगी' किया तो श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' अनुवाद किया। मेकॉले के 'लेज ऑफ एन्सेन्ट रोम' के तीन अनुवाद हुए। इस काव्य के एक कथा-प्रसंग 'होरेशस' का अनुवाद छंगा-लाल मिश्र ने १९०३ ई० में किया। बच्चन पाण्डेय ने १९११ ई० में और रघुनाथ प्रसाद कपूर ने १९१२ ई० में ये अनुवाद किये।

द्विवेदीजी ने फरवरी १९०५ की सरस्वती' में लिखा था :

"इंग्लिश का ग्रन्थ समूह बहुत भारी है
अति विस्तृत जलधि समान देहधारी है।
संस्कृत भी सब के लिए सौख्यकारी है।
उसका भी ज्ञानागार हृदयहारी है॥
इन दोनों में से अर्थरत्न ले लीजै।
हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेमयुत कीजै॥
वह माता सम सब भाँति स्नेह अधिकारी।
इतनी ही विनती आज विनम्र हमारी॥"[१]

द्विवेदीजी का मत था कि :

"औरों के चारु विचार तथापि मनोहर,
ले लेने में कुछ दोष नहीं, हे बुधवर।"[२]

नवीनचन्द्र सेन की प्रशंसा में द्विवेदीजी ने लिखा था कि "ईश्वर से प्रार्थना है कि ऐसा एकाध महाकवि न सही तो अच्छा कवि ही इन प्रान्तों में पैदा करें, जहाँ की मुख्य भाषा हमारी दीन-हीना और क्षीण कलेवरा हिन्दी है।" द्विवेदीजी की इच्छा थी कि बँगला के कवियों के समान ही हमारी भाषा में भी कवि हों, जो 'मेघनाद-वध' के रचयिता माइकेल मधुसूदन दत्त की समता कर सकें। मैथिलीशरण गुप्त ने इसी प्रेरणा से नवीनचन्द्र सेन के 'पलाशीर युद्ध' और माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद-वध' महाकाव्य तथा 'ब्रजांगना' लघुकाव्य के अनुवाद किये थे।

रामचन्द्र शुक्ल ने 'दि लाइट ऑफ एशिया' का अनुवाद 'बुद्ध चरित'

---

१. द्विवेदी काव्य-माला, संग्रहकार देवीदत्त शुक्ल, पृ० ३७४

२. वही

किया। यह अनुवाद मूल से भी अधिक सुन्दर और सरल बन पड़ा है। इसमें ब्रजभाषा का मधुर और शिष्ट रूप देखने को मिलता है। कामताप्रसाद गुरु ने 'प्लेट ऑफ गोल्ड' का छायानुवाद 'सोने की थाली' शीर्षक से 'सरस्वती' में दिसम्बर १९११ में किया था।

हिन्दी पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का भी बड़ा प्रभाव पड़ा। १९१३ ई० में नोबल पुरस्कार मिलने के बाद, उनके काव्य का प्रभाव देश की प्रत्येक भाषा पर पड़ा। हिन्दी में 'गीतांजलि' के अनेक अनुवाद हुए। मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, सियारामशरण गुप्त, राय कृष्णदास और गिरधर शर्मा की कृतियों पर रवीन्द्रनाथ का बहुत प्रभाव पड़ा। छायावादी काव्य के प्रथम उन्मेष में और स्वच्छन्दतावादी काव्य के विकास में रवीन्द्र की प्रेरणा हिन्दी को सहज सुलभ रही। कर्नल टाड् के 'राजस्थान' से भी कवियों ने प्रेरणा ली। लाला भगवानदीन ने भारतीय वीरों और वीरांगनाओं पर 'वीर पंचरत्न' लिखा। इन वीरगीतों ने भारतीय राष्ट्रीयता और बलिपंथी भावना को समृद्ध किया।

इन्हीं दिनों संस्कृत से भी कई अनुवाद किये गये। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' का दोहों में (१८८९ ई०) 'विनयविनोद' शीर्षक अनुवाद किया। उदाहरण के लिए :

> "अति चंचल जल-विन्दु जिमि कमलपात के माहिं।
> क्षणभंगुर यह जीव तिमि निमिष भरोसो नाहिं॥"

'विहारवाटिका' (१८९० ई०) में जयदेव के 'गीतगोविन्द' का संक्षिप्त भावानुवाद है। भर्तृहरि के 'शृंगार शतक' का अनुवाद 'स्नेहमाला' के नाम से १८९० ई० में दोहों में हुआ। संस्कृत के 'महिम्नस्तोत्रम्' का संस्कृत वृत्तों में सटाक हिन्दी अनुवाद १८८५ ई० में किया गया, जो १८९१ ई० में प्रकाशित हुआ। १८९१ ई० में पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' का संस्कृत से सवैयों में हिन्दी में अनुवाद भावार्थ सहित किया गया। कालिदास के 'ऋतु-संहार' की छाया लेकर देवनागरी छन्दों में 'ऋतु तरंगिणी' नाम से षड्ऋतु-वर्णन १८९१ ई० में किया गया। अंग्रेजी कवि बायरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद १९०० ई० में 'सोहागरात' के नाम से किया गया। यह पुस्तक अप्रकाशित ही रही। गद्य की कई रचनाएँ तो द्विवेदीजी ने अनूदित की ही थीं, पर पद्य की उपर्युक्त रचनाएँ भी उन्होंने भाषा-सम्बन्धी मार्ग-दर्शन के लिए

प्रस्तुत कीं। उन्होंने १९०२ ई० में कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' के पाँच सर्गों का हिन्दी में 'कुमारसम्भवसार' शीर्षक अनुवाद किया। उन्होंने तृतीय और पंचम सर्ग का पूरा अनुवाद किया पर प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ सर्ग के अनुवाद में मूल का आशयमात्र ग्रहण किया। यह सफल अनुवाद है :

"गेरू से लिख भोजपत्र पर जहाँ अनंग देव सन्देश,
विद्याधर सुन्दरी भेजती है पिय पास विशेष-विशेष
जहाँ रात में विपिन निवासी-औषधियाँ रख दीप समान—
करते हैं, उनके प्रकाश में, केलि-कला के विविध विधान ॥"

यह अनुवाद भी 'द्विवेदी काव्य-माला' में संग्रहीत है। द्विवेदीजी ने ब्रज-भाषा, संस्कृत और खड़ी बोली में अनुवाद किये थे। आलोच्य काल से सम्बन्धित उनकी 'सोहागरात' (अप्रकाशित) और 'कुमारसम्भवसार' रचनाएँ ही हैं। द्विवेदीजी ने १९०० ई० में 'द्रौपदी वचन वाणावली' को 'सरस्वती' में प्रकाशित किया। यह भारवि कृत 'किरातार्जुनीयम्' के प्रथम सर्ग के २७ से ४६ तक श्लोकों का अनुवाद है। 'द्विवेदी काव्य-माला' में पृष्ठ २८२ पर यह रचना संग्रहीत है। इसका अनुवाद भी सुन्दर है :

"कपटी कुटिल मनुष्यों से जो जग में कपट न करते हैं,
वे मति-मन्द मूढ़ नर, निश्चय, प्राय पराभव करते हैं।
उनमें कर प्रवेश, फिर उनको शठ यों मार गिराते हैं,
कवचहीन तनु से ज्यों पैने बाण प्राण ले जाते हैं ॥"

श्रीधर पाठक ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ३१वें अध्याय का 'गोपिका गीत' शीर्षक (१९१६ ई०) समश्लोकी अनुवाद किया था। लोचन-प्रसाद पाण्डेय ने उड़िया से 'केदारगौरी' अनुवाद हिन्दी में किया। पं० रूप-नारायण पाण्डेय ने पचास से भी अधिक ग्रन्थों के अनुवाद किये। पं० सत्य-नारायण कविरत्न ने 'उत्तर रामचरित' 'होरेशस' और 'मालती-माधव' को अनूदित किया। 'उत्तर रामचरित' महाकवि भवभूति के संस्कृत नाटक 'उत्तर रामचरित' का हिन्दी अनुवाद है। यह सरस और मनोहर है। इसे फीरोजा-बाद के भारती भवन ने प्रकाशित किया था। 'देशभक्त होरेशस' लॉर्ड मैकाले की पुस्तक का अनुवाद था। भवभूति की 'मालती-माधव' पुस्तक का अनुवाद भी किया गया।

तात्पर्य यह है कि द्विवेदीयुगीन काव्य-धारा में अनुवाद करने की एक विशेष

प्रवृत्ति थी। द्विवेदीजी और अन्य कवियों ने अन्यान्य भाषाओं से हिन्दी को समृद्ध करने का भरपूर प्रयास किया था। इससे काव्य में नये-नये वर्ण्य-विषय प्राप्त हुए और स्वातन्त्र्य-प्रेम सम्बन्धी रचनाओं से राष्ट्रीयता की प्रेरणा भी मिली। द्विवेदीजी का कहना था कि "यदि 'मेघनाद वध', 'यशवन्तराव महा-काव्य' वे नहीं लिख सकते तो उनको ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में से छोटे-से-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुनकर उन्हीं पर छोटी-छोटी कविता करनी चाहिए।"[१] चारों ओर सुधारवादी दृष्टिकोण की धूम थी। पोप के 'मोरल ऐसेज' का प्रभाव पड़ रहा था। वर्ड्सवर्थ की कवित्व-दृष्टि का प्रभाव भी द्विवेदीजी ने स्वीकार किया था। आलोच्य काल में अंग्रेजी से हिन्दी में बहुत कम रचनाओं के अनुवाद किये गये, क्योंकि तब तक हिन्दी में न तो वैसी शक्ति ही आ पायी थी और न भारतीय परम्परा और दार्शनिकता से अनु-प्राणित काव्य में धर्म-निरपेक्ष भावनाओं को या नये प्रयोगों को आत्मसात् करने की रुझान ही थी। फिर भी ये रूपान्तर निर्जीव नहीं थे। कहीं-कहीं तो ये अनुवाद बहुत सुन्दर भी बन पड़े हैं।

प्रेमघन जी ने भारतेन्दु बाबू के निधन पर 'शोकाश्रु विन्दु' (१८८५) रचना लिखी थी। हिन्दी में प्राकृत विषय पर काव्य लिखना अंग्रेजी के प्रभाव के कारण अधिकांश में आया। श्रीधर पाठक पर लांगफैलो, टामसन तथा कालिदास का प्रभाव अधिक स्पष्ट दिखायी देता है। पाठकजी के 'मनोविनोद' भाग २ और 'भारत-गीता' (१९१८) के गीतों का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि उनके काव्य पर अंग्रेजी और बँगला का प्रभाव अवश्य है। उनके 'जय जय भारत भूमि हमारी' और 'जय भारत जय' की भाषा बँगला से प्रभावित है। पाठकजी की 'काश्मीर सुषमा' (१९०४) और 'देहरादून' (१९१५) पर क्रमशः बायरन और टामसन के प्रभाव परिलक्षित होते हैं, पर वे रचनाएँ मौलिक तो हैं ही। पीड़ितों और दुखियों के प्रति पाठकजी की सहानुभूति है। प्रकृति के प्रति स्वतन्त्र प्रेम की भावना को जगाने का श्रेय पश्चिमी साहित्य के अध्ययन से ही जागृत हुआ था। लोचनप्रसाद पाण्डेय के 'प्रवासी' (१९०७) पर गोल्डस्मिथ के 'दि ट्रैवलर' और पोप के 'एसे आन मैन' का प्रभाव है। उनकी 'मेवाड़-गाथा' पर 'लेज ऑफ एन्शेन्ट रोम' का प्रभाव दिखायी देता है। इसमें देशभक्ति का वर्णन है। उनकी अपनी कविताओं के संकलन 'कविता

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ रंजन, पृ० १३

कुसुम-माला' (१९१०) में प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं पर टामसन और गोल्ड-स्मिथ का प्रभाव दिखायी देता है। प्रभात, मध्याह्न, सन्ध्या आदि वर्णनों पर टामसन और वर्ड्सवर्थ का प्रभाव है। सानेट और अमित्राक्षर छन्द के प्रयोग से भी उन पर अँग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट होता है। इसी प्रकार श्रीधर कृत चारण के दसवें परिच्छेद पर सर वाल्टर स्कॉट के 'ले ऑफ दि लास्ट मिन्स्ट्रेल' का प्रभाव है। यह मौलिक कथा काव्य है, पर उस पर भी अंग्रेजी प्रभाव मौजूद है। 'समाधि के शिलालेख' में लिखे गये पथिक के सम्बोधन की शैला भी हिन्दी के लिए नयी थी, जो अँग्रेजी से ही आयी थी। प्रसाद की प्रारम्भिक कृतियों पर अँग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवियों का प्रभाव है। 'कानन कुसुम' (१९१२) में अँग्रेजी प्रभाव सानेट की विधा के अनेक प्रयोगों के रूप में द्रष्टव्य है। इस विधा की रचनाएँ 'सरोज', 'रमणी हृदय', 'प्रियतम', 'मोहन', आदि हैं। अमित्राक्षर और अतुकान्त छन्द की रचनाएँ भी इसी अंग्रेजी प्रभाव को लिये हुए हैं। 'प्रथम प्रभात', 'चित्रकूट', 'भारत', 'शिल्पसौन्दर्य', आदि रचनाएँ इसी कोटि की हैं। उनके 'चित्राधार' (१९१८) की रचना 'कल्पना सुख' कीट्स की रचना 'दि रेल्म ऑफ फैन्सी' से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। प्रसाद के प्रेम-पथिक (१९१८ ई०) पर गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का आदर्श छाया हुआ है। प्रसाद को यह कथा-वृत्त इतना भा गया था कि इसे पहले १९०५ ई० में ब्रजभाषा में लिखा और फिर बाद में उन्होंने खड़ी बोली में (१९०८ ई०) अनूदित भी किया। इस प्रकार अँ`जी के प्रभाव से हिन्दी कविता में वस्तुमत्ता का आग्रह बढ़ा। कविता में इतिवृत्तात्मकता आयी, स्वदेशानुराग बढ़ा, प्राचीनता के साहसिक कार्यों के प्रति रुचि बढ़ी, प्रकृति के प्रति प्रेम जागा, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति बढ़ी और विश्वप्रेम, लोक-भावना, लोक-चेतना तथा जन-जागरण के प्रति नया आकर्षण उत्पन्न हुआ। श्रीधर पाठक से लेकर प्रसाद, पन्त, निराला आदि तक यह प्रभाव बँगला, मराठी तथा अन्य भाषाओं के माध्यम से हिन्दी में आता ही रहा। यह सब होते हुए भी अँग्रेजी का प्रभाव केवल सतही रह, हिन्दी काव्य की प्राणशक्ति सदा भारतीय रही।

### (११) प्रेम और सौन्दर्य की प्रवृत्ति

युगचेतना : १८८५ ई० में काँग्रेस की स्थापना के बाद देश में राज-नीतिक क्षोभ और तनाव बढ़ने लगा। १९०५ ई० में बंगाल के विभाजन के कारण व्यापक राष्ट्रीयता का उन्मेष हुआ। फिर नरम और गरम दलों में काँग्रेस का मतभेद (१९०७), लाला लाजपतराय का निर्वासन, तिलक

को सजा (१९०६ ई०), मुसलिम लीग की स्थापना, मिन्टोमार्ले सुधार, १९१४-१८ ई० में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारतीयों की आशाओं पर कुठाराघात, रूस की क्रान्ति १९०९ ई०, दुर्भाग्यपूर्ण रोलेट एक्ट, १३ अप्रैल १९१९ का जलियाँवाला काण्ड आदि घटनाएँ और सन् १९२० में गाँधी द्वारा असहयोग आन्दोलन के सूत्रपात के कारण इन दो दशकों का जीवन इतना विक्षुब्ध और आन्दोलित हो गया था कि प्रेम और सौन्दर्य की प्रवृत्ति अपने आप ही फीकी पड़ गयी थी।

इस समय सामाजिक दशा भी शोचनीय थी। धार्मिक असहिष्णुता, कट्टरता, जाति-पाँति, पर्दा, बाल और वृद्ध-विवाह, दहेज, निरक्षरता, प्राचीन रूढ़ियाँ और पुरातन परम्पराएँ, आदि न जाने कितनी बातें थीं, जो हिन्दू समाज की जड़ों को खोखला किये हुए थीं। हिन्दी ने देशभक्ति बढ़ाने का कार्य किया। गद्य और पद्य की भाषा एक हो गयी। अँग्रेजी के प्रभाव ने स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की भावना को विकसित किया तथा साहित्य में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति बढ़ी। संस्कृत की पदावली, छन्द-विधान, अलंकार, शैली, प्रकृति-प्रेम, आदि का हिन्दी में पुनः प्रवेश हुआ। पाश्चात्य शिक्षा ने नवीन वैज्ञानिक प्रक्रिया, उदार और तटस्थ विवेकपूर्ण दृष्टि, तथा तर्कबुद्धि और युगचेतना की प्रेरणा दी। दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, रानाडे, गाँधी, लाला लाजपतराय, आदि महापुरुषों ने राष्ट्रीयता, चरित्रबल और सेवा-भावना द्वारा नैतिक आदर्शों की स्थापना की। इसी नैतिकता के कारण गद्यात्मकता, इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति बढ़ी। काव्य में इतिहास और पुराणों के विषयों के माध्यम से सांस्कृतिक गौरव को प्रकट किया गया।

धर्म अब मानवीय धरातल पर आने लगा था। मानव-धर्म ही युगधर्म हो गया था। राम और कृष्ण युग के नये साँचे में ढलकर लोककल्याण और राष्ट्रीयता के वाहक बन गये थे। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को सुन्दर बनाने के लिए अब आध्यात्मिकता की नयी व्याख्या की गयी। इस नये दर्शन से हिन्दी कविता विशेषतः प्रभावित हुई। युगचेतना की इस व्यापक भूमिका के सन्दर्भ में द्विवेदीकालीन प्रेम और सौन्दर्य की भावना को समझना भी आवश्यक है। नारी के प्रति नये दृष्टिकोण ने दाम्पत्य प्रेम को नया आधार दिया। समाज में नैतिक आदर्श मान्य होने लगे, जिससे कर्त्तव्य-प्रेरणा प्राप्त हुई तथा मानवीय दृष्टिकोण का विकास हुआ। अभावों, दरिद्रता और दुख के प्रति मानवीय करुणा तथा सहानुभूति को उद्रिक्त किया गया। तात्पर्य

यह है कि प्रेम अब केवल शारीरिक अंग-प्रत्यगों के चित्रण या भोगवादी दृष्टि से हटकर मनोमय स्वरूप में ढल गया। सौन्दर्य-दृष्टि में भी मानव के साथ प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ा। द्विवेदी युग के आदर्शों और पवित्र चरित्रों में तो सौन्दर्य देखा ही जाता था, पर प्रकृति के सूक्ष्म क्रिया-कलापों में भी यह सौन्दर्य-भावना प्रसरित होती थी। छायावादी काव्य की यह भूमिका द्विवेदी काल में अपने आप तैयार हो रही थी। काव्य-शैली में गद्यात्मकता और इतिवृत्तात्मकता का प्रभाव धीरे-धीरे घटता गया।

द्विवेदी युग में रीतिकालीन शृंगार के विलासी और भोगवादी पक्ष का प्रतिरोध हुआ। द्विवेदीजी के कठोर नैतिक अंकुश से इसे अश्लील मानकर त्यागा जाने लगा। रामचरित उपाध्याय ने 'काम की करतूत' कविता में कामदेव को फटकारा है :

"रति के पति ! तू प्रेतों से भी बढ़कर है सन्देह नहीं।
जिसके सिर पर तू चढ़ता है उसको रुचता गेह नहीं॥"

मैथिलीशरण गुप्त ने ठीक ही कहा है कि 'प्रेम में प्रियता नहीं'[१] और 'भारत भारती' के पृष्ठ १५२ पर कहा है :

"उद्दण्ड उग्र अनैक्य ने क्षय कर दिया है क्षेम का,
विद्वेष ने पद हर लिया है आज पावन प्रेम का।
ईर्ष्या हमारे चित्त से क्षण मात्र भी हटती नहीं,
दो भाइयों में भी परस्पर अब यहाँ पटती नहीं॥"[२]

हरिऔध ने भी नायक-नायिका भेद प्रस्तुत करके विलासपूर्ण चित्रण का बहिष्कार किया था। कृष्ण ने राधा को स्त्री जाति की शोभा कहा है—

"जो राधा वृष भूप तनया स्वर्गीय दिव्यांगना।
शोभा है ब्रज प्रान्त की अवनि की, स्त्री जाति की, वंश की।"[३]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, पृ० १५७

२. वही, पृ० १५२

३. हरिऔध, प्रियप्रवास, पृ० ९७

स्वयं कृष्ण भी कामी, चोर और रसिक न होकर अब एक महापुरुष, लोकसेवी और त्यागी व्यक्ति हैं।

प्रेम-तत्व की दृष्टि से, गोल्डस्मिथ का 'हरमिट', जिसे श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' (१८८६ ई०) के नाम से अनूदित किया था, एक महत्वपूर्ण रचना है। इसी रचना के प्रभाव-क्षेत्र में 'प्रेमपथिक' (१९१४, प्रसाद), शिशिर-पथिक (ब्रजभाषा, रामचन्द्र शुक्ल), मिलन (१९१७, रामनरेश त्रिपाठी) और ग्रन्थि (१९२०, सुमित्रानन्दन पन्त) आदि छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे गये। प्रेम के आख्यानों को हिन्दी खड़ी बोली में लिखने की यह प्रवृत्ति पहली बार देखी गयी। प्रेम स्वतन्त्र रूप से काव्य का विषय बना। भक्तिकाल में प्रेम ईश्वरोन्मुख था और रीतिकाल में विलास या भोग की परम्परा थी। आलोच्य काल में वही मानव प्रेम हो गया। विश्वप्रेम, मानवसेवा का प्रेम और निष्काम प्रेम इसी परिधि में आते चले गये। प्रसाद ने 'रेम-पथिक' में लिखा था कि 'हृदय खोल कर मिलने वाले बड़े भाग्य से मिलते हैं।' वे कहते हैं :

> "रेम-पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो"
>
> × × ×
>
> "पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है।।"
>
> × × ×
>
> "प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।"

उन्होंने 'प्रेम जगत का चालक है' कहा और 'प्रेम करुणा है' बताया। रामनरेश त्रिपाठी ने प्रेम को (मिलन में) स्वर्ग-अपवर्ग और ईश्वर का रूप माना :

> "प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।
> ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक।"

प्रियप्रवास, मिलन या प्रेमपथिक में प्रेम का आदर्शीकरण हुआ। 'मिलन' में त्रिपाठी जी के प्रेम पर सूफी रंग चढ़ा हुआ है :

> "फूल पंखुड़ी में पल्लव में प्रियतम रूप विलोक
> भर जाता है महा मोद से प्रेमी की उर ओक।
> प्रेम भरे अधखुले दृगों से शशि को देख सहास
> प्रेमी समझ मुग्ध होता है प्रियतम हास-विकास।।"

'जन-जन में प्रेमी को दिखती है प्रियतम की कान्ति' का स्वरूप इस प्रेम की विशेषता थी और इसलिए यह प्रेम मानवीयता ग्रहण किये हुए है। सुभद्राकुमारी चौहान ने 'ठुकरा दो या प्यार करो' रचना में लिखा है :

"मैं उन्मत्त प्रेम की लोभी हृदय दिखाने आयी हूँ।
जो कुछ है बस यही पास है, इसे चढ़ाने आयी हूँ।"

प्रसाद ने प्रेम की परिभाषा इस प्रकार दी है :

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।"

श्रीधर पाठक ने संसार को 'प्रेममय'[१] कहा और सत्यनारायण कविरत्न ने 'हृदय-तरंग की प्रेमकली' रचना में 'परमेसुर मय पेम पेम भय नित परमेसुर' कहा। 'सिद्धराज' के पृष्ठ ७२-७३ में गुप्तजी ने लिखा है :

"चुप चुप कामी चुप नाम न लो प्रेम का।
अबला रहूँ, मैं किन्तु धर्म बलवन्त है।"

रामनरेश त्रिपाठी ने पथिक में कहा है—

"कैसी मधुर मनोहर उज्ज्वल है यह प्रेम कहानी।
जी में है अक्षर बन इसके बनूँ विश्व की बानी।
स्थिर, पवित्र, आनन्द-प्रवाहित सदा शान्त सुखकर है।
अहा प्रेम का राज्य परम सुन्दर, अतिशय सुन्दर है॥"[२]

'प्रेम पथिक' में प्रसाद ने प्रेम को विश्वव्यापी बनाने की बात कही है :

"किन्तु न परिमित करो प्रेम सौहार्द्र विश्वव्यापी कर दो।"[३]

'स्वप्न' के पाँचवें सर्ग में रामनरेश त्रिपाठी का कथन है :

"सच्चा प्रेम वही है, जिसकी तृप्ति आत्मबल पर हो निर्भर।
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है, करो प्रेम पर प्राण निछावर॥"[४]

'ग्रन्थि' में पन्त विरति से भी शक्ति प्राप्त करते हैं। डा० गोपालशरण

---

१. श्रीधर पाठक, भारतगीत, पृ० ६८
२. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, प्रथम सर्ग, पृ० २१
३. प्रसाद, प्रेम पथिक, पृ० २४
४. रामनरेश त्रिपाठी, स्वप्न, पाँचवा सर्ग

सिंह प्रेम को 'जग जीवन सार'[1] मानते हैं। रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथिक' (पृष्ठ १६) में कहा है :

"मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है।"

आलोच्य काल में संयोग और वियोग पक्ष दोनों का ही चित्रण सुन्दर बन पड़ा है। 'साकेत' के प्रथम सर्ग में संयोग पक्ष के अन्तर्गत व्रीड़ा की व्यंजना द्रष्टव्य है—

"हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये और बोले—'एक परिरम्भण प्रिये।'
सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया, एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।"

रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' में 'सुमन' के रूप के गर्व की सुन्दर अभिव्यक्ति इस प्रकार है—

"एक दिवस मैंने उपवन में पुष्पित एक गुलाब देखकर।
बड़े प्रेम से कहा हे प्रिये, कैसा है प्रसून यह सुन्दर।
वह अचरज से लगी देखने निज कपोल मेरे समक्ष कर।
मै लज्जित हो गया भूलता नहीं हाय, वह दृश्य मनोहर।"[2]

वियोग-वर्णन की दृष्टि से 'पथिक', 'साकेत', 'यशोधरा' आदि हैं। 'प्रियप्रवास' में हरिऔधजी का कथन है :

"प्रिय विरह घटाएँ घेरती आ रही हैं।
घहर घहर देखो हैं कलेजा कँपाती॥"[3]
"पीड़ा नारी हृदय-तल की नारि ही जानती।"[4]

उद्दीपन विभाव के अनेक उदाहरण साकेत, प्रियप्रवास, पथिक, ग्रन्थि, यशोधरा, पंचवटी, आदि ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। राधा, उर्मिला, यशोधरा आदि विरह-विदग्ध पात्रियाँ अपने उदात्त प्रेम के लिए ही जानी जाती हैं। देश में राष्ट्रीय जागरण और स्वातंत्र्य संग्राम की दुर्दान्त बेला थी और ऐसे युग में संयम, साधना, विवेक, त्याग, आत्मनिग्रह और इन्द्रिय-दमन की भावनाएँ प्रणय सम्बन्धी अभिव्यक्ति पर हावी रही हैं।

---

१. ठा० गोपालशरसिंह, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पृ० २६
२. रामनरेश त्रिपाठी, स्वप्न, पृ० ६०
३. हरिऔध, प्रियप्रवास, चतुर्थ सर्ग
४. वही, सर्ग पन्द्रह

द्विवेदी युग में ईश्वर भक्ति या ईश्वर प्रेम का रूप भी बदल गया। राजनीतिक चेतना ने मनुष्य के स्वतन्त्र महत्व का प्रतिपादन किया और उसके व्यक्तित्व को प्रधानता दी। ईश्वर, धर्म, तीर्थ, पण्डे, उपासना, आदि से सम्बन्धित रूढ़ियाँ दबने लगीं। अन्ध भक्ति के स्थान पर शुद्ध विवेक से अनुमोदित भक्ति स्वीकार की गयी। काव्य में उपदेशात्मकता बढ़ी तथा रागात्मक वृत्ति घटने लगी। विवेकानन्द और तिलक की विचारधारा ने विवेक को प्रधानता दी थी। स्वामी रामतीर्थ ने 'मनुष्यदेव' को सर्वश्रेष्ठ कहा था। रवीन्द्र की ईश्वरत्व सम्बन्धी मान्यता अधिक आकर्षक और रमणीय थी। अब ईश्वर को दीनों के आँसू, पतन, बेबसी और करुणा में ही देखा जा सकता था :

"हे मेरे प्रभु व्याप्त हो रही है तेरी छबि त्रिभुवन में,

× × ×

भूख प्यास से दलित दीन की मर्मभेदिनी आहों में
दुखिया के निराश आँसू में, प्रेमीजन की राहों में।"[१]

निस्सहाय और निरुपायों के बीच ईश्वर निवास करता है। जन्मभूमि भी ईश्वर ही है :

"फिर बोला—'हे जन्मभूमि ! हे देश, प्रेम घन मेरे।
मैं यह जीवन पुष्प चढ़ाता हूँ चरणों पर तेरे॥"[२]

तात्पर्य यह है कि द्विवेदी युग का ईश्वर अब मानवमात्र के प्रेम का आलम्बन था।

प्रकृति-प्रेम की अन्यत्र चर्चा की जा चुकी है। श्रीधर पाठक, त्रिपाठी, गुप्त, हरिऔध, शुक्ल, रामचरित उपाध्याय, आदि कवियों ने द्विवेदी काल में प्रकृति के स्वच्छन्द और परम्परागत दोनों ही स्वरूपों का चित्रण किया, परन्तु स्वच्छन्द वर्णन अधिक हुआ।

मानव-प्रेम इस युग की प्रमुख विशेषता है। इसके माध्यम से विश्वप्रेम की भावना का बड़ा प्रसार हुआ। इसकी भी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। प्रियप्रवास (सर्ग ६, छन्द ४६) और साकेत (पृष्ठ ६६) इस हेतु द्रष्टव्य हैं :

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, 'तेरी छबि' कवित्त
२. वही, पथिक सर्ग ३

"कोई क्लान्ता कृषक ललना खेत में जो दिखावे।
धीरे धीरे परस उसकी क्लान्तियों को मिटाना।"[१]

अथवा

"राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए, नहीं सभी कहीं हो क्या?"[२]

'यशोधरा' और 'प्रियप्रवास' का वात्सल्य चित्रण अनुपम है। द्विवेदी काल में पारिवारिक प्रेम या कौटुम्बिक प्रेम की विवृति विशेष रूप से पायी जाती है। साकेत और यशोधरा के पारिवारिक प्रेम के वर्णन सुन्दर हैं। पंचवटी के लक्ष्मण और सीता, सीता और राम, तथा राम और लक्ष्मण के संवाद इस दृष्टि से आदर्श हैं। सीता का लक्ष्मण को कहना—

"रहो, रहो, पुरुषार्थ यही है—पत्नी तक न साथ लाये"...[३]
"तनिक देर ठहरो, मैं देखूँ तुम देवर-भाभी की ओर"[४]
"मन:प्रसाद चाहिए केवल क्या कुटीर फिर क्या प्रासाद?
भाभी का आह्लाद अतुल है मझली माँ का विपुल विषाद।"[५]

कवि का सूक्ष्म सत्ता के प्रति प्रेम भी इस युग में सर्वत्र व्यक्त किया गया है। परन्तु यह संघर्ष का युग था, इसलिए कल्पना की अपेक्षा कविगणों ने आदर्शों पर अधिक ध्यान दिया।

### सौन्दर्य

सौन्दर्य-भावना अपने बाह्य और अन्त: संवेद्य रूप में आलोच्य काल में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती चली गयी। प्रसाद ने 'प्रेम पथिक' में 'चिरसुन्दर' के प्रति जिज्ञासा प्रकट करते हुए विश्वात्मा को ही सुन्दरतम कहा :

"उषा चाँदनी सी बिछती है किस सुन्दर के लिए कहो?
स्निग्ध, शान्त, गम्भीर महासौन्दर्य सुधासागर के कण।
ये सब बिखरे हैं जग में, विश्वात्मा ही सुन्दरतम है।"[६]

---

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, सर्ग ६, छन्द ४६
२. गुप्त जी, साकेत, प्राक्कथन
३. वही, पंचवटी, पृ० ६८
४. वही, पृ० १२८
५. वही, पृ० १६
६. प्रसाद, प्रेम पथिक, पृ० २५

इस युग में पुरुष, नारी और कल्पनामय रहस्यात्मकता का आवरण लिये हुए सूक्ष्म सौन्दर्य के भीतर अमूर्त उपमानों का आश्रय लिया जाने लगा था। द्विवेदीजी के प्रभाव से भाषा की क्षमता इतनी तेजी से बढ़ी कि 'जुही की कली' जैसी सशक्त रचना सूक्ष्म कल्पना और सौन्दर्यपूर्ण रहस्यात्मकता को प्रकट कर सकी। प्रेम पथिक, ग्रन्थि और साकेत तथा प्रियप्रवास के अतिरिक्त अनेक स्फुट रचनाओं में यह शक्ति थी। काव्य में प्रेम, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, आदर्शों और शील-सौजन्यों की ओर मुड़ता गया। रीतिकाल का भोगवादी और पार्थिव चित्रण नैतिकता, आदर्श और मानवीय गुणों से समन्वित होता चला गया। द्विवेदीजी ने प्रेम को अश्लीलत्व के क्षेत्र से हटाकर आदर्शवादी स्वरूप देने की सलाह दी थी। उन्होंने नायक-नायिका-भेद विषयक पुस्तकों का विरोध करते हुए कहा था —"इस प्रकार की पुस्तकों का होना हानिकारक है, समाज के सच्चरित्र की दुर्बलता का दिव्य चिह्न है। इन पुस्तकों के बिना साहित्य को कोई हानि न पहुँचेगी, उल्टा लाभ होगा।"[१] आगे उन्होंने कहा है कि "यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर कोई प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गता-गत' की पहेली बुझाने की।"[२] उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा कि "जहाँ तक हम देखते हैं स्त्रियों के भेद-वर्णन से कोई लाभ नहीं, हानि अवश्य है और बहुत भारी हानि है।"[३]

गुप्तजी ने 'भारत भारती' में भी कवियों को इस शारीरिक सौन्दर्य के रीतिकालीन वर्णनों से अपने आप को दूर रखने की शिक्षा दी :

"करते रहोगे पिष्ट पोषण और कब तक कविवरो,
कच, कुच, कटाक्षों पर अहो! अब तो न जीते जी मरो।
है बन चला शुचि अशुचि अब तो कुरुचि को छोड़ो भला
अब तो दया करके सुरुचि का तुम न यों घोंटो गला॥"[४]

गुप्तजी ने 'भारत-भारती' के पृष्ठ १२७ पर कहा है कि "अश्लील ग्रन्थों से हमारा शील चौपट हो रहा है"। वे कहते हैं :

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ रंजन, पृ० १२
२. वही, पृ० १७
३. वही, पृ० ६०
४. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, भविष्यत् खंड, पृ० १७६

"उद्देश्य कविता का प्रमुख शृंगार रस ही हो गया।
× ×
कवि कर्म कामुकता बढ़ाना रह गया देखो जहाँ।
× ×
श्री कृष्ण की हम आड़ लेकर हानि करते लोक की।
भगवान को साक्षी बनाकर यह अनंगोपासना।
है धन्य ऐसे कविवरों को, धन्य उनकी वासना॥"[१]

१९०० ई० से १९२० ई० के मध्य खड़ी बोली में शील, सौजन्य आदि सद्‌गुणों को भरा जा रहा था। आत्मविश्वास के साथ जीवन-दृष्टि में जो विचारशीलता और बौद्धिकता आ रही थी, उसमें देश के नये सिरे से गढ़ने वाली भावात्मक पकड़ थी। देश भर में राजनीतिक तनाव और सामाजिक सुधारों के ताने-बाने में धर्म को बुद्धिवादी अँगुलियों से बुना जा रहा था। आत्म-प्रदर्शन से अधिक महत्व का विषय कवि के सामने देश की दशा का चित्र खींच कर राष्ट्रीयता को जगाना था। प्रेम और सौन्दर्य यद्यपि अपनी रसात्मकता के कारण चिरन्तन होते हैं, परन्तु समयानुकूल रूप धारण करके वे भी इस युग में राष्ट्रीयता का पोषण करने लगे थे।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'कविता कलाप' का प्रकाशन १९०९ ई० में कराया था। इसमें कुछ रचनाएँ नारी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए लिखी गयी हैं, यथा :

"कमलिनी रमनी दृगरोचनी।
सरवती युवती मृगलोचनी।
सलवणाललना-कुल-सुन्दरा।
लसति चित्र सुहावन 'इन्दिरा'॥"[२]

"भ्रू नहीं मैंने कहा रसराज के हथियार हैं,
काम के कमठा किये तारुण्य की तलवार हैं॥"[३]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, भविष्यत् खण्ड, पृ० १२७
२. महावीरप्रसाद द्विवेदी, कविता कलाप, इन्दिरा, पृ० ९ (राय देवीप्रसाद पूर्ण)
३. वही, केरल की तारा, पृ० १२ (नाथूराम शर्मा)

"उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो,
काम ने भी देखो दो कमानें तक तानी हैं।"[1]
"कञ्ज से चरण कर, कदली से जंघ देखो,
क्षुद्र तण्डुला से दो उरोज गोल गोल हैं।"[2]
"इसके अधर जब देख पाते, शुष्क गुलाब फूल हो जाते।"[3]
"जब यह अद्भुत भाव बनाती, बसन इधर से उधर हटाती।
नाभि नवल नीरज दिखलाती, रतनपट से पट को खिसकाती।

× × ×

कटि इसकी न भंग हो जावे, चलते कहीं न यह गिर जावे।
इससे त्रिबली बन्ध बनाया, विधि ने यह चातुर्य दिखाया।
इसका कुच नितम्ब विस्तार, सचमुच है अत्यन्त अपार।"[4]
"गुरु नितम्ब कटि क्षीण, पीन कुच, कृष्ण कलेवर।"[5]

× × ×

गोरे गुलाबदल से अति गोल गोल, कैसे मनोज्ञ युग हैं इसके कपोल।[6]

यह नारी-सौन्दर्य का रीतिकालीन परम्परागत वर्णन पुराने उपमानों के साथ ही हुआ है। यह बासी वर्णन है। इन्हीं वर्णनों के साथ त्रिपाठी, प्रसाद, पन्त, गुप्त आदि ने नारी-सौन्दर्य के शालीनतापूर्ण वर्णन किये हैं। 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' के वर्णनों की शालीनता द्रष्टव्य है।

(१२) **स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति :** द्विवेदीयुगीन काव्य के बीस वर्षों में जहाँ नैतिकता, उपदेशात्मकता और इतिवृत्तात्मकता का एक सामान्य मुहावरा विकसित हुआ था, वहाँ एक नयी जीवन्त स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा भी, जो कभी रीतिकाल में आलम, बोधा, ठाकुर और घनानन्द की कविता में झलक उठी थी और जो भारतेन्दु के द्वारा पुनर्जीवित होकर श्रीधर पाठक, ठाकुर जगमोहनसिंह, रायदेवीप्रसाद पूर्ण, रूपनारायण

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी, कविताकलाप, वसन्तसेना, पृ० १४ (नाथूराम शर्मा)
२. वही, पृ० १५
३. वही, कुमुद सुन्दरी, पृ० ६८
४. वही, रम्भा, पृ० ९६
५. वही, शकुन्तला पत्र-लेखन से, पृ० ५९
६. वही, मालती महिमा, पृ० ४४

पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद और मुकुटधर पाण्डेय द्वारा संवर्धित हुई थी वही छायावादी काव्य में आगे चलकर महानद की तरह प्रवाहित हुई। वह द्विवेदी युग की काव्य-धारा में भी एक सदाशयी प्रतिज्ञा की तरह देखी जा सकती है। हिन्दी का साधारण पाठक द्विवेदीयुगीन काव्य को परम्परावादी सर्जना मानता है। इतिवृत्तात्मकता शब्द के आक्रामक रुख ने द्विवेदीयुगीन काव्य के अन्तरंग की आवेगमयी अनुभूतियों की प्रामाणिकता को ढाँक-सा दिया, फलतः स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को तत्कालीन काव्य में सार्थक ढंग से देखने का प्रयत्न बहुत कम हुआ।

द्विवेदी युग हिन्दी के क्लासिकल या परम्परावादी नवजागरण का युग है। रूढ़ि, परम्परा और नियमबद्धता का अधिकतम निर्वाह इस युग में हुआ और इसी से मुक्ति हेतु लगभग १९१४ ई० के आस-पास स्वच्छन्दतावादी काव्य की रागावेगमयी रचनाओं का नया सिलसिला आरम्भ हुआ। कविता में विषयगत तथा विधानगत नवीनता धीरे-धीरे प्रकट हुई।

फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के बाद रोमांटिक काव्य का आरम्भ यूरोप में हुआ। १८१० ई० तक पूरे यूरोप में रोमांटिक लहर फैल गयी। यूरोप की स्वच्छन्द काव्यधारा या रोमांटिक काव्यधारा तत्कालीन जर्मन दार्शनिकों के अतिरिक्त फ्रान्स की राज्यक्रान्ति से भी प्रभावित थी। क्रान्ति के राजनीतिक सिद्धान्तों ने इस धारा को प्रेरणा दी। इसका सबसे महत्वपूर्ण काल १७७८ ई० से १८०५ ई० तक है। यह रूसो की मृत्यु (१७७८ ई०) से शिलर की मृत्यु (१८०५ ई०) तक का समय है। इस काल में रोमांटिक आन्दोलन ने यह मान्यता स्थापित कर दी कि साहित्य, संस्कृति और जीवन के उन्नत क्षेत्रों में मनुष्य के संवेगों, स्वच्छन्द वृत्तियों और आकुल आवेगों को पूर्ण स्वीकृति मिलनी चाहिए। सन् १८१० ई० तक वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज का काव्य प्रकाश में आ गया तथा टी० एस० ओमण्ड का महत्वपूर्ण कार्य भी सम्पन्न हो गया। फ्रान्स और जर्मनी की अपेक्षा अंग्रेजी में इस धारा का प्रवेश अधिक तीव्रता से हुआ और भारत में अंग्रेजों के प्रभुत्व तथा अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा-पद्धति के कारण अंग्रेजी की स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा का सम्पर्क भारतीय कवियों को प्राप्त हुआ। सन् १७२४ ई० से १८५४ ई० के बीच काण्ट, शिलर, फिख्ते, हीगेल और शैलिंग की दार्शनिकता भी इसी धारा के माध्यम से छायावादी कवियों तक पहुँची।

सन् १६५४ में इवलिन की डायरी में रोमांटिक शब्द का प्रथम प्रयोग हुआ है। आगे चलकर कल्पनाप्रधान प्रवृत्ति ने एडीसन, ग्रे, पोप, रूसो, गेटे और शिलर आदि सभी को आकर्षित किया। फ्रान्सीसी साहित्य में 'मेडेम हीशेल' ने रोमांटिक साहित्य की रचना की।

स्टोडर के मत से 'इच्छाओं का कल्पना के क्षेत्र में अनुवाद' स्वच्छन्दतावाद है। लेटरहेज ने महत्वाकांक्षा को स्वच्छन्दतावाद का मूल तत्व माना है। हरफोर्ड ने इसे काल्पनिक अनुभूति का एक असाधारण विकास माना है। कॉलरिज इसे निर्णय पर कल्पना का प्रभुत्व मानता है। यह वैयक्तिक काल्पनिक अनुभूति की महत्ता पर आधारित है। फ्रिजस्ट्रिज का मत है कि "स्वच्छन्दतावाद मनुष्य की पूर्णता के लिए वह महत्वाकांक्षा है, जो कभी प्राप्त न हो।"[१] इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि यह एक सतत गतिशील रहने वाली साहित्यिक प्रक्रिया है। विक्टर ह्यूगो इसे साहित्य में उदारतावादी दृष्टि मानते हैं। वाट्सडन्टन इसे काव्य और कला में कौतूहल की अनुभूति का नवजागरण मानते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसका सम्बन्ध 'स्वच्छन्द और प्राकृतिक भावधारा'[२] से जोड़ा है और उसे पंडितों की बँधी-बँधायी प्रणालियों से हटी हुई सजीव और चेतना-शक्ति से सम्पन्न अनुभूति की सच्ची अभिव्यक्ति कहा है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत है कि "स्वच्छन्द काव्य भाव भावित होता है, बुद्धि बोधित नहीं, इसलिए आन्तरिकता उसका सर्वोपरि गुण है। आन्तरिकता की इस प्रवृत्ति के कारण स्वच्छन्द काव्य की सारी साधन-सम्पत्ति शासित रहती है। यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कविताओं की रचना के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है। बहुत आधुनिक ढंग से कहेंगे कि स्वच्छन्द वृत्ति के कवियों की अनुभूति ही उनका मुख्य आधार है। उसी के सहारे उनकी सारी कृति की छानबीन की जा सकती है।"[३] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि "रोमांटिक साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है, जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घनसंश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व-प्रधान

---

१. डॉ० त्रिभुवन सिंह, आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा, पृ० २३
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५५२-५५३
३. मनोहरलाल गौड़, घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य धारा, परिचय, पृ० ५.

साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।"[१] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी यह मानते हैं कि "रोमांटिक साहित्य वस्तुतः जीवन के उस आवेगमय पहलू पर जोर देने के कारण अपना यह रूप धारण कर सका है जो अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित और प्रेरित करता रहता है।"[२] इससे स्पष्ट है कि वे कल्पना और आवेग को इस धारा के प्रमुख तत्व मानते हैं। इसी आवेग में परिपाटी विहित नीति और सदाचार के मानदण्डों के विरुद्ध उसे विद्रोह करना पड़ता है। विद्रोह की भावना व्यक्ति के स्तर पर निर्भर है। नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि "स्वतंत्रता की लालसा और बन्धनों का त्याग रोमांटिक काव्यधारा के मूल में व्याप्त है।"[३] आगे वह कहते हैं कि "जो काव्यधारा अत्यन्त अनियमित पद्धति, संयम रहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है, वह रोमांटिक गति की सूचक है।"[४] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है "सामाजिक बन्धनों को तोड़ कर जीवन की स्वच्छन्द भूमि में विचरण करने की लालसा" स्वच्छन्दतावादी क्षेत्र में आती है। शुक्लजी का मत है कि "हमारी भावप्रवर्तिनी शक्ति का असली भण्डार इसी स्वाभाविक भावधारा के भीतर निहित समझना चाहिए।"[५] डॉ० कुमार विमल स्वच्छन्दतावाद की एक विशिष्ट प्रवृत्ति यह भी मानते हैं कि काव्य, चित्र और संगीत का अधिकतम एकीकरण हो।

**लक्षण**—ऊपर के मतों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वच्छन्दतावादी काव्य के प्रधान लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) भावावेग, आन्तरिक अनुभूति का उच्छल प्रवाह और व्यक्तिपरक भावराशि का उद्वेलन।

(२) काव्य में अन्तःप्रेरणा, आत्मपरकता, व्यक्तिवादी प्रवृत्ति और व्यक्ति-निष्ठ अभिव्यंजना का प्राधान्य।

---

१. देखिए डॉ० देवराज, 'रोमांटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका', पृ० २

२. डॉ० त्रिभुवन सिंह, आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा, पृ० २६

३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य—स्वच्छन्दता और परम्परा, पृ० ३८७

४. वही, पृ० ३८८

५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५५३

(३) काव्य-शास्त्रीय नियमों तथा काव्य-रूप और रचना-पद्धतियों के प्रति विद्रोह।

(४) स्वतन्त्र अभिव्यंजना शैली और सांकेतिकता या प्रतीकात्मकता का वैशिष्ट्य।

(५) सौन्दर्य के प्रति अनुराग तथा प्रकृति से सम्पृक्तता।

(६) प्राचीन काव्य-रूढ़ियों का विरोध।

(७) लोकसामान्य विषयों के स्थान पर असाधारण और काल्पनिक तथा असम्भव की प्राप्ति की आकांक्षा।

(८) स्वच्छन्द वृत्ति के चरित्रों की स्वीकृति तथा प्रकृति-प्रेम की प्रधानता। कवि सर्वत्र पशु-पक्षी, पेड़-पौधों, जड़ और अचेतन वस्तुओं में एक अज्ञात चेतना और अज्ञात शक्ति का प्रभाव अनुभव करता है। कवि मानववादी हो उठता है। उसका दृष्टिकोण सर्वचेतनवादी हो जाता है। भाषा, शैली, छन्द, काव्यरूप और रचना-शिल्प में परिवर्तन।

इन लक्षणों के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वच्छन्दतावाद हिन्दी कविता में सहज विकास-क्रम के रूप में आया।

**शास्त्रीय एवं स्वच्छन्दतावादी काव्य में अन्तर**—क्लासिकल या शास्त्रीय काव्य तथा स्वच्छन्दतावादी काव्य में अन्तर होता है। दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। क्लासिकल या शास्त्रीय काव्यधारा में परम्परा और शास्त्रीयता काल के प्रहारों से अखण्डित रहती है। उसकी रससम्वेदना सदा एक-सी बनी रहती है। रोमांटिक या स्वच्छन्द धारा में कल्पना और आवेग की प्रधानता, प्राचीन मान्यताओं का विरोध और काल्पनिक रंगीनियों का फैलाव तथा करुणामिश्रित स्वच्छन्द प्रेम का ज्ञान होता है। इसमें प्रेम, कल्पना और संवेग प्रधान होता है। विषय की अपेक्षा शैली या विधान पर अधिक जोर दिया जाता है। गीतात्मकता के साथ इसका अनन्य सम्बन्ध होता है। हीगेल ने इसे स्वच्छन्दतावाद का सर्वोपरि गुण माना है। वैयक्तिक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए बिम्बों के सम्मूर्तन तथा चित्रात्मकता की प्रधानता होती है। शास्त्रीय काव्य में प्रकृति अपने प्रकृत रूप में ही ग्रहण की जाती है, पर स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा में कवि प्रकृति पर अपनी स्वानुभूति का आरोप करता है। दोनों के बीच प्रकृति एक विभाजक गुण है। क्रोचे का मत है कि रोमांटिक काव्य में विधान पक्ष (कन्टेन्ट) के बन्धन शिथिल होकर टूट जाते हैं और विषय पक्ष अधिक प्रबल होता है। इस प्रकार मानव-

अनुभूतियों को सर्वोपरि महत्व देनेवाला स्वच्छन्दतावादी काव्य संवेगमय, और ललित कलाओं के प्रति अधिक साकांक्ष होता है। उसमें चित्रमयता, प्रतीकात्मकता, बिम्ब-बोध और संगीत का एकीकरण होता है। सच पूछिए तो एक कवि रोमांटिक और शास्त्रीय दोनों हो सकता है। प्रसाद और निराला कहीं रोमांटिक हैं, कहीं शास्त्रीय। द्विवेदी युग के कवियों ने जिस स्वतन्त्रता के साथ नये विषय अपनाये और नये छन्दों को स्वीकार किया तथा जितनी स्वानुभूतिमयी रचनाएँ प्रेषित कीं, उससे उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति का पता चलता है। यदि प्राचीनता का मोह और रूढ़िगत परम्पराओं से वह मुक्ति पा जाते तो हिन्दी का साहित्य और भी अधिक प्रगति कर लेता। शास्त्रीय काव्य रूप पर बल देता है और स्वच्छन्द धारा का काव्य भावुकताप्रधान होता है। आन्तरिक प्रेरणा, भावुकता, वर्ण्य-विषय की प्रधानता, अनुभूति और कल्पना की आवेगमय अभिव्यक्ति और नित्य नवीन सौन्दर्य की आकांक्षा स्वच्छन्दतावाद के तत्व हैं।

दोनों प्रकार के काव्य का दृष्टिकोण भिन्न होता है। शास्त्रीय काव्य की बँधी-बँधायी लीक पर चलने वाली मर्यादाओं के बन्धन क्लासिकल काव्य की दिशा निर्धारित करते हैं। स्वच्छन्द काव्य में लीक, परम्परा, रूढ़ियाँ, और प्राचीनता का स्पष्ट विरोध दिखायी देता है। परम्परावादी शास्त्रीय काव्य नूतनता के प्रति उदासीन होता है, पर स्वच्छन्दतावादी काव्य नवीनता के प्रति आकर्षित होता है। मूल अन्तर आन्तरिक प्रेरणा का है। डॉ० मनोहर लाल गौड़ का मत है कि "यही स्वत:प्रसूत भावों का प्रवाह अपने अनुकूल शब्द-जाल में अभिव्यक्त होकर रोमांटिक काव्य कहलाता है।"[१] रीतिकाल के शास्त्रीय कवि वर्ण्य-विषय के पूर्व निर्धारित स्वरूप का ही वर्णन करते थे। संस्कृत के दण्डी, केशव मिश्र, अमरचन्द आदि कवियों ने इसी परिपाटी पर काव्य रचा था। नियमों से अनुशासित काव्य शास्त्रीय काव्य है। इसके विरुद्ध स्वच्छन्दतावादी काव्य प्राचीन परिपाटी, नियमों और बन्धनों को अस्वीकार करता है। नवीन मार्ग का अनुसरण करना और अतिवादी होना स्वच्छन्दतावादी काव्य का रुचिकर पक्ष है। "शास्त्रीय काव्य में पूर्णता, औचित्य, नाप-तौल, संयम, पुराणता, प्रामाणिकता, शान्ति, अनुभव और अनुकूलता से सम्बधित

---

१. डॉ० मनोहरलाल गौड़, घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य धारा, पृ० २१६-२१७

गुण और दोष हुआ करते हैं, जबकि स्वच्छन्द काव्य में जोश, स्फूर्ति, बेचैनी, आध्यात्मिकता, कौतूहल, अशान्ति, प्रगति, स्वतन्त्रता, प्रयोग और उत्तेजना आदि से सम्बन्धित।"[१] अतीत का गौरवपूर्ण आख्यान करने वाला काव्य क्लासिकल कहा जाता है। स्वच्छन्द काव्य, काव्य की इस जड़ता का विरोधी है। घनानन्द की यह उक्ति—

> "लोग हैं लागि कवित्त बनावत
> मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत।"

उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की परिचायक है। शास्त्रीय कवि का काव्य परिश्रम-सापेक्ष होता है और वचन-विदग्धता से वह आपूर्ण होता है। स्वच्छन्दतावादी काव्य में भाव सहज ही आवेगमय रूप में फूट पड़ते हैं। इस प्रकार शास्त्रीय और स्वच्छन्द काव्यधारा में निम्नलिखित अन्तर पाया जाता है :

(१) शास्त्रीय काव्य प्राचीनता प्रेमी और स्वच्छन्तावादी काव्य नवीनता प्रेमी होता है।

(२) शास्त्रीय काव्य परम्परावादी, रूढ़िवादी, नियमोपनियमों पर आश्रित, निश्चित विषय और शैली के प्रति आग्रहशील होता है। स्वच्छन्दतावादी काव्य परम्परा और रूढ़ियों का विरोधी और निर्बन्धता का प्रेमी होता है।

(३) परिपाटीबद्ध रस और सौन्दर्य के प्रति शास्त्रीय काव्य का झुकाव होता है। स्वच्छन्द काव्य स्वयं आवेग, स्वानुभूति, कल्पना और आन्तरिक प्रेरणा पर निर्भर करता है।

(४) शास्त्रीय कवि के लिए कविता साध्य होती है। वह साधन पक्ष पर विशेष ध्यान देकर परिश्रमपूर्वक रची जाती है। वह बुद्धिप्रधान होती है। स्वच्छन्दतावादी कविता मानसिक संवेग से फूटती है, कवित्व साधन मात्र होता है और साध्यपक्ष अर्थात् काव्य के अन्तरंग पर बल दिया जाता है।

(५) शास्त्रीय काव्य शान्तिप्रिय, शास्त्रानुमोदित निर्दिष्ट आदर्शों से अनुशासित होता है। स्वच्छन्दतावादी काव्य शास्त्रीय नियमों के प्रति असन्तोष के कारण उत्पन्न होता है और आन्तरिक प्रेरणा, स्वानुभूति तथा अप्रस्तुत और अदृश्य के उपादानों से संघटित होता है।

---

१. जेम्स स्कॉट, दि मेकिंग ऑफ लिटरेचर, पृ० १६७, (डॉ० के० सी० वर्मा, रीति स्वच्छन्द काव्य धारा, पृ० ५१ से उद्धृत)

(६) शास्त्रीय काव्य में शैली, भाषा, अलंकार, छन्द आदि प्रमुख हो जाते हैं, पर स्वच्छन्दतावादी काव्य में अनुभूति का ही महत्व सर्वोपरि होता है। गहरी अनुभूति कभी-कभी रहस्यमय प्रतीत होती है।

(७) स्वच्छन्दतावादी काव्य में प्रगीतात्मक रचना-पद्धति पायी जाती है। शास्त्रीय काव्य प्रबन्धात्मक होता है।

शास्त्रीय या क्लासिकल काव्य और स्वच्छन्दतावादी या रोमांटिक काव्य में जमीन आसमान का अन्तर है। एक वस्तुनिष्ठ काव्य है, दूसरा आत्मनिष्ठ काव्य। स्वच्छन्दतावादी काव्य में हृदय को रानी का स्थान और बुद्धि को चेरी का स्थान देते हुए घनानन्द कहते हैं :

> "रीति सुजान सची पटरानी
> बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी ॥"

**स्वच्छन्द काव्यधारा और छायावाद**—स्वच्छन्दतावाद, छायावाद और रहस्यवाद एक-दूसरे के बहुत निकट से बहने वाली काव्यधाराएँ हैं। डॉ० नगेन्द्र छायावाद को मूलतः रोमानी कविता मानते हैं और उसे असफल सत्याग्रह से प्रेरित कहते हैं, पर स्वच्छन्दतावाद के पीछे फ्रान्स की सफल राज्यक्रान्ति थी। छायावाद अन्तर्मुखी काल्पनिक अभिव्यंजना और शुद्ध प्रतीकात्मक काव्य शैली है, पर स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा वैयक्तिक अनुभूति, कल्पना, आवेग और परिवर्तनों के ठोस आधारों पर आश्रित है। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के पश्चात् ही रोमांटिक काव्य का आरम्भ यूरोप में हुआ और १८१० ई० तक पूरे यूरोप में स्वच्छन्दतावादी काव्य अपने सम्पूर्ण प्रभाव के साथ फैला, पर हिन्दी में छायावाद १९२० ई० के आसपास अपना स्वरूप स्पष्ट कर सका। इंग्लैंड और फ्रान्स में अधिकांशतः आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने ही स्वच्छन्दतावाद को अभ्युदय प्रदान किया, पर हिन्दी में छायावाद के पीछे भारत के सांस्कृतिक जागरण की प्रेरणाप्रधान थी। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चलने वाले सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक और सुधारवादी आन्दोलन, जो ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और अरविन्द से प्रेरित थे और जिनका सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ा था, सांस्कृतिक पुनर्जागरण के संवाहक थे। ब्राह्म समाज के मानवतावादी दृष्टिकोण, नारी के प्रति बन्धनमुक्ति की दृष्टि, विधवा-विवाह का समर्थन

और यूरोपोन्मुखता ने छायावादी काव्य को रूढ़ियों को तोड़ने की शक्ति दी। भारतीय नवोत्थान, जिसका संचालन राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द सरस्वती, एनीबेसेन्ट और विवेकानन्द आदि ने किया था, इस छायावाद को सुदृढ़ आधार प्रदान करता है।

आर्य समाज के वैदिक दर्शन ने अतीत के प्रति मोह के साथ-साथ, राष्ट्र-प्रेम और स्वतन्त्रता-प्राप्ति की भावना इस छायावादी काव्य को दी। रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के अनुभूतिवाद, शक्तिपूजा, उदार उपासना और सर्वधर्म समादर ने छायावादी काव्य को अत्यधिक प्रभावित किया। तर्क के स्थान पर अनुभूति पर बल दिया गया। व्यक्तिगत साधना की बात कही गयी। नारी को विशेष शक्तिमयी तथा सौन्दर्य सुषमामयी स्वीकार किया गया। तिलक के प्रवृत्ति मार्ग और कर्मयोग की नवीन व्याख्या ने तथा अरविन्द की अतिमानस की उद्भावना ने एवं गाँधी के सत्य, अहिंसा, प्रेम, मानवता, राष्ट्रीयता, देशप्रेम, आदि ने छायावादी काव्य के सांस्कृतिक जागरण में गरिमा और सम्मोहन पैदा कर दिया। १९२० ई० में गाँधी और छायावाद क्रमशः राजनीति एवं साहित्य में साथ-साथ अवतरित हुए। "छायावादी काव्य पर युगधर्म या समय की छाप पड़ी हुई है।"[1] डॉ० कुमार विमल का मत है कि "छायावाद का उद्भव युग की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में हुआ। वह केवल शैली का परिवर्तन, बँगला का प्रभाव या अंग्रेजी के रोमांटिक साहित्य का अनुकरण नहीं था। वह तो अपने देश, साहित्य तथा युग की आन्तरिक प्रेरणाओं से उत्थित हुआ था और किसी बाह्य प्रेरणा का परिणाम नहीं था।"[2]

यदि ध्यान से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के बाद यूरोप का स्वच्छन्दतावाद, आयरलैण्ड की क्रान्ति के बाद डब्ल्यू० बी० यीट्स के नेतृत्व में लिखी गयी आयरिश कविता और रूस की क्रान्ति के बाद अलेक्जेंडर ब्लाख की रोमांटिक कविता विश्व साहित्य में उदित हुई। भारत में १८५७ ई० की क्रान्ति के पश्चात् भारतेन्दु काल में कविता दरबारों को छोड़ कर जनता के बीच आयी। यहीं से स्वच्छन्दतावाद का आरम्भ हिन्दी में मानना चाहिए, जो आगे चलकर छायावाद के रूप में परिणत हो गया।

---

१. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृ० १८८

२. डॉ० कुमार विमल, छायावाद का सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २३

सांस्कृतिक जागरण और राष्ट्रवाद ने भारतेन्दु युग को प्रगतिशील बनाया था। शुक्लजी ने लिखा है कि "भारतेन्दु की भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य निरूपण की दूसरी।"[१] जहाँ भारतेन्दु ने अपनी निजी भावनाओं को काव्य में निरूपित किया है, वहीं पर स्वच्छन्दतावादी शैली पनप उठी है। श्रीधर पाठक और उनसे पहले घनानन्द की कविता में स्वच्छन्दता का पूर्वाभास पाया जाता है।

विद्वानों ने छायावाद की अनेकों ढंग से व्याख्या की है। स्वच्छन्दतावाद से उसका अन्तर और हिन्दी खड़ी बोली में उसके उद्भव तथा विकास की रूपरेखा समझने के लिए छायावाद की कुछ मान्यताएँ जान लेना आवश्यक है।

## छायावाद की मान्यताएँ

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद को चित्रभाषा शैली कहा है। छायावाद में कोमलता, कल्पना, उन्मुक्त भाव-व्यंजना, व्यक्ति-निष्ठता, अन्तर्दृष्टि की प्रधानता, आदि कई ऐसी प्रेरणाएँ थीं जिनमें स्वच्छन्दतावाद और रहस्यवाद समा गये थे। द्विवेदीयुगीन काव्य की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में छायावाद तेजी से बढ़ता गया और स्वच्छन्दतावाद की सारी उपपत्तियों को अपने में समेट कर तथा रहस्यवाद को भी आत्मसात करता हुआ १९२० ई० के पश्चात् हिन्दी काव्य पर छा गया। महादेवी ने इसे आध्यात्मिक कोटि में रहस्यवाद का प्रथम सोपान, करुणा का क्षेत्र और दुःखवाद का पर्याय माना। डॉ० रामकुमार वर्मा के मत से "छायावाद में हृदय की ऐसी अनुभूति है जो भौतिक संसार के क्रोड़ में प्रवेश कर अनन्त जीवन के तत्व ग्रहण करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़कर हृदय में जीवन के प्रति एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है। कवि को ज्ञात होता है कि संसार में परिव्याप्त एक महान और दैवी सत्ता का प्रतिबिम्ब जीवन के प्रत्येक अंग पर पड़ रहा है और उसी की छाया में जीवन का पोषण हो रहा है।...इस संसार में उस दैव-सत्ता का दिग्दर्शन कराने के कारण ही इस प्रकार की कविता को छायावाद की संज्ञा दी गयी।"[२] इस व्याख्या में छायावाद, स्वच्छन्दतावाद तथा रहस्यवाद एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। प्रसाद

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, (आठवाँ सं०) पृ० ४६२-४६३

२. डॉ० रामकुमार वर्मा, विचार दर्शन, पृ० ७२

के शब्दों में "कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।"[1] प्रसादजी ने छायावाद की कलागत विशेषताओं में ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान और उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति को महत्वपूर्ण माना। वे अस्पष्टता को छायावाद का गुण नहीं मानते। "प्रकृति से सम्बन्ध रखने को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।"[2] उनका मत है कि "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तरस्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।"[3] उनके मत से "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।"[4] इससे स्पष्ट है कि प्रसाद छायावाद को स्वानुभूतिमयी, वेदनात्मक, लाक्षणिक, ध्वन्यात्मक, सौन्दर्यमय प्रतीकों से गठित और उपचार वक्रता की विशेषताओं से समन्वित मानते थे। निराला काव्य में उपदेश को एक कमजोरी मानते थे। उन्होंने कल्पना से अधिक अनुभूति और चिन्तन को महत्व दिया। वे काव्य-भाषा की स्वाभाविकता के कट्टर पक्षपाती थे। उन्होंने मुक्त छन्द की उद्भावना की। उनके काव्य में प्रकृति, रहस्यानुभूति, राष्ट्रीयता और युगचेतना के तत्वों का समावेश है। उनकी मान्यताओं ने छायावाद को स्वच्छन्दतावाद के समीप ला दिया और उसे व्यक्तित्व की छाप से उद्भासित किया। पन्त के मत से "छायावाद नाम से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ। यह तो द्विवेदी युग के आलोचकों द्वारा नयी कविता के उपहास का सूचक है। वैसे छायावाद नाम से जो कविता पुकारी जाती है वह नये युग की माँग थी।"[5] 'गद्यपथ' में उनका कथन है कि "रवीन्द्र के युग में जो महान प्रेरणा हिन्दी काव्य साहित्य को मिली वह वास्तव में छायावाद के रूप में विकसित हुई।"[6] उनका मत है कि "द्विवेदी

---

१. प्रसाद, काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १४३
२. वही, पृ० १२७-१२८
३. वही, पृ० १२८
४. वही, पृ० १४६
५. लक्ष्मीनारायण सुधांशु, अवन्तिका, जनवरी १९५४, पृ० १९०
६. पन्त, गद्यपथ, आधुनिक काव्य प्रेरणा के स्रोत, पृ० १५१

युग के बाद छायावादी युग का समारम्भ होता है। मन की नीरव वीथियों से निकलकर, लाज भरे सौन्दर्य में लिपटी एक नवीन काव्य-चेतना, युग के निभृत प्रांगण को सहसा स्वप्न-मुखर कर देती है। पिछली वास्तविकता की इतिवृत्तात्मकता नवीन कला-संकेतों के अरूप सौन्दर्य में तिरोहित होकर भावना के सूक्ष्म अवगुंठनों के कारण रहस्यमयी प्रतीत होने लगती है।"[१] 'गद्य पथ' में ही उनका कथन है कि "वैसे श्री मुकुटधर पाण्डेय की रचनाओं में छायावाद की सूक्ष्म अभिव्यंजना तथा रंगीन कल्पना धीरे-धीरे प्रकट होने लगी थी, जो आगे चलकर प्रसादजी के युग में पुष्पित-पल्लवित होकर एक नूतन चमत्कार एवं चेतना का संस्कार धारण कर, हिन्दी काव्य के प्रांगण में नवीन युग के अरुणोदय की तरह मूर्तिमान हो उठी। छायावाद का पतन देखकर उन्होंने छायावादी मान्यताओं के सम्बन्ध में इस प्रकार उक्ति की है—

"छायावादी विश्व भावना
सृजन प्रेरणा
धरा स्वर्ग सौन्दर्य सर्जना
लुप्त हो गयी, अति वैयक्तिक, अति यथार्थ बन
कुंठा के नैराश्य वेदना भरे
अँधेरे अवचेतन में।"[२]

छायावाद इसलिए पतित हुआ कि वह "काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।"[३] वे अन्यत्र कहते हैं कि "छायावादी कवि अथवा कलाकार वास्तव में आध्यात्मिक चेतना की अनुभूति नहीं प्राप्त कर सका था। वह केवल बौद्धिक अधिदर्शनों, मान्यताओं तथा धारणाओं से प्रभावित हुआ था। इसीलिए वह जीवन की कठोर वास्तविकताओं से कटकर कुछ दार्शनिक एवं मानसिक विरोधों में सामंजस्य स्थापित कर सन्तुष्ट रहने की चेष्टा करने लगा।"[४] उनका मत है कि छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध की प्रवृत्ति पूँजी-वादी प्रवृत्तियों से प्रभावित थी। वह जीवन की वास्तविकता से विमुख थी। समाज के भावी विकास के साथ छायावाद में अभिव्यक्ति की प्रखरता नहीं

---

१. गद्य पथ, आज की कविता और मैं, पृ० १३७
२. वही, आधुनिक काव्य प्रेरणा के स्रोत, पृ० १५१
३. पन्त, वीणा, पृ० ८७
४. आधुनिक कवि, भाग २, भूमिका, पृ० ११

आ पायी। महादेवी का भी मत है कि "छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक में ही वह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं, इसी से वह अपूर्ण है।"[1]

'छायावाद' शब्द का प्रथम प्रयोग पं० मुकुटधर पण्डेय ने किया था। उन्होंने जबलपुर से प्रकाशित 'श्री शारदा' मासिक पत्रिका में 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक एक लेखमाला १९२० ई० में प्रकाशित करायी थी। छायावाद के नाम का रहस्य बताते हुए वे कहते हैं कि—

"सन १९२० के लगभग जबलपुर में 'श्री शारदा' में मैंने छायावाद पर एक लेखमाला लिखी थी। उसमें प्रसादजी के 'झरना' का उल्लेख था। लेख लिखने से पूर्व मैंने पुराने आचार्यों से उस समय की नयी कविता के नामकरण पर सम्मति माँगी थी। किसी ने भक्तिवाद और किसी ने आध्यात्मवाद सुझाया। बँगला में छायावाद शब्द का चलन नहीं हुआ था। अतः यह शब्द बंगला से नहीं आया। यह नाम सर्वथा मेरा गढ़ा हुआ है और मैंने परोक्ष सत्ता के प्रति अस्पष्ट रूप से व्यक्त भावों की रचना के लिए इसे प्रयुक्त किया था।"[2] इसी लेखमाला में उन्होंने स्पष्ट किया है कि "बख्शीजी ने भक्तिवाद नाम सुझाया था और द्विवेदीजी ने आध्यात्मवाद। मुझे स्मरण है द्विवेदीजी ने स्वसम्पादित वैज्ञानिक कोष देखने को लिखा था, पर मैंने छायावाद ही उपयुक्त समझा।'[3] अपनी एक रचना 'कुररी के प्रति' को जब लोगों ने छायावादी रचना माना तब वे कहते हैं, 'कुररी के प्रति' की कुछ पंक्तियों की रचना रात्रि में कुररी के करुण स्वर सुन बिस्तर पर पड़-पड़े मैंने मन में ही कर डाली थी। कुछ दिनों बाद जब कुछ लोग मेरी गणना छायावाद के प्रवर्त्तकों में करने लगे और मेरी 'कुररी' को प्रतिनिधि कृति मानने लगे, तब मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने अनुभव किया कि 'छायावाद' लिखा नहीं जाता है।"[4] इसी लेख में उन्होंने छायावाद की विशेषताएँ और दोष दोनों ही बताये हैं।

---

१. पन्त, गद्यपथ, पृ० १५४ (वीणा की अप्रकाशित भूमिका गद्यपथ)
२. माध्यम, वर्ष १, अंक २, जून १९६४, सं० बालकृष्णराव, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्राक् छायावादी काल के छायावादी कवि मुकुटधर पाण्डेय—अपने ही स्मृति सन्दर्भों में, ले० विनयमोहन शर्मा, पृ० १५ (उद्धृत डॉ० शान्ती श्रीवास्तव, छायावादी काव्य और निराला, पृ० २८)
३. मुकुटधर पाण्डय, नन्दकिशोर तिवारी, पृ० १७
४. माध्यम, वर्ष १, अंक २, जून १९६४, पृ० १५

"शब्द और अर्थ की अविच्छिन्न सम्बन्ध की समाप्ति, जटिलता, अस्पष्टता, असम्बद्धता, विषमता, असंगत रूपकों का विधान,"[१] आदि गिनाते हुए वे छायावाद को भावराज्य की वस्तु मानते हैं, जिसमें केवल संकेत से काम लिया जाता है। भाषा उसमें भाव-प्रकाशन का एक गौण साधन मात्र है।[२] उन्होंने सांकेतिकता को छायावाद की प्रधान प्रवृत्ति माना है। वे कहते हैं कि "यदि यह कहा जाय कि ऐसी रचनाओं में शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य को खोकर सांकेतिक चिह्न मात्र हुआ करते हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।"[३] पाण्डेयजी ने छायावादी काव्य को व्यंजना-प्रधान मानते हुए उसकी स्थापना में भरपूर योग दिया था। रामनाथ सुमन ने लिखा है कि "जहाँ तक मुझे पता है, शायद रवि बाबू भी जो इस ढंग की कविता के बंगाल में अगुआ हैं, उसे नहीं जानते, पर आजकल रहस्यवाद के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है।"[४] हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि "छायावाद हिन्दी कविता का स्वाभाविक विकास था। यह न बँगला से आया और न ईसाई सन्तों के छायाभास से। छायाभास तो हमारे सन्तों की वाणी द्वारा हिन्दी-भाषियों के जीवन में सदियों से होता रहा है। यह उधार लिया हुआ नहीं।"[५] डॉ० नामवरसिंह ने मुकुटधर पाण्डेय के 'श्री शारदा' वाली लेखमाला को लेकर लिखा है कि "यह छायावाद पर पहला निबन्ध होने के साथ ही अत्यन्त सूझबूझ भरी गम्भीर समीक्षा भी है। इस निबन्ध का ऐतिहासिक महत्व ही नहीं, बल्कि स्थायी महत्व भी है।"[६] रामकुमार वर्मा का कथन है कि "छायावाद का अर्थ रहस्यवाद के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।...अनन्त पुरुष का आभास शान्त प्रकृति में होने लगता है। अपरिमित ईश्वर परिमित संसार में अपनी छाया को फेंकता हुआ नजर आता है। पुरुष या ईश्वर की यही छाया जब कवि संसार के अंगों में वर्णन करता है तो उस वर्णन को छायावाद का नाम दिया जाता है।"[७] वर्माजी छायावाद और रहस्यवाद को अभिन्न मानते हैं। पर यह ठीक नहीं है

१. श्री शारदा, नवम्बर १९२० ई०, पृ० ९७-९८
२. वही, सितम्बर १९२० ई०, पृ० ३४२
३. वही, पृ० ३४१
४. माधुरी, पृ० ६८, १९३२ ई०, छायावाद, रामनाथ सुमन
५. अवन्तिका, काव्यालोचन, जनवरी १९५३ ई०, पृ० १०८
६. डॉ० नामवरसिंह, छायावाद, पृ० ९९२
७. डॉ० रामकुमार वर्मा, अंजलि—अपने विचार, पृ० १३-१४

क्योंकि छायावाद को अपनी सूक्ष्म सौन्दर्य चेतना, प्रकृति-चित्रण, कल्पना, शैली की सांकेतिकता और लक्षणा में ही विशेष रूप से जाना जाता है। डॉ० देवराज छायावाद के मूल में प्रेम और सौन्दर्य की वासना मानते हैं न कि आध्यात्मिक पूर्णता की भूख। डॉ० केसरीनारायण शुक्ल और श्रीकृष्णलाल छायावाद और स्वच्छन्दतावाद को एक ही मानते हैं। डॉ० शम्भूनाथसिंह छायावाद की अपेक्षा स्वच्छन्दतावाद का क्षेत्र अधिक व्यापक मानते हैं।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी छायावाद के विरोधी थे। वे कहते हैं कि "छायावाद की ओर नवयुवकों का झुकाव है और ये जहाँ कुछ गुनगुनाने लगे कि झट से दो-चार पद जोड़कर कवि बनने का साहस कर बैठते हैं।...पूज्य रवीन्द्रनाथ का अनुकरण करके ही यह अत्याचार हिन्दी में हो रहा है।"[१] स्पष्ट है कि द्विवेदीजी की दृष्टि में छायावाद साहित्यिक अतिचार की प्रक्रिया थी। आचार्य शुक्ल इसे बंगाल और पश्चिम का अनुकरण मानते थे। वंग काव्य के रहस्यवाद और पाश्चात्य साहित्य के कलावाद का वे इसमें प्राधान्य मानते थे। शुक्लजी ने छायावाद को द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध एक साहित्यिक प्रतिक्रिया माना है और डॉ० नगेन्द्र का मत है कि "स्थल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है। छायावाद का जन्म विद्रोह में है—यह विद्रोह भावनाओं और विचारों में भी है और शैली एवं कला में भी।"[२] इलाचन्द्र जोशी और नवलकिशोर गौड़ ने छायावाद की प्रेरणा का श्रेय प्रथम महायुद्ध को दिया।

इन समस्त उद्धरणों से स्पष्ट हो सकता है कि छायावाद और स्वच्छन्दतावाद दो भिन्न धाराएँ हैं। छायावाद की भाषा अधिक अलंकरणप्रिय, शिल्पित तथा जनभाषा से दूर है, पर स्वच्छन्द धारा में वह जनभाषा के आस-पास होती है। छायावादी काव्य में संगीतात्मकता और चित्रात्मकता की प्रधानता है। 'राम की शक्ति पूजा', 'बादल राग' और 'नौका-विहार' इसके अच्छे उदाहरण हैं। छायावादी काव्य में शब्द-संगीत, भाव-संगीत और अर्थ-संगीत तीनों ही प्रकार की गीतात्मकता मिलती है। शब्द और भाव के संगीत का मिश्रित उदाहरण निराला की 'मौन रही हार'[३] रचना है। छायावादी काव्य

१. सुकवि किंकर, आजकल के हिन्दी कवि और कविता, सरस्वती, मई १९२७, पृ० ५३२-५३३

२. प्रो० नगेन्द्र, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० २९९

३. निराला, गीतिका, पृ० ८

में संगीत में ताल का बहुत महत्व है। भारतीय संगीत के अनेक शब्द आरोह, अवरोह, मूर्च्छना, दीपक, गान, ताल, स्वर, विस्तार, ठाट, अंक, झंकार, गीति, मीड़, इमन, विघात, मधुर, मन्द आदि दिखायी देते हैं।

## निष्कर्ष

द्विवेदी युग (१९००-१९२०) के पूर्ववर्ती छोर पर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ने पदापर्ण किया और १९१४ ई० के आस-पास वह करवटें लेती हुई १९२० ई० में मुकुटधर पाण्डेय के द्वारा छायावादी नाम से अभिहित होकर कुछ परिवर्तनों के साथ एक विशेष छायावादी प्रवृत्ति के रूप में घुल-मिल गयी। स्वच्छन्दतावादी काव्य में मानव-अनुभूतियों को सर्वोपरि महत्व दिया गया।

डॉ० शम्भूनाथसिंह छायावादी काव्य के विषय में कहते हैं कि "भारत में पूँजीवाद के विकास के साथ व्यक्तिवाद का विकास हुआ और हिन्दी कविता में छायावाद के रूप में व्यक्तिवादी भावनाएँ भी अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुईं।"[१] डॉ० श्रीकृष्णलाल और नन्ददुलारे वाजपेयी इसे सांस्कृतिक विकास का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं। उनका मत है कि "वास्तव में हिन्दी का छायावादी काव्य स्वच्छन्दतावाद की भूमिका पर ही लिखा गया है।... स्वच्छन्दतावाद नवयुग की समस्त प्रेरणाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला काव्य-स्वरूप है, जिसमें परम्परागत काव्य-धारा और काव्योपकरणों के विरुद्ध विद्रोही उपकरणों की प्रधानता है।"[२]

वाजपेयीजी के अनुसार "नयी छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और मौलिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।"[३] वे छायावादी काव्य को प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन परिस्थितियों से अनुप्राणित मानते हैं। वे इसे रहस्यवाद से संस्पर्शित भी मानते हैं।[४] समस्त स्वच्छन्दतावादी काव्य में इस प्रकार का आध्यात्मिक संस्पर्श हो ऐसा आवश्यक नहीं है परन्तु छायावादी काव्य में यह

---

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह, छायावाद युग, पृ० ५२
२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक काव्य, रचना और विचार, पृ० ३४, ३५
३. नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ० ३१९
४. नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक काव्य—रचना और विचार, पृ० ३५

संस्पर्श मूलतः विद्यमान माना जाता है।"[1] उनके मत से छायावादी काव्य स्वच्छन्दतावादी काव्य है, पर प्रत्येक स्वच्छन्दतावादी काव्य छायावादी काव्य नहीं है।

शुक्लजी, वाजपेयीजी तथा कुछ अन्य विद्वानों के उलझनपूर्ण वक्तव्यों से छायावाद, रहस्यवाद और स्वच्छन्दतावाद का अन्तर अस्पष्ट हो गया है। वस्तुतः इनमें कुछ-न-कुछ भेद तो है ही। इन्हें अलग-अलग रखा भी जाना चाहिए। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि "काव्य के क्षेत्र में आत्म-समपर्ण-प्रधान धार्मिक मतवाद ने छायावादी कवियों को प्रभावित किया, परन्तु छायावाद काल के अधिकांश कवि धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति नहीं थे।"[2] स्पष्ट है कि छायावाद का मूल स्वर रहस्यवाद नहीं है। गाँधीवाद का सत्य काव्य में सौन्दर्य के रूप में और उसकी अहिंसा प्रेम के रूप में ग्रहण की गयी। अतः छायावाद अधिक आदर्शवादी और मानवीय हो गया। छायावाद का जन्म द्विवेदी और गाँधी युग के बीच हुआ। भारतेन्दु काल के प्रारम्भ से चली आ रही सांस्कृतिक जागृति और सांस्कृतिक समन्वय की प्रेरणा ही छायावाद का मूल है। अस्तु, छायावाद न रहस्यवादी काव्य है, न पूँजीवादी या असामाजिक काव्य, बल्कि छायावाद तो स्वच्छन्दतावाद की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर स्थित मानववादी काव्य है। इसका बुद्धिवादी दर्शन इसे स्वच्छन्दता-वाद से मिलाता है, क्योंकि स्वच्छन्दतावाद में काव्यात्मक अनुभूति और व्यक्ति-गत विचार-दर्शन ही प्रधान होता है।

### हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी काव्य का विकास

परम्परा से हटी हुई और दर्शन के चरम विन्दुओं को छूनेवाली यह शैली भारतेन्दु काल में ही चल पड़ी थी। खड़ी बोली हिन्दी में स्वच्छन्द काव्य-धारा के प्रवर्तक श्रीधर पाठक हैं। भारतेन्दु ने प्रेम सरोवर (१८७३ ई०), प्रेमाश्रु वर्णन (१८७३ ई०), प्रेम माधुरी (१८७५ ई०), कर्पूर मंजरी (१८७६ ई०), प्रेम-तरंग (१८७७ ई०) और प्रेम-प्रलाप (१८७५ ई०) आदि रचनाओं द्वारा अपने भाव, भाषा, छन्द और शैलीगत स्वच्छन्दता का परिचय दिया था। भारतेन्दु ने पिसते हुए गुलाम भारत के मानसिक पतन को अभिव्यक्ति दी। 'नये जमाने की मुकरी' व्यंग्य ही था :

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी, राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ० १०१

२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी अवन्तिका, जनवरी १९५४, पृ० २१२,

"भीतर भीतर सब रस चूसै
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै ।"[1]

उन्होंने भाषा के संरक्षण के सम्बन्ध में लिखा—

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल ॥"

यह सच है कि घनानन्द ने पूरी स्वच्छन्दता से, निर्बन्ध रूप में, काव्यरीति, कुल-मर्यादा, लोकलाज, प्राचीन आदर्श, काव्य-रूढ़ियाँ, आदि सभी को तोड़कर स्वनिर्मित मार्ग अपनाया था। इसीलिए ब्रजनाथ ने लिखा है :—

"जग की कविताई के धोखे रहैं ह्यां प्रवीनन की मति जाति जकी ।
समुझै कविता घनआनन्द की हिय-आँखिन नेह की पीर तकी ।"

घनानन्द स्वच्छन्द कवि थे, उनका लौकिक प्रेम वासनाजन्य न था। वह आन्तरिक प्रेम था। उनका यह प्रेम-मार्ग है :—

"अति सूधौ सनेह को मारग है
जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं ।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपुनपौ
झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं ॥"

बोधा प्रेम के पन्थ के विषय में कहते हैं :—

"यह प्रेम को पन्थ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है ।"

घनानन्द, बोधा, ठाकुर, आलम आदि आलोच्य काल से सम्बन्धित नहीं हैं। यहाँ संकेत करना ही अभीष्ट है कि स्वच्छन्द काव्य-धारा के ये पूर्व-पुरुष हैं। भारतेन्दु के समय में इस प्रवृत्ति का पुनरागमन हुआ। श्रीधर पाठक ने स्वच्छन्दतावादी धारा का प्रवर्तन अनुवादों के माध्यम से किया था। प्रेम, करुणा, दुःख उनके विषय थे। उनकी मौलिक रचनाएँ इसी स्वच्छन्द काव्य की ओर अग्रसर हुईं। काश्मीर सुषमा (१९०४) में वे कहते हैं—

"यहीं स्वर्ग सुरलोक यहीं सुर कानन सुन्दर
यहीं अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरन्दर ।"

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८११

'जगत सचाई सार' (१८८७ ई०) में उनका कथन है:—

"दुख तो मनुष्य के जीवन की एक कसौटी है मानो।
इसमें जैसा रहे रंग, वैसा ही भाव उसका जानो॥"

'प्रेम-विचार' में उनकी मुक्तता को देखिए :—

"झेंपना छोड़ो अब तुम यार !
आज भी छिप खिसके जाते थे, छाँड़ गली, घर, द्वार।
× × ×
चलो मिलो बैठो और बोलो शब्द प्रेम के चार।
प्रेम से आये हैं प्रेमी जन करने प्रेम-विचार।"[1]

श्रीधर पाठक भारतेन्दु और द्विवेदी के बीच की कड़ी हैं। उन्होंने घनाक्षरी और सवैया छन्दों से मुक्ति पाने का सफल प्रयास किया था। उनकी 'स्वर्गीय वीणा' में जो 'परोक्ष दिव्य संगीत' की ओर रहस्यपूर्ण संकेत[2] मिलता है वह भी बंधी-बँधायी परिपाटी के उस युग में नवीन दिशा की सूचना देता है। भाषा के क्षेत्र में भी श्रीधर पाठक और अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ी बोली को पद्य की भाषा बनाने के लिए एक आन्दोलन ही किया था। १८ मार्च १८८८ को 'हिन्दुस्थान' में श्रीधर पाठक ने लिखा था कि "गद्य पद्य की भिन्न भाषा होना हमारे लिए उतना अहंकार का विषय नहीं है, जितना कि लज्जा और उपहास का है कि जिस भाषा में हम गद्य लिखते हैं, उसमें पद्य नहीं लिख सकते।" द्विवेदीजी ने भी इसके लिए अपना जीवन ही अर्पित किया था।

काव्य की स्वच्छन्दता लोकभाषा का आधार चाहती है। कृत्रिम भाषा और अनचाहे अलंकार से काव्य की स्वच्छन्द गति में बाधा पड़ती है। भारतेन्दु युग में स्वीकृत बँगला का पयार छन्द, पारसी की बहरों, गजलों तथा लावनी छन्द और जनगीतों की लावनी, कजली, होली, कबीर आदि की प्रवृत्ति स्वच्छन्द ही थी। रामचन्द्र शुक्ल के मत से आधुनिक काल में संस्कृत वृत्तों में खड़ी बोली के कुछ पद्य सबसे पहले चम्पारन-निवासी पं० चन्द्रशेखर मिश्र ने ही लिखे।[3] श्रीधर पाठक ने कालिदास के 'ऋतु संहार' का बड़ा ही ललित और

१. श्रीधर पाठक, भारत गीत, पृ० ६९ (प्रथम आवृत्ति) (प्रेम विचार, ११-१-१९)
२. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०६
३. पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५८९

मधुर अनुवाद किया। द्विवेदीजी ने मराठी के गणात्मक छन्दों का प्रयोग किया। पाठकजी का 'भारतगीत' बड़ा प्रसिद्ध हुआ। उनकी 'काश्मीर सुषमा', ' सान्ध्य अटन' और अनुवाद स्वच्छन्दतावादी रचनाएँ थीं। उन्होंने लावनी, रोला और कजली में रचनाएँ कीं। वे स्वच्छन्दतावादी धारा के अग्रदूत थे और उनका रचना-काल भारतेन्दु से द्विवेदी और छायावादी युग तक फैला हुआ है। द्विवेदी-जी ने उन्हें हिन्दी का 'अभिनव जयदेव' कहा था :—

"सोई कवीन्द्र विजयी जयदेव आई।
लीन्ह्यो अवतार वहि श्रीधर देह पाई॥"[१]

'एकान्तवासी योगी' का प्रेम तत्व वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर आधारित है। प्रेम का विशुद्ध रूप इसमें वर्णित है। अंजलैना का कथन है :—

"मेरे लिए एडविन ने ज्यों किया प्रीति का नेम।
त्योंही मैं भी शीघ्र करूँगी परिचित अपना प्रम॥"

श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' का जिस सीधी और सरल भाषा में भावमय अनुवाद किया था, उसे देखकर ही उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का पता चल जाता है—

"प्राण पियारे की गुणगाथा साधु कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ।
विश्व निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर।
बलिहारौं त्रिभुवन धन उस पर बारौं काम करोर॥"

'काश्मीर सुषमा' में (पृष्ठ ५ पर) उन्होंने लिखा :—

"फल फूलनि छबि छटा छई जो वन उपवन की
उदित भई मनु अवनि उदर सों निधि रतनन की।
तुहिन, सिखिर, सरिता, सर, विपिनन की मिलि सो छवि
छई मडलाकार रही चारहुँ दिसि यों फबि।"

'सान्ध्य अटन' का स्वच्छन्द वर्णन (भारत गीत, पृष्ठ १४६-५०) देखिए :—

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, भारत मित्र, २५ दिसम्बर १८६६ ई०

"विजन वन प्रान्त था,
प्रकृति मुख: शान्त था,
अटन का समय था,
रजनि का उदय था,

प्रसव के काल की लालिमा में ल्हिसा ।
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा ।"

अपनी स्वच्छन्द वृत्ति और वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में वे कहते हैं :—

"कहो न प्यारे मुझसे ऐसा झूठा है यह सब संसार ।
थोथा झगड़ा, जी का रगड़ा केवल दुख का हेतु अपार ।
जगत है सच्चा, तनक न कच्चा, समझो बच्चा इसका भेद ।"

उन्होंने 'भारतगीत' में तात्कालिक समस्याएँ भारत-जननी का अभिनन्दन, अतीत गौरव, वर्तमान पर क्षोभ तथा भावी निर्माण की आकांक्षा व्यक्त की है । उन्होंने ग्रामगीतों की शैली पर भी लावनी, रोला या कजली छन्दों में रचनाएँ की थीं ।

श्रीधर पाठक की 'मेघगमन', 'वन-विनय', 'शरद् समागत स्वागत', 'हेमन्त' और 'गुणवन्त हेमन्त', आदि रचनाएँ प्रकृति के यथार्थ सुख-दुःख भरे तथा संवेदनात्मक क्षणों की झाँकी प्रस्तुत करती हैं :—

"पड़ने लगा तुषार बरफ पड़ने लगी
अद्‌भुत शोभा के कौतुक करने लगी ।
× × ×
घर पर, दीवारों पर, वन के पेड़ पर ।
खेतों में बागों में उनकी मेड़ पर ।
जमकर धरती वहाँ अनेकों आकृती ।
दृश्य बनाती विविध विलक्षण प्राकृती ।
× × ×
स्वच्छ स्वेत हिमयुक्त हिमांचल चोटियाँ ।
रजतमयी कैलाश शिखर की जोटियां ।"[1]

---

१. श्रीधर पाठक, हेमन्त, मनोविनोद, भाग २, पृ० ३४

'जगत सचाई सार' में वे कहते हैं—

"रूप यथार्थ, जगत का देखो
पड़ो भूल में कभी न तुम ।"

पाठकजी ने प्रकृति के प्रति आत्मीय भाव को वैयक्तिकता का पुट देकर अधिक शक्तिवान बना दिया और स्वच्छन्दतावादी काव्य के अग्रदूत बनने का श्रेय प्राप्त किया। स्वच्छन्दतावादी काव्य का प्रणयन तो सच्चे अर्थों में श्रीधर पाठक ने ही किया था। 'देहरादून' (१६१५ ई०) में वे लिखते हैं :—

"पल-पल चमकु बिजुरिया छुपि-छुपि जात।
मनु कोउ सुरग मेहरिया उझकि लुकात ।
कहुँ सुठि सोन लतरिया सम लहरात।
मनु सुचि सची चुनरिया ओर लखात।
× × ×
कहुँ कहुँ ओट बदरवा करति उजास।
जिमि सागर बिच बड़वा अनल अभास ।।"[१]

ठाकुर जगमोहनसिंह ने 'शिशिर' का वर्णन परम्परावादी शैली से अलग हटकर स्वच्छन्दतावादी शैली में किया है :—

"आई शिशिर बरोरू शालि अरु ऊखन संकुल धरनी।
प्रमदा प्यारी ऋतु सोहावनी क्रौंच रोर मन-हरनी।
मूँदे मन्दिर उदर झरोखे भानु किरन अरु आगी।
भारी बसन हसन मुख बाला नवयौवन अनुरागी ।।"

राधाकृष्ण दास ने परम्परागत बारहमासे के चित्रण में देश-दशा का भी चित्रण किया है :—

"पतझार सब धन होइगो अरु पीपरे हम हीं भये।
अरु आम से बौरे हमीं, दुख रोग चारहुँ दिशि छये।"[२]

'पूर्ण' जी द्विवेदी-मण्डल के बाहर के कवि हैं। भारतेन्दु युग के अवशिष्ट और द्विवेदी युग के वे महत्वपूर्ण अंग हैं। उन्होंने देश की हीन-दशा, देशभक्ति,

---

१. श्रीधर पाठक, 'देहरादून', पृ० २४, २५, २६
२. राधाकृष्ण ग्रन्थावली, भारत बारह मासा, पृ० १५-१६

राजभक्ति, पराधीनता आदि का स्वतन्त्र चित्रण किया है। 'स्वदेशी कुण्डल' में प्रकृति-चित्रण का यह दृश्य स्वच्छन्दतावादी धारा का उदाहरण है :—

"वृजनि विहंगनि की घण्टिका बजैं सो मंजु
ओसकन सोई मद झरत निहारो है।
पूरन प्रसूनन की, सुरंग अंबारी सजी
भृंगन की भीर सों सरीर बरियारो है।
बैठो ऋतुराज तापै जग की करत सैर
सौरभ अतंक जग माँहि विस्तारो है।
धावत महावत अनंग के इसारे वीर
सुरभि समीर यह मतंग मतवारो है ॥"

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकृति के स्वच्छन्द स्वरूप का वर्णन 'शिशिर पथिक' में किया :—

"विकल पीड़ित पीय पयान ते
चहुँ रह्यो नलिनी दल घेरि जो।
भुजन भेंटि तिन्हें अनुराग सों
गमन उद्यत भानु लखात हैं।
तजि तुरन्त चले मुँह फेरि कै
शिशिर शीत सशंकित मेदिनी।
विहंग आरत बैन पुकारते
रहि गये पर नेकु सुन्यो नहीं ॥"

प्रकृति के विविध रूपों में उनकी सहृदयता इसी स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा का संकेत करती है, यथा :—

"भूरी हरी घास, आसपास फूली सरसों है
पीली पीली बिन्दियों की चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार।
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेरघार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमंडल से
धुँधली सी नीली नगमाला उठी धुँआधार ॥"

यह मटर का दृश्य है :—

"अंकित नीलम रक्त और श्वेत सुमनों से
मटर के फैले हुए घने हरे जाल में।
करती हैं फलियाँ संकेत जहाँ मुड़ते हैं
और अधिकर का न ज्ञान इस काल में॥"

रूपनारायण पाण्डेय की रचनाओं में जो सफाई, स्पष्टता, विद्रोह और स्वच्छन्दता दिखायी देती है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। जिसमें उनकी भावुकता, सरसता और स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं, उसका उदाहरण 'वन विहंगम' में इस प्रकार है :—

"वन वीच बसे थे फँसे थे ममत्व में एक कपोत कपोती कहीं।
दिन रात न छोड़ता एक को दूसरा ऐसे हिले मिले दोनों वहीं।
बढ़ने लगा नित्य नया-नया नेह नयी-नयी कामना होती रहीं।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं।"[1]

रूपनारायण पांडेय की 'वन विहंगम' में उनकी भावुकता और सरसता लक्षित होती है। 'दलित कुसुम' में उनकी स्वच्छन्द वृत्ति और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति दर्शनीय है :—

"अहह अधम आँधी आ गयी तू कहाँ से
पर दुख-सुख तूने हा, न देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही हाय यों तोड़ डाला।
तड़प-तड़प माली अश्रुधारा बहाता।
मलिन मलिनिया का दुःख देखा न जाता।
निठुर, फल मिला क्या व्यर्थ पीड़ा दिये से।
इस नवलतिका की गोद सूनी किये से ?"[2]

'चाँदनी रात' की चतुष्पदियों से देखिए :—

"चटकीली चाँदनी पड़ी चादर सी चन्द्र-बदन पर है,
तारे हैं या चाँदी के तारों का काम मनोहर है।"[3]

---

१. रूपनारायण पाण्डेय, पराग, पृ० ६२

२. वही, पृ० ८८

३. वही, पृ० ८९

उनकी 'ग्रीष्म', 'तिलांजलि' आदि रचनाएँ नयी अभिव्यक्ति की सूचक हैं। 'वसन्त का आगमन' से प्रकृति का मानवीकरण किया गया है :—

"छोड़ पुराने पत्र, नयी पोशाक से।
फूल-फलों की लिये डालियाँ हाथ में।
सफल जानकर जन्म, अदब से सब झुके।
अगवानी के लिये वृक्ष तैयार हैं।"[१]

मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी' (१८८५-१९२१) की 'वीर बोनापार्ट के अन्तिम दिन' रचना सरस्वती के जून १९१३ के अंक में प्रकाशित हुई थी। उसमें उनकी स्वच्छन्दता का परिचय मिलता है :—

"मर जाने पर मुझे कार्सिका द्वीप भेज देना होगा।
जिसकी है यह देह उसी में इसे मिला देना होगा॥"

द्विवेदी जी की 'चमेली' रचना (सरस्वती, जनवरी १९१६) भी स्वच्छन्दता का उदाहरण प्रस्तुत करती है :—

"सुन्दरता की रूप राशि तुम दयालुता की खान चमेली।
तुम सी कन्याएँ भारत को कब देगा भगवान चमेली।
चहक रहे खग-वृन्द वनों में, अब न रही है रात चमेली।
अमल कमल कुसुमित होते हैं देखो हुआ प्रभात चमेली।
अटल नियम को भूल न जाना जग में सब का नाश चमेली।
भारत अंशुमाली भी होता धूम अखिल आकाश चमेली।
नहीं रहेगा मूल न शाखा न ही मनोहर फूल चमेली।
निराकार से मिलकर होना, प्रियतम-पद की धूल चमेली।"

बदरीनाथ भट्ट (१८८६-१९३३ ई०) प्रकृति के कवि हैं :—

"अब तो आँखें खोलो प्यारे, पूर्व दिशा अब तरुण हुई है।
प्रकृति देवि पट बदल रही है, यम ने तम की बाँह गही है।
छिप कर भागे तारे।"[२]

'सरस्वती' जून १९१५ में 'नया फूल' शीर्षक स्वच्छन्द रचना में वे कहते हैं :—

१. रूपनारायण पांडेय, पराग, पृ० ९२
२. बदरीनारायण भट्ट, अनुरोध, पद्य संग्रह, सं० बृजराज एवं गोपाल-स्वरूप, सं० १९७८

"खिला है नया फूल उपवन में।
सुखी हो रहे हैं सब तरुवर बेलें हँसती मन में॥"

द्विवेदी युग के काव्यादर्श तथा सामाजिक सुधार, नैतिक परिष्कार आदि प्रवृत्तियों के कारण इस स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति पर अंकुश-सा लग गया। वह अन्त:सलिला हो गयी। किन्तु भाषा का स्वरूप स्थिर होते ही उस युग के कवि पुन: स्वच्छन्दतावादी मार्ग पर चल पड़े और छायावाद का विशाल वट वृक्ष फैलते देर न लगी। इसी बीच मानवतावाद, विश्वबन्धुत्व, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक संचेतना तथा नीतिवाद का भी यथेष्ट प्रसार हुआ। स्वच्छन्दतावाद के विकास में रामनरेश त्रिपाठी का विशेष योग प्राप्त हुआ। 'मिलन' (१९१७), 'पथिक' (१९२०) और 'स्वप्न' उनके तीनों काव्यों में राष्ट्रीयता, प्रेम और करुणा के साथ मुख्य प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति की ही रही :

"देख अतुल सौन्दर्य तुम्हारा मुग्ध हुआ मन मेरा।
जिसने तुम्हें रचा वह कैसा होगा चतुर चितेरा।
उसे देखने की दृढ़ इच्छा प्रबल हो उठी मन में।
फिरा खोज में रूपराशि की मैं निशि निशि वन वन में॥
यदि तुम प्यार करती हो कोमल करुण हृदय से।
करो न मुझको देवि दयामय वंचित प्रकृति प्रणय से।"[१]

'मिलन' (पृष्ठ १५) में वे कहते हैं :

"अस्थि चर्ममय कंकालों में जो कुछ बल है मेरा
संचय कर रिपु रहित करूँगा अपना प्यारा देश।"

शुक्लजी ने लिखा है कि :

"काव्य-क्षेत्र में जिस स्वाभाविक स्वच्छन्दता का आभास पं० श्रीधर पाठक ने दिया था, उस पथ पर चलने वाले द्वितीय उत्थान में त्रिपाठीजी ही दिखायी देते हैं।"[२] श्रीधर पाठक से रामनरेश त्रिपाठी और मुकुटधर पाण्डेय तक आते-आते कविता में आध्यात्मिक लपेट समा गयी। वह छायावादी रूप

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० ५
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, आठवाँ संस्करण, पृ० ६२८-६२९

ग्रहण करती गयी। १६२० में छायावाद का मुक्त आकाश कई सितारों से जगमगा उठा। 'मिलन' (१६१७) में उनका कथन है :

"प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक॥"

मिलन में राष्ट्रप्रेमी युवक आनन्दकुमार और युवती विजया के प्रेम से परिपुष्ट राष्ट्रीयता का आख्यान है। कवि की स्वच्छन्द प्रवृत्ति स्पष्ट दिखायी देती है :

"हे मेरे मन की तरंग, जीवन के एक सहारा।
सौ सुधांशु लाखों कमलों से मुख है मंजु तुम्हारा॥" (१-१४)

प्रकृति-चित्रण :

"प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में बिचरूँ यही चाहता मन है॥"

लोचनप्रसाद पाण्डेय का 'प्रवासी' और 'मेवाड़-गाथा' उनकी स्वतन्त्र चेतना के परिचायक हैं। 'कविता कुसुम माला' (१६१० ई०) में संकलित उनकी प्रकृति-प्रेम सम्बन्धी रचनाएँ 'पल्ली चित्र', 'वर्षा ऋतु में ग्राम दृश्य', 'वसन्त स्वागत', 'वर्षा', 'हेमन्त', 'प्रभात', 'मध्याह्न' तथा 'सन्ध्या' आदि हैं। परिपाटीबद्ध काव्य से दूर हट कर मानव-संवेदनाओं को समेटने वाली उनकी ये रचनाएँ द्विवेदीयुगीन काव्य में स्वच्छन्दता के प्रवाह की सूचक हैं :

"लख कर नभ में बादल रंग बिरंग
पुलकित हो उठता है कैसा अंग॥"[1]

श्रीधर पाठक ने 'सानेट' नामक काव्य-रूप का प्रथम प्रयोग किया था। लोचन प्रसाद पांडेय ने भी 'बाल्य स्मृति' और 'श्मशान' में सानेट का तथा 'माधव मंजरी' (१६१४) संग्रह की 'पल्ली कवि' शीर्षक रचना में अमित्राक्षर छन्द का प्रयोग किया। उनका प्रकृति-प्रेम उन्हें स्वच्छन्दतावादी धारा के यशस्वी कवि का स्थान प्रदान करता है।

---

१. लोचनप्रसाद पाण्डेय, कविता कुसुम माला, भारत वन्दना, पृ० १७-१८

कवि श्रीवर की कृति 'चारण' का भी उल्लेख करना समीचीन होगा। भारतीय काव्य-परम्परा से विद्रोह है कविता में मंगलाचरण का न होना। एक वृद्ध चारण का जंगल में रहकर वीरों की गाथाएँ सुनाना इसकी वर्ण्य वस्तु है। इसमें प्रकृति का स्वच्छन्द चित्रण कल्पना से अनुरंजित है। उसका जीवन-दर्शन प्रकृति के प्रति स्नेह-भाव जगाता है और आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति को बल देता है। चारण ने नवयुवक को अपना परिचय देते हुए कहा है :

"तारों पर जब बीन के मेरे चंचल उँगली पड़ती है।
आसपास की कली अधखिली चट से तब खिल पड़ती है।
हो प्रसन्न मेरे रागों से सरिता राग मिलाती है।
मधुर समीर पक्षियाँ होकर मेरी तान सुनाती हैं॥"[१]

कल्पना का यह स्वच्छन्द विहार द्रष्टव्य है।

प्रसाद की रचनाओं में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ और भी अधिक विकसित हुईं। उनका प्रेमराज्य (१९०९), चित्राधार (१९१८), कानन-कुसुम (१९१२), प्रेम-पथिक (प्रथम ब्रजभाषा में १९०५ ई० में परिवर्धित और परिवर्तित, १९१४), महाराणा का महत्व (१९१४) और 'झरना' प्रकाशित हुईं। उनकी अधिकांश रचनाएँ सर्वप्रथम काशी की 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुईं। नामवर सिंह का मत है कि "प्रसाद की भाषा पर भी इस स्वच्छन्दतावादी लहर का प्रभाव पर्याप्त रूप में है।" वे कहते हैं कि "इसलिए प्रसाद के पद-चयन में एक ओर बहुत दूर तक निराला, पन्त, महादेवी के पद-चयन से साम्य है तो दूसरी ओर प्रत्यक्ष रूप से रवीन्द्रनाथ के पद-चयन की झलक है और परोक्ष रूप से गुजराती और मराठी के स्वच्छन्दतावादी कवियों के साथ साधर्म्य है।"[२] प्रसाद ने द्विवेदी युग की काव्य-भाषा की अक्षमता को देखते हुए ही कहा था कि "सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के लिए व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।"[३] प्रसाद की भाषा का प्रथम स्वरूप

---

१. श्रीवर, चारण, पृ० ७

२. डॉ० नामवर सिंह, इतिहास और आलोचना, पृ० १३४

३. जयशंकर प्रसाद, काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२३-१२४

स्वयं अनगढ़ था। उसमें 'नैन भये निर्मोही', 'आओ हिए में...'आदि तथा 'स्याम', 'बिछाय', 'लगाय' और 'आय', 'जाय' आदि ग्रामीण ढंग के क्रिया पदों या नीरस शब्दों का प्रयोग मिलता है।

यद्यपि प्रसाद पर द्विवेदीजी का प्रभाव पड़ा था, परन्तु वह द्विवेदी-मण्डल के बाहर ही रहे। प्रसाद की केवल एक रचना 'जलद आवाहन' द्विवेदीकालीन सरस्वती, भाग १३, संख्या ६, जून १९१२ में प्रकाशित हुई और शेष रचनाएँ तत्कालीन 'इन्दु' में ही प्रकाशित हुईं। प्रसाद पर हरिश्चन्द्र का प्रभाव भाषा और भाव पर १९०६ से १९०९ ई० तक रहा। ये कविताएँ ब्रजभाषा में हैं। 'चित्राधार' (द्वितीय संस्करण) में इस युग की उनकी रचनाएँ हैं। १९१० से १९१४ ई० तक द्विवेदीजी से प्रभावित रचनाओं का समय आता है। 'कानन कुसुम', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व' और 'प्रेमपथिक' इस समय की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। 'चित्राधार' (प्रथम संस्करण) और 'इन्दु' की प्रतियों में इस आदर्श-वादी युग की सामग्री भरी पड़ी है। १९१४ से १९२० ई० के बीच 'कानन कुसुम' (द्वितीय संस्करण), 'झरना' (प्रथम संस्करण), और 'इन्दु' के अंकों में इस युग की स्वच्छन्दतावादी और छायावादी रचनाएँ देखी जा सकती हैं।

प्रसाद ने १९०९ ई० में श्रावण मास में 'इन्दु' मासिक निकाला। 'उर्वशी' (चम्पू) और 'प्रेम-राज्य' काव्य १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ। १९१८ ई० में उनके सभी ग्रन्थों का संकलन 'चित्राधार' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी का द्वितीय संस्करण १९२८ में निकाला गया, जिसमें उनकी २० वर्ष तक की आयु की सभी रचनाएँ प्रकाशित की गयीं और जो ग्रन्थ इस द्वितीय संस्करण में न आ सके (जैसे 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व', प्रेम-पथिक आदि), उनका नूतन संस्करण निकाला गया।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्तियों में वैयक्तिकता, मर्यादाहीनता, पलायन, निराशा, वेदना, विद्रोह, अतीतप्रियता आदि हैं। सूक्ष्म रहस्यभावना, प्रबल बौद्धिक जिज्ञासा और जीवन की सरलता की प्रवृत्तियाँ भी उसकी विशेषताएँ हैं। पुरानी रूढ़ियों को छोड़ नये विषयों का चयन, भाषा, छन्द और अलंकारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन तथा छन्द-मुक्तता उसके तत्व हैं। स्वयं द्विवेदीजी को पुराने छन्द खटकते थे। उन्होंने रूढ़ छन्द और तुकों को छोड़ने का परामर्श दिया था। हरिऔध ने 'वैदेही वनवास' तथा 'प्रियप्रवास', रूपनारायण पाण्डेय की 'तारा' और प्रसाद का 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व' तथा 'प्रेम पथिक' भिन्न तुकान्त छन्दों में रचे गये काव्य हैं। 'महाराणा

का महत्व' और 'प्रेम पथिक' की रचना स्वच्छन्दतावादी शैली में हुई है। 'महाराणा का महत्व' खण्ड काव्य सर्वप्रथम 'इन्दुकला' ५, खंड १, किरण ६, जून १९१४ में प्रकाशित हुआ। युद्ध के उठते हुए बादल यूरोप पर छाने लगे थे। इधर राष्ट्र की स्वतन्त्रता का सपना फिर से देश की आँखों में घिर रहा था। प्रसाद ने अपना नेता प्रताप को बनाया। उनका दृष्टिकोण आदर्शोन्मुख स्वच्छन्दतावादी हो उठा। काव्य के स्थूल, इतिवृत्तात्मक, उपदेशात्मक और अनगढ़ स्वरूप से उन्होंने विद्रोह कर दिया। उसके सामने तत्कालीन स्वच्छन्दतावादी कवि श्रीधर पाठक, गया प्रसाद शुक्ल सनेही, अयोध्यासिंह उपाध्याय के नवीन आदर्शों और विषयों का दर्पण था। 'पतझड़' का रूढ़िमुक्त और स्वच्छन्दतावादी चित्र इस प्रकार है :

"कानन में पतझड़ भी कैसा फैल के
भीषण निज आतंक दिखाता था, कड़े
सूखे पत्तों के ही खड़-खड़ शब्द से
अपना कुत्सित क्रोध प्रकट था कर रहा।"

प्रसाद की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति से युक्त ये उपमाएँ तब कितनी नवीन थीं :

"प्रखर ग्रीष्म का ताप मिटाता था वही
छोटा सा शुचि स्रोत, हटाता क्रोध को
जैसा छोटा मधुर शब्द को एक ही।"

और :

"लू समान कुछ राजपूत भी आ गये।"

नवाब का मधुर परिहास सुनकर नवाब की पत्नी की मुखमुद्रा के जो रंग बदले उसका यह चित्रण है :

"कँपी सुराही कर की, छलकी वारुणी,
देख ललाई स्वच्छ मधूक कपोल में।
खिसक गयी उर से जरतारी ओढ़नी,
चकाचौंध सी लगी विमल आलोक की।"

प्रसाद के 'प्रेम पथिक' का कथानक कल्पित है, उत्पाद्य है। प्रकृति एवं नारी सौन्दर्य-जनित प्रेम में उन्होंने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का प्रकाशन किया

है। प्रसाद ने सर्वप्रथम हिन्दी के मात्रिक छन्द को अतुकान्त रूप दिया। उन्होंने छन्द का वन्धन तोड़ा। 'प्रेम पथिक' का छन्द अतुकान्त है। 'कानन कुसुम' की (१) प्रभो, (२) करुणाकुंज, (३) नव वसन्त, (४) भक्ति योग, (५) मलिना, (६) जल-विहारिणी, (७) दलित कुमुदिनी, (८) निशीथ, आदि रचनाओं में स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं। 'प्रभो' रचना में कुछ रहस्यात्मकता आ गयी है :

"विमल इन्दु की विशाल किरणें
प्रकाश तेरा बता रही हैं।"

'निशीथ नदी' में वे आत्माभिव्यंजना के लिए आकुल दिखायी देते हैं :

"हृदय कुमुद कब सौरभ से यों विकसित होकर,
पूर्ण करेगा अपने परिमल से दिगन्त को।"

'प्रेम पथिक' जनवरी १९१४ ई० में परिवर्तित और परिवर्धित रूप में प्रकाशित हुआ। यह स्वच्छन्दतावादी धारा की प्रतिनिधि रचना है। यह भावमूलक प्रबन्ध काव्य है, जिसकी रचना तुकविहीन है और छन्द-योजना स्वच्छन्द है। इसकी कथावस्तु कल्पित है। ब्रजभाषा के 'प्रेम पथिक' में १३६ पंक्तियाँ हैं, पर खड़ी वोली के 'प्रेम पथिक' में २७० पंक्तियाँ हैं। 'प्रेम पथिक' का प्रेम-पथ लम्बा है :

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं॥

× ×

पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।
प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो।"

यही प्रेम विश्व-प्रेम में बदल जाता है :

"क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सवकी समता है।"

यही प्रेम अन्त में आध्यात्मिक स्वरूप ले लेता है :

"क्षणभंगुर सौन्दर्य देखकर रीझो मत देखो, देखो।
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्व मात्र में छायी है ।।
× ×
आत्म-समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर
प्रकृति मिलादो विश्व-प्रेम में, विश्व स्वयं ही ईश्वर है।"

एक स्थान पर 'प्रेम-पथिक' में वे कहते हैं :

'कुचला जाना हृदय कुसुम का किसे सुनायी देता है ?"

वे चाहते थे कि :

"जहाँ अखण्ड शान्ति रहती है, वहाँ सदा स्वच्छन्द रहें।"

'प्रेम-पथिक' में प्रतीक भी है :

"मेघखण्ड उस स्वच्छन्द सुधामय विधु को एक लगा ढकने।"

पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'जयशंकर प्रसाद' में लिखा है "बाह्य प्रकृति की रमणीयता की यह छोटी-सी आख्यायिका हिन्दी में एक नवीन भाव-धारा का आगमन सूचित करती है। 'प्रेम पथिक' का छोटा-सा कथानक कवि के स्वच्छ जीवन-क्षण में लिखा गया है।" 'प्रेम पथिक' में आदर्शवादी स्वच्छन्दतावाद के साथ-साथ जीवन के यथार्थ की भी झाँकी है :

"कहाँ मित्रता कैसी बातें ? अरे कल्पना है सब ये।
सच्चा मित्र कहाँ मिलता है ? दुखी हृदय की छाया सा ।।"

यद्यपि 'प्रेम पथिक' का परिवर्तित और परिवर्धित प्रकाशन आठ वर्षों बाद हुआ, परन्तु उसकी वर्णन-शैली की सरलता द्विवेदीकालीन ही है और चित्रात्मकता तथा अप्रस्तुत चित्रण शैली पर स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव है। 'महाराणा का महत्व' में अरिल्ल छन्द तथा 'प्रेम पथिक' में लावनी छन्द है। उपमाओं में मूर्त और अमूर्त का मिश्रण एक नयी वस्तु थी :

"सच्चा मित्र कहाँ मिलता है ? दुखी हृदय की छाया सा।"

सन् १९१८ में प्रकाशित 'झरना' का पहला संस्करण प्रसाद की अन्तर्भावना की चित्रमयी व्यंजनापूर्ण स्वच्छन्द शैली में लिखी २४ रचनाओं का संग्रह था। इनमें कुछ तो स्वच्छन्दतावादी शैली से प्रभावित हैं और अन्य में हिन्दी के तत्कालीन नये स्वर का, छायावाद का प्रारम्भ दिखायी देता है।

'झरना' की 'प्रथम प्रभात', 'मर्म कथा', 'हृदय वेदना' और 'प्रियतम रचनाएँ' १९१३ में प्रकाशित हुई थीं। उनकी अभिव्यंजना इतनी नवीन है कि इन्हें स्वच्छन्दतावादी शैली के अन्तर्गत समेटा जा सकता है। 'प्रथम प्रभात' में बाह्य एवं आन्तरिक प्रकृति का एकीकरण द्रष्टव्य है :

"मनोवृत्तियाँ खग-कुल सी थीं सो रहीं,
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में।
नील गगन-सा शान्त हृदय था हो रहा,
बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रहीं।"

इसी की भित्ति पर 'झरना' की कुछ कृतियाँ स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के द्वितीय चरण में होते हुए भी प्रथम चरण (१९००-१९१६ ई०) के 'सैद्धान्तिक स्वच्छन्दतावाद' की उस प्रवृत्ति के अन्तर्गत हैं, जब उन्नीसवीं शताब्दी की कविता के संकुचित दृष्टिकोण के प्रति असन्तोष और उसकी अतिशय नियमबद्धता के प्रति विरोध प्रबल था। प्रेम, वेदना और सौन्दर्य स्वच्छन्दतावाद के प्रमुख विषय हैं :

"सजनि रोता है मेरा गान।
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान।"

या

"वेदने तू भी भली बनी।
पायी मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।"

प्रसाद की पहली रचना जुलाई १९०६ में 'भारतेन्दु' में प्रकाशित हुई थी :

"सावन आये ये वियोगिन को तन,
आलि अनंग लगे अति तावन।
लावन हींय लगी अबला
तड़पै जब बिज्जु छटा छबि छावन।
छावन कैसे कहूँ मैं विदेश,
लगे जुगनूँ हिय आग लगावन।
गावन लागे मयूर कलाधर
झूमि कै मेघ लगे बरसावन।"

प्रसाद का आरम्भिक विकास 'इन्दु' के माध्यम से हुआ है। 'इन्दु' १९०९ से १९२७ तक निकलता रहा।

'कानन कुसुम' (१९१३) में ब्रज और खड़ी बोली दोनों ही प्रकार की रचनाएँ थीं।

'झरना' का प्रथम संस्करण कृष्णाष्टमी, सं० १९७५ वि० को हुआ था। उक्त संकलन में २५ रचनाएँ थीं, जो निश्चित रूप से १९१८ के पूर्व की हैं। वर्तमान संस्करण में १९१४-१८ के बीच की ४८ रचनाएँ हैं।

यौवन, निराशा, पीड़ा का मादक आनन्द और आशा से भरा 'झरना' गीतों की प्रयोगशाला है :

"तुम्हारा शीतल सुख परिरम्भ
मिलेगा और न मुझे कहीं।
विश्व भर का भी हो व्यवधान
आज वह बाल बराबर नहीं।" (झरना, पृष्ठ ६१)

"किरण, तुम क्यों बिखरी हो आज
रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान
उड़ाती हो परमाणु पराग;
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन
किसी अज्ञात विश्व की विकल
वेदना दूती सी तुम कौन ?" (झरना, पृष्ठ २८)

इनमें कवि की नयी दिशा का संकेत है। प्रणय, प्रकृति और सौन्दर्य बिखरा हुआ है। इसमें छायावादी काव्य-प्रवृत्ति का प्रस्फुटन स्पष्ट देखा जा सकता है। १९११ में 'इन्दु' में प्रकाशित प्रसाद की रचना जो 'कानन कुसुम' में संगृहीत है, इस प्रकार है :—

"विशाल मन्दिर की यामिनी में
जिसे देखना हो दीपमाला।
तो तारकागण की ज्योति उसका
पता अनूठा बता रही हैं।"

इसी से ज्ञात होता है कि प्रसाद की कविता में स्वच्छन्दतावादी प्रभाव १९११ से आरम्भ हो गया था।

डॉ० प्रेमशंकर के मत से प्रसाद की खड़ी बोली की यह सर्वप्रथम रचना है :

"आशा तटिनी का कूल नहीं मिलता है।
स्वच्छन्द पवन बिन कुसुम नहीं खिलता है।
कमलाकर में अति चतुर भूल जाता है।
फूले फलों पर फिरता टकराता है।
मन को अथाह गम्भीर समुद्र बनाओ।
चंचल तरंग को चित से वेग हटाओ।"
(इन्दु कला २, किरण २, १९६७ वि०, पृष्ठ ५७)

निराला की 'जुही की कली'—जो उनकी हिन्दी में पहली रचना है—और 'बादल राग' उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं, जिनकी परिणति छायावादी काव्य-धारा में हुई है।

मुकुटधर पाण्डेय ने लिखा था :

"देखा मैंने यहीं मुक्ति थी,
यहीं भोग था यहीं भुक्ति थी।
घर में ही सब योग युक्ति थी।
घर ही था निर्वाण।"[1]

पाण्डेयजी ने अरुणोदय के बहाने जिस जिज्ञासा और रहस्यात्मकता का परिचय दिया है, वह द्रष्टव्य है :

"प्राची में अरुणोदय अनूप।
है दिखा रहा निज दिव्य रूप।
लाली यह किसके अधरों की।
लख जिसे मलिन नक्षत्र हीर॥

१. मुकुटधर पाण्डेय, सरस्वती, दिसम्बर १९१७

विकसित सर में किंजल्क जाल।
शोभित उन पर नीहार माल।
किस सदय बन्धु की आँखों से।
है टपक पड़ा यह प्रेम नीर।"[१]

उनकी 'रूप का जादू', 'आँसू' और 'हृदय' नामक रचनाएँ भी इसी प्रकार जिज्ञासा, वेदना और सहानुभूति पर आधारित हैं :

"प्रेमियों के हृदय सागर में कढ़े
यत्न से इन मोतियों को गूँथ कर
जो बनाता हार अपने कंठ का
भाइयो, है विश्व में वह धन्य नर ॥"[२]

"प्यार की दो बात कहने के लिये
जिस दुखी के पास है कोई नहीं।
पास उसके दौड़कर जाता हृदय
और घंटों बैठ रहता है वहीं ॥"[३]

पाण्डेयजी का निर्व्याज प्रकृति-चित्रण उनके 'पूजा फूल' संग्रह की कई रचनाओं में मिल जाता है।

इस प्रकार भारतेन्दु से स्वच्छन्दवादिता की प्रेरणा लेकर ठाकुर जगमोहन सिंह और प्रमुख रूप से श्रीधर पाठक तथा द्विवेदी युग की काव्य-भूमि से बाहर राय देवीप्रसाद पूर्ण, रामनरेश त्रिपाठी और रूपनारायण पाण्डेय आदि ने इस धारा को गतिशील रखा। प्रसाद, पन्त, निराला और मुकुटधर पाण्डेय में १९१४ के पश्चात् स्वच्छन्दतावादी काव्य में दिखायी दी। सन् १९१४ से १९२० ई० तक का समय मिली-जुली काव्य-प्रवृत्तियों का युग है। खण्ड काव्य, महाकाव्य और प्रगीतों का निर्माण हुआ। गुप्त की 'झंकार', मुकुटधर पाण्डेय के 'पूजा फूल', प्रसाद का 'झरना' और अन्य कवियों के अनेकों गीत आगे चलकर छायावादी काव्य के प्रमुख आधार बने।

प्रबन्ध काव्य—श्रीधर पाठक का 'एकान्तवासी योगी'
मैथिलीशरण गुप्त का 'रंग में भंग'

---

१. मुकुटधर पाण्डेय, अधीर, कविता कौमुदी, भाग २, पृ० ५५८-५५९
२. वही, आँसू, सरस्वती, १९१६ ई०
३. वही, हृदय, सरस्वती, मार्च १९१७

प्रसाद का 'प्रेम पथिक', 'महाराणा का महत्व'
सियारामशरणगुप्त का 'मौर्य विजय'
रामनरेश त्रिपाठी का 'मिलन', 'पथिक,' स्वप्न'
अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रियप्रवास'
रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित चिन्तामणि'
गुप्तजी का 'साकेत'

इन सबके द्वारा स्वच्छदतावादी काव्य को प्रेरणा मिली, विशेषत: श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय तथा प्रसाद के काव्य से। प्रेम, करुणा, सहानुभूति, जीवन-दर्शन, राष्ट्रीयता, अतीत-प्रेम, प्रकृति-प्रेम आदि विषयों ने स्वच्छन्दतावादी धारा को बहुत सबल बनाया। वेदना, जिज्ञासा, प्रेम, अध्यात्म, निराशा आदि से यह धारा और अधिक समृद्ध हुई। यही स्वच्छन्द धारा १९२० के बाद छायावादी कविता के रूप में विकसित हुई।

## द्विवेदीयुगीन काव्य और छायावाद

'स्वच्छन्द काव्यधारा और छायावाद' के अन्तर्गत छायावाद की मान्यताएँ, विद्वानों के छायावाद सम्बन्धी व्याख्यात्मक मत तथा स्वच्छन्दतावादी धारा से उसका अन्तर स्पष्ट कर दिया गया है। यहाँ द्विवेदीयुगीन काव्य में इस नवीन वाद की स्थिति स्पष्ट करना हमारा लक्ष्य है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल का (इतिहास, पृ० ६६८) मत है कि छायावाद रवीन्द्र के प्रभाव से और बँगला के माध्यम से हिन्दी में था, पर इलाचन्द्र जोशी और रामनाथ सुमन ने इस मत का प्रतिवाद किया है। जोशीजी मानते हैं कि बंगाल में कभी, किसी युग में, किसी भी कोटि की कविता के लिए छायावाद शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। बंगाल के किसी भी कवि, साहित्यकार, कलाकार या आलोचक ने कभी कहीं भी छायावाद शब्द का उल्लेख नहीं किया।''[१] रामनाथ सुमन और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि 'छायावाद' शब्द का प्रचलन बँगला के काव्य में नहीं पाया जाता। द्विवेदीजी का कथन है कि ''छायावाद हिन्दी कविता का स्वाभाविक विकास था। यह न बँगला से आया और न ईसाई सन्तों के छायाभास से। 'छायाभास' तो हमारे सन्तों

१. अवन्तिका, काव्यालोचन, जनवरी १९५३ ई०

की वाणी द्वारा हिन्दी भाषा-भाषियों के जीवन में सदियों से होता रहा है। यह उधार लिया धन नहीं।"[१] अस्तु, शुक्लजी का मत "बिलकुल भ्रामक, निर्मूल और मनगढ़न्त है।"[२]

ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, मानवीकरण, प्रतीकात्मकता, गीतात्मकता, चित्रात्मकता, आदि छायावादी शैली की विशेषताएँ हैं। 'छायावाद' शब्द सर्वप्रथम मुकुटधर पाण्डेय द्वारा प्रयुक्त हुआ है। वे कहते हैं "इन रचनाओं में एक धुँधलापन था, मानो वे भाव नहीं, उनकी छाया हों। बस इसी बुनियाद पर मैंने 'छायावाद' नाम रखा।"[३] डॉ० विनयमोहन शर्मा और डॉ० नामवर सिंह ने भी पं० मुकुटधर पाण्डेय को छायावाद के प्रवर्तक के रूप में स्वीकार किया है। कुछ दिनों तक तो छायावाद और रहस्यवाद समानार्थक माने जाते रहे।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग की कविता का देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, स्वातन्त्र्य-भावना, मर्यादित शृंगार, समाजसुधार, उपदेश, नीति, आदि छायावादी काव्य की सौन्दर्यभावना की तुलना में स्थूल, शुष्क और उपदेशपरक जान पड़ते हैं। छायावाद तत्कालीन "राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है।"[४] रूढ़ि और परम्परा का विरोध, स्वाधीनता की आकांक्षा, भावनात्मक विद्रोह, प्रकृति-प्रेम, अज्ञात के प्रति जिज्ञासा, भविष्य के सौन्दर्य-लोक की कल्पना, अतीत के सुन्दर सुखद जीवन की झाँकी और वर्तमान के कठोर तथा जड़ जीवन से दूर एक स्वप्नलोक के निर्माण की कामना की जो अभिव्यक्ति सामने आयी, वह छायावाद कही गयी। छायावाद को एक ओर रहस्यवाद की सीमा में रखा गया और दूसरी ओर इसे लौकिक अथवा काल्पनिक कहा गया। महादेवी ने एक विशेष प्रकार की काव्यसृष्टि को प्रकृतिवाद, रहस्यवाद, छायावाद, हृदयवाद या आध्यात्मवाद समझा और लौकिक से अलौकिक की प्राप्ति के उपक्रम को साध्य माना। शुक्लजी ने उसे कभी आध्यात्मिक, कहीं रहस्यवादी या प्रतीकवादी माना तथा उसका चित्र-भाषावाद

---

१. अवन्तिका, काव्यालोचन, जनवरी १९५३, पृ० १०८
२. वही
३. मुकुटधर पाण्डेय के रेडियो भाषण से (उद्धृत, मुकुटधर पाण्डेय, ले० नन्दकिशोर तिवारी, पृ० ४४)
४. प्रो० शिवनन्दन प्रसाद, कवि सुमित्रानन्दन पन्त और उनका प्रतिनिधि काव्य, पृ० ३६

नाम की काव्यशैली के रूप में स्पष्ट किया। डॉ० नगेन्द्र ने उसे पलायनवाद नहीं माना, बल्कि अतीन्द्रिय वस्तु कहा। छायावाद की अभिव्यक्ति का केन्द्र मनुष्य है, ईश्वर नहीं। डॉ० देवराज ने छायावाद को "आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध लौकिक चेतना का विद्रोह"[१] माना। डॉ० जगदीश गुप्त छायावाद को लौकिकता से ही प्रेरित मानते हैं। रामनाथ सुमन छायावाद का सम्बन्ध रहस्यवाद के साथ जोड़ने को तत्पर नहीं हैं। उनकी दृष्टि में छायावादी काव्य संवेगात्मक है। श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ छायावाद की जिज्ञासा की प्रवृत्ति को कौतूहल और विस्मय तक सीमित समझते हैं।

उक्त तथ्यों के आधार पर छायावाद में प्रकृति का मानवीकरण, स्वानुभूति की सुख-दुख भरी विवृत्ति, आध्यात्मिकता तथा सौन्दर्य-वर्णन और उसकी शैली में लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, उपचार-वक्रता, ध्वन्यात्मकता, चित्रभाषा और नये-नये अलंकारों के प्रयोग की प्रवृत्ति दिखायी देती है। पं० मुकुटधर पाण्डेय की 'कुररी के प्रति' या 'महानदी' रचना का मानवीकरण द्रष्टव्य है :

"शीतल स्वच्छ नीर ले सुन्दर
बता कहाँ से आती है।
इस जल्दी में महानदी तू
कहाँ घूमने जाती है॥"

'तरिनी के प्रति' में :

"चरण में तन में कुछ कम्पन,
निरन्तर नूपुर का निक्वण।
नयन में व्याकुल की चितवन,
भ्रमरियों का यह आवर्तन।
विवर्तन, परिवर्तन नर्तन
कभी मुख पर नव-अवगुण्ठन,
कभी अधरों पर मुसकान।"

द्विवेदीयुगीन काव्यधारा में १९१४ ई० से १९२० ई० तक छायावादी काव्य का प्रस्फुटन काल माना गया है। इस काल में या इसके पूर्व जो छायावादी रचनाएँ लिखी गयीं वे ही छायावादी काव्यधारा के वट-वृक्ष की जड़ें थीं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के मत से "सन् १९१३ ई० से सन् १९२९ ई०

१. डॉ० देवराज, छायावाद का पतन, पृ० ९

तक का समय इस स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्ति से अधिक गाढ़ा होकर छायावाद की विशिष्ट काव्य-शैली के रूप में परिवर्तित और परिणत होने का समय कहा जा सकता है।"[१]

सन् १९०९ ई० से १९२० ई० तक का समय छायावाद के प्रयोग का काल है। राय कृष्णदास के गद्यगीत और प्रसाद के 'झरना' की 'खोलो द्वार', 'प्रियतम', 'शिशिर' और 'आज इस घन की अँधियारी में' जैसी रचनाएँ १९१४ ई० तक 'इन्दु' में प्रकाशित हो चुकी थीं। पन्त की 'स्वप्न' रचना जो बाद में 'पल्लव' में संकलित हुई और 'छाया' रचना इसी आलोच्य काल में रची गयी। 'स्वप्न' सन् १९२० की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित १९१३ ई० से १९१९ ई० के बीच 'झंकार' में संकलित हैं। इन आध्यात्मिक गीतों से छायावादी धारा के कवियों ने यथेष्ट प्रेरणा ग्रहण की। 'साकेत' के नवम सर्ग के गीतों में नयी सौन्दर्य भंगिमा है। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के कुछ गीत तथा बदरीनाथ भट्ट की कुछ रचनाएँ छायावाद की भूमि से दूर नहीं थीं। माखनलालजी की काव्य-साधना १९०४-०५ ई० में प्रारम्भ हुई। उन्हें लोगों ने 'अनगढ़ छायावादी' कहा है। नवीनजी की निष्कपट अभिव्यक्तियाँ भी छायावादी काव्यधारा से भिन्न नहीं हैं।

प्रसाद के 'आशा विफल हुई है मेरी'[२] और 'सँभाले कोई कैसे प्यार'[३] गीतों में छायावादी काव्य का उन्मेष दिखायी देता है। 'झरना' का प्रथम गीत 'मधुर है स्रोत मधुर है लहरी', 'खोलो द्वार', 'वसन्त' आदि प्रकृति-चित्रण की रचनाओं के भीतर से छायावादी स्वर मुखर हो रहे थे। 'खोलो द्वार' शीर्षक रचना में, जो 'इन्दु' जनवरी १९१४ ई० में प्रकाशित हुई थी. सरसता द्रष्टव्य है :

> "शिशिर कणों से लदी हुई कमली के भींगे हैं सब तार।
> चलता है पश्चिम का मारुत लेकर शीतलता का भार
> भींग रहा है रजनी का वह सुन्दर कोमल कबरी भार
> अरुण किरण सम कर से छू लो, खोलो, प्रियतम, खोलो द्वार॥"[४]

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी, अवन्तिका, काव्यालोचन विशेषांक, पृ० १९१
२. जयशंकर प्रसाद, प्रसाद संगीत, पृ० १
३. वही, पृ० २
४. वही, झरना, पृ० ७

प्रसाद की पहली खड़ी बोली की रचना में ही रागात्मकता के दर्शन होने लगे थे :

"आशा तटिनी का कूल नहीं मिलता है
स्वच्छन्द पवन बिन कुसुम नहीं खिलता है।"[१]

'झरना' का प्रथम संस्करण अगस्त १९१८ में प्रकाशित हुआ था। यह छायावादी कविता का प्रथम संग्रह था। इसमें :

१—"कर गई प्लावित तन मन सारा
एक दिन तव अपांग की धारा
हृदय से झरना
बह चला जैसे दृग-जल ढरना।
प्रणय-वन्या ने किया पसारा॥"[२]

२—"सरसों के पीले कागज पर वसन्त की आज्ञा पाकर"[३]

३—"रंजित कोमल बादल नभ में छा गये
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे॥"[४]

उनकी 'प्रथम प्रभात', 'रूप', 'पावस प्रभात', 'अर्चना', 'स्वभाव', 'प्रत्याशा', 'स्वप्नलोक' और 'दर्शन' आदि रचनाएँ १९१६ ई० तक लिखी जा चुकी थीं। सन् १९१३ ई० के बाद की उनकी रचनाएँ रहस्यवादी या छायावादी हैं। इनमें प्रेम की प्रधानता है और यौवन के रंग में रँगी, अनुनय-विनय से भरी कौतूहल-भावना है। कुछ विद्वान मानते हैं कि 'प्रथम प्रभात' प्रसाद की पहली रचना है और 'अव्यवस्थित' उनकी पहली छायावादी रचना है:

"जब करता हूँ कभी प्रार्थना कर संकलित विचार।
तभी कामना के नूपुर की हो जाती झनकार॥"[५]

---

१. प्रसाद, इन्दु कला २, किरण २
२. प्रसाद, झरना, पृ० १४
३. वही, झरना, पाई बाग, पृ० ४९
४. वही, स्वप्नलोक, पृ० ५२
५. वही, अव्यवस्थित, पृ० १६

'किरण' शीर्षक रचना उनकी छायावादी प्रवृत्ति का सुन्दर उदाहरण है :

"किरण, तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग ॥
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल—
वेदना-दूती सी तुम कौन ?"[१]

"विषाद' रचना में अमूर्त को मूर्त किया गया है :

"शिथिल पड़ी प्रत्यंचा किसकी ,
धनुष-भंग सब छिन्न जाल है ,
वंशी नीरव पड़ी धूल में
वीणा का भी बुरा हाल है ।"

और—

"विषय शून्य किसकी चितवन है ,
ठहरी पलक अलक में आलस ।
किसका यह सूखा सुहाग है
छिना हुआ किसका सारा रस ?"[२]

"चिह्न ' और' दीप' रचनाएँ भी मानवीकरण और चित्रात्मकता से परिपूर्ण हैं :

"आशा का परिहास कर रही
स्मृति का होता था उपहास ।
दूर क्षितिज में जाकर सोता
था जीवन का नवउल्लास ॥"[३]

उनकी भावनाओं की रचना में से कई में प्रसाद के भावात्मक उभार और प्रेम, प्रणय, दुःख, सौन्दर्य, मानवता आदि की गहरी भावनाओं के दर्शन होने लगे थे । वे कहते हैं :

---

१. प्रसाद, किरण, पृ० २६
२. वही, झरना, विषाद, पृ० २९
३. वही, दीप, पृ० ३१

"किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ
करुणा का विश्रान्त चरण है॥"[1]

प्रसाद की रचनाओं का प्रकाशन काल[2] इस प्रकार है :

(१) शोकोच्छ्वास—सन् १९१० ई०

(२) कानन-कुसुम—प्रथम संस्करण १९१२ ई०, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण, चित्राधार के प्रथम संस्करण के अन्तर्गत और तृतीय संशोधित सं० १९२७

(३) प्रेमपथिक—प्रथम संस्करण जुलाई १९१४

(४) चित्राधार—१९१८ ई०; इसके प्रथम संस्करण में निम्नलिखित दस रचनाएँ हैं—(१) कानन-कुसुम, (२) प्रेमपथिक, (३) महाराणा का महत्व, (४) सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (१९०९ ई०), (५) छाया-परिवर्द्धित, (६) उर्वशी चम्पू, (७) राज्यश्री (१९१५ ई०), (८) करुणालय, (९) प्रायश्चित, (१०) कल्याणी-परिणय (ना० प्र० पत्रिका, भाग १७, संख्या २, सन् १९१२ ई०)

(५) झरना—प्रथम संस्करण, १९१८ ई०

कानन-कुसुम १९१३ ई० की रचना है। इसे गुप्तजी ने छायावादी कविता का प्राण कहा है, पर यह कवि की प्रयोगावस्था की रचना है। प्रकृति, प्रणय, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति और रूढ़ियों का विरोध इस संग्रह की रचनाओं में पाया जाता है।

जब द्विवेदीजी का प्रभाव बड़ी प्रखरता से व्याप्त था तब प्रसाद का यह लिखना :

"देखते ही रूप मन प्रमुदित हुआ।
प्राण भी आमोद से सुरभित हुआ।"

मानवीय प्रेम को आधार बनाकर दिव्य प्रेम की चर्चा करना साहस की बात

---

१. प्रसाद, दीप, पृ० २८ (सं० २०२१ वि०)

२. सुधाकर पाण्डेय, प्रसाद की कविताएँ, पृ० ५८

ही थी । 'प्रथम प्रभात' में मनोवृत्तियाँ 'खगकुल सी थीं सो रहीं', 'नव वसन्त' में 'चुटकियाँ लेने लगीं तब प्रणय की कोरी कली', तथा 'मर्म कथा' में :

"प्रियतम वे सब भाव तुम्हारे क्या हुए ?
प्रेम-कंज-किंजल्क शुष्क कैसे हुए ?"

'हृदय वेदना' में 'मैं तो तुमको भूल गया हूँ पाकर प्रेममयी पीड़ा'। 'मलिना' में :

"पर हाय, चन्द्र के धन ने क्यों है घेरा ।
उज्ज्वल प्रकाश के पास अजीब अँधेरा ।"

और इसी प्रकार 'प्रियतम' रचना में :

"स्मृति को लिए हुए अन्तर में जीवन कर देंगे निःशेष ।
छोड़ो अब भी दिखलाओ मत, मिल जाने का लोभ विशेष ।"

तथा उनकी अन्य रचनाओं में भी छायावाद की स्वच्छन्द आभा चमकने लगी थी । देश के लिए आत्मोत्सर्ग करने वाले तरुणों के सम्बन्ध में कहा गया है :

"जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषक करों का दृढ़ हल हो ,
दुखिया की आँखों का आँसू और मजूरों का बल हो ।
प्रेम भरा हो जीवन में, हो जीवन जिसकी कृतियों में ।।"

और जिसकी छाती :

"खुले किवाड़ सदृश हो छाती सब से ही मिल जाने को ।"[१]

वे मानते थे :

"प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो ।"[२]

और :

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं ।"[३]

प्रसाद ने द्विवेदी युग के पौराणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक या सामाजिक विषयों के अतिरिक्त विशेष रूप से प्रकृति की रम्यता को कविता का

---

१. प्रसाद, कानन कुसुम, गान, पृ० ८७
२. प्रसाद, प्रेमपथिक, पृ० २२
३. वही, पृ० २२

विषय बनाया। किरण, विषाद, स्वप्नलोक, प्यास, चित्त, प्रियतम, वसन्त, हृदयवेदना, निशीथनदी, रमणी-हृदय, विरह, आदि रचनाओं में उन्होंने छाया-वादी काव्य-शैली उपस्थित की। गुप्तजी ने १९१४ ई० में 'नक्षत्रनिपात', १९१५ ई० में 'अनुरोध', १९१७ ई० में 'पुष्पांजलि', १९१८ ई० में 'स्वयं आगत' आदि कविताएँ लिखीं। मुकुटधर पाण्डेय की आँसू और उद्‌गार तथा बदरीनाथ भट्ट की अनूठी भाव-व्यंजना वाली रचनाएँ सामने आयीं। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के १९१५-१६ ई० के गीत भी इसी प्रकार नवीनता लिये हुए हैं। इसी समय प्रसाद का आगमन हुआ। स्वच्छन्दतावादी धारा के प्रभाव से नये-नये विषयों पर लिखा जा रहा था। गुप्तजी और मुकुटधरजी पाण्डेय ने इस स्वच्छन्द धारा को अपनाया था।

'साठ वर्ष एक रेखांकन' पुस्तक में श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने पृष्ठ ३३ पर लिखा है कि "छायावाद नाम हमारी पीढ़ी की कविता पर सम्भवतः पीछे आरोपित किया गया। जिन दिनों की मैं चर्चा कर रहा हूँ, मैं इस शब्द से परि-चित नहीं था। पल्लव की भूमिका में, जो सन् १९२६ के प्रारम्भ में लिखी गयी थी, छायावाद शब्द नहीं आया है। वीणा की भूमिका में सन् १९२७ में इस शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है। उस युग की कविता के लिए इस नाम का औचित्य-अनौचित्य जो कुछ भी हो 'पल्लव' काल तक की अपनी कविता को मैं द्विवेदी युग की कविता का विस्तार नहीं, तो विकास मानता आया हूँ।...द्विवेदी युग की, रूप-सौष्ठव तथा भाव-ऐश्वर्य, दोनों ही दृष्टियों से मुझे असन्तोष रहा है। द्विवेदी युग की काव्य-शैली का परिष्कार छायावाद के जन्म के बाद हुआ।" पन्त के इस वक्तव्य से ही स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद का जन्म तो हो चुका था, परन्तु नामकरण बाद में हुआ। द्विवेदीजी ने पन्त की 'घण्टा' शीर्षक रचना (१९१७) सरस्वती में प्रकाशित नहीं की थी। "सन् १९१६ ई० से १९१८ ई० तक की मेरी रचनाओं के दो संग्रह 'कलरव' और 'नीरव तार' के नाम से थे, जो सन् १९२० ई० में हिन्दू बोर्डिंग हाउस में मेरी चारपाई में आग लग जाने के कारण जल गये।.........इन संग्रहों की प्रायः आधी दर्जन रचनाएँ जो मुझे स्मरण थीं 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में सम्मिलित कर दी गयीं। 'कलरव' तथा 'नीरव तार' नामक कविताएँ अपने परिवर्तित रूप में 'गुंजन' की कविताओं में मिला दी गयीं।"[1] सन् १९२० के पूर्व

---

१. पन्त, साठ वर्ष एक रेखांकन, पृ० २१

उनका अलमोड़े का वर्णन कितना स्वच्छ और स्वच्छन्द, कितना नवीन और चित्रात्मक है :

"लो चित्र शलभ सी पंख खोल उड़ने को है कुसुमित घाटी।
यह है अलमोड़ का वसन्त, खिल पड़ी निखिल पर्वत-घाटी।"

पन्त का प्रथम काव्य-संग्रह 'वीणा' सन् १९१६-१९ ई० में प्रकाशित हुआ। द्विवेदीजी की इतिवृत्तात्मक शैली से एकदम भिन्न यह भावप्रधान काव्य-धारा प्रचलित हो उठी। इस पर शेली और टेनीसन की कल्पना, सौन्दर्य-दृष्टि, नाद-सौन्दर्य, कोमल एवं सूक्ष्म भाव-विन्यास और नवीन रूमानी शैली का यथेष्ट प्रभाव है। पन्त के काव्य का जन्म कौसानी और अलमोड़े के प्राकृतिक वातावरण में हुआ। १९१७ ई० में लिखी गयी 'आत्मिका' में इन शब्दों में उसी कौसानी का वर्णन हुआ है :

"हिमगिरि प्रान्तर था दिग् हर्षित
प्रकृति क्रोड़, ऋतु शोभा कल्पित,
गन्ध गुँथी रेशमी वायु थी,
मुक्त नील गिरि पंखों पर स्थित।"[1]

यह 'गन्ध गुँथी रेशमी वायु' की अभिव्यक्ति द्विवेदीयुगीन काव्य-धारा से एक भिन्न प्रस्थान था। 'आत्मिका' में कवि ने यह भी लिखा है :

"देशभक्ति के साथ मोहिनी मन्त्र मातृभाषा का पाकर।
प्रकृति-प्रेम मधुरस में डूबा गूँज उठा प्राणों का मधुकर।
फूलों की ढेरी में मुझको मिला ढँका अमरों का पावक।
युग-पिक बनना भाया मन को जीवन-चिन्तक जन भू-भावक।
नैसर्गिक सौन्दर्य पुष्प सा खिला दृष्टि में निर्निमेष दल
प्रथम छन्द उर लगा गूँथने, फूल हार मधु रंग ध्वनि कोमल।"[2]

इस तरह पन्त ने नैसर्गिक सौन्दर्य की गोद में लिखना प्रारम्भ किया। प्रकृति, रवीन्द्र, शेली और टेनीसन आदि के प्रभाव ने कवि को धीरे-धीरे इतना जकड़ लिया कि उसके प्रारम्भिक काव्य में चित्र-शैली की सौन्दर्य-राशि बिखर पड़ी। "वीणा-काल की अनेक रचनाओं में मुझे विराट् के प्रति, प्राकृतिक सौन्दर्य के

---

१. पन्त, साठ वर्ष एक रेखांकन, पृ० ११
२. वही, शिल्प और दर्शन, पृ० २४१

नित्य नवीन रूपों के प्रति और छोटी-छोटी प्राकृतिक वस्तुओं तथा घटनाओं के प्रति विस्मय ने कविता लिखने की प्रेरणा दी है। वीणा की 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना' एक ऐसी ही रचना है।"[१] द्विवेदी युग ने राष्ट्रीय जागरण की चेतना पैदा की थी। भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण के स्वर 'भारत-भारती' के माध्यम से देश भर में फैल चुके थे। पन्त का प्रारम्भिक रचना-काल छायावादी कविता के समारम्भ का युग था। नवीन रागात्मकता, नयी जीवन-दृष्टि का सौन्दर्य-बोध और मानवता, विश्व-प्रेम तथा सौन्दर्य-परिधानपूर्ण लाक्षणिक अभिव्यक्ति हिन्दी कविता में अपना स्थान बना रही थी। सत्य के अन्वेषण की प्रवृत्ति या जिज्ञासा भी इसी के साथ में थी। इस प्रकार की रचना के प्रति 'सुकवि किंकर' (पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी) ने अपना कड़ा विरोध 'आजकल के हिन्दी कवि और कविता' (सरस्वती, मई १९२७ ई०) में प्रकट किया था। प्रारम्भ में प्रकृति ही पन्त की मूल प्रेरणा स्रोत रही है। उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'उच्छ्वास' की कटु आलोचना द्विवेदीजी और रामचन्द्र शुक्ल दोनों ने की थी। प्रकृति-सौन्दर्य और मानव-जीवन के सौन्दर्य के अमर गायक पन्त की आरम्भिक रचनाएँ 'वीणा' और 'पल्लव' में संग्रहीत है। 'ग्रन्थि' उनका आरम्भिक खण्ड-काव्य है।

'वीणा' में प्रार्थनापरक गीत हैं, जैसे :

"कुमुद कला बन कल-हासिनि,
अमृत-प्रकाशिनि, नभ-वासिनि
तेरी आभा को पाकर माँ।
जग का तिमिर त्रास हर दूँ—
नीरव रजनी में निर्भय।"[२] (१९१८ ई०)

"आज वेदने, आ तुझको भी गा-गाकर जीवन दे दूँ।"[३]
"तेरी आभा को पाकर माँ जग का त्रास तिमिर हर दूँ।"[४]

इन प्रगीतों में पन्त की प्रेम-भावना और जीवनानुभूति की अभिव्यक्ति है। जहाँ वे कहते हैं :

---

१. पन्त, शिल्प और दर्शन, रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण, पृ० २३६
२. वही; वीणा—ग्रन्थि, सं० २००७, पृ० ४
३. वही, पृ० ७
४. वही, पृ० ४

"अभी मैं बना रहा हूँ गीत
अश्रु से एक-एक लिख घात ।"[1]

वहाँ विश्वप्रेम और पर-सेवा की भावना भी व्यक्त हुई है :

"विश्व-प्रेम का रुचिकर राग ।
पर-सेवा करने की आग ।
इसको सन्ध्या की लाली-सी
माँ न मन्द पड़ जाने दे ,
द्वेष-द्रोह को सान्ध्य जलद-सा ।
इसकी छटा बढ़ाने दे ।"[2]

कवि का यह कथन आकर्षक है :

"निराली छबि के पीले हाथ
पकड़ कर मेरी पीली बाँह,
खींचकर मुझको अपनी ओर
छोड़ते हैं यह कहाँ अथाह ।"[3]

अथवा "मैं खग-सा फिरता नीरव भाव गगन में ,
× × ×
चुराता हूँ गाने बिखरे तृण में, कण में ।"[4]

ये प्रकृति-प्रेम की रचनाएँ हैं । सन् १९१९ में उन्होंने वाराणसी में 'बालापन' और 'प्रथम रश्मि' रचनाएँ लिखीं । 'बालापन' में वे अपने आपको स्त्री-लिंग द्वारा आरोपित कर लेते हैं :

"मेरे यौवन के प्याले, फिर वह बालापन भर दो ।"

'प्रथम रश्मि' उनकी अमर रचना है :

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि तूने कैसे पहिचाना ?
कहाँ-कहाँ हे बाल-विहंगिनि पाया तूने यह गाना ?

---

१. पन्त, वीणा-ग्रन्थि, सं० २००७, पृ० २०
२. वही, पृ० २३
३. वही, पृ० ६५
४. वही, पृ० ६९

खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि, खिली सुरभि, डोले मधु-बाल ।
स्पन्दन, कम्पन औ' नवजीवन, सीखा जग ने अपनाना ।"[१]

जनवरी १९२० ई० में कवि ने 'ग्रन्थि' लिखी थी । 'उच्छ्वास' के समान ही छोटे से कथानक पर आधारित यह कौसानी के निवास-काल में लिखी गयी रचना है । यह प्रणय-कथा वियोग-पर्यवसायी है । कथा के नायक की नाव जल में डूब जाती है । जब उसे होश आता है, तब एक नायिका उसका शीश अपनी जाँघ पर रखे बड़ी व्यग्र दृष्टि से उसका म्लान मुख देख रही होती है । उनमें प्रणय का उद्रेक और विकास होता है । वियोग के क्षण और फिर समाज की उन दोनों के परिणय हेतु अस्वीकृति और अन्त में नायिका का किसी अन्य के साथ ग्रन्थि-बन्धन तथा नायक का अनन्तकालीन वियोग, इस कथा में चित्रित है :

"शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर
शशि-कला सी एक बाला व्यग्र हो ।
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल
सदय भीरु अधीर चंचल दृष्टि से ।।"[२]

× ×

"एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे ।
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय-सम्बन्ध था ।।"[३]

× ×

"कौन मादक कर मुझे है छू रहा
प्रिय तुम्हारी मूकता की आड़ में ।"[४]

× ×

"यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की
जो अपांगों से अधिक है देखता ।

---

१. पन्त, वीणा—ग्रन्थि, प्रथम रश्मि, पृ० ८०
२. वही, ग्रन्थि, पृ० ९८
३. वही, ग्रन्थि, पृ० १००
४. वही, पृ० १०२

दूर होकर और बढ़ता हैत था
वारि पीकर पूछता है घर सदा ?"

× ×

"निज पलक मेरी विकलता साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल, निज स्नेह-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी।"[१]

इस प्रेम की यह परिणति हुई :

"हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रन्थि-बन्धन हो गया, वह नव कुसुम
मधुप सा मेरा हृदय लेकर, किसी—
अन्य मानस का विभूषण हो गया।"[२]

प्रेमी निराश होकर कहता है :

"शैवालिनि जाओ मिलो तुम सिन्धु से।"[३]

× ×

"ओ भोले प्रेम, क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से ? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो—वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है।"[४]

और अन्त में कवि की उक्ति है—

"शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर
विरह !—अहह, कराहते इस शब्द को—
किस कुलिश की तीक्ष्ण चुभती नोक से
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा"[५]

---

१. पन्त, वीणा—ग्रन्थि, पृ० १०३
२. वही, पृ० १२४
३. वही, पृ० १२५
४. वही, पृ० १२८
५. वही, पृ० १३२

'वीणा' में आत्मोत्सर्ग की कामना, दार्शनिकता, सूक्ष्मदर्शिता, प्रकृति-विषयक अनुभूति, मानवीकरण और भाषा-निर्माण की प्रवृत्ति दिखायी देती है। 'ग्रन्थि' में प्रणय तथा वियोग के अनुभूति-प्रधान चित्र हैं। 'पल्लव' की 'उच्छ्वास' और 'आँसू' प्रेमविषयक रचनाएँ हैं। 'उच्छ्वास' यद्यपि अजमेर में १६२२ में प्रकाशित हुआ था परन्तु निश्चय ही 'उच्छ्वास' की भावभूमि १६२० ई० के पूर्व की होनी चाहिए। 'ग्रन्थि' की कथा से मिलती-जुलती 'उच्छ्वास' की भावभूमि भी है। विशुद्ध प्रेम ही वरदान है, यह बात 'उच्छ्वास' में कही गयी है :

"यही तो है बचपन का हास,
खिले यौवन का मधुप-विलास,
प्रौढ़ता का वह बुद्धि-विकास,
जरा का अन्तर्नयन प्रकाश,
जन्म-दिन का है यही हुलास,
मृत्यु का यही दीर्घ निश्वास।"[1]

'स्वप्न' (१६१६) उनकी प्रारम्भिक दिनों की एक महत्वपूर्ण रचना है। सुप्त शिशु की मुसकान का कवि ने इस प्रकार चित्रण किया है :

"बालक के कम्पित अधरों पर
किस अतीत सुधि का मृदु हास।
जग की इस अविरत निद्रा का
करता नित रह-रह उपहास।"[2]

"मुकुलित पलकों के प्यालों में
किस स्वप्निल मदिरा का राग
इन्द्रजाल सा गूँथ रहा नव
किन पुष्पों का स्वर्ण पराग।"[3]

कवि की दार्शनिक जिज्ञासा, तथा मानवीय जीवन के सुख-दुख की सम्वेदना इस तरह व्यक्त की गयी है :

---

१. पन्त, पल्लव, पृ० ५६
२. वही, पृ० ६४
३. वही, पृ० ६५

"सजनि हमारा स्वप्न-सदन क्यों
सिहर उठा सहसा थर-थर ॥ (पृ० ९८)
× ×
विरस डालियों से यह कैसा
फूट रहा हा ! रुदन मलिन—
हम भी हरी-भरी थीं पहले
पर अब स्वप्न हुए वे दिन। (पृ० ९८)
× ×
अह, किस गहरे अन्धकार में
डूब रहा धीरे संसार
कौन जानता है कब इसके
छूटेंगे ये स्वप्न असार।" (पृ० ९९)

निराला की 'जुही की कली' कुछ विवादों के बाद भी उनकी प्रथम रचना ही मानी गयी है। यह १९१६ ई० में लिखी गयी और द्विवेदी युग की सभी पद्धतियों के प्रति इस कविता में विद्रोह किया गया। मधुर रोमाण्टिक भावनाओं का स्वच्छन्द प्रकाशन करते हुए गुप्तजी के अतुकान्त विराम-प्रिय छन्दों के विरुद्ध भी इसमें क्रान्ति उपस्थित की गयी। इसकी दार्शनिक तटस्थता, प्रियतमा के आध्यात्मिक मिलन की ओर संकेत तथा प्रकृति को मानवीय रूप देकर उसकी मधुर क्रिया को जिस कलात्मक ढंग से निराला ने इस प्रथम रचना में प्रकट किया है, द्विवेदीयुगीन काव्य में छायावादी वैशिष्ट्यसम्पन्न अन्य कोई कविता उस तिथि के पूर्व नहीं रची गयी। इस कविता को द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में छापने से इनकार कर दिया था। इस कविता पर बड़े प्रहार हुए और निराला ने छायावाद का खुलकर समर्थन किया।

द्विवेदीयुगीन काव्य की काल-सीमा में पनपनेवाली छायावादी रचना 'जुही की कली' है। 'जुही की कली' में नव्य वेदान्त-दर्शन की स्पष्ट छाप दिखायी देती है। निराला ने उन्नीस वर्ष की आयु में श्मशान में टहलते हुए अपनी प्रथम प्रसिद्ध रचना 'जुही की कली' लिखी थी। १९१९ ई० में गाँधी की धर्मप्राण, अहिंसावादी और नैतिक चेतना से सम्पन्न राजनीति ने पूरे भारत को आकर्षित कर लिया था। हमारी सांस्कृतिक चेतना सक्रिय हो उठी थी। 'जागो फिर एक बार' रचना की भावभूमि भी देश को जगाने वाली है। छायावाद का

आन्दोलन स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्ति को लिये हुए है और उसमें आध्यात्मिकता भी है।

निराला के काव्य में अत्यन्त गहरी सम्वेदना, उत्कट कोटि की बौद्धिकता और सार्वभौमिकता तो है ही, परन्तु एक गम्भीर प्रौढ़ता भी है। उन्होंने अभिनव काव्य-शैली का निर्माण किया। वे विद्रोह के प्रतीक थे। उनका मुक्त छन्द परवर्ती काव्य की सिद्धि बन गया। निराला ने अनामिका, गीतिका और तुलसीदास में शास्त्रीय काव्य की ऊँचाई तक स्वच्छन्दतावाद को प्रतिष्ठित किया।

निराला की 'जुही की कली' की भाव-सज्जा रोमाण्टिक है, उसकी आत्मा आध्यामिक है और शिल्पकला क्लासिकल है। 'यमुना के प्रति' और 'शिवाजी का पत्र' उनकी अध्यात्म और दर्शन से परिपूर्ण सांस्कृतिक रचनाएँ हैं। 'जुही की कली' रचना का यह उद्धरण द्रष्टव्य है :

"विजन वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी—
स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल कोमल तनु तरुणी
जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल पत्रांक में।
वासन्ती निशा थी,
विरह-विधुर प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आयी याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आयी याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात।
फिर क्या ? पवन—
उपवन-सर-सरित् गहन गिरि-कानन
कुंज-लता पुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली खिली साथ।
सोती थी,
जाने कहाँ कैसे प्रिय आगमन वह ?

नायक ने चूमे कपोल
डोल रही वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल
इस पर भी जागी नहीं,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही
किम्वा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये
कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की,
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल
चौंक पड़ी युवती
चकित चितवन निज चारों ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी, खिली,
खेल रंग प्यारे संग।"[१]

१९१६ ई० में इतनी रोमाण्टिक और तटस्थ भाव से लिखी गयी तथा छायावादी कला-साधना से परिपूर्ण अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं है। भाषा, भाव या छन्द की भी इतनी नवीनता या प्रौढ़ता अन्यत्र नहीं मिलती। निराला क्रान्तिकारी कवि थे। 'बादल-राग' भी १९२० ई० की रचना है। कृषकों और दलितों के समर्थन में बादलों को क्रान्ति का प्रतीक बनाकर उनका आह्वान करने वाले निराला का ओज यहाँ दिखायी देता है :

"यह तेरी रणतरी,
भरी आकांक्षाओं से,
घन, भेरी-गर्जन से सजग, सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के—आशाओं से
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल
फिर फिर !
× × ×

१. निराला, अपरा, पृ० १४

हिल हिल
खिल खिल
हाथ हिलाते
तुझे बुलाते
विप्लव रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।
× × ×
रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष,
अंगना अंग से लिपटे भी
आतंक अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
× ×
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर।"[1]

यह निराला की मुक्त छन्द की ओजमयी रचना है। 'जागो फिर एक बार' का प्रथम भाग १९१८ ई० का और उत्तरार्द्ध १९२१ ई० का लिखा हुआ है। सन् १९२१ के जलियाँवाला बाग की घटना के कुछ ही बाद उन्होंने ललकार कर कहा था :

"जागो फिर एक बार,
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुण पंख तरुण किरण
खड़ी खोल रही द्वार—
जागो फिर एक बार।

'सन्ध्या सुन्दरी' (१९२१ ई०) शब्द-चित्रण-कला का श्रेष्ठ उदाहरण है, यथा :

"अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह सी अम्बर-पथ से चली।
× ×

---

१. निराला, अपरा, पृ० १३

सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा 'चुप, चुप, चुप'
है गूँज रहा सब कहीं।"[१]

मातृ-वन्दना (१९२० ई०) में यह प्रार्थना की गयी है :

"जीवन के रथ पर चढ़कर,
सदा मृत्यु के पथ पर बढ़कर,
महाकाल के खरतर शर सह—
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर।"[२]

निराला की प्रसिद्ध रचना 'विधवा' १९१९ ई० में लिखी गयी थी। इसे भी देखिए :

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है।
× ×
व्यथा की भूली हुई कथा है,
× ×
उसके मधु सुहाग का दर्पण
जिसमें देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा वह ध्रुवतारा,
दूर हुआ वह बहा रहा है,
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।"[३]

यद्यपि नया युग-प्रवर्तन करने में प्रसाद अग्रणी हैं, क्योंकि निराला से पूर्व प्रेम और करुणा-प्रधान सांकेतिक अभिव्यंजना लिये हुए गीत लिखना उन्होंने

---

१. निराला, अपरा, पृ० २२
२. वही, पृ० ३१
३. वही, पृ० ५७

प्रारम्भ किया था, परन्तु उनके बाद निराला और पन्त ही इस धारा के अग्रगण्य प्रवर्त्तक कवि हैं। इस युग की कृतियों में प्रमुख रूप से :

प्रसाद रचित—प्रेमपथिक (१९१३ ई०), महाराणा का महत्व (१९१४ ई०), चित्राधार (१९१८ ई०), और झरना (१९१९ ई०)

निराला रचित—जुही की कली (१९१६ ई०) तथा अन्य रचनाएँ।

पन्त रचित—वीणा (१९१८ ई०), ग्रन्थि (१९२० ई०), और पल्लव (१९२२-२६ ई०)

तथा गुप्तजी रचित—रंग में भंग (१९०९ ई०), जयद्रथ-वध (१९१० ई०), पद्य प्रबन्ध (१९१२ ई०), भारत-भारती (१९१४ ई०), किसान (१९१७ ई०), मुक्तक गीत (१९१४-१८ ई०), शकुन्तला (१९१४ ई०), तिलोत्तमा (१९१५ ई०), चन्द्रहास (१९१६ ई०), पत्रावली (१९१६ ई०), वैतालिक (१९१६ ई०), झंकार (१९१५ ई०) आदि हैं।

सन् १९०९ ई० में द्विवेदी, गुप्त, शंकर और पूर्णजी की कविताओं का एक संग्रह 'कविता-कलाप' के नाम से प्रकाशित हुआ था। रीतिकालीन प्रवृत्तियों के विरोध में द्विवेदी-युग के विकास का यह परिचायक कृतित्व था। इसमें सुधारवादी स्वर तीव्र था। इस कविता में जीवन का सहज रूप उपेक्षित रहा तथा प्रेम और सौन्दर्य की उपेक्षा हुई। गुप्तजी की 'नर हो न निराश करो मन को' और 'स्वर्ग सहोदर' आदि उपदेशात्मक और शुष्क हैं। रंग में भंग, शकुन्तला, भारत-भारती, विकट-भट, गुरुकुल, किसान आदि काव्यों में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता थी। 'साकेत' के गीत और 'झंकार' (१९१५ ई०) की कविताएँ प्रगीत शैली का विकास ही हैं। हरिऔध ने चतुष्पदियाँ लिखी थीं। एक 'भारतीय आत्मा' के प्रगीतों में अनुभूति की मात्रा सर्वाधिक तीव्र थी।

'सरस्वती' की फाइलों के आधार पर छायावाद का आरम्भ मुकुटधर पाण्डेय, गुप्त और बदरीनाथ भट्ट से हुआ प्रतीत होता है। सरस्वती की जून मास, भाग १३, संख्या ६ के अंक में, सन् १९१२, प्रसाद की 'जलद आह्वान' कविता छपी है। फिर कभी सरस्वती में उनकी रचनाएँ नहीं छपीं। वे 'इन्दु' में १९०९ ई० से ही लिख रहे थे। प्रसाद की १९१२ के पूर्व की रचनाएँ गुप्तजी की कविताओं की अपेक्षा आन्तरिक प्रेरणा से अधिक सम्पन्न हैं। गुप्तजी की तुलना में प्रसाद की १९१२ ई० से १९१५ ई० के बीच की काव्य-पंक्तियाँ देखिये :

"मेरे आँगन का एक फूल ।
सौभाग्य भाव से मिला हुआ, श्वासोच्छ्वास से हिला हुआ ।
संसार विटप में खिला हुआ, झड़ पड़ा अचानक झूल-झूल ।

प्रसाद की रचना :

"वर्षा होने लगी कुसुम मकरन्द की
प्राण पपीहा बोल उठा आनन्द में" (प्रसाद, प्रथम प्रभात, १९१३ ई०)
"भीग रहा है रजनी का वह
सुन्दर कोमल कबरी भार।" (खोलो द्वार, १९१४ ई०)

"आज इस घन की अँधियारी में
कौन तमाल झूमता है इस सजी सुमन क्यारी में ?
हँसकर बिजली सी चमकाकर हमको कौन रुलाता ?
बरस रहे हैं ये दोनों दृग कैसे हरियारी में ।" (प्रसाद, विन्दु, १९१४)

प्रसाद की प्रियतम (१९१३ ई०), अर्चना (१९१५ ई०) और होली की रात (१९१६ ई०) 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थीं । अन्तर की सूक्ष्म अनुभूतियों की सौन्दर्यमय अभिव्यक्ति, कल्पना, प्रकृति-प्रेम और प्रणय इन कृतियों में स्पष्ट होता है । इनकी तुलना में मुकुटधरजी पाण्डेय की रचनाएँ गद्यात्मक अधिक हैं । प्रसाद की 'खोलो द्वार' तथा 'अनुनय' आदि के बाद की 'आँसू' और 'उद्गार' (१९१७ ई०) रचनाएँ हैं । बख्शीजी की गीति-रचनाएँ १९१५-१६ ई० की हैं । प्रसाद की 'प्रभो', 'इन्दु' में १९११ ई०, कला ३, किरण १ में छापी थी और बदरीनाथ भट्ट की 'दे रहा दीपक जलाकर फूल' शुक्लजी के अनुसार १९१३ ई० की रचना है ।

इससे प्रकट होता है कि छायावाद के वास्तविक प्रवर्त्तक प्रसादजी ही हैं । पन्त, निराला और 'झंकार' के गुप्त जी परवर्ती हो जाते हैं । प्रसाद ने अपने अन्तर की सूक्ष्म अनुभूतियों की कोमल और काल्पनिक अभिव्यक्ति के द्वार १९११ ई० में खोल दिये थे । उनकी प्रेम और सौन्दर्य की लालसा, प्रकृति का आकर्षण, प्रतीकात्मक व्यंजना और अन्तर्मुखी दृष्टि तभी से व्यक्त होने लगी थी । यह उद्धरण द्रष्टव्य है :

"बरसते हों तारों के फूल
छिपे तुम नीलपटी में कौन ?
उड़ रही है सौरभ की धूल,
कोकिला रहती कैसे मौन ?

चाँदनी धुली हुई है आज,
बिछलते हैं तितली के पंख,
सम्हलकर मिलकर बजते साज,
मधुर उठती है तान असंख ॥''

१६०६ ई० में 'प्रकृति-सौन्दर्य' रचना प्रसाद ने लिखी थी, यथा :

''निशा का नीरव चन्द्र-विनोद,
कुसुम का हँसते हुए विकास,
चन्द्रिका से उज्ज्वल आलोक
मल्लिका-सा मोहन मृदु हास ॥'' (हृदय का सौन्दर्य, पृष्ठ ५२)

प्रसाद १८८६ ई० में, निराला १८६६ ई० में तथा पन्त १६०० ई० में जन्मे थे। १६१६ ई० में जब निराला ने 'जुही की कली' शीर्षक अपनी प्रथम रचना लिखी थी, तब प्रसाद की 'महाराणा का महत्व' और 'प्रेमपथिक' रचनाएँ छप चुकी थीं। १६१६ ई० में पन्त का 'तम्बाकू का धुँआ' रचना प्रकाशित हुई थी। रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'गीतांजलि' १६११ ई० में प्रकाशित हुई थी। गीतांजलि का प्रभाव प्रसाद, पन्त और निराला पर भी था। 'अनामिका' की अधिकांश रचनाएँ तथा 'परिमल' की कुछ रचनाएँ १६२० ई० तक लिखी जा चुकी थीं। लाला भगवानदीन 'दीन' की 'लक्ष्मी' और द्विवेदीजी की 'सरस्वती' की अपेक्षा कानपुर की 'प्रभा' में इस नवीन काव्य-धारा को अधिक प्रश्रय मिला। 'कामायनी' को लिखने का संकल्प भी प्रायः इसी समय किया गया था। विषय-प्रधान काव्य के स्थान पर अब प्रगीत काव्य-शैली समादृत हो रही थी।

वस्तुतः छायावाद हमारे नव जागरण की चेतना का ही काव्य है। कवि की स्वातन्त्र्य भावना के दर्शन इसी छायावाद में होते हैं। १६०५ ई० से १६१५ ई० तक छायावाद का प्रथम स्फुरण हमें सरस्वती, इन्दु, मतवाला, माधुरी, समन्वय, सरोज, नारायण आदि पत्रों में मिलता है।

**महादेवी**

प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी छायावादी काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। १६१८ ई० के पश्चात् की कविता में व्यक्तिपरक गीति-काव्य के अन्तर्गत असीम-ससीम, चेतन-अचेतन और प्रकृति के प्रति नवीन दृष्टिकोण दिखायी

देता है। निराशा और अवसाद तथा पीड़ा और करुणा को महादेवी ने वाणी दी। अपने घनीभूत अहम्, आत्मनिष्ठा और वैयक्तिकता के संस्पर्श और आत्म-दर्शन की आकांक्षा के कारण उनका काव्य रहस्यवाद की सीमा में प्रवेश कर जाता है। कवियों की प्रणयानुभूति के अतीन्द्रिय या अशरीरी होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति आवेगहीन और जटिल है। स्त्रियोचित संयम की भावना और अत्यन्त परिष्कृत सौन्दर्य की उपासिका महादेवी के काव्य का समारम्भ 'नीहार' (१९२४-२८ ई०) से होता है। छायावाद के रंगभवन के माध्यम से रहस्यवाद की सीमा में प्रवेश करने का श्रेय महादेवी को है। महादेवी को उस अर्थ में छायावादी नहीं कहा जा सकता, जिस अर्थ में पन्त या प्रसाद को। महादेवी उस भूमिका पर स्थित हैं जहाँ अध्यात्म की अनुभूति के स्पर्श से रहस्य-वाद उभरने लगता है। महादेवी का रहस्यवाद दुखवाद की अन्तर्धारा से गीला और दर्शन की पद्धति पर अपनाया गया है, पर वह बुद्धि-प्रधान है, भाव-मूलक नहीं। प्रसाद ने आनन्दवाद की भूमि पर समरसता की अभिव्यंजना की और महादेवी ने वेदना और दुखवाद की भूमि पर अद्वयता की भाव-सृष्टि का चित्रण किया।

## माखनलाल चतुर्वेदी

डॉ० विनयमोहन शर्मा का मत है कि "१९१३ ई० के लगभग छायावादी प्रवृत्ति का आरम्भ माखनलालजी की 'मेरा उपास्य' कविता से माना जा सकता है। उन्हें हम हिन्दी का प्रथम अभिव्यंजनावादी कवि कह सकते हैं। मुझे ज्ञात नहीं कि इस काल की किसी भी खड़ी बोली की हिन्दी रचना में अभिव्यंजना की यह सफाई हो। इस काल की प्रसाद की रचनाओं में भाषा की स्वच्छन्दता और अभिव्यक्ति की आधुनिकता नहीं आ पायी थी।...छाया-वादी काव्य का जो वैशिष्ट्य है, वह अपने पूर्ण विकास के साथ उनकी शैली में व्यंजित है।" प्रभाकर माचवे के मत से "मेरे मत से छायावाद के पहले कवि पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी हैं। उनकी रचनाएँ बहुत काल तक प्रकाश में नहीं आयीं, उनके संकोची स्वभाव के कारण। प्रसाद, पन्त आदि की रचनाएँ बहुत बाद की हैं।" निराला के समान उनकी भाषा, अभिव्यक्ति, राष्ट्रीयता, क्रान्ति की भावना, मौलिकता सब कुछ अपनी खुद की है। उनके गीतों में आधुनिकता द्विवेदी युग से ही दिखायी देती है। सन् १९१३ ई० को उनकी छायावादी कविता का रचना-काल माना जाता है। उनकी 'मेरा उपास्य' रचना में वक्रता-मयी अभिव्यक्ति हुई है :

'लो आया' उस दिन जब मैंने
सन्ध्या-वन्दन बन्द किया ।
क्षीण किया, सर्वस्व, कार्य के—
उज्ज्वल क्रम को मन्द किया ।
द्वार बन्द होने ही को थे
वायुवेग बलशाली था;
पापी हृदय कहाँ, रसना में—
रटने को वनमाली था ।"

'हिम किरीटिनी' के अनुसार उनकी तिलक (१९२० ई०, ७ अगस्त), वीर पूजा (१९१६), बन्धन-सुख (१९१७ ई०), निःशस्त्र सेनानी (१९१३ ई०), बलिपन्थी से (१९२१ ई०, बिलासपुर सेन्ट्रल जेल) तथा खीझमयी मनुहार (१९२१ ई०, बिलासपुर जेल) रचनाएँ आलोच्य काल के अन्तर्गत रची गयी हैं । 'तिलक' का यह उद्धरण देखिए :

"वज्रपात मर मिटे हाय, हम
रोने दो, संहार हुआ !
कसक कलेजा काढ़ दुखी हैं,—
बुरे समय पर वार हुआ ।
नभ कम्पित हो उठा, करोड़ों
में यह हाहाकार हुआ,
वही हाथ से गिरा भँवर में
जो मेरा पतवार हुआ ।
× ×
"बलि होने की परवाह नहीं
मैं हूँ, कष्टों का राज्य रहे,
मैं जीता, जीता, जीता हूँ,
माता के हाथ स्वराज्य रहे ।" (हिम किरीटिनी, पृष्ठ ७७-८०)

'वीर-पूजा' में कहा गया है :

"यह हरा-भरा, भावों-भरा,
कर्मस्थल स्वीकार हो !
नवजीवन का संचार हो, क्यों हो ?
कृति हो, हुंकार हो ।" (हिम किरीटिनी, पृष्ठ ९२)

'बन्धन सुख' की यह उक्ति द्रष्टव्य है :

"आत्मदेव, प्यारी हथकड़ियाँ
और बेड़ियाँ दें परितोष।
उतनी ही आदरणीया हैं,
जितना वह जय-जय का घोष। (पृष्ठ ९०)

'निःशस्त्र सेनानी' का उदाहरण इस प्रकार है :

"प्यार ? उन हथकड़ियों से और
कृष्ण के जन्मस्थल से प्यार।
हार ? कंधों पर चुभती हुई
अनोखी जंजीरें हैं हार।" (पृष्ठ ९८)

और 'बलिपन्थी' रचना का यह छन्द देखिए :

"मत व्यर्थ पुकारे शूल-शूल
कह फूल-फूल, सह फूल-फूल।
हरि को ही तल में बन्द किये,
केहरि से कह नख हूल-हूल।
× ×
भूखण्ड बिछा, आकाश ओढ़,
नयनोदक ले, मोदक प्रहार,
ब्रह्माण्ड हथेली पर उछाल,
अपने जीवनधन को निहार।" (पृष्ठ ९९)

इन सभी रचनाओं में उनकी राष्ट्रीयता, स्वाभिमान, देश-प्रेम, अतीत-गौरव का भाव, भाषा की स्वच्छता और अभिव्यक्ति की आधुनिकता स्पष्ट दिखायी देती है। अटपटापन, अनगढ़ता और एक टीस-भरी उमस उनकी काव्य-शैली के उपकरण हैं, जैसे :

"हे देव ! तेरे दाँव ही
निर्णय करेंगे आप;
उस ओर तेरे पाँव हैं,
इस ओर मेरे पाप।" (१९१७ ई०, हिम तरंगिणी)

'पत्नी के स्वर्गवास पर' कविता का यह अंश देखिए :

"भाई छेड़ो नहीं मुझे,
खुलकर रोने दो;
यह पत्थर का हृदय
आँसुओं से धोने दो।
रहो प्रेम से तुम्हीं
मौज से मंजु महल में।
मुझे दुखों की इसी
झोंपड़ी में सोने दो।" (हिम तरंगिणी, पृष्ठ २१)

'दूर न रह धुन बँधने दे' (१९२१ ई०) कविता का प्रगीत-शिल्प देखिए :

"रे कहने, सुनने, गुनने—
वाले मतवाले यार।
भाषा, वाक्य-विराम, विन्दु,
सब कुछ तेरा व्यापार।
किन्तु प्रश्न मत बन, सुलझेगा—
क्यों कर सुलझाने से ?
जीवन का कागज कोरा मत
रख, तू लिख जाने दे।" (हिम तरंगिणी, पृष्ठ ४५)

'उठ अब, ऐ मेरे महाप्राण' प्रगीत १९१८ ई० में रचा गया था। उसमें यह सन्देश है :

"उठ अब, ऐ मेरे महाप्राण,
आत्म-कलह पर,
विश्व-सतह पर,
कूजित हो तेरा वेद-गान।" (हिम तरंगिणी, पृष्ठ ५२)

'हिम तरंगिणी' में संग्रहीत अन्य रचनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं, जैसे ;

"प्यारे इतना-सा कह दो
कुछ करने को तैयार रहूँ।
जिस दिन रूठ पड़ो
सूली पर चढ़ने को तैयार रहूँ।।"

× ×

"महलों पर कुटियों को वारो,
पकवानों पर दूध-दही ।
राजपथों पर कुंजें वारो,
मंचों पर गोलोक मही ।"

"दुर्गम हृदयारण्य दण्डकारण्य घूम जा, आ जा;
मति भिल्ली के भाव बेर हों जूठे, भोग लगा जा ।"

× ×

"अपने जी की जलन बुझाऊँ, अपना-सा कर पाऊँ ।"
" 'वैदेही सुकुमार कितै गई' तेरे स्वर में गाऊँ ।"

१९०८ ई० में 'शान्ताकारं' प्रार्थना से प्रभावित माखनलालजी की एक प्रारम्भिक रचना इस प्रकार है :

"वह भावों का गणित मुझे
प्रतिपल विश्वास दिलाता ।
जो योगी को है अगम्य,
वह पापी को मिल जाता ।।

× ×

चिक्कण हृदयपत्र प्रस्तुत है,
अपना चित्र बना जा ।
नवधा की नौ कोने वाली
जिस पर फ्रेम लगा दूँ ।
चन्दन अक्षत भूल प्राण का—
जिस पर फूल चढ़ा दूँ ।" (हिम तरंगिणी, पृष्ठ ६९)

१९१० ई० की रचना देखिए :

"गुनों की पहुँच के परे के कुँओं में,
मैं डूबा हुआ हूँ जुड़ी बाजुओं में,
जरा तैरता हूँ, तो डूबे हुओं में,
अरे डूबने दे मुझे आँसुओं में ।
रे नक्काश, कर लेने दे अपने जी की,
मिटाऊँ ला तस्वीर मैं आइने की ।।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि छायावादी उन्मेष की वैविध्यपूर्ण रचनाएँ माखन लाल चतुर्वेदी ने स्वानुभूति-व्यञ्जक प्रगीत-शिल्प में प्रस्तुत की थीं ।

**मैथिलीशरण गुप्त**

'सरस्वती' के जनवरी १९०५ ई० के अंक में गुप्तजी की सर्वप्रथम रचना प्रकाशित हुई। काल-क्रमानुसार रंग में भंग (१९०९ ई०), जयद्रथ वध (१९१० ई०), पद्य-प्रबन्ध (१९१२ ई०), भारत-भारती (१९१४ ई०), विरहिणी ब्रजांगना (१९१४ ई०), किसान (१९१७ ई०), विकटभट (१९१८ ई०), वैतालिक (१९१९ ई०), पत्रावली (१९१९ ई०), शकुन्तला (१९२० ई०), प्लासी का युद्ध (१९२० ई०), साकेत, प्रथम सर्ग (जून १९१६ ई०), द्वितीय सर्ग (जुलाई १९१६ ई०), तृतीय सर्ग (जनवरी १९१७ ई०), चतुर्थ सर्ग (मई १९१७ ई०), पंचम सर्ग (जुलाई १९१८ ई०), वीरांगना के प्रथम पाँच सर्ग, दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला के दो पत्र (मई १९१८), और अर्जुन के प्रति द्रौपदी (फरवरी १९१९ ई०) आदि रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं। इनमें से पद्य-प्रबन्ध गुप्तजी के १९१० ई० तक के प्रयासों का संकलन है। दस वर्ष का उनका अवशिष्ट काव्य द्विवेदीजी के 'कविता-कलाप' तथा स्वयं गुप्तजी द्वारा संकलित 'मंगलघट', 'झंकार', और 'स्वदेश-संगीत' में प्रकाशित हुआ है। 'विरहिणी ब्रजांगना', 'वीरांगना' तथा 'प्लासी का युद्ध', क्रमशः माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा रचित बँगला काव्य ब्रजांगना और वीरांगना तथा नवीनचन्द्र सेन के 'पलाशीर युद्ध' के काव्यानुवाद हैं। संस्कृत के काव्यों के भी उनके कतिपय अनुवाद सुलभ हैं। रंग में भंग, जयद्रथ-वध, शकुन्तला और साकेत तथा किसान, विकटभट, पत्रावली, आदि उनकी प्रबन्ध रचनाएँ हैं। 'सरस्वती' के चित्रों पर रचित उनकी कविताएँ इस प्रकार हैं—उत्तरा का उत्ताप, कीचक की नीचता, कुन्ती और कर्ण, गर्विता, रत्नावली, रण-निमन्त्रण, सलज्जा, सीताजी का पृथ्वी-प्रवेश, मुनि का मोह, गोवर्धन-धारण, धृतराष्ट्र और संजय, प्रह्लाद, वनवास, सुलोचना का चितारोहण, केशों की कथा, विरहिणी सीता, भीष्म-प्रतिज्ञा, द्रौपदी-हरण आदि हैं। भारतमाता और वैतालिक रचनाएँ राष्ट्रीय उद्बोधन के हेतु लिखी गयी हैं। शिक्षा, मातृभूमि, ब्रह्मचर्य का अभाव, स्वर्गीय संगीत, उद्बोधन, पंजर-बद्ध कीर, महाराजा राजसिंह का पत्र, जय जय भारत-माता, स्वर्ग-सहोदर, गाँधी-गीत, स्वदेश-संगीत, कर्मवीर बनो, स्वराज्य की अभिलाषा, आदि में भारत के अतीत गौरव और दुखद वर्तमान का चित्रण हुआ है। अनुरोध, यात्री, खेल, स्वयमागत, हाट, मोह, आदि कविताओं पर रवीन्द्र की कविता का प्रभाव और रहस्यवाद की छाया है। शुद्ध प्रकृति-वर्णन हेमन्त, निदाघ-वर्णन, वर्षा-वर्णन, होली, हर्ष, आदि में मिलता है। फुटकर विषयों पर—जैसे, ग्रन्थ-गुण-गान, प्रणय की

महिमा, ग्राम्य जीवन, टाइटानिक की सिन्धु-समाधि, संसार, मृत्यु, आदि उनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं।

गुप्तजी का कोई काव्य समग्रतः छायावादी काव्यधारा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। उन्होंने खड़ी बोली को माँजा, उसे अपने पैरों पर खड़ा किया, उसकी अनिश्चितता दूर की और उसमें व्यवस्था ला दी। उनके 'जयद्रथ-वध' ने ब्रजभाषा के मोह का वध कर दिया और 'भारत-भारती' ने जैसे खड़ी बोली के स्वाभाविक संगीत को प्रकट किया।

छायावादी उन्मेष (१९१३-१९२० ई०) के प्रारम्भिक काल में गुप्तजी ने 'रंग में भंग' और 'जयद्रथ-वध' की रचना की थी। परन्तु इन्हें छायावादी प्रेरणा से प्रसूत या स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के समानान्तर काव्य मानना युक्तियुक्त नहीं है। पद्यात्मक प्रबन्ध-कथा 'शकुन्तला' १९२० ई० की रचना है। यह दुःखप्रधान रचना कालिदास से प्रभावित है। गुप्तजी की 'झंकार' (१९१२ ई०), में संगृहीत रचनाओं में कुछ छायावादी विशेषताएँ खोजी जा सकती हैं। रहस्यवादी स्वरों में अर्थ, बालबोध, बन्धन, माया, माधुरी, गुंजार, इन्द्रजाल, आत्मसमर्पण, बाँसुरी, आहट, माला, आँख-मिचौनी, आदि रचनाएँ गीतिकाव्य के सुन्दर उदाहरण हैं, परन्तु उनमें भी वर्णन-प्रधानता पायी जाती है। 'साकेत' भी छायावाद की प्रतिनिधि रचना नहीं है। 'भारत-भारती' का स्वर अतीत-प्रेम को झंकृत करते हुए वर्तमान और भविष्य पर दृष्टि डालने की प्रेरणा देता है। 'किसान' में अवश्य ही किसानों के प्रति सहानुभूति प्रकट की गयी है, जो तत्कालीन जागरण और नवचेतना से मेल खाती है। नारी का आदर्श-मूलक चित्रण, भारतीयों को उद्‌बोधन, सांस्कृतिक उत्थान की प्रेरणा और वर्तमान शासन पर क्षोभ प्रकट करते हुए गुप्तजी ने देश-भक्ति का काव्य प्रचुर परिमाण में लिखा। नारी के आदर्श और सम्मान को उन्होंने सुरक्षित रखा। उसके मातृ रूप, प्रेमिका रूप और अन्यान्य रूपों का चित्रण किया गया। साकेत जीवन-काव्य है। उसमें समन्वय-भावना को स्थान मिला है। उर्मिला की व्यथा भारतीय नारी की कथा बन गयी है। प्रेम और त्याग तथा प्राचीन का विश्वास और नवीन का विद्रोह दोनों ही अभिव्यक्त हैं। लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता का अत्यन्त शिष्ट और प्रौढ़ रूप इसमें मिलता है। पदावली का छायावादी सौन्दर्य कहीं-कहीं द्रष्टव्य है, जैसे :

"पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धँसतीं"
तब नखज्योति मिष मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं।

क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते।
पद-पद्मों में मंजीर मराल मचलते।
रुकने झुकने में ललित लंक लच जाती।
पर अपनी छबि में छिपी आप बच जाती।"

गुप्तजी गाँधीवाद के युग में लिख रहे थे। इसलिए उनके काव्य में "समाजवादी सिद्धान्तों का समर्थन, किसानों और मजदूरों का गुण कीर्तन, पूंजीवाद एवं उससे सम्बन्धित राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध क्रान्ति को साहित्य ने अपना लिया है।"[1] साकेत में स्वावलम्बन, समानता एवं अस्पृश्यता-निवारण, गाँधीवाद, साम्यवाद, विश्व-बन्धुत्व, लोक-कल्याण, मानवत्व, कर्म की प्रधानता, त्याग, नारी के अधिकारों का मूल्यांकन और बुद्धिवाद का प्रभाव दिखायी देता है। समाज में सबको जीने का अधिकार है :

"केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी,
है औरों की भी भारधारिणी भरणी।
जन-पद के बन्धन मुक्ति हेतु हैं सबके।
यदि नियम न हों उच्छिन्न सभी हों कबके।"[2]

प्रभात की लालिमा में उर्मिला का सौन्दर्य किस प्राकृतिक विधान से निखारा गया है :

"अरुण पट पहने हुए आह्लाद में।
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में।
प्रकट मूर्तिमयी उषा ही तो नहीं।
कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं।"

'साकेत' में 'हँस रही हैं खिलखिला कर क्यारियाँ' आदि और नवम सर्ग के गीतों में प्रकृति के भावमय चित्र निश्चय ही स्वच्छ और सुन्दर हैं, परन्तु उनमें वह स्वच्छन्द गति नहीं है, जो प्रसाद, पन्त, निराला या अन्य छायावादी कवियों के प्रथम उन्मेष की कविताओं में मिलती है।

---

१. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, पृ० ८१
२. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० २१४

'वैतालिक' ( १९१९ ई०) में सौन्दर्य और सरसता के साथ-साथ शैलीगत निखार भी है :

"अम्बुज भी हैं खिले हुए।
हेला से कुछ हिले हुए।
रहते हैं वे जल पर यों—
कि तुम रहो भूतल पर ज्यों।"

'साकेत' में :

"द्विज चहक उठे, हो गया नया उजियाला,
हाटक पट पहने दीख पड़ी गिरिमाला।"

अथवा :

"चंचला सी छिटक छूटी उर्मिला"

उर्मिला का यह गतिशील चित्र देखिए :

"देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखी किधर थी,
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी।"

या :

"मुसकरा कर अमृत बरसाती हुई।
रसिकता में सुरस सरसाती हुई
उर्मिला बोली 'अजी तुम जग गये ?'
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये ?"

ऐसे ही वर्णनों में कवि की सरसता प्रकट हुई है, पर द्विवेदीजी के शृंगार-विरोधी दृष्टिकोण ने उन्हें मर्यादा में बाँध कर रखा है और स्वच्छन्दता का स्रोत दबा ही रहा आया। गुप्तजी के साकेत के प्रकृति-चित्र वर्णनात्मक ही अधिक हैं, उनमें रसात्मकता का अभाव है। आलोच्य काल में साकेत के केवल प्रथम पाँच सर्ग ही लिखे गये थे। इसलिए नवम सर्ग और उसकी गीतात्मकता के सौन्दर्य की चर्चा नहीं की गयी।

गुप्तजी ने खड़ी बोली के उन्नयन में जो योग दिया उसे देखते हुए शान्ति-प्रिय द्विवेदी ने 'हमारे साहित्य निर्माता' में ठीक ही लिखा है कि "किसी माला में प्रथम मणि, उपवन में प्रथम पुष्प, गगन में प्रथम नक्षत्र का जो महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है, वह वर्तमान कविता में गुप्तजी का है। अतः खड़ी बोली की वर्तमान कविता के प्रधान और प्रथम प्रतिनिधि कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ही हैं।"

गुप्तजी ने द्विवेदी युग से लेकर छायावादोत्तर हिन्दी काव्य तक, पूरे ५० वर्षों तक सांस्कृतिक नवोत्थान का प्रतिनिधित्व किया। खड़ी बोली का परिमार्जन काल या द्विवेदी युग प्रगीत मुक्तकों में छायावादी अभिव्यंजना ग्रहण करता गया। १९१५-१६ ई० के बाद गुप्तजी की रचनाओं में 'वह' के स्थान पर प्रथम पुरुष का प्रयोग होने लगा था और स्वानुभूति प्रधान होने लगी थी। १९०९ ई० में गुप्तजी ने संस्कृत वृत्त में कविता लिखी थी :

"ज्योंही विद्रुम पद्मराग सम है बिम्बोष्ठ शोभा भली
श्री संयुक्त सुवर्ण वह यों है ठीक रतनावली।"

'भारत-भारती' में हरिगीतिका छन्द और मेघनाद वध तथा सिद्धराज में अतुकान्त छन्द को प्रयुक्त किया गया। गुप्तजी ने अपनी कालानुसरण की क्षमता का प्रदर्शन किया और प्रगीत शिल्प भी अपनाया। उनका लक्ष्य था : 'नारायण हो मेरे नर'।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि छायावाद के उन्मेष काल में यद्यपि गुप्तजी ने नवीन अभिव्यंजना की ओर पग अवश्य बढ़ाये, परन्तु १९२० ई० तक कोई ऐसी रचना नहीं लिखी, जो विशुद्ध रूप में छायावादी रचना कही जा सके। 'झंकार' में अवश्य छायावाद की ध्वनि सुन पड़ती है, परन्तु गुप्तजी की धार्मिक भावना के कारण उसका रहस्यवादी रूप ही मुखर हो पाया, स्वच्छन्दतावादी रूप नहीं।

**सियारामशरण गुप्त**

छायावाद के उन्मेष काल में सियारामशरण गुप्त का 'मौर्यविजय' १९१४ ई० में प्रकाशित हुआ। सिल्यूकस के भारत-आक्रमण को लेकर लिखे गये इस काव्य में इतिवृत्तात्मकता ही अधिक है। द्विवेदी युग का इस पर पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है। शृंगार और वीर रस का प्रवाह अच्छा बन पड़ा है, पर छप्पय छन्द के कारण थोड़ी शिथिलता भी आ गयी है। इसका प्रकृति-चित्रण सुन्दर है और भाषा स्वच्छ है :

"पृथ्वी मानो वसन चन्द्रिका का है पहने
नभ के ग्रह-नक्षत्र बने हैं उसके गहने"। (मौर्यविजय, पृ० १५)

स्वदेश-रक्षा के लिए बलि होने की भावना मौर्यविजय के हर पृष्ठ पर अभिव्यक्त है। यथा :

"पुण्यभूमि यह हमें सर्वदा है सुखकारी।
माता के सम मातृभूमि है यही हमारी।"[१]

बलिदानी प्रवृत्ति का उदाहरण :

"आओ वीरो, आज देश की कीर्ति बढ़ा दें।
सबके सम्मुख मातृभूमि को शीश चढ़ा दें।"[२]

एथेना का रूप-चित्रण इस प्रकार हुआ है :

"चन्द्रकला के सदृश वहाँ पर किये उजाला।
छबि को ही कर रही विलज्जित थी वह बाला।"

इस काव्य में स्वच्छन्द काव्यधारा का उद्रेक नहीं हुआ। कवि ने प्रभा, शारदा, माधुरी, सरस्वती, आदि में १९२० ई० और उसके बाद जो रचनाएँ प्रकाशित करायीं उनमें नवीन मार्ग की ओर बढ़ने का प्रयास दिखायी देता है। उस समय छायावाद के ढंग की उनकी कुछ रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपी थीं। डॉ० हजारीप्रसादजी का मत है कि "छायावाद काल में जो कवि अपने ढंग से आगे बढ़ रहे थे, उनमें सबसे श्रेष्ठ सियारामशरण गुप्त हैं। इनमें भी व्यक्तिगत चिन्तन और अनुभूति है और एक प्रकार से छायावादी कविता के बाह्य वृत्त से इनकी कविता सटी हुई कही जा सकती है। परन्तु सियारामशरणजी की रचनाओं में एक प्रकार की सावधानी और सतर्कता है, जो छायावादी कविता में नहीं पायी जाती।"[३] उनका 'अनाथ' काव्य १९१७ ई० में प्रकाशित हुआ। 'अनाथ' का नायक मोहन है, जो किसान है। इस कृति में ग्राम्य जीवन की दयनीय दशा, ऋणग्रस्तता, जमींदारों की क्रूरता, बेगार, आदि का चित्रण है। 'किसान' में सियारामशरणजी के सामाजिक विचारों को प्रधानता मिली है। उनके काव्य में गाँधीवाद की छाया है। 'संयत प्रेम' जो आलोच्य काल के बहुत बाद की रचना है, अवश्य ही छायावादी विशेषताएँ लिये हुए है।

---

१. सियारामशरण गुप्त, मौर्यविजय, पृ० १९

२. वही, पृ० २७

३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० ४७६

# शिल्प पक्ष

## द्विवेदीयुगीन काव्य की शिल्पगत विशेषताएँ

**भाषा-संस्कार एवम् परिवर्तन की प्रवृत्ति** : अंग्रेजों ने जब शिक्षा का प्रसार किया तब खड़ी बोली को प्रोत्साहन दिया। इसे उस समय रेख्ता, उर्दू, हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी कहा जाता था। १८३५ ई० में अँग्रेजों ने इसे शिक्षा का माध्यम बनाया। सन् १८५४ ई० में 'वुड' का शिक्षा घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ और ग्राम-पाठशाला में भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। खड़ी बोली का तभी से प्रचार बढ़ा। धीरे-धीरे स्कूलों और कॉलेजों में खड़ी बोली में शिक्षा प्रदान की जाने लगी। ईसाई प्रचारकों ने धर्म-प्रचार के लिए हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें, प्रार्थना-पुस्तकें और व्याकरणों की रचना करने का सराहनीय कार्य किया। सन् १७९४ ई० में श्रीरामपुर के मिशनरी प्रेस में सर्वप्रथम नागरी टाइप तैयार किया गया। हिन्दी का सर्वप्रथम समाचार पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' ३० मई, १८२६ ई० को कलकत्ते में कोलूटोला मुहल्ले से निकला। भारतेन्दु बाबू के समय तक तो हिन्दी के अनेक समाचार पत्र और साहित्यिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। पहले उर्दू और खड़ी बोली एक ही मानी जाती थी। उर्दू तो खड़ी बोली की एक शैली मात्र है, जिसने फारसी लिपि अपना कर हिन्दी से अपने को अलग कर लिया। हिन्दी गद्य के विकास के साथ-साथ ब्रजभाषा का गद्य गतिहीन होता चला गया। आर्य-समाज, कांग्रेस तथा भारतेन्दु युग के प्रधान लेखकों ने हिन्दी गद्य का व्यापक प्रयोग किया। १८७३ ई० से १९०० ई० तक ३०० से अधिक पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी गद्य को प्रभावशाली बनाने का उपक्रम करती रहीं। ब्रजभाषियों की दृष्टि में इसी कारण खड़ी बोली बाजारू या अखबारी भाषा हो गयी थी।

भारतेन्दु काल में प्रायः सभी कवियों ने ब्रजभाषा का पक्ष-समर्थन किया था और ब्रजभाषा को काव्य की भाषा बनाये रखने का आन्दोलन चल पड़ा था। खड़ी बोली को पद्य की भाषा बनाये जाने के पक्ष और विपक्ष में बड़ा विवाद छिड़ा। श्रीधर पाठक, पं० बदरीनाथ भट्ट, पं० नाथूराम शर्मा, 'शंकर', मैथिलीशरण गुप्त और बालमुकुन्द गुप्त ने खड़ी बोली में पद्य-रचना करने का समर्थन किया तथा पं० राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, पं० सत्य-नारायण कविरत्न, पूर्ण, प्रेमघन, जगन्नाथदास रत्नाकर, कृष्णबिहारी मिश्र,

और वियोगी हरि आदि ने ब्रजभाषा का पक्ष ग्रहण किया। बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कराने वाले आन्दोलन के प्रमुख नेता थे।

खड़ी बोली के आदि कवि अमीर खुसरो (सन् १२५३ से १३२५ ई०) थे, जिन्होंने 'हिन्दी' में रचना की थी। उदाहरणार्थ :

> "एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
> चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे।"[1]

दक्खिनी हिन्दी के रूप में भी खड़ी बोली कविता की भाषा थी। सन्त-कवियों की वानियों में खड़ी बोली का प्रयोग हुआ था। 'सीतल' ने तो ब्रजभाषा के युग (१८वीं शती) में भी खड़ी बोली में ही पद्य-रचना की थी :

> "मेरे उर बीच समाय रहे वे चिह्न अहिल्या नारी के।
> दुखहरन कलुष के नासकरन बारिज-पद लालबिहारी के॥
> शिव विष्णु ईश बहुरूप तुई नभ तारा चारु सुधाकर है।
> अम्बा धारानल शक्ति स्वधा स्वाहा जल पवन दिवाकर है॥"[2]

लोक-जीवन के मनोरंजक काव्यों में, जैसे—भगत, स्वाँग, नौटंकी, रास, लावनी, ख्याल, भजन आदि में खड़ी बोली का प्रयोग होता चला आ रहा था। खड़ी बोली में लोकगीतों की रचना भी हुई थी, जैसे :

> "राजा फिरंगी रेल चलायी, छिन में आती जाती है।
> धिग ही दिल्ली धिग ही आगरा धिग ही भरतपुर जाती है।"[3]

भारतेन्दुजी ने फूलों का गुच्छा (१८२२ ई०), पं० प्रतापनारायण मिश्र ने मन की लहर (१८८५ ई०), श्रीधर पाठक ने एकान्तवासी योगी (१८८६ ई० में अनुवाद), प्रेमघन ने कजली-कादम्बिनी (१८९० ई०) तथा बालमुकुन्द गुप्त ने जोगीड़ों का संग्रह (१८८७-९९ ई०) में खड़ी बोली में ही लिखा और पद्य में उसके प्रयोग का मार्ग खोल दिया। श्रीधर पाठक का एकान्तवासी योगी स्वच्छन्दता-

---

१. हरिऔध, हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, १९९७ वि०, पृ० १४२-१४३
२. मिश्रबन्धु विनोद, १९७० वि०, पृ० ६३२-६३३
३. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९००), पृ० ९१

वादी नयी काव्यधारा का अग्रदूत था। भारतेन्दु ने १८८१ ई० में खड़ी बोली में पद लिखे और उन्हें 'भारतमित्र' में प्रकाशित कराया, परन्तु उनको इस रचना से सन्तोष नहीं हो पाया। मुजफ्फरपुर (बिहार) के बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने १८७६ ई० में गोल्डस्मिथ के हरमिट का 'योगी' नाम से अनुवाद किया था। अयोध्या प्रसाद खत्री द्वारा संग्रहीत खड़ी बोली का पद्य तत्कालीन खड़ी बोली काव्यधारा के प्रवाह के अध्ययन के लिए उपादेय है। 'भारतमित्र' में प्रकाशित (१ सितम्बर, १८८१ ई०) भारतेन्दु का पद इस प्रकार है :

"बरसा सिर पर आ गयी, हरी हुई सब भूमि,
बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमरगण झूमि।"[१]

श्रीधर पाठक खड़ी बोली की काव्य-रचना के प्रवर्तक थे। ३ अप्रैल, १८८८ ई० के 'हिन्दुस्थान' की सम्पादकीय टिप्पणी में स्पष्ट लिखा गया है कि "श्री हरिश्चन्द्र के छोड़ने से क्या खड़ी हिन्दी की कविता सदा-सर्वदा के लिए सबके छोड़ने योग्य हो गयी ?" राधाचारण गोस्वामी ने खड़ी बोली की कविता को 'पिशाची' और 'डाकिनी' कहा। प्रतापनारायण मिश्र और रत्नाकर के जोर लगाने के बाद भी ब्रजभाषा का काव्य-भाषा के रूप में महत्व घटता चला गया। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के इस विवाद की चर्चा अन्यत्र की गयी है। खड़ी बोली के समर्थक न होते हुए भी बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने खड़ी बोली में 'कजली-कादम्बिनी' (१८९७ ई०) और 'आनन्द अरुणोदय' (१९०६ ई०), अम्बिकादत्त व्यास ने 'कंसवध' नामक एक बड़ा काव्य और प्रतापनारायण मिश्र ने 'संगीत शाकुन्तल' लिखा है। द्विवेदीजी ने 'श्रीधर सप्तक' (१८९९ ई०) लिखकर पाठकजी का सम्मान किया था। राधाकृष्णदास इस सम्बन्ध में मध्यमार्गीय थे और इस विवाद से बच कर चले थे।

बाबू अयोध्याप्रसाद की खड़ी बोली के पद्यों को देख कर तत्कालीन खड़ी बोली कविता की पाँच शैलियों के प्रचलन का अनुमान दृढ़ होता है। उन्होंने ठेठ हिन्दी, पण्डितजी की हिन्दी, मुन्शी जी की हिन्दी, मौलवी साहब की हिन्दी और यूरेशियन की हिन्दी[२] के रूप दिखाये हैं।

१९०३ ई० में द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का गुरुतर कार्य

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० १६९

२. खड़ी बोली का आन्दोलन, संकलनकर्त्ता बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री, सम्पादक पं० भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, पृ० ५०

स्वीकार किया। उनकी खड़ी बोली की प्रथम रचना 'बलीवर्द' १९ अक्टूबर १९०० ई० में श्री वेंकटेश्वर समाचारपत्र में प्रकाशित हुई। उन्होंने जून १९०१ ई० में सरस्वती में प्रकाशित अपनी 'हे कविते' रचना में खड़ी बोली की कविता को सम्बोधित करते हुए कहा है :

"अभी मिलेगा ब्रजमण्डलान्त का,
सुभुक्त भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर संगी सके सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही।
इसीलिए ही भवभूति भाविते,
अभी यहाँ हे कविते ! न आ, न आ।"[1]

१९०९ ई० में 'कविता-कलाप' की भूमिका में द्विवेदीजी ने यह स्पष्ट किया कि "बहुत सम्भव है किसी समय हिन्दी में गद्य और पद्य की भाषा एक हो जाय।"[2] फिर १९१४ ई० में 'बोल-चाल की हिन्दी में कविता' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा कि "अब आप किसी भी अखबार या सामाजिक पुस्तक को उठा लीजिए, प्रायः सर्वत्र ही आपको बोलचाल की भाषा में कविता मिलेगी।"[3] वे सहज, सरल और समझ में आने वाली भाषा के पक्षपाती थे। उन्होंने भाषा को व्याकरणसम्मत बनाया, शुद्ध किया और सरस्वती में प्रकाशित प्रत्येक रचना को स्वयं ही परिमार्जित किया। 'विधि-विडम्बना' रचना अशुद्ध लिखने वाले कवियों पर करारा व्यंग्य था :

"शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार।
लिखवाता है उनके कर से नये-नये अखबार॥"[4]

द्विवेदी युग में भी ब्रजभाषा के समर्थकों ने खड़ी बोली कविता को चूरनवालों की बानी, बिरहे, तथा पचड़ों की भाषा बताया था। मदन नामक सज्जन ने १९२२ ई० में लाहौर से प्रकाशित 'ज्योति पत्रिका' में खड़ी बोली की कविता की भाषा को 'बाजारू' कहा था। 'कविता कलाप' पर किसी धृष्ट समालोचक ने 'मर्यादा' १९१३ ई० में 'कलाप या प्रलाप' शीर्षक कटु आलोचना लिखी

---

१. द्विवेदी काव्यमाला, हे कविते, जून १९४१ पृ०
२. कल्पना, फरवरी १९५०, पृ० २३
३. महावीरप्रसाद द्विवेदी, विचार विमर्श, १९८८ वि०, पृ० २६
४. द्विवेदी काव्य माला, पृ० २९

थी, जैसे—"यह तो कविता क्या पद्य भी नहीं है। इससे तो गद्य ही का वर्णन बलशाली होता है।"[१] यह ठीक है कि सरस्वती में प्रकाशित इस शती के प्रथम दशक की रचनाओं की काव्यभाषा अपरिपक्व और अशक्त है। उसमें लाक्षणिकता की कमी है, परन्तु गुप्तजी, पं० रामचरित उपाध्याय, मुकुटधर पाण्डेय, पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय, सनेही, पं० गोपालशरण सिंह, लक्ष्मीधर वाजपेयी, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलालजी चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला आदि कवियों ने १९२० ई० तक खड़ी बोली को इतना समुन्नत बना दिया कि वह राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने की तैयारी करने लगी।

पं० श्रीधर पाठक, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रूपनारायण पाण्डेय और हरिऔध ने संस्कृत वृत्तों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया, पर लम्बे समास-युक्त पदों के प्रयोग के कारण कविता की भाषा में कृत्रिमता आ गयी और श्रुतिकटुता बढ़ गयी। तत्सम शब्दों के प्रयोगों के कारण वह भाषा बोझिल हो गयी। कामताप्रसाद गुरु ने इस प्रवृत्ति के प्रति कवियों को सचेत किया था। 'जो न जाने ब्रजभाषा ताहि शाखामृग जानिये'[२] कह कर खड़ी बोली कविता की रूक्षता पर व्यंग्य किया गया था। पं० चन्द्रमोहन मिश्र ने द्विवेदीजी और गुप्तजी की कड़ी निन्दा की थी। किसी ने खड़ी बोली के कवि को स्वार्थी कहा और किसी ने उसे लांछित किया, परन्तु ब्रजभाषा स्वयम् अपने आसन को छोड़ती चली गयी।

खड़ी बोली में 'रंग में भंग,' 'वीर-पंचरत्न,' 'मौर्य-विजय,' तथा 'प्रणवीर प्रताप' शीर्षक ऐतिहासिक विषयों के काव्य लिखे गये और अतीत गौरव-गान से परिपूर्ण 'भारत-भारती' रचना सामने आयी। ब्रजभाषा की नूपुरों और नायिका-भेद वाली मधुरता और उसका कोमल स्वरूप अग्राह्य होता गया। अब राष्ट्रीयता और जातीयता का काव्य लिखा जाने लगा। ब्रजभाषा काव्य के शब्द-चमत्कार के विरोध में गुप्तजी ने कहा था कि यह बनावटी भाषा है, यथा :

"तुपक्कैं तड़क्कैं धड़क्कैं महा है,
प्रलै चिल्लिका-सी झड़क्कैं जहाँ हैं।

---

१. डॉ० कपिलदेव सिंह, ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली, पृ० १२१

२. प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कार्य-विवरण, दूसरा भाग, पृ० ५९

खड़क्कैं खरी बैरि छाती भड़क्कैं।
सड़क्कैं गये सिन्धु मज्जै गड़क्कैं ।।"[१]

द्विवेदी युग में खड़ी बोली की कविता अपने बीस वर्ष के जीवन-काल में ही नवीन काव्य विषयों से भरी-पुरी हो गयी। व्याकरण की दृष्टि से वह शुद्ध हो गयी। इस कारण वह नीरस और शुष्क भी जान पड़ी। उसमें कर्कश-पन था अवश्य, पर उसकी मात्रा घटती चली गयी। उसी समय 'प्रियप्रवास' भी लिखा गया, जिसकी पदावली अत्यन्त सरस थी।

रूपनारायण पाण्डेय ने द्विवेदीजी को हिन्दी भाषा का उद्धारक कहा है :

"शिल्पी परम प्रवीण मातृ-मन्दिर-निर्माता।
अभिनव लेखन-कला-लोक के विज्ञ विधाता।
उपयोगी साहित्य आपने लिखा लिखाया।
सेवा में ही 'सरस्वती' की जन्म बिताया।
हिन्दी भाषा के सदा लगे रहे उद्धार में।
ऋषि दधीचि-सम अस्थियाँ दे दीं पर-उपकार में ।।"

शिशुपाल सिंह 'शिशु' ने द्विवेदी काल की सार्थकता का परिचय इस प्रकार दिया है :

"विषद विद्वत्ता देख लोग सब मन्त्रमुग्ध-से रहते थे।
हिन्दी का 'जौनसन' तुम्हें वे बड़े गर्व से कहते थे।
कहते क्यों न हो ? जबकि हिन्दी का रक्खा तुमने उन्नत भाल।
साहित्यिक युग को दे डाला एक अपूर्व द्विवेदी काल ।।"

डॉ० हरिशंकर शर्मा ने उनकी इस भाषा और साहित्य की सेवा के कारण उन्हें तीर्थराज की उपमा दी थी। डॉ० प्रभाकर माचवे ने 'प्रवीण माली-सम काट-छाँट की, स्वतन्त्र बोली सुप्रतिष्ठित खड़ी' कहा है। थोड़े से समय में द्विवेदीजी ने अंग्रेजी और उर्दू की टक्कर में खड़ी बोली को व्याकरण-सम्मत स्थिर रूप दिया, उसके वाक्य-विन्यास को शुद्ध किया और विभक्ति-विषयक निर्देश द्वारा खड़ी बोली को साधुता प्रदान की। प्रसाद, पन्त, निराला और

---

१. पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लखनऊ कार्यक्रम—,दूसरा भाग, सं० १९७१, पृ० ५०

महादेवी की छायावादी अभिव्यक्ति की आधार-शिला द्विवेदी युग का भाषा-संस्कार ही है। हिन्दी में भाषा का ऐसा परिष्कर्ता अन्य कोई नहीं है। वे संस्कृत और मराठी से प्रभावित थे। हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुकूल कहीं-कहीं कुछ दोष उनकी 'बेकन विचार रत्नावली' और 'शिक्षावली' में मिल जाते हैं, परन्तु 'सरस्वती' के सम्पादन के कारण और व्यक्तिगत अध्ययन के फलस्वरूप उनकी भाषा परिष्कृत होती चली गयी। उस समय 'सौन्दर्यता', 'माधुर्यता' आदि भाववाचक संज्ञाओं का, गलत प्रयोग प्रचलित था। 'उनका' के लिए 'उन्हों का' और 'जिनका' के लिए 'जिन्हों का' जैसे प्रयोग हो रहे थे। हुआ, हुवा; हुए, हुवे; हिन्दु, हिन्दू; भृष्ट, द्रश्य, भागीरथ, जानै, धीरौ, आदि अशुद्ध प्रयोग प्रायः प्रचलित थे। दीर्घ 'ई' का प्रयोग, उर्दू के 'वो' (लावो) का प्रयोग, जोड़ को जोड, छोड़ को छोड, आदि मराठी प्रभाव भी चल रहा था। व्यंजनों के प्रयोग, वर्णों में क्रम-विपर्यय, अशुद्ध वर्तनी, ई, य, व, स, श, ष, अनुस्वार, चन्द्रबिन्दु, न, त्र आदि के प्रयोग लोग मनमाने ढंग से कर रहे थे। विदेशी शब्दों के लिखने में भी एकरूपता नहीं आ पायी थी। विभक्ति-चिह्नों के प्रयोग मनमाने ढंग से हो रहे थे। जब एक ही क्रिया के कई कर्त्ता हों तो अन्तिम के अनुरूप क्रिया का लिंग लिखा जाना चाहिए, परन्तु किसी को जैसे इस नियम का ध्यान ही न था। संस्कृत, अँग्रेजी, उर्दू, बँगला, मराठी आदि से हिन्दी की लिंग-व्यवस्था प्रभावित थी। 'मेरे लिए' को 'मेरे को' लिखा जा रहा था। क्रिया रूपों में अशुद्धियाँ, सन्धि के नियमों में शिथिलता, प्रत्ययों के प्रयोग की भूलें, शब्दों की सन्निधि और क्रम में व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग, सकर्मक और अकर्मक क्रियाओं के प्रयोग में अँग्रेजी का प्रभाव आदि अनेक अशुद्धियाँ हिन्दी की अपनी प्रकृति के प्रतिकूल थीं। खड़ी बोली की इस शिथिलता का कारण था, उसके व्याकरण पर अँग्रेजी अनुकरण की छाप और ब्रजभाषा का प्रभाव। किसी ने भाषा-सम्बन्धी काट-छाँट करने की पद्धति नहीं अपनायी थी। गद्य का वैज्ञानिक स्वरूप भी व्याकरण की कसौटी पर नहीं कसा गया था। पद्य में उसने अभी-अभी पदार्पण किया था। काव्य-भाषा के रूप में अँग्रेजी, उर्दू, मराठी, बँगला, लोकभाषा या अन्य प्रभावों को त्यागकर खड़ी बोली के सुधार का जो भगीरथ प्रयत्न द्विवेदीजी ने किया था, वह इतिहास की एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना है, जिसके बल पर आज खड़ी बोली हिन्दी का भव्य भवन खड़ा है। हरिऔध ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में भाषा-सम्बन्धी प्रयोग किये थे। बोलचाल की अथवा प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग, बँगला के अनुवादों की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण बँगला की अभि-

व्यंजना और उसके शब्दों का प्रयोग, संस्कृत का प्रभाव आदि कारणों से खड़ी बोली का रूप स्थिर नहीं हो पा रहा था। इस ओर द्विवेदीजी ने ईमानदारी से अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया। फलस्वरूप खड़ी बोली में स्थिरता और परिष्कृति आयी। हिन्दी शिक्षावली (१८९९ ई०) और हिन्दी कालिदास की समालोचना (१८८५ ई० में हिन्दोस्थान में प्रकाशित और १९०१ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित) में उन्होंने व्याकरण-सम्बन्धी भूलों की कड़ी आलोचना की थी। 'सरस्वती' के लेखकों पर उन्होंने कड़ा नियन्त्रण रखा। १९०५-०६ ई० की सरस्वती में उन्होंने भाषा और व्याकरण सम्बन्धी दो लेख लिखे और गुप्तजी, मिश्रबन्धु, सुधाकर द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त आदि की व्याकरण-सम्बन्धी भूलें गिनायीं। इससे बालमुकुन्द गुप्त और द्विवेदीजी में 'अस्थिर' और 'अनस्थिर' को लेकर बड़ा विवाद चला। खड़ी बोली के लेखकों में भाषा-सम्बन्धी व्यापक चेतना उत्पन्न हो गयी और १९१८ ई० के आस-पास भाषा का स्वरूप स्थिर हो गया। अन्य भाषाओं की शब्दावली, छन्द, मुहावरे, आदि पचाने की प्रवृत्ति भी बढ़ायी गयी। नये शब्द गढ़े गये और संस्कृत की धातुओं को आधार बनाया गया। तद्भव, देशज, और लोकभाषा के शब्दों का प्रयोग बढ़ा।

प्रारम्भ में तो द्विवेदीजी की भाषा में उन्मदता, सुन्दरताई, जिन्हों को, मनीमन, आदि भाववाचक संज्ञा, सर्वनाम, शब्दसन्धि और क्रियापद की अशुद्धियाँ मिलती हैं। कहीं-कहीं तो संज्ञाओं को ही क्रियाओं के रूप में 'जिसे चतुर्मुख ने निभाया' प्रयुक्त किया गया है। पदान्वय-दोष, एक ही क्रिया से तीन-चार वाक्यों को जोड़ देना, प्रान्तीय प्रयोग और संस्कृत पदावली के प्रवाह की प्रवृत्ति द्विवेदीजी ने शुरू में दिखायी थी। परन्तु उनकी भाषा से ये दोष बड़ी जल्दी हट गये। उनकी भाषा प्रांजल होती गयी। उनका मत था कि 'क्लिष्ट की अपेक्षा सरल लिखना ही वांछनीय है। जो काव्य सर्वसाधारण की समझ के बाहर होता है, वह बहुत लोकमान्य नहीं होता।' कई सर्वसाधारण मुहावरे, जैसे 'फूले न समाना, अलग खिचड़ी पकाना, खाक छानना, चाट लगाना, मुँह फीका पड़ना' उनकी भाषा में सहज ही आते गये। वे मुहावरों को भाषा की जान मानते थे—

"अपनी दशा याद करते ही फटा कलेजा जाता है।
निकल पेट के भीतर से वह मुँह में आ-आ जाता है।"[1]

शब्दों की व्यवस्थित संयोजना के वे पक्षपाती थे। उनका मत था कि 'कविता

---

१. द्विवेदी काव्यमाला, कान्यकुब्ज अबला विलाप, पृ० ४२५

करने में अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।"[1] प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के अलंकारों को प्रयुक्त करने के वे पक्षपाती थे। यमक, अनुप्रास उनके प्रिय अलंकार हैं। उनकी भाषा में शब्द-मैत्री का निर्वाह सफलतापूर्वक हुआ है।

द्विवेदीजी के काव्य में वाच्यार्थ की प्रमुखता है। कहीं प्रयोजनवती लक्षणा भी दिखायी देती है, जैसे—'सुधा सदृश कानों से पीकर वे मुझको अति ही भाये।'[2] प्रसाद गुण से सम्पन्न द्विवेदीजी की भाषा में हास्य, व्यंग्य और विषयानुकूलता है, परन्तु अभिव्यंजना की दृष्टि से उसमें उल्लेखनीय रमणीयता नहीं है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में—"द्विवेदीजी की भाषा अधिकांश में शब्दों का स्वच्छ वसन धारण करके खड़ी हुई सतोगुण की संन्यासिनी प्रतिमा है—उसमें काव्य-कला का वास्तविक जीवन-स्पन्दन कहीं नहीं मिलता।"[3]

### छन्द

भारतेन्दु काल में ही फारसी के छन्दों और लावनी आदि का प्रयोग होने लगा था। द्विवेदीजी ने 'विहारवाटिका' (१८९० ई०) और 'ऋतु-तरंगिणी' (१८९१ ई०) में संस्कृत वृत्तों का प्रयोग अन्त्यानुप्रास सहित किया था। उनके विरोधी राधाचरण गोस्वामी ने भी इसकी प्रशंसा की थी—

"अहो महावीर प्रसाद भाई,
जो है नई काव्य सुधा बहाई,
पीवें तऊ तृप्ति न नेक आई,
करैं कहाँ लौं तुमरी बड़ाई।"[4]

द्विवेदीजी के संस्कृत वृत्त के अनुकरण पर तत्कालीन कई कवियों ने, जैसे—गुप्त, कन्हैयालाल पोद्दार, रामचरित उपाध्याय, गिरधर शर्मा आदि ने भी छन्द रचना की थी। हरिऔध के 'प्रियप्रवास' में अतुकान्त कविता सफल रूप में सामने आयी। अतुकान्त छन्द के अतिरिक्त इन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, आदि संस्कृत छन्दों का भी प्रयोग हुआ। श्रीधर पाठक ने लिखा कि

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ रंजन, पृ० १८
२. द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ४५१
३. डॉ० श्यामसुन्दरदास, सरस्वती, मार्च १९११ ई०, 'मातृभूमि'
४. प्रेमनारायण टण्डन, द्विवेदी मीमांसा, पृ० १५१-५२

"यथासम्भव नवीन उपयोगी छन्द भी लाने चाहिए। बँगला, मराठी, द्रविड़, फ़ारसी, अँग्रेजी, जापानी आदि विदेशी भाषाओं के कोई छन्द यदि हिन्दी में सरसता के साथ आ सकें तो उनका ग्रहण भी अनुचित न समझना चाहिए।"[१] द्विवेदीजी का मत था कि "दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि लिख सकते हैं तो इनके अतिरिक्त और छन्द भी लिखा करें।"[२] हरिऔध और द्विवेदीजी ने भिन्न तुकान्त तथा अतुकान्त दोनों प्रकार के छन्दों को उपादेय माना। नये छन्दों का अधिकाधिक प्रयोग किये जाने के लिए मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने 'मर्यादा' में एक लेख लिखा। इन्दु, जुलाई १९१५ ई० में 'हिन्दी में तुकान्तहीन पद्य-रचना' शीर्षक जो सम्मतियाँ प्रकाशित हुई थीं उनमें अतुकान्त कविता के पक्षपाती ही अधिक सामने आये। गुप्त, जगमोहनसिंह आदि ने सवैयों और कवित्तों में भी अतुकान्त रचना करके ब्रजभाषा के समर्थकों को चुप कर दिया। परिणामस्वरूप केवल जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और पं० सत्यनारायण कविरत्न को छोड़कर प्राय: सभी कवि खड़ी बोली काव्य के समर्थक हो गये या उनका विरोध कम होता गया। काव्य में हिन्दी, उर्दू तथा संस्कृत के छन्दों के प्रयोग के कारण लाक्षणिकता भी बढ़ी और खड़ी बोली की अभिव्यंजना-शक्ति का विकास हुआ। निरालाजी ने लिखा है कि "खड़ी बोली के घट को साहित्य के विस्तृत प्रांगण में स्थापित कर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मन्त्रपाठ द्वारा देश के नवयुवक समुदाय को एक अत्यन्त शुभ मुहूर्त में आमन्त्रित किया और उस घट में कविता की प्राण-प्रतिष्ठा की।"[३]

आलोच्य काल में श्री वागीश्वर मिश्र ने कई प्राचीन छन्दों को मिलाकर एक मिश्र छन्द ही रच लिया :

"इस संसार दुख सागर में मग्न रहूँ दिन रैन।
इसीलिये लौकिक आँखों से तुझको देखा है न॥
तु ही है विश्व में आनन्दातृ।
अकेली बच रही है पुण्यमातृ॥"[४]

---

१. प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृ० ३१

२. द्विवेदी, रसज्ञ रंजन, २००६ वि०, पृ० १५

३. माधुरी, वर्ष ८, खंड १, सं० १९८६ वि०, पृ० ३७९।

४. डा० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० ३०८ से उद्धृत

यह सरसी (२७ मात्राएँ) और सुमेरु (१६ मात्राएँ) का मिश्रण है। श्रीधर पाठक ने भी भिन्न मात्रिकों के मिश्र छन्द में रचना की। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'विधि-विडम्बना' में इसी प्रकार के मिश्र छन्द का प्रयोग किया। 'एकान्तवासी योगी' में यह प्रयोग किया जा चुका था। 'शंकर' कवि ने तो छन्दों के मिश्रण से नये छन्द ही गढ़ डाले। प्रसाद ने भी मिश्र छन्द के कई प्रयोग किये। पन्त ने भी 'स्वच्छन्द छन्द' के रूप में मिश्र छन्द अपनाया, जैसे :

"देखता हूँ जब उपवन (१३ मात्राएँ)
पियालों में फूलों के (१३ मात्राएँ)
प्रिये ! भर-भर अपना यौवन (१५ मात्राएँ)
पिलाता है मधुकर को। (१३ मात्राएँ)

आलोच्य काल में संस्कृत के गणवृत्तों को अपनाया गया और उसमें अन्त्यानुप्रास का बन्धन रख दिया गया। केवल श्री हरिऔध ने अन्त्यानुप्रास के पाश से मुक्त होकर हिन्दी में काव्य-रचना की थी।

द्विवेदीयुगीन काव्य में संस्कृत की छन्द शैली के अतिरिक्त उर्दू छन्द-विधान का भी प्रभाव पड़ा। भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र ने उर्दू की बहरों को अपनाया था। भारतेन्दु का सुमेरु छन्द 'कहाँ हो ऐ ! हमारे राम प्यारे' तथा प्रतापनारायण मिश्र का भुजंगप्रयात तथा हरिऔध का पीयूषवर्षी या आनन्द छन्द उर्दू की बहरों के ही हिन्दी के छन्दों में ढले हुए रूप हैं। लाला भगवानदीन ने भी 'वीर पंचरत्न' उर्दू छन्द में ही लिखा। डॉ० सुधीन्द्र ने उर्दू के मफउल मफाईल मफाईल मफाईल छन्द में रची गयी वीर माता (वीर पंचरत्न) की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :

"वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता ॥
जो वीर सुयश गाने में है ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता ॥
दुनियाँ में सुकवि नाम सदा उसका रहेगा।
जो काव्य में वीरों की सुभग कीर्ति कहेगा ॥"[1]

---

१. डॉ० सुधीन्द्र, हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० ३१२

सुधीन्द्रजी इसे हिन्दी का 'बिहारी छन्द' मानते हैं। 'दीन' जी तथा 'सनेही' जी ने हिन्दी में गज़लें लिखी थीं।

मैथिलीशरण गुप्त ने सरस्वती १९१५ ई० में रुबाइयाँ लिखीं और उमर-खैयाम का अनुवाद भी किया।

## अंग्रेजी के छन्दों का ग्रहण

जुलाई १९१५ ई० के 'इन्दु' में लोचनप्रसाद पाण्डेय ने यह प्रश्न उठाया था कि हिन्दी में सानेट्स (चतुर्दशपदी कविता) लिखे जायें या नहीं ? सानेट्स के लिए हिन्दी के मात्रा वृत्तों में से कौन-सा छन्द चुना जाये ? क्या यही वीर छन्द या कोई और ? इसमें तुक का क्या नियम हो ? क्या अंग्रेजी और बँगला सानेट्स की शैली पर हिन्दी में भी तुक हों ? इससे ज्ञात होता है कि उस समय हिन्दी में सानेट को अपनाने की ओर हिन्दी के कवि आकर्षित हुए थे। हरिऔध जी ने सानेट (चतुर्दशपदी कविता) को अपनाने का जोरदार समर्थन किया। प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, लोचनप्रसाद पाण्डेय, हरिऔध तथा पन्त ने चतुर्दश-पदी के रूप में कविताएँ लिखीं। पन्त की 'आचार्य द्विवेदी के प्रति' रचना इसी शैली में है :

"भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा निर्माण।
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर सन्धान;
निश्चय उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार,
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार।
पंखहीन थी अहा, कल्पना, मूक कण्ठगत गान।
शब्द शून्य थे, भाव रुद्ध, प्राणों से वंचित प्राण।
सुखदुख की प्रिय कथा स्वप्न, बन्दी थे हृदयोद्गार,
एक देश था सही, एक था क्या वाणी-व्यापार ?
वाग्मि, आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
रूप-रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र-कंकाल।
शतकण्ठों से फूट आपके शतमुख गौरव-गान,
शत-शत युग-स्तम्भों में तानें स्वर्णिम कीर्ति-वितान।
चिरस्मारक-सा उठ युग-युग में भारत का साहित्य,
आर्य, आपके यशःकाय को करे सुरक्षित नित्य।"[1]

---

१. त्रिपथगा, वर्ष ९, अंक ७, सम्पादक, काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर', पृ० २

## बँगला का प्रभाव

बँगला के त्रिपदी छन्द और विशेषकर पयार छन्द, जिसे भारतेन्दु ने ब्रज-भाषा में प्रयुक्त किया था और जिस छन्द में माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपना प्रसिद्ध महाकाव्य 'मेघनाद-वध' लिखा था और जिसे अतुकान्त बनाकर प्रयुक्त किया था, १४ वर्णों का एक छन्द है। प्रसाद ने पयार छन्द का तुकान्त और गुप्तजी ने अतुकान्त प्रयोग किया। द्विवेदीजी ने अन्त्यानुप्रासहीन छन्द लिखने की प्रेरणा दी थी। श्री गिरधरप्रसाद शर्मा और प्रसादजी ने छन्द से तुकान्त को हटाने का सफल प्रयत्न किया। श्री गिरधर शर्मा ने १९१० ई० में 'सती सावित्री' की रचना अतुकान्त छन्द में की थी और उसका प्रथम सर्ग मात्रा-वृत्त में लिखा था। प्रसाद ने कई छन्दों की रचना मात्रावृत्त में की थी। अरिल्ल (१६ मात्रा के छन्द) में उन्होंने कई स्फुट रचनाएँ तथा करुणालय और महाराणा का महत्व काव्य लिखे। 'चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है', २१ मात्रा के अरिल्ल छन्द का उदाहरण है। प्रसाद ने लावनी या ताटंक में (३१ मात्रा) 'प्रेम पथिक' (१९१३ ई० में) लिखा था। पन्त का विरह काव्य 'ग्रन्थि' (१९१९ ई०) उन्नीस मात्रा वाले पीयूषवर्ण छन्द में लिखा गया है। 'शैवालिनि जाओ, मिलो तुम सिन्धु से' आदि। श्रीधर पाठक ने सन् १९१८ में 'सान्ध्य अटन', और 'अटवि अटन' में मात्रावृत्त का ही प्रयोग किया है। मात्रावृत्तों के कारण स्वच्छंदतावादी काव्य-प्रवृत्ति को शक्ति मिली।

स्वयं द्विवेदीजी संस्कृत के छन्दों के प्रयोग के बड़े समर्थक थे। महाराष्ट्र भाषा में गण वृत्तों का बड़ा प्रचार था और यह द्विवेदीजी को उपादेय जान पड़ा। 'चींटी से लेकर परमेश्वर तक' सभी विषयों को इन वर्णवृत्तों में लिखा जाने लगा। द्रुतविलम्बित, मालिनी, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, वसन्त-तिलका आदि वर्णवृत्तों के समक्ष पूर्वकालीन दोहे, चौपाई, कवित्त आदि फीके दिखायी पड़े। परन्तु गुप्त, रामचरित उपाध्याय, आदि कवि इन गणवृत्तों की रचना में अन्त्यानुप्रास का भी मोह बनाये रखने की प्रवृत्ति दिखलाते हैं। अतुकान्त गणवृत्तों में हरिऔध का 'प्रियप्रवास' ही है। इसके अनुकरण पर रामचरित उपाध्याय ने 'रामचरित चिन्तामणि' के कुछ सर्ग लिखे हैं।

हम जानते हैं कि वीरगाथाकाल में मात्रिक छन्दों की ही प्रधानता थी। भक्तिकाल के अधिकांश पद, साखी, भजन और प्रबन्ध रचनाएँ मात्रिक छन्दों में हैं। रीतिकाल में कवित्त और सवैया वर्णिक छन्दों का अधिक प्रयोग हुआ।

भारतेन्दु और द्विवेदी युग में भी मात्रिक छन्द ही प्रधान रहे। वृत्तशैली का साहित्यिक प्रयोग भर हुआ था। "भारतेन्दु ने पद, सवैया, घनाक्षरियों का प्रयोग तो किया ही था, परन्तु साथ ही पद्धरि, प्लवंगम, भानु, छप्पय, रूपमाला, दोहक, भुजंगप्रयात, रोला, हरिगीतिका, वीर, सरसी और हाकलि आदि छन्दों का भी प्रयोग किया।"[१] द्विवेदी युग के पहले भानुजी का 'छन्द प्रभाकर' (१८९४ ई० में) प्रकाशित हो चुका था। द्विवेदी युग की राष्ट्रीयता और आदर्शवाद के कारण मात्रिक छन्द ही अधिक ग्रहणीय था। गुप्तजी ने कई मात्रिक छन्द, पीयूषवर्ण, सार, ताटंक, सुमेरु, हाकलि, प्लवंगम, चौपाई, गीति, दोहा, सोरठा, मरहठा-माधवी और उल्लाला आदि का प्रयोग किया। हरिऔध ने रोला, दोहा, रस श्रृंगार, तिलोकी, ताटंक, पादाकुलक, मत्त समक और चौपदे लिखे। उन्होंने सार छन्द में 'वैदेही-वनवास' लिखा। लक्ष्मीधर वाजपेयी नूतन छन्दों के समावेश और प्रचार के पक्षपाती थे और बालकृष्ण भट्ट ने इसका विरोध किया था। गुप्तजी ने 'साकेत' के चतुर्थ सर्ग में तोमर छन्द का प्रयोग किया :

"प्रस्थान वन की ओर,
या लोकमन की ओर,
होकर न धन की ओर,
है राम जन की ओर।"

हाकलि का प्रयोग भी चतुर्थ सर्ग 'साकेत' में हुआ है :

"भाग सुहाग पक्ष में थे
अञ्चलबद्ध कक्ष में थे
थी कमला-सी कल्याणी
वाणी में वीणापाणी ॥"[२]

यह १४ मात्राओं का समप्रवाही छन्द है। भानुजी ने इसके अन्त में गुरु वर्ण आवश्यक माना था, परन्तु गुप्तजी ने सभी सम्भव मात्राएँ रखीं और अन्त या मध्य दो त्रिकल भी रखे। 'साकेत' के तृतीय सर्ग में १० मात्राओं पर यति वाले सुमेरु छन्द का प्रयोग है :

"जहाँ अभिषेक अम्बुद छा रहे थे।
मयूरों से सभी मुद पा रहे थे।

---

१ पुत्तूलाल दुवे, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० २००७, भारतेन्दु के छन्द
२. गुप्तजी, साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ० ७२,

वहाँ परिणाम में पत्थर पड़े यों।
खड़े ही रह गये सब थे खड़े ज्यों।''[१]

'साकेत' में ही प्रवासी छन्द (। ऽ ऽ ऽ) द्वितीय सर्ग में, प्रयुक्त हुआ :

''वचन पलटें कि भेजें राम को वन में,
उभय विधि मृत्यु निश्चय जानकर मन में,
हुए जीवन-मरण के मध्य धृत-से वे,
रहे बस अर्ध-जीवित, अर्ध-मृत-से वे।''[२]

रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' में सार छन्द (२८ मात्राएँ) प्रयुक्त हुआ है :

''उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरन-सी वामा
कवि के स्वप्न-समान, विश्व के विस्मय-सी अभिरामा ।।
सिन्धु गोद में लय से पहले तरंगिता सरिता-सी।
आकर चकित हुई तट पर प्रियदर्शन की प्यासी ।।''[३]

'स्वप्न' में त्रिपाठीजी ने 'शृंगार गोपी' छन्द का प्रयोग किया है। प्रसादजी ने १९१४ ई० में अतुकान्त मात्रिक रचना 'भरत' प्लवंगम छन्द में लिखी :

''अहा खेलता कौन यहाँ, शिशु सिंह से
आर्यवृन्द के सुन्दर मुख में भाग्य-सा,
कहता है उसको लेकर निज गोद में
खोल-खोल मुख सिंह बाल मैं देखकर
गिन लूँ तेरे दाँतों को कैसे भले।''[४]

इसी को कुछ ने अरिल्ल छन्द कहा है। पं० रूपनारायण ने 'तारा' नामक गीति-रूपक का अनुवाद और प्रसाद का 'करुणालय' इसी छन्द में लिखे गये हैं। निराला की 'जूही की कली' मुक्त छन्द की रचना है। उसमें कोई नियम न होकर केवल प्रवाह कवित्त छन्द-सा जान पड़ता है। 'जागो फिर एक बार' में वीर रस-प्रधान अंश, वर्ण-प्रधान और शृंगार रस-प्रधान अंश मात्रिक वर्णों के आधिक्य से पूर्ण हैं।

---

१. गुप्तजी, साकेत, तृतीय सर्ग, पृ० ७३
२. वही, द्वितीय सर्ग, पृ० ५२
३. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, प्रथम सर्ग, पृ० ४
४. महाराणा का महत्व (प्रथम संस्करण) की भूमिका से उद्धृत

द्विवेदीजी मानते थे कि "यदि कविता सरस और मनोहारिणी है तो चाहे वह एक ही अथवा बुरे से बुरे छन्द में क्यों न हो, उसमें आनन्द अवश्य ही मिलता है।"[१] वे चाहते थे कि छन्द विषय के अनुकूल हों। अतुकान्त के समर्थन में वे कहते थे कि "पादान्त में अनुप्रासहीन छन्द भी हिन्दी में लिखे जाने चाहिए। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं। संस्कृत का प्राय: सारा पद्यसमूह बिना तुकबन्दी का है।"[२] इस प्रकार द्विवेदीजी ने भाषा, भाव, छन्द, अलंकार और अभिव्यक्ति सभी क्षेत्रों में नवीन दिशा देने का गौरवपूर्ण तथा संयमित, नियमित, अंकुशबद्ध और अनुशासनबद्ध कार्य किया। भाषा में शक्ति बढ़ी, शब्द-भण्डार बढ़ा, नये प्रतीकों और उपमानों से युक्त कला पक्ष को सँवारा गया। शुद्धता, सरलता और सरसता बढ़ी तथा धीरे-धीरे भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ती गयी।

द्विवेदी युग के विशिष्ट कवियों को आधार मानकर भी द्विवेदीयुगीन काव्य की शिल्पगत विवेचना करना समीचीन होगा। आलोच्य काल में रत्नाकर और पूर्णजी द्वारा लय का महत्व प्रतिपादन करना और ठाकुर गोपालशरण सिंह द्वारा शुद्ध छन्द-रचना करने की प्रवृत्ति का प्रतिपादित होना उल्लेखनीय है। उन्होंने घनाक्षरी और सवैया में काव्य-रचना की।

अतुकान्त छन्द को प्रोत्साहन देने की द्विवेदीजी की प्रवृत्ति ने काव्य-क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी। सन् १९०३ ई० से यह काव्य-प्रवाह अधिक तीव्र गति से बढ़ा। संस्कृत वृत्तों और अतुकान्त कविता को अन्त्यानुप्रासयुक्त कविता के समान प्रयुक्त कराने का श्रेय द्विवेदीजी और उनके युग के कवियों को ही है। द्विवेदीजी की 'हे कविते,' श्रीधर पाठक का 'वर्षा-वर्णन', कन्हैयालाल पोद्दार का 'गोपी-गीत' तथा 'अन्योक्ति दशक', अनन्तराम पाण्डेय के 'कपटी मुनि' नाटक के अन्त्यानुप्रासहीन छन्द, पूर्णजी की 'मृत्युंजय', जमुनाप्रसाद पाण्डेय की 'तुम वसन्त सदैव बने रहो', सत्यशरण रतूड़ी की 'शान्तिमयी शय्या' और 'प्रभात प्रभो', रमेशचन्द्र शुक्ल का 'शिशिर पथिक' आदि रचनाओं में यही रचना-पद्धति चलती रही। प्रसाद का 'प्रेम-पथिक' और हरिऔध का 'प्रियप्रवास' दोनों अतुकान्त रचनाएँ हैं। द्विवेदीजी ने वृत्तों के रसानुकूल प्रयोग का समर्थन किया था। यह गौरव तो द्विवेदीजी को ही प्राप्त है कि उन्हीं के अथक प्रयास से गद्य की खड़ी बोली कविता की भाषा बन गयी।

---

१. रसज्ञ रंजन, पृ० १६
२. सरस्वती, जुलाई १९०७ ई०, पृ० २८०

## द्विवेदीयुगीन काव्य में अलंकार

द्विवेदीजी का मत था कि "कविता करने में......अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।"[1] यही मत प्रेमघनजी का भी था। सायास लाये गये अलंकारों से काव्य अधम हो जाता है। "काव्य में नवीन अलंकारों की उद्भावना"[2] का भी उन्होंने समर्थन किया है। आलोच्य युग की प्रवृत्ति अलंकारों की सायास योजना करने की कभी नहीं हुई। श्रीधर पाठक के अनूदित 'एकान्तवासी योगी', 'श्रान्त पथिक' तथा संस्कृत के ग्रन्थों के अनुवाद में अप्रस्तुत योजना के अन्तर्गत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्य योजनाएँ ही अधिक हैं, यथा :

उपमा :

> "ओस बूँद ज्यों गिरे व्योम से, कोमल निर्मल सुखकारी
> त्यों ये मृदुल वचन योगी के, लगे पथिक को दुखकारी ॥"[3]

रूपक :

> "केवल मनुष्य रूपी पौधे अवनति चिह्न दिखाते हैं।"[4]

'गोपिका-गीत' की अनुप्रास छटा—

> "गरल आप से व्याल ताप से जलद वात से वज्रपात से,
> वृषभ व्योम के दस्यु धान से अवन है किया तूने सर्वदा।"[5]

रूपक, सांग रूपक, व्यतिरेक, प्रतीप, परिकर, दृष्टान्त, भ्रान्तिमान आदि अलंकारों का प्रयोग पाठकजी ने बड़ी कुशलता से किया है। वे खड़ी बोली के प्रबल समर्थक थे। उनकी प्रौढ़ अभिव्यक्ति वर्षा-वर्णन तथा बाद की रचनाओं में अधिक है। उनकी रचनाएँ अधिकतर वर्णन-प्रधान हैं और अलंकार-योजना सादृश्य विधायक उपमानों के आश्रित है। उनके 'भरत-गीत' और 'मनोविनोद' में मालोपमा, उदाहरण, सन्देह, विरोधाभास, आदि अलंकार अपनी सहज गति से आ गये हैं।

---

१. रसज्ञ रंजन, पृ० ३०
२. डॉ० सुरेश गुप्त, आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त, पृ० ११५
३. एकान्तवासी योगी, पृ० ३
४. श्रान्तपथिक, पृ० १५
५. गोपिका गीत, पृ० ९

विरोधाभास :

"संचालक सम्बन्ध परन्तु जो स्वयम् अचल है।"[१]

चित्रमयता या गति चित्र का एक उदाहरण 'अटवि अटन' से इस प्रकार है :

"अतः मैं भी बढ़ा, उसी के पन्थ को, पकड़ कार्तूस झट एक हलका चढ़ा।
दौड़ते-दौड़ते, लपकते, झपकते, हिचकते, झिझकते, चला अति दूर तक॥"[२]

द्विवेदीजी के काव्य में विषय की प्रधानता के कारण पदावली का सौन्दर्य और भावात्मक रमणीयता यथोचित मात्रा में नहीं है। यमक और अनुप्रास का विधान प्राचीन परिपाटी के अनुरूप है।

वृत्यानुप्रास :

"नाभि नवल नीरज दिखलाती
स्तन तट से पट को खिसकाती।"[३]

'हे कविते' रचना में कवि ने लय' गति, ओज आदि का समावेश करके अपेक्षाकृत अधिक अच्छी भाषा का प्रयोग किया है। भावमयी कल्पनाओं का अभाव होने के कारण उत्कर्ष विधायक उपमानों की कमी है। परम्परागत और रूढ़ जैसे —'मुख-मयंक', 'विधु-बदनी', 'कर-पल्लव' आदि उपमान अधिक पाये जाते हैं। रूपक, प्रतीप, व्यतिरेक आदि अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है।

व्यतिरेक :

"रूपवती यह रम्भा नारी, सुरपति तक को यह अति प्यारी
रति, धृति भी दोनों बेचारी, इसे देख मन में हैं हारी।"[४]

'हे कविते' रचना में 'कामिनी' से कविता को उपमित किया गया है :

"बता तुही कौन कुलीन कामिनी
सदा चहेगी पर एक ही कहीं।"[५]

---

१. भारत गीत, विज्ञान मंगल, पृ० १६६
२. वही, पृ० १५४
३. द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ३८५
४. वही, पृ० ३७५
५. वही, पृ० २६२

में अर्थान्तरन्यास अलंकार है। संस्कृत से किये गये अनुवादों में भी यमक और अनुप्रास अधिक हैं। 'मानो अंगीकार कर लिया काम ? काम तूने मेरा।'[१]

नाथूराम शर्मा 'शंकर' आर्य-समाजी थे। वे गेय रचनाएँ लिखते थे, इसलिए अनुप्रास, यमक, वीप्सा आदि चमत्कारक अलंकारों का प्रयोग उन्होंने सफलतापूर्वक किया। काव्य में संगीतात्मकता, नाद-सौन्दर्य, ध्वन्यात्मकता, वर्ण-योजना और पदावृत्ति पर विशेष ध्यान दिया गया।

वृत्यानुप्रास :

"चपला चंचला चाल दमकती दुर जाती है,
वज्रपात घनघोर गगन में पुर जाती है।"[२]

यमक :

"कुछ दीन किसान कमाय रहे
हल का हलका फल खाय रहे।"[३]

रीतिकालीन उपमानों का उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अपह्नुति, रूपक, आदि द्वारा प्रयोग लक्षित होता है। 'कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि, श्यामघन मण्डल में दामिनी की धारा है।'[४] में सन्देह, 'कर से चरण-कर'[५] में उपमा अलंकार विद्यमान है। 'शंकर' तो खड़ी बोली के कबीर थे, जिनके द्वारा विषय ही ऐसे चुने जाते थे कि एकाएक रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की योजना खप जाती थी :

उदाहरण :

"मेरा बदन विलोक, घटी दर दारागण की,
करता है शशि मन्द, यथा छवि तारागण की।"[६]

सन्देह :

"चपला के चर दूत कि रजनीपति के चेरे,
चमचम चारों ओर चमकते हैं बहुतेरे।"[७]

---

१. द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ३३७
२. शंकर सर्वस्व, पृ० ५२
३. वही, पृ० ९१
४. वही, पृ० १७८
५. वही, , पृ० १८१
६. गर्भरण्डा रहस्य, पृ० ५१
७. वही, पृ० ५४

यथासंख्य, अन्योक्ति, विभावना आदि का प्रयोग भी उन्होंने रुचिपूर्वक किया है। 'शंकर' ने कल्पना और प्रतिभा दोनों पायी थीं। वर्ण्य वस्तु को चित्र-मयी भाषा में मूर्त रूप प्रदान करने की उनमें अपूर्व शक्ति थी। द्विवेदीजी के आग्रह पर वे सन् १९०६-०७ ई० में लिखने लगे थे।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ( १८६५-१९७७ ) ने भारतेन्दु युग से छायावादी काल तक अपना कवि-कर्म जारी रखा। भारतेन्दु युग में तो अधिकतर ब्रजभाषा में कवित्त-सवैये लिखते रहे, पर १९०० ई० में नागरी प्रचारिणी सभा के गृह-प्रवेशोत्सव के समय उन्होंने सर्वप्रथम बोलचाल की खड़ी बोली में एक कविता लिखी, जो १९०४ ई० में 'प्रेमपुष्पोहार' के नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ-रूप में प्रकाशित हुई। वे सरस्वती, मर्यादा, प्रभा, श्रीशारदा, प्रतिभा विद्यार्थी आदि पत्रिकाओं में लगातार लिखते रहे। उनका 'प्रियप्रवास' खड़ी, बोली का (१९१४ ई० में प्रकाशित) प्रथम महाकाव्य है। वर्णवृत्तों के आग्रह के कारण वृत्यानुप्रास, छेकानुप्रास और यमक शब्दालंकार प्रमुख रूप से उपयोग में आये हैं। अनुप्रास के आधिक्य के कारण उनकी काव्य-भाषा कृत्रिम भी हो गयी है :

"प्रफुल्लिता कोमल पल्लवान्विता।
मनोज्ञता-मूर्ति नितान्त रंजिता।
वनस्थली थी मकरन्द मोदिता।
अकीलिता कोकिल-काकलीमयी।"[1]

प्रियप्रवास में प्रायः सभी प्रकार के अर्थालंकार हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, प्रतीप, अपह्नुति, सन्देह, परिकर, तुल्ययोगिता, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, काव्य-लिंग आदि अलंकारों के प्रयोग से हरिऔधजी की इस अलंकारप्रियता का परिचय मिलता है। 'प्रियप्रवास' में तो अलंकारों का भण्डार भरा पड़ा है। कुछ उदाहरण ये हैं :

प्रतीप :

"लाली थी करती सरोज-पग की भू-पृष्ठ को भूषिता।
बिम्बा-विद्रुम को अकान्त करती थी रक्तता ओष्ठ की॥
(प्रियप्रवास, सर्ग ४। ७)

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, सर्ग १६।३

परिकर :

"प्यासा प्राणी श्रवण करके वारि के नाम ही को,
क्या होता है पुलकित कभी जो उसे पी न जावे।
हो पाता है कब तरणि का नाम ही त्राणकारी,
नौका ही है शरण जल में मग्न होते जनों की ॥
(सर्ग १०।१३)

हरिऔध के उपमा, सन्देह, उत्प्रेक्षा, आदि अलंकारों में प्रकृति के रूप व्यापार इतने स्पष्ट हो उठे हैं कि कवि की सूक्ष्म वीक्षण-शक्ति का आभास मिल जाता है। अनुभूति की तीव्रता भी अभिव्यक्त हो जाती है। वर्ण साम्य और सादृश्य के आधार पर उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग, अनुभूति की गहराई में 'स्मरण' का आधार तथा अमूर्त भावनाओं का मूर्त प्राकृतिक उपकरणों द्वारा रूपकों में बाँधा जाना कारीगरी का परिचायक है। फुटकर काव्य में अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि परम्परागत अलंकारों का प्रयोग हुआ है। अतएव भावाभिव्यक्ति बहुत तीखी नहीं हो सकी है। "कामधेनु सी कामद उनकी रुचिर ऋचा है" (वेद हैं, सरस्वती, १९१७, भाग १८, सं० ४) जैसी उपमाओं का प्रयोग भी हुआ है। 'मर्यादा' में (सन् १९११, मई-अक्टूबर, भाग २, सं० ४) 'रुक्मिणी-सन्देश' के रूपक का उदाहरण देखिए :

"जहाँ परस्पर प्रेम-पताका नहिं लहराती,
वहाँ ध्वजा है कलह कपट की नित फहराती।
प्रणय कुसुम में कीट स्वार्थ का जहाँ समाया,
वहाँ हुई सुख और शान्ति की कलुषित काया।।" (रुक्मिणी-सन्देश)

दृष्टान्त :

"किन्तु पति को छोड़ कर वे रह सकीं गृह में नहीं।
क्या कलाधर त्याग कर है कौमुदी रहती कहीं।"[1]

विभावना:

"देख करके और का होते भला।
आँख जो बिन आग ही यों जल मरे।
दूर से आँसू उमड़ कर तो चला।
पर उसे कैसे भला ठंडा करे।"[2] (आँख का आँसू)

---

१. मर्यादा, मई-अक्टूबर, सन् १९१३, भाग ६, सं० ६
२. वही, नवम्बर-अप्रैल, सन् १९१२ भाग ५, सं०३

कवि ने प्राचीन और नूतन सभी उपमानों का कवित्वपूर्ण प्रयोग किया है।

पूर्णजी ने रूपक, उल्लेख, उदाहरण, आदि अलंकारों का अधिकतर प्रयोग किया है। उनकी 'नवीन संवत्सर का स्वागत' (सं० १९६७) रचना अलंकार प्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उसमें परम्परित रूपक, अपह्नुति, उपमा, प्रतीप, उदाहरण, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उल्लेख, विरोधाभास, यमक आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

यमक :

"पुण्य छीन होते ही छिन में,
छिन जाता है स्वर्ग-विलास।"[१]

पं० रामचरित उपाध्याय १९०५ ई० तक ब्रजभाषा में पुरानी चाल की कविता लिख रहे थे। १९०६ ई० में 'सरस्वती' में उन्होंने खड़ी बोली में 'पवनदूत' (जुलाई, १९०६ ई०) रचना लिखी। १९१४-१५ ई० में 'सरस्वती' में 'रामचरित चिन्तामणि' के कुछ अंश प्रकाशित हुए। उन्होने 'सूक्ति मुक्तावली' (१९१५ ई०), 'देवदूत' (१९१८ ई०), 'भारतभक्ति' (१९१९ ई०), 'रामचन्द्रिका' (१९१९ ई०), 'रामचरित चिन्तामणि' (महाकाव्य) (१९२० ई०) आदि खड़ी बोलीके काव्य रचे। 'राष्ट्र भारती' जो १९२२ ई० में प्रकाशित हुई, उसमें भी १९२० ई० के पूर्व की उनकी कुछ रचनाएँ छपी हैं। उन्होंने कुछ 'पहेली' और 'पूर्वस्मृति' की भी रचना की है। द्विवेदीयुगीन काव्य में रामचरित उपाध्याय की खड़ी बोली की रचना का विशेष महत्व है। उपाध्यायजी ने कुछ अलंकारविहीन रचनाएँ तो साधारण वर्णनात्मक शैली में लिखी हैं। संस्कृत से प्रभावित होकर दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों को उन्होंने कहीं प्रधानता दी है और कहीं अन्य अलंकारों को। दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, अनन्वय, उपमा, उत्प्रेक्षा, तुल्योगिता, प्रतीप, उल्लेख, सन्देह, व्यतिरेक, विभावना, अपह्नुति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग रामचन्द्रिका, रामचरित चिन्तामणि, देवदूत, आदि में विशेषतः हुआ है।

अनन्वय :

"पारस सम पारस है, कल्पद्रुम के समान कल्पद्रुम।
सुरभी सम सुरभी है, सज्जन हीं तुल्य सज्जन है।"[२] (सज्जन)

---

१. पूर्ण संग्रह, पृ० १३२
२. सूक्ति मुक्तावली, पृ० ५

तुल्ययोगिता :

"इसी बीच में नृप आज्ञा से सीता गयी बुलायी,
सखियों सहित लिये जयमाला तुरत वहाँ पर आयी।
रति, रम्भा, भारती, भवानी, उसके तुल्य नहीं हैं।
शकुनि-सुता त्रिभुवन में कोई हंसी तुल्य नहीं है।"[१]

प्रतिवस्तूपमा :

"मानस ही में हंस-किशोरी सुख पाती है।
नहीं चन्द्र के बिना चकोरी सुख पाती है।
सिंह-सुता क्या कभी स्यार से प्रेम करेगी ?
क्या पर-नर का हाथ कुलस्त्री कभी धरेगी ?"[२]

'रामचरित चिन्तामणि' के उन्नीसवें और वीसवें सर्ग में यमक का अधिक प्रयोग हुआ है।

पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय (सं० १९४३-२०१६) ने अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, दृष्टान्त, उदाहरण, अपह्नुति, आदि अलंकारों का प्रयोग किया है, लेकिन उनकी कविता में चमत्कार और भावोद्वेग कम ही पाया जाता है।

रूपक :

"करो न कलह्-कलंक-पंक से अंक-विलेपन।"[३]

उपमा :

"हिमग्रसित निष्प्रभ कंज-सम अति मलिन मुख का रंग है।"[४] (केदार गौरी)

इतिवृत्तात्मकता की अधिकता और व्यंजना का अभाव उस युग की काव्य-सीमा थी।

मैथिलीशरण गुप्त की 'हेमन्त' शीर्षक पहली रचना सरस्वती में जनवरी १९०५ ई० के अंक में प्रकाशित हुई थी। सन् १९२० ई० तक उनकी अनेक रचनाएँ और ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे। साकेत (प्रथम पाँच सर्ग) उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। अनुप्रास, यमक और वीप्सा आदि चमत्कारमूलक अलंकारों में उनकी विशेष

---

१. रामचरित चिन्तामणि, पृ० ४०
२. रामचरित चिन्तामणि, पृ० २१६
३. मेवाड़ गाथा, पृ० १७ (सन् १९१४ ई०)
४. सरस्वती, सन् १९१२, भाग १३, सं० ५, पृ० २५६

रुचि थी। उनका भाषा पर पूर्ण अधिकार था। तुक का निर्वाह कहीं-कहीं शब्द-क्रीड़ा भी बन गया है।

"साँप खिलाती थीं अलकें, मधुप पालती थीं पलकें,
और कपोलों की झलकें, उठती थीं छबि की छलकें।"[1]

गुप्तजी कविता की भाषा के संस्कारक और परिष्कारक थे। उन्हें भाषा का स्वरूप स्थिर करना था। बोल-चाल की खड़ी बोली और संस्कृतनिष्ठ भाषा के दोनों प्रयोग उन्होंने किये। उनकी राष्ट्र और समाज-विषयक रचनाएँ अधिकांशतः इतिवृत्तात्मक हैं। जहाँ चित्रों पर रचना की गयी है, वहाँ अलंकारों की भरमार है। अप्रस्तुत भी अधिकतर रीतिकालीन हैं, यथा—लता, तमाल, दामिनी, दाड़िम, मराल, आदि। उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अपह्नुति, स्मरण, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, रूपक, विरोधाभास, भ्रान्ति, विभावना, उदाहरण, विशेषोक्ति आदि अलंकारों का उन्होंने विशेष प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप :

दृष्टान्त :

"मन्द मतों को यथायोग्य उपदेश सुनाना,
है ज्यों ऊसर-भूमि-मध्य पानी बरसाना।"[2]

'भारत-भारती' में पृष्ठ १५६ पर 'मालिन्य से मुँह मोड़ कर मदमोह के पद तोड़ दो' या 'फूट का सिर फोड़ दो' आदि मानवीकरण के प्रारम्भिक प्रयोग हैं। गुप्तजी के उपमान अधिकतर परम्परा-भुक्त हैं।

सन्देह :

"उर्मिला ने कीर सम्मुख दृष्टि की,
या वहाँ दो खंजनों की सृष्टि की।
मौन होकर वीर तब विस्मित हुआ।
रह गया वह देखता-सा स्थित हुआ।"[3]

उदाहरण :

"ग्रीष्मान्त में घननाद सुन कर भीत होता हंस ज्यों।
व्याकुल हुआ यह बात सुन कर सिन्धुराज नृशंस त्यों।"[4]

---

१. साकेत, पृ० ७२

२. कविता कलाप, कीचक की नीचता, पृ० ४७

३. साकेत, पृ० २०

४. जयद्रथ वध, पृ० ४०

विशेषोक्ति :

"हैं व्यग्र सुनने को श्रवण पर श्रव्य सुन पाते नहीं ।
दृगहीन हैं पर दृश्य फिर भी दृष्टि में आते नहीं ।"[१]

विभावना :

"सूना होकर भी शरीर उसका आभूषणों से अहा ।
दूना दर्शन योग्य, दूषण बिना, सौन्दर्य था पा रहा ॥"[२]

साकेत में अमूर्त प्रस्तुतों के विधान द्वारा कवि ने प्रभाव-साम्य पैदा किया है। उपमा की भाव-प्रेषणीयता द्रष्टव्य है :

"सजग रहे सौमित्र, बने प्रहरी वही,
निद्रा भी उर्मिला सदृश घर ही रही ।"[३]

गुप्तजी ने भाव-भंगिमाओं, शारीरिक चेष्टाओं तथा प्रकृति के चेतन रूपों का सजीव चित्रण किया और मानवीकरण की सुन्दर व्यञ्जना की, जो वर्ण्यवस्तु का सम्पूर्ण चित्र अंकित कर देता है। 'लज्जा की लाली फैली थी' (शकुन्तला, पृष्ठ १९), 'भूमि पर पटक-पटक कर पैर, लगी प्रकटित करने निज वैर' (साकेत, पृष्ठ ४१), 'पड़ी थी बिजली-सी विकराल' (साकेत, पृष्ठ ४६), 'अरुण सन्ध्या को आगे ठेल' (साकेत, पृष्ठ ४५) आदि अनेक सजीव स्थल गुप्तजी के काव्य में भरे पड़े हैं।

**पं० रामनरेश त्रिपाठी** १९१५ ई० के आसपास काव्यक्षेत्र में आये। उन पर द्विवेदीयुगीन काव्य-शिल्प का प्रभाव अवश्य था, पर उन्होंने स्वच्छ और प्रसन्न भाषा का प्रयोग ही किया। उनके 'मिलन' (१९१७ ई०) और 'पथिक' (१९२० ई०) इसके उदाहरण हैं। छायावाद की चित्रात्मक और लाक्षणिक शैली के आगमन की सूचना भी त्रिपाठीजी के काव्य में मिलने लगती है। उनके प्रिय अलंकार हैं—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, आदि। उनकी उपमाएँ प्राय: नवीन हैं। उदाहरण देखिए :

उपमा और रूपक :

"पुष्पभार अवनता लता-सी तज प्रियतम तरु-अंग।"[४]

---

१. जयद्रथ वध, पृ० ७०
२. शकुन्तला, पृ० १९
३. साकेत, पृ० ९६
४. मिलन, पृ० १८

उदाहरण :

"गन्ध विहीन फूल हैं जैसे, चन्द्र चन्द्रिका हीन
यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम-विहीन।"[१]

प्रतीप :

"तुमसे हुआ यशस्वी यश भी देख विशुद्ध चरित्र।"[२]

उत्प्रेक्षा :

"बार-बार दृग पोंछ रही थीं ललनाएँ अंचल से।
अंचल भी मानो रोते थे भींग-भींग दृग-जल से।"[३]

तथा :

"उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरन-सी वामा।
कवि के स्वप्न समान, विश्व के विस्मय-सी, अभिरामा।"[४]

में नये ढंग के उपमान चुने गये हैं। उत्प्रेक्षा के सहारे संश्लिष्ट चित्र-योजना की गयी है। छायावादी अभिव्यंजना से परिपूर्ण कतिपय उपमाएँ भी दी गयी हैं :

"मुख ऊपर दुख की छाया थी सन्ध्या-सी उपवन में।"[५]
"सुन्दर सर है लहर मनोरथ-सी उठ कर मिट जाती।"[६]

सानुप्रास कोमल पदावली भी देखिए :

"तरल तरंगित सरित सलिल में, उसकी प्रभा ललाम।
लहक रही थी ज्यों झड़ते हों, स्वर्ण सुमन अभिराम।"[७]

**सियारामशरण गुप्त** १९१२-१३ ई० के आस-पास काव्यक्षेत्र में आये। उन्होंने प्रचलित अलंकारों का प्रयोग किया और प्रभावमूलक अप्रस्तुतों का चयन। उपमा, प्रतीप, रूपक, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, विशेषोक्ति, विभावना, आदि अलंकार ही उनके द्वारा अधिकतर प्रयुक्त हुए, जैसे :

---

१. मिलन, पृ० ३२
२. वही, पृ० ८०
३. पथिक, पृ० ५७
४. वही, पृ० १७
५. वही, पृ० १८
६. वही, पृ० ४१
७. मिलन, पृ० २८

विभावना :

"बिना तार झंकार दिये ही हृत्तन्त्री पर गाती है।
सम्मुख आकर रख देती है अन्तस्तल अन्तस्तल से।"[१]

विरोधाभास :

"हमें मृत्यु के बाद हमारे गीत जिलाते।"[२]

प्रतीप :

"तेरा-सा सौन्दर्य सृष्टि में दृष्टि न आता।
तेरी शोभा देख स्वर्ग भी है सकुचाता।"[३]

विशेषोक्ति :

"जब चन्द्र-तुल्य नृप-चन्द्र ने यहाँ सुधा की वृष्टि की।
तब सिल्यूकस ने राहु-सम उन पर अपनी दृष्टि की।"[४]

**मुकुटधर पाण्डेय** की विषय-प्रधान रचनाएँ अधिकतर इतिवृत्तात्मक हैं। उन्होंने रूपक, उल्लेख, विरोधाभास, अर्थान्तिरन्यास आदि का प्रयोग किया है। 'कुररी के प्रति' रचना वास्तव में एक अन्योक्ति है। रूपकातिशयोक्ति का एक उदाहरण देखिए :

"विमलव्योम में टँगे मनोहर मणियों के ये दीप,
इन्द्रजाल तू उन्हें समझ कर जाता है न समीप।
यह कैसा भयमय विभ्रम है, कैसा यह उन्माद ?
नहीं ठहरता तू, आयी क्या तुझे गेह की याद ?"[५]

**प्रसाद** की कानन-कुसुम, प्रेमपथिक, महाराणा का महत्व, करुणालय, आदि रचनाएँ द्विवेदीयुगीन काव्य के द्वितीय चरण के उस काल में लिखी गयीं, जब कविता की भाषा के रूप में खड़ी बोली काफी मँज गयी थी। अतुकान्त कविता की रचना का मार्ग अम्बिकादत्त व्यास और श्रीधर पाठक दिखा चुके थे। बिम्बविधायिनी चित्रात्मकता और लाक्षणिक-वैचित्र्य का प्रयोग बढ़ चला। उस समय प्रसाद की रचनाओं में अनुप्रास के प्रति गहरा मोह था :

---

१. दूर्वादल, पृ० ३८
२. मौर्य-विजय, पृ० १४
३. वही, पृ० ११
४. वही, पृ० ७
५. सरस्वती, १९१७ ई०, भाग १८, सं० ४, पृ० २०५

"मधुर मलयानिल महक की मौज में मदमत्त है।
लता ललिता से लिपट हीं महान् प्रमत्त है ॥"[१]

प्रतीप :

"सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के सौरभ से।"[२]

१९१३-१४ ई० तक प्रसाद ने द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक शैली को छोड़ते हुए नूतन उपमान और नये प्रतीकों से काम लेना प्रारम्भ कर दिया था। 'प्रेमपथिक' के उपमानों में नवीनता है :

"एक तापसी भी बैठी है दुख पद-दलिता छाया-सी।"[३]

"मनोवृत्तियाँ खग-कुल-सी थीं सो रहीं।
अन्त:करण नवीन मनोहर नीड़ में।
नील गगन-सा शान्त हृदय था हो रहा।
बाह्य-आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही।"[४]

"उड़ा दो मत गुलाल-सी हाय, अरे अभिलाषाओं की धूल।"[५]

पन्त अलंकारों को विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायक मानते हैं, परन्तु अलंकार की हीं साधना से काव्य की शोभा का ह्रास होना भी उन्हें मान्य है। उनके मत के अनुसार अलंकारों को सूक्ष्म कथन की प्रणाली द्वारा सांकेतिक रूप प्रदान करना चाहिए। परवर्ती युग में उन्होंने यह भी कहा है :

"तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ॥"[६]

पन्त की रचनाएँ अलंकारों के बोझ से न दबीं, न निरलंकृत ही रहीं। निराला की 'जुही की कली' (१९१६ ई०) में अनुप्रास, श्लेष, उपमा, रूपक, आदि परम्पराबद्ध अलंकार तो हैं ही, अभिव्यक्ति का नूतन सौन्दर्य भी है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि द्विवेदीयुगीन काव्य के प्रथम दशक में

---

१. प्रसाद, कानन कुसुम, पृ० १८
२. प्रसाद, प्रेमपथिक, पृ० १०
३. वही, पृ० १०
४. प्रसाद, करुणालय, पृ० ९
५. प्रसाद, झरना, पृ० ७०
६. पन्त, ग्राम्या, वाणी, पृ०१०३

रीतिकालीन प्रभाव के कारण अलंकार-योजना परम्परायुक्त है, परन्तु शनैः-शनैः इस परम्परा से मुक्ति प्राप्त होती गयी और उसकी पूर्णता छायावादी कविता में दिखायी दी। परम्पराभुक्त अलंकारों में अनुप्रास, यमक, आदि शब्द-चमत्काराश्रित अलंकार तथा अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक, वैषम्यमूलक और विरोध चमत्काराश्रित अलंकार ही प्रायः प्रयुक्त हुए हैं, अप्रस्तुत-योजना, और बिम्ब सृष्टि आदि सभी प्रचलित परिपाटी के आधार पर गृहीत किये गये हैं। १९१४ ई० के पश्चात् जब काव्य में छायावादी प्रतीकों का उन्मेष हुआ, तब वही उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि रूढ़ रूप को छोड़कर नयी कल्पना-छबियों के अभिव्यक्ति माध्यम बन गये। उपमेय और उपमान के चयन के आधार बदले तथा विषय के साथ-सज्जा के प्रसाधन भी बदले। वर्ण्य विषय में परिवर्तन के कारण तथा विदेशी साहित्य के प्रभाव से मूर्त के स्थान पर अमूर्त के प्रयोगों का महत्व बढ़ा। प्रभाव-साम्य के आधार पर उपमानों का चुनाव करने की दृष्टि से प्रसाद, पन्त और निराला की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। 'जुही की कली' और 'ग्रन्थि' में नवीन बिम्ब-विधान की सार्थकता देखी जा सकती है। विदेशी काव्य के आधार पर मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और ध्वन्यर्थ-व्यंजना के विशेष प्रयोग भी प्रबन्धों और मुक्तकों में समान रूप से किये गये। प्रसाद ने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में कहीं भी अलंकारों का बलात् प्रयोग नहीं किया। 'चित्राधार' में अनुप्रास का प्रयोग लय और ध्वनि के अनुकूल हुआ है तथा वह प्रवाहपूर्ण है, जैसे :

> "चित्त चैन चाहता है चाह में भरी है
> चेति चैत चन्द नेक तो चकोरी को निहारिए।"

यमक :

> "हम प्रेम मतवाले बने, अब कौन मतवाले बनें"....
> "खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा।" (कानन कुसुम)

वीप्सा :

> "तारकगन क्यों गगन में हँसत मन्दहि मन्द।"

अर्थालंकारों में प्रसाद ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, सन्देह, अपह्नुति रूपकातिशयोक्ति, तुल्योगिता, कारक, दीपक, दृष्टान्त, व्यतिरेक, उदाहरण, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, अर्थान्तरन्यास, अन्योक्ति और स्वभावोक्ति का अपने काव्य में प्रयोग किया है :

रूपक :

"सद्यस्नात हुआ फिर प्रेम-सुतीर्थ में ।" (कानन कुसुम)

उत्प्रेक्षा :

"निधि कीर मनौ बिहरे कमल" ( चित्राधार )

उल्लेख :

"किस धीवर ने यह जाल निराला डाला ।
सीपी से निकली है मोती की माला ।
उत्ताल तरंग पयोनिधि में खिलती है ।
पतली मृणालवाली नलिनी हिलती है ।।" (कानन कुसुम)

सन्देह :

"पंख फैलाकर विहंगम उड़ रहा आकाश में ।
या महा इक मत्स्य है, जो खेलता जलवास में ।"(कानन कुसुम)

अपह्नुति :

"किरण नहीं ये पावक के कण
जगतीतल पर गिरते हैं ।" (कानन कुसुम)

रूपकातिशयोक्ति :

"बोल उठी वीणा, चुप भी रहिए जरा ।" (महाराणा का महत्व)

विरोधाभास :

"ऐ रे मेरे आँसू तैं पियूष तें सरस है ।" (चित्राधार)

विभावना :

"नील नीरज इन्दु के आलोक में भी खिल रहे ।
बिन स्वाती विन्दु विद्रुम सीप में मोती रहे ।"
(कानन कुसुम)

विशेषोक्ति :

"घोर दुःख-सागर में ऊभ-चूभ हो न डूबने पाती ।" (प्रेमपथिक)

अर्थान्तरन्यास :

"यवनगणों से नहीं हमारा द्वेष है ।"
सिंह क्षुधित हो तब भी तो करता नहीं मृगया
डर से दबी मृगाली वृन्द की ।"
(महाराणा का महत्व)

संगीतप्रियता के कारण अनुप्रास का निराला के काव्य में अधिक प्रयोग हुआ है। उनकी 'जलद' शीर्षक कविता द्रष्टव्य है :

"पय पीयूष-पूर्ण पानी से
भरा प्रीति का प्याला है।
नव वन, नव जन, नव तन, नव मन,
नव घन, न्याय निराला है॥"[1]

उनके नव-नव, झर-झर, पग-पग, पवन-पवन, जन-जन, आदि पुनरुक्ति-प्रकाश के प्रयोग उन्हें प्रवाह और लय की दृष्टि से सहायता भी करते हैं। अर्थालंकारों में उपमा का, जिसमें मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया गया है, सर्वत्र साम्राज्य-सा फैला हुआ है। 'परिमल' की 'विधवा' रचना में :

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीपशिखा-सी शान्त भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है।"[2]

निराला का तीसरा प्रिय अलंकार रूपक है। 'जुही की कली', 'जागो फिर एक बार', 'बादल राग' आदि उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में उसका प्रयोग-बाहुल्य है। उनके प्रकृति-चित्रण में रूपक की विराटता देखने योग्य है। 'बादल राग' में ध्वन्यर्थ व्यंजना से जो चित्र खींचा गया है, वह आज भी उतना ही स्पष्ट है, जितना निराला के सम्मुख रहा होगा :

"झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर।
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।
झर-झर-झर निर्झर गिरि सर में।
सरित तड़ित गति चकित पवन में।
मन में विजन गहन-कानन में।
आनन आनन में रव घोर कठोर।"[3]

---

१. निराला, परिमल, जलद
२. वही, परिमल, विधवा
३. निराला, परिमल, 'बादल राग'

'यमुना के प्रति' कविता में 'व्याकुल पनघट' जैसे विशेषण विपर्यय के प्रयोग और भी यत्र-तत्र पाये जाते हैं।

पन्त की वीणा (१९१८ ई०), ग्रन्थि (१९२० ई०) और पल्लव (१९१८-२४ ई०) की कुछ रचनाएँ आलोच्य काल के अन्तर्गत परिगणित होती हैं।

पन्त ने सादृश्यमूलक अलंकारों को विशेष रूप से ग्रहण किया है। उपमा और रूपक, और वह भी नवीन रूप में हीरे जैसे चमकते हैं। उनके उपमानों में रंग, रूप, गन्ध, और चमक है। 'वन मरीचिका-सी चंचल'[१] 'मोती-सा शुचि हिम जल है।'[२] आदि उपमाएँ द्रष्टव्य हैं। वीणा की 'जब मैं कलिका ही थी केवल'[३] रचना में :

"कौन कौन तुम परिहृत वसना
म्लान मना भू पतिता-सी ?"

'आँख-मिचौनी-सी अधरों से कौन खेलता है छिपकर' अथवा 'धूम की खिली स्फीति-सी खिली' आदि उपमाएँ नवीन हैं और रमणीय भी।

१. पन्त, वीणा पृ० ४
२. वही, पृ० १०
३. वही, पृ० ११

# द्विवेदीयुगीन कवि और उनका काव्य

द्विवेदीयुगीन कवि और उनके १९०० ई० से १९२० ई० तक रचित ग्रन्थों या कृतियों को सूची-बद्ध किया जाना उपादेय जान पड़ता है। महाकाव्य, खण्डकाव्य, गेय मुक्तक, प्रगीत, लोकगीत, लघु प्रबन्ध-काव्य, काव्य-रूपक (गीति-नाट्य), सानेट, सम्बोधन-गीति, शोकगीति, पत्रगीति आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ इस युग में हुईं। द्विवेदी युग सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, आर्थिक और बौद्धिक क्रान्ति का युग है। राजनीतिक उथल-पुथल की बेला में इस युग ने करवट ली थी और इसके कवियों ने भी अपने युग के अनुकूल काव्य रचा था।

द्विवेदी युग के पूर्ववर्ती कवि, 'सरस्वती' के द्विवेदीयुगीन कवि, 'सरस्वती' में न लिखने वाले खड़ी बोली के द्विवेदीयुगीन कवि, परवर्ती काल में भी काव्य-रचना करते रहने वाले द्विवेदी युग के कवि और द्विवेदी युग में ही द्विवेदीजी के प्रभाव से दूर रह कर ब्रजभाषा में लिखने वाले कवि और उनका काव्य इस अध्याय की परिसीमा हैं।

## द्विवेदी युग के पूर्ववर्ती कवि

खड़ी बोली काव्य के प्रवर्तकों में पहला उल्लेख्य नाम **श्रीधर पाठक** का है। उन्होंने अंग्रेजी और संस्कृत से अनुवाद किये हैं और स्वतन्त्र खड़ी बोली काव्य भी लिखा है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है उनका ग्रे की 'शेफर्ड एण्ड फिलॉसफर,' का अनुवाद 'गड़रिये और दार्शनिक शास्त्री' 'भारत जीवन' (मई-जून) १८८४ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह उनकी प्रथम अनूदित रचना है। 'एकान्तवासी योगी' (१८८६ ई०) तथा 'श्रान्त पथिक' (१९०० ई०) क्रमशः

'एडविन ऐण्ड एंजलीना' और 'ट्रेवलर' के अनुवाद हैं। जॉन कीट्स की 'इजाबेला' की प्रतिच्छाया के रूप में उन्होंने 'इजाबियला' की रचना की।

उन्होंने कालिदास के 'ऋतुसंहार' के प्रथम तीन सर्गों का ग्रीष्म वर्णन, वर्षा वर्णन तथा शरद ऋतु वर्णन शीर्षक पद्यानुवाद किया। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के इकतीसवें अध्याय का 'गोपिकागीत' (१६१६ ई०) शीर्षक उन्होंने समश्लोकी अनुवाद भी किया।

खड़ी बोली के स्वतन्त्र काव्य के रूप में श्रीधर पाठक ने अनेक कृतियाँ रचीं। देशभक्ति, अतीत-गौरव और भविष्य की सुन्दर कल्पना लिये हुए उनका 'भारतगीत' प्रकाशित हुआ। 'मनोविनोद' १८७७ ई० से १६१७ ई० तक की रचनाओं का कविता-संग्रह है। बाल-भूगोल (१८८५ ई०), जगत सचाई सार (इक्यावन पदों की लम्बी कविता, १८८७ ई०), काश्मीर-सुषमा (१६०४ ई०) आराध्य शोकांजलि (१६०६ ई०), जॉर्ज वन्दना (१६११-१२ ई०) भक्तिविभा (१६१३ ई०), श्री गोखले प्रशस्ति (१६१५ ई०), गोखले गुणाष्टक (१६१५ ई०), देहरादून-वर्णन (१६१५ ई०) आदि इनकी अन्य रचनाएँ हैं। 'वनाष्टक' के 'हेमन्त, सान्ध्य अटन, और अटवि अटन' में प्रकृति का स्वच्छन्द वर्णन पाया जाता है। काश्मीर-सुषमा, भारतगीत और देहरादून-वर्णन उनकी कीर्ति के अक्षय-स्तम्भ हैं।

**बाबू बालमुकुन्द गुप्त** ने १८६५ ई० से १६०७ ई० तक काव्य-रचना की थी। 'सर सैयद का बुढ़ापा', 'वसन्तोत्सव', 'पंजाब में लॉयल्टी' में राष्ट्रीय भावनाएँ तथा 'तक़रीर मुँहजबानी', 'जोगीड़ा', 'टेसू', उर्दू को उत्तर, 'पोलिटिकल होली', 'नया काम कुछ करना', 'गुरू घण्टाल का स्वप्न' आदि उनकी व्यंग्य-विनोदपूर्ण रचनाएँ हैं। 'सभ्य बीबी की चिट्ठी', 'विज्ञ-विरहिनी', और 'आजकल का सुख' नारी-विषयक रचनाएँ हैं, जिनमें विलासी युवकों पर व्यंग्य किया गया है। 'वसन्तोत्सव', 'भैंस का स्वर्ग' 'मनुष्य की लालसा', 'जरूर कर सकते हो', 'रेलगाड़ी', 'खल और साधु' आदि उनकी खड़ी बोली की रचनाएँ हैं।

**पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर'** (सं० १६१६ से १६८६ वि०) की प्रकाशित कृतियाँ इस प्रकार हैं—'अनुराग-रत्न' (१६०३ ई०), 'शंकर सरोज' (१६०४ ई०), 'गर्भरण्डा रहस्य' (१६१६ ई०) और 'लोकमान्य तिलक'। उनकी 'भारत भट्ट भणन्त' शीर्षक व्यंग्य काव्य की पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। 'शंकर-सर्वस्व' में उनकी समस्त रचनाएँ संग्रहीत हैं। संक्षिप्त छायानुवाद 'वायस विजय' (१६१६ ई०) भी उल्लेखनीय है। शंकर का युग समस्यापूर्ति का युग था। अपने काल में वे

समस्यापूर्ति के सम्राट् थे। वे सन् १९०६-०७ ई० से लगातार खड़ी बोली में लिखने लगे। 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'विद्यार्थी', 'प्रतिभा' आदि पत्रिकाओं में वे बराबर लिखते रहे। आर्य-समाजी विचारधारा के कारण उनके काव्य में तार्किकता और तीखापन अधिक है। वे खड़ी बोली के कबीर[१] थे। समाज के उत्थान हेतु उन्होंने 'अविद्यानन्द का व्याख्यान', 'पंच-पुकार', 'मेरा महत्व', 'आर्य-पंच की आल्हा', आदि हास्यमिश्रित व्यंग्यपूर्ण रचनाएँ लिखी थीं। 'निदाघ निदर्शन', 'सूर्यग्रहण पर अन्योक्ति' और 'वसन्त-विकास' में प्रकृति-चित्रण हुआ है। 'वसन्त सेना', 'केरल की तारा', 'पुरानी पाठशाला' आदि उनकी चित्रों पर लिखी रचनाएँ हैं। फुटकर कविताओं में 'शोकाश्रु-गीत', 'राजभक्ति', 'बाल-विनोद', 'होली', 'नीति' आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। 'वायस-विजय' पंचतन्त्र के काकोलूकीय-प्रकरण का संक्षिप्त रूपान्तर है। 'गर्भरण्डा रहस्य' में विधवाओं की दीन दशा का चित्रण किया गया है।

## सम-सामयिक कवि

**पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध** (सं० १९२२-२००४ वि०) ने प्रारम्भ में ब्रजभाषा में प्रेमाम्बुवारिणि, प्रेमाम्बुप्रस्रवण, प्रेमाम्बुप्रवाह तथा प्रेमप्रपंच आदि कवित्त-सवैये ग्रन्थ रूप में लिखे। उन्होंने ब्रजभाषा में फारसी के 'बाव गुलिस्ताँ' तथा 'गुलज़ार दविस्ता' का पद्यानुवाद किया। उन्होंने ब्रजभाषा में 'उपदेश कुसुम' और 'विनोद वाटिका' भी लिखीं। खड़ी बोली की उनकी पहली रचना १९०० ई० में नागरी प्रचारिणी सभा के गृहप्रवेशोत्सव के अवसर पर पढ़ी गयी, जो १९०४ ई० में 'प्रेमपुष्पोहार' नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुई। इसकी कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं :

> "चार डग हमने भरे तो क्या हुआ,
> है पड़ा मैदान कोसों का अभी।
> मौलवी कोई न ऐसा होयगा,
> जो न उर्दू खूब होये जानता।"[२]

हरिऔधजी ने १९०६ ई० में 'उद्‌बोधन' शीर्षक पद्य-निबन्ध लिखा। १९०७ ई० में 'अधखिला फूल' उपन्यास लिखा गया जिसके कुछ चौपदे खड़ी बोली

---

१. डॉ सुधीन्द्र, हिन्दी काव्य में युगान्तर, पृ० २१२
२. हरिऔध, प्रेम-पुष्पोहार, १९०४ ई०

में तथा फ़ारसी छन्द में रचे गये। तदनन्तर उन्होंने मर्यादा, सरस्वती, प्रभा, श्रीशारदा आदि में लगातार लिखा। 'प्रियप्रवास' महाकाव्य १६१३ ई० में समाप्त हुआ और यह प्रथम बार १६१४ ई० में खड्गविलास प्रेस, पटना से प्रकाशित हुआ। उनकी फुटकर रचनाओं में कर्मवीर, जीवन-मुक्त, हमें चाहिए, अविद्या, 'कुलीनता', 'नोंक-झोंक', 'मनोव्यथा', 'चेतावनी', 'दिल के फफोले', 'बेवाएँ', 'नापाकपन', 'बेटियाँ', आदि रचनाएँ समाज की आँखें खोलने के लिए लिखी गयीं। प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं में 'चित्तौड़ की एक शारद रजनी', 'कृतज्ञता' और 'वसन्तवर्णन' उल्लेखनीय हैं। 'आर्यबाला' और 'वीरवधू, संयुक्ता' में नारी की ऐतिहासिक वीरता का चित्रण हुआ है। 'उर्मिला' और 'वीरवर सौमित्र' पद्य-निबन्धों पर आचार्य द्विवेदी के 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' (जुलाई १६०८ ई० 'सरस्वती') लेख का प्रभाव था। 'प्रियप्रवास' उनकी अमर कृति है। 'दशहरा' (१६१२ ई०) तत्सम शब्दावली में लिखी गयी रचना है। सरस्वती, मर्यादा आदि पत्रिकाओं में उनकी खड़ी बोली की फुटकर रचनाएँ बराबर प्रकाशित होती रहीं। ये रचनाएँ १६२० ई० के पूर्व की ही हैं। कुछ का मत है कि "खड़ी बोली कविता की रूपरेखा को परिष्कृत, परिवर्द्धित और प्रशस्त करने वालों में हरिऔध का ही नाम पहले लिखा जायेगा।"[१]

**राय देवीप्रसाद पूर्ण** मुख्यतः ब्रजभाषा के कवि थे। अपने रचनाकाल (सं० १६२५-१६७२ वि०) में उन्होंने ब्रजभाषा की पुरानी काव्य-परम्परा का खूब निर्वाह किया। खड़ी बोली में उन्होंने १६०६ ई० में 'स्वदेशी कुण्डल' की रचना की थी। 'स्वदेशी कुण्डल', 'स्वदेशी बारामासी', 'जागिए,' 'हिन्दू विश्वविद्यालय', 'नये सन् का स्वागत', 'नवीन संवत्सर (सं० १६६७ वि०) का स्वागत', 'प्रदर्शनी स्वागत' और 'गज़ल' आदि उनकी खड़ी बोली की रचनाओं में सामयिक समस्याओं का वर्णन हुआ है। उनकी अन्य रचनाएँ 'मन-बन्दर,' 'विश्व-वैचित्र्य,' 'आनन्द का गीत,' 'चेतावनी,' 'अमलतास,' 'वसन्त-वियोग' आदि उल्लेखनीय हैं।

**पं० रामचरित उपाध्याय** (सं० १६२६ वि०) ने १६०५ ई० के पूर्व ब्रजभाषा में रचनाएँ कीं, परन्तु द्विवेदीजी के प्रभाव के कारण उन्होंने सरस्वती में १६०६ ई० में 'पवनदूत' शीर्षक खड़ी बोली की रचना प्रकाशनार्थ भेजी। उनकी फुटकर रचनाएँ इन्दु, प्रभा, मर्यादा, श्रीशारदा, मनोरंजन, आदि पत्रिकाओं में छपती

१. हरिऔध अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४६७

रहीं। १९१४-१५ ई० में 'सरस्वती' में उनके प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरित चिन्ता मणि' के कुछ अंश प्रकाशित हुए और बाद में सम्पूर्ण ग्रन्थ १९२० ई० में प्रकाशित हुआ। 'सूक्ति मुक्तावली' (१९१५ ई०), 'देवदूत' (१९१८ ई०), 'भारतभक्ति' (१९१९ई०), 'रामचरित चन्द्रिका' (१९१९ई०)तथा 'राष्ट्र भारती' (१९२२ई०) उनकी अन्य रचनाएँ हैं। प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही प्रकार की रचना करने में वे सिद्धहस्त थे। 'भारतभक्ति' और 'राष्ट्रभारती' उनकी राष्ट्रीय कविताओं का संग्रह है। उनकी 'वीरवचनावली' पठनीय रचना है। 'रामचरित चन्द्रिका' की रचना करने की प्रेरणा उन्हें बंगला से अनूदित 'रामायण की कथा' और 'रामायण रहस्य' नामक पुस्तकों से मिली थी। 'रामचरित चिन्तामणि' प्रबन्ध काव्य पर वाल्मीकि का विशेष प्रभाव है। उपाध्यायजी ने रहीम का अनुकरण किया और पूर्व स्मृति लिखी। खुसरो की चाल पर उन्होंने पहेलियों की रचना भी की। द्विवेदीयुगीन काव्य में पं० रामचरित उपाध्याय की रचनाओं का विशेष महत्व है।

**पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय** (सं० १९४३-२०१६) ने खड़ी बोली में 'नीति-कविता' (१९०९ई०), 'मेवाड़-गाथा' (१९१४ई०) तथा 'पद्य-पुष्पांजलि' (१९१५ ई०) ग्रन्थ रचे थे। 'नदी कूल में सायंकाल' (१९०६ ई०), ग्रीष्म (१९०७ ई०), वर्षा (१९०७ ई०), हेमन्त (१९०९ ई०), गरमी (१९११ ई०), मन्दाकिनी गंगा १९१७ ई०), जीर्ण पल्लव का आशीर्वाद (१९१४ ई०), धुंआधार (१९१८ ई०), तम्बाकू और मदिरा ( १९०७ ई० ), श्री रवीन्द्र दर्शन (१९१३ ई०), राजापुर (१९१७ई०) आदि उनकी फुटकर रचनाएँ पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। उन्होंने उड़िया से खड़ी बोली में 'केदारगौरी' (१९१२ ई०) रचना का अनुवाद किया। उन्होंने बँगला से नवीनचन्द्र सेन के 'प्लासशीर युद्ध' काव्य का भाषान्तर 'नवाब सिराजुद्दौला की पदच्युति की मन्त्रणा' और माइकेल मधुसूदन कृत 'वीरांगना' का 'नीलध्वज के प्रति जना' (जनापत्रसर्ग) अनुवाद भी किये। पाण्डेयजी की रचनाओं द्वारा द्विवेदीयुगीन काव्य के क्रमिक विकास को स्पष्ट करने में सुविधा होती है।

**मैथिलीशरण गुप्त** राष्ट्र-कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए। खड़ी बोली के विकास, परिष्कार तथा परिमार्जन करने वालों में वे सर्वश्रेष्ठ थे। उन्होंने १९०४ ई० में सरस्वती में प्रकाशन-हेतु एक रचना भेजी थी, जिसे द्विवेदीजी ने कुछ निर्देशों सहित वापस कर दिया था। बाद में यही संशोधित कविता 'हेमन्त' जनवरी १९०५ ई० की सरस्वती में प्रकाशित हुई।

गुप्तजी मर्यादा, प्रभा, विद्यार्थी, प्रतिभा, श्रीशारदा और सरस्वती में

बराबर लिखते रहे। उनके स्वतन्त्र ग्रन्थों का कालक्रमानुसार परिचय अन्यत्र दिया गया है। वे द्विवेदीयुगीन कविता के श्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं।

**पं० रामनरेश त्रिपाठी** का मिलन (१९१७ ई०) और पथिक (१९२० ई०) खण्ड काव्य हैं। 'स्वप्न' १९२८ ई० में लिखा गया, अतः वह आलोच्य काल के बाहर है। इनके अतिरिक्त उनकी फुटकर रचनाएँ हैं—जन्मभूमि भारत, हिन्दुओं की हीनता, स्वदेश गीत, महापुरुष के लक्षण, राम, आदि। लोभ से हानि, निर्बलों को न्यायालय में भी जगह नहीं, बाइसकिल, शारद-तरंगिनी, पुस्तक, प्रार्थना, अन्वेषण, माता का उद्धार और विद्यार्थी आदि उनकी फुटकर रचनाएँ द्विवेदी-युगीन काव्यकला को ही उदाहृत करती हैं।

**पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी** सन् १९०० से १९२० ई० तक के खड़ी बोली काव्य के प्रेरणा-केन्द्र हैं। खड़ी बोली पद्य-रचना की उनकी प्रथम कविता 'बलीवर्द' १९ अक्टूबर, १९०० ई० के श्री वेंकटेश्वर समाचारपत्र में प्रकाशित हुई थी। इसके पूर्व वे ब्रजभाषा या संस्कृत में रचना कर रहे थे। उनके मौलिक और अनूदित काव्य की तीन सूचियाँ प्राप्त होती हैं। पहली आचार्य शिवपूजन सहाय की सूची है, जिसे उन्होंने पहली बार 'हंस' में प्रकाशित कराया था।[1] डॉ० उदयभानु सिंह ने 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' शोध-प्रबन्ध में (पृष्ट १८) दूसरी सूची प्रस्तुत की है। आ० शिवपूजन सहाय की सूची डॉ० रामसकल राय शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध 'द्विवेदी युग का हिन्दी काव्य' (पृष्ठ ४५) में अविकल रूप में उद्धृत कर दी है। डॉ० उदयभानु सिंह की सूची को भी इस ग्रन्थ में (पृष्ठ ५७) देते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि द्विवेदीजी ने पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक लिखा, वैविध्यपूर्ण और सुरुचिपूर्ण सामग्री का उन्होंने ध्यान रखा तथा खड़ी बोली के गद्य और पद्य की विभिन्न शैलियों के निर्माण के लिए भरसक प्रयास किया। पद्य में अनूदित ८ कृतियाँ, मौलिक पद्य में ९, गद्य में अनूदित १४, मौलिक गद्य में ११, बालोपयोगी तथा स्कूली रीडरें, भाषणमाला आदि ३९ ग्रन्थ—इस प्रकार उनकी गद्य-पद्य की छोटी-बड़ी कुल ८१ पुस्तकें, २० हजार पृष्ठों में, उपलब्ध हैं। आलोच्य काल से सम्बन्धित उनकी निम्नलिखित कृतियाँ हैं—

**मौलिक :**

१. नागरी—सन् १९०० ई०
२. काव्य-मंजूषा—१९०३ ई०

---

१. शिवपूजन रचनावली-खंड, पृ० १८०

३. कान्यकुब्ज अबला-विलाप—१६२० ई०
४. सुमन—१६२३ ई०
५. कविता-कलाप—१६०६ ई०
६. द्विवेदी काव्य-माला—१६४० ई०

**अनूदित :**

१. सोहागरात—१६०० ई० (अप्रकाशित)
२. कुमारसम्भव-सार—१६०२ ई० (प्रथम पाँच सर्ग)

सोहागरात उनकी अप्रकाशित रचना है, जो अंग्रेज कवि बायरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद है। द्विवेदी काव्य-माला यद्यपि १६४० में प्रकाशित हुई, परन्तु उसकी अधिकांश रचनाएँ आलोच्य काल की ही हैं। द्विवेदीजी का आलोच्यकालीन अध्ययन इन्हीं रचनाओं के आधार पर किया जा सकता है। १६०० ई० के पूर्व द्विवेदीजी ने निम्नलिखित काव्यग्रन्थों की रचना की थी, जो डॉ० सिंह की सूची के अनुसार इस प्रकार हैं[1]—

**अनूदित रचनाएँ :**

१. विनय विनोद—सन् १८६६ ई०, भर्तृहरि के वैराग्यशतक का दोहों में अनुवाद।

२. विहारवाटिका—१८६० ई०, संस्कृत वृत्तों में जयदेव के गीतगोविन्द का संक्षिप्त भावानुवाद।

३. स्नेहमाला—१८६० ई०, भर्तृहरि के शृंगार-शतक का दोहों में अनुवाद।

४. श्रीमहिम्न स्तोत्र—१८८५ ई० में अनूदित, किन्तु १८६० ई० में प्रकाशित, संस्कृत महिम्न स्तोत्र का संस्कृत वृत्तों में सटीक अनुवाद।

५. गंगालहरी—सन् १८६१, पंडितराज जगन्नाथ की गंगालहरी का सवैया छन्द में अनुवाद।

६. ऋतु-तरंगिणी—सन् १८६१ ई०, कालिदास के ऋतुसंहार की छाया लेकर किया गया षड्ऋतु वर्णन।

कवि ने इन ग्रन्थों की भूमिकाओं में यह स्पष्ट किया है कि मूल संस्कृत

१. डॉ० उदयभानु सिंह, महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० ७८-७६

रचनाओं की काव्यमाधुरी का आस्वाद कराने और हिन्दी में संस्कृत वृत्तों का प्रचार कराने के लिए ही ये अनुवाद प्रस्तुत किये गये ।

७. सोहागरात (अप्रकाशित)—१९०० ई०, बायरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद ।

८. कुमारसम्भव-सार—१९०२ ई०, कालिदास के कुमारसम्भव के प्रथम पाँच सर्गों का पद्यात्मक सारांश । खड़ी बोली पद्य में कालिदास के भावों की व्यंजना का आदर्श उपस्थित करने के लिए ही द्विवेदीजी ने यह अनुवाद किया था।

**मौलिक पद्य :**

(१) देवीस्तुति शतक—१८९२ ई०, गणात्मक शब्दों में चण्डी की स्तुति ।

(२) कान्यकुब्जली व्रतम्—१८९८ ई०, कान्यकुब्ज समाज पर तीखा व्यंग्य ।

(३) समाचार पत्र-सम्पादक स्तव—१८९८ ई०, सम्पादकों पर आक्षेप ।

(४) नागरी—१९०० ई०, नागरी विषयक चार कविताओं का संग्रह ।

(५) काव्य-मंजूषा—१९०३ ई०—१८९७ ई० से १९०२ ई० तक रचित संस्कृत और हिन्दी की फुटकर रचनाओं का संग्रह ।

(६) कान्यकुब्ज अबला-विलाप—१९०७ ई०, कान्यकुब्ज समाज की विवाह-सम्बन्धी कुप्रथाओं पर आक्षेप ।

(७) सुमन—१९२३ ई०, काव्य-मंजूषा का संशोधित संस्करण ।

(८) द्विवेदी काव्य-माला—१९४० ई०, द्विवेदीजी की उपर्युक्त और प्रायः अन्य सभी कविताओं का संग्रह ।

(९) कविता-कलाप—१९०९ ई०, द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित महावीरप्रसाद द्विवेदी, पूर्ण, शंकर, कामताप्रसाद गुरु और मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं का सचित्र संग्रह ।

द्विवेदीजी ने विविध विषयक काव्य-रचना की थी । उन्होंने अपनी सारी शक्ति भाषा-सुधार और खड़ी बोली पद्य की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ाने में लगा

दी। व्याकरणसम्मत और परिनिष्ठित भाषा-निर्माण के महान् कार्य को करके उन्होंने खड़ी बोली में अभिव्यंजना की शक्ति पैदा कर दी। उसे उन्होंने काव्योपयोगी रूप दिया।

**सियारामशरण गुप्त** ने १९१२-१३ ई० में सरस्वती, प्रभा, श्रीशारदा आदि पत्रिकाओं में लिखना प्रारम्भ किया। हमारा देश (१९१३ ई०), हमारा ह्रास (१९१३ई०) और समय (१९१४ई०) शीर्षक रचनाओं में उन्होंने तत्कालीन भारतीय जनता के दासत्व तथा अवनति आदि की चर्चा की है। गुप्तजी ने रवीन्द्रनाथ की कुछ कविताएँ, जैसे—कर्त्तव्य (१९१४ ई०), भारत लक्ष्मी आदि अनूदित कीं। वीर बालक (१९१३ ई०), मौर्यविजय (१९१४ ई०) अनाथ (१९१७ ई०) और अन्य फुटकर रचनाओं में श्री राघव विलाप (१९१३ ई०, चित्र परिचय), जननी (१९१६ ई०) तथा तिलक-वियोग आदि उनकी रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। १९१६ ई० से १९२० ई० तक की कवि की चिन्तनप्रधान अन्तर्मुखी रचनाएँ हैं—भेंट, विश्वास, सन्तोष, माली, आदि जो 'दूर्वादल' में संकलित हैं। विवाह (१९२० ई०) और अविश्वास (१९२० ई०) की वीर रस की महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

**पं० माखनलाल चतुर्वेदी** ने १९०८ ई० खड़ी बोली की पहली रचना "हे प्रशान्त ! तूफान हिये में कैसे कहूँ समा जा"[1] लिखी थी और १९१० ई० में उर्दू के लहजे पर तुकबन्दी भी की थी। वे १९१३ ई० तक 'प्रभा' और 'प्रताप' में कई कविताएँ प्रकाशित करा चुके थे। १९१३ ई० से १९२० ई० तक उनकी चेतावनी, पत्नी तथा हिम तरंगिणी की अधिकांश रचनाएँ लिखी गयीं। प्रभा, मर्यादा, प्रताप, कर्मवीर, सरस्वती, आदि पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ प्रकाशित होती थीं।

**गयाप्रसाद शुक्ल सनेही 'त्रिशूल'** द्विवेदी युग के प्रसिद्ध कवि हैं। उर्दू शैली के प्रबन्धों और छप्पयों में उनका व्यक्तित्व खिल उठा है। सामाजिक समस्याओं में विशेषकर किसानों, दीनों, दलितों की समस्याओं का पक्ष ग्रहण करने में वे द्विवेदीकालीन कवियों में अग्रणी रहे हैं। 'कौशल्या का विलाप' उनकी प्रसिद्ध पौराणिक रचना है। उनकी चेतावनी इस प्रकार है :

> "जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
> वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है।"

---

१. माखनलाल चतुर्वेदी, ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ, पृ० २५८

यह प्रसिद्ध पद्य अत्यन्त लोकप्रिय भी था। 'राष्ट्रीय वीणा' और 'त्रिशूल तरंग' उनके गीतों के संकलन हैं। उनकी राष्ट्रीयता, देशभक्ति, सामाजिक और सामयिक समस्याओं पर लिखी गयी रचनाएँ द्विवेदी काल में बहुत ख्याति अर्जित कर सकी थीं।

**मुकुटधर पाण्डेय** ने १९११-१२ ई० से खड़ी बोली में अपना रचना-कार्य शुरू किया। द्विवेदीयुगीन काव्य की दोपहरी का वह समय था। पूर्ण, शंकर, हरिऔध, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, आदि काव्य-जगत् में प्रसिद्धि के शिखर पर स्थिति थे। मुकुटधर पाण्डेय ने 'काल की कुटिलता' (१९१३ ई०), 'जीवन साफल्य' (१९१२ ई०), 'रत्नाकर' (१९१३ ई०), 'संकेत सप्तक' (१९१३ ई०) 'सिंहोपालम्भ' (१९१३ ई०), 'एक शुभ समय' (१९१३ ई०), 'कैकयी कापट्य' (१९१३ ई०) आदि कविताएँ इन्दु, सरस्वती और प्रभा पत्रिकाओं में प्रकाशित करायीं। १९१३ ई० की इन्दु में 'कैकेयी कापट्य' शीर्षक उनका लम्बा आख्यानक काव्य छपा था। पन्थी (इन्दु, फरवरी १९१४ ई०), प्रेम-बन्धन (१९१३ ई०) और आँसू (१९१६ ई०) में प्रेमी का आदर्श व्यक्त किया गया गया है। प्रकृति, मानव, प्रेम सम्बन्धी ये अन्तर्मुखी रचनाएँ उल्लेख्य हैं। उनकी 'उद्‌गार' (१९१८ ई०), ओस की निर्वाण-प्राप्ति (१९१७ ई०) कृतज्ञ-हृदय (१ १८ ई०) और कुररी के प्रति (१९२० ई०) रचनाएँ प्रकृति और प्रेमानुभूति-विषयक प्रगीतात्मक कविताएँ हैं। उनके प्रेम का क्षेत्र-विस्तार होता गया और वह दलितों तथा दीनों में 'विश्वबोध' ( १९१७ ई०) की अनुभूति कर सका। 'नमक की डली' (१९१७ ई०) आत्मा के अव्यक्त सत्ता के साथ एकाकार होने की कथा है। 'रूप का जादू' (१९१८ ई०) अद्वैतवादी रचना है और क्षमाप्रार्थना (१९१८ ई०) में ब्रह्म के प्रति आत्म-समर्पण की भावना पायी जाती है। 'मर्दित मान' (१९१८ ई०) तथा 'अधीरा आँखें' ससीम और असीम के व्यापारों से सम्बन्धित रचनाएँ हैं। कवि की इन्हीं रचनाओं में छायावाद के उन्मेष-काल की अभिव्यक्ति का प्रतिनिधि रूप पाया जाता है। कवि की 'कुररी के प्रति' रचना छायावाद के प्रवर्तन-काल में अपने विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी है।

प्रसाद, पन्त और निराला के १९२० ई० तक के काव्य-ग्रन्थों की सूची अन्यत्र दी गयी है। आलोच्य काल में चित्राधार (१९०९ से १९१६ ई० तक की रचनाएँ) तथा 'कानन-कुसुम', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व,' एवं 'प्रेम-पथिक' (१९१३-१४ ई०) की प्रसाद ने रचना की। पन्त की वीणा, ग्रन्थि और पल्लव की अधिकांश रचनाएँ १९२० ई० तक प्रकाशित हो चुकी थीं। निराला

की 'जुही की कली', 'बादलराग', 'जागो फिर एक बार' तथा अन्य कई रच-नाएँ भी इसी समय प्रकाश में आ चुकी थीं।

**पं० रामचन्द्र शुक्ल** की खड़ी बोली की पहली रचना 'मनोहर छटा' सरस्वती में (भाग २, सं० १०) छपी थी। इसके पश्चात् उनकी 'शिशिर पथिक' (एक प्रेमाख्यान), 'बसन्त पथिक', 'भारत और बसन्त' तथा 'दुर्गावती' आदि रचनाएँ प्रकाशित हुईं। 'शिशिर पथिक' ३५ पद्यों में रचित वर्णनात्मक कविता है। उन्होंने अपनी एक अन्य रचना में गाँवों की श्री का रोचक चित्रण किया है। प्रकृति के रमणीय रूपों में शुक्लजी का मन बहुत रमा है। १९२२ ई० में 'बुद्ध चरित' शीर्षक उनका काव्यानुवाद प्रकाशित हुआ था।

**पं० कामता प्रसाद गुरु** ने १९०८ ई० की सरस्वती में ग्रामीण, विलाप, ईर्ष्या, परशुराम, आदि रचनाएँ लिखीं। १९०९ ई० की सरस्वती में (भाग १०, सं० १२, पृष्ठ ५४३-५४५) उनकी एक लम्बी निबन्ध-कविता 'दासी रानी' छपी थी। उनकी 'बालक' रचना भी उल्लेखनीय है।

**पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न** ने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का संस्कृत में अनुवाद किया। उन्होंने संस्कृत से 'शिशुपाल-वध' और बंगला से 'गीतांजलि' का भी अनुवाद किया। १९०५ ई० में खड़ी बोली में उनकी 'ईश्वर-स्तुति' रचना सरस्वती (भाग ७, संख्या १, पृष्ठ १३) में प्रकाशित हुई। उनकी 'मुरली' रचना भी सरस्वती में (भाग ६, पृष्ठ संख्या २, पृ० ७०) छपी थी।

इनके अतिरिक्त **जनार्दन झा** की 'शिक्षा शतक' (१९०३ ई०, सरस्वती, भाग ४, संख्या ११, पृ० ३८१-३८२) खड़ी बोली में प्रकाशित हुई। द्वारिका-वर्णन (१०१ पदों की लम्बी निबन्ध-कविता), रसाल पंचक, प्रार्थना शतक आदि भी इन्हीं दिनों सरस्वती में प्रकाशित हुई थीं। कन्हैयालाल पोद्दार की 'कोकिल' (सरस्वती, अक्टूबर १९०४ ई०), 'मित्र पंचक' (१९०५ ई०), 'तट' (१९०६ ई०) आदि रचनाएँ सरस्वती में प्रकाशित हुई थीं। लोकमणि की कमल, शरदागमन, आदि सरस और सुन्दर रचनाएँ १९०३ ई० के आस-पास लिखी गयी थीं। श्री सत्यशरण रतूड़ी की बुलबुल, शान्तिमयी शय्या, सभ्यता, प्रेम-पताका, प्रभात-प्रभा, आदि कविताएँ आलोच्य काल में लिखी गयीं। श्री सनातन शर्मा सक-लानी एक श्रद्धालु कवि थे। उन्होंने 'सरस्वती अष्टक', वसन्त निद्रा, मेरी चम्पा, पावसराज, आदि लम्बी-लम्बी रचनाएँ 'सरस्वती' में समय-समय पर प्रकाशित करवायीं। डॉ० रामसकल राय ने 'द्विवेदी युग का हिन्दी काव्य' में (पृष्ठ १०८)

द्विवेदीयुगीन कवयित्रियों में पार्वती देवी और तोष कुमारी की रचनाओं के भी उदाहरण दिये हैं। जैनेन्द्रकिशोर की 'मेरी मैया' (जेम्स टेलर की कविता 'माई मदर' का भावानुवाद) एक उल्लेखनीय रचना है।

ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में **जगन्नाथदास रत्नाकर** सर्वप्रमुख हैं। १८९४ ई० में उन्होंने 'हिण्डोला' शीर्षक पहली रचना ब्रजभाषा में लिखी। १९१७ ई० में 'बिहारी रत्नाकर' लिखा गया और उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'उद्धव शतक' भी १९१० ई० से १९२० ई० के बीच में लिखी गयी। यह द्विवेदी युग की ही रचना है। १९२० ई० में गंगावतरण की रचना प्रारम्भ हुई। रत्नाकर में उनकी बारह रचनाएँ संग्रहीत हैं, जो इस प्रकार हैं— १. हिण्डोला, २. समालोचना दर्शन, ३. हरिश्चन्द्र, ४. कलकाशी, ५. उद्धव शतक, ६. गंगावतरण, ७. श्रृंगार लहरी, ८. गंगा लहरी, ९. श्री विष्णु लहरी, १०. रत्नाष्टक, ११. प्रकीर्ण पद्यावली, १२. वीराष्टक। ब्रजभाषा के द्विवेदी-युगीन कवियों में वे सर्वश्रेष्ठ हैं।

**राय देवीप्रसाद पूर्ण** ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में रचना की। उनकी प्रमुख रचनाएँ चन्द्रकला, भानुकुमार नाटक, धाराधर धावन, स्वदेशी कुण्डल, राम-रावण विरोध, राजदर्शन, वसन्त वियोग आदि हैं। ३० जून, १९१५ ई० को उनकी मृत्यु हुई। कादम्बरी, सरस्वती, सुन्दरी-सौन्दर्य, भक्ति-विज्ञान, रम्भाशुक-सम्वाद, विश्वविद्यालय डेपूटेशन, नूतन वर्ष का स्वागत, शकुन्तला-जन्म आदि उनकी फुटकल रचनाएँ हैं। उनकी समस्त रचनाओं का संग्रह है 'पूर्ण-संग्रह', जिसमें 'स्वदेशी कुण्डल' और 'वसन्त वियोग' खड़ी बोली की रचनाएँ हैं तथा शेष ब्रजभाषा की हैं। 'शकुन्तला-जन्म' और 'कादम्बरी' के काव्य-सौन्दर्य से प्रभावित होकर ही द्विवेदीजी ने उन्हें 'कविता-कलाप' में स्थान दिया था।

**सत्यनारायण कविरत्न** (जन्म १८८४ ई०) ब्रजभाषा के समर्थक और समर्थ कवि थे। अष्टछाप के कवियों के ढंग का ब्रजभाषा में गीतिकाव्य लिखने वालों में वे बेजोड़ थे। 'हृदय-तरंग' ब्रजभाषा का उनका काव्य-संग्रह है, जिसे नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है। 'भ्रमर-दूत' उनकी प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय, प्रकृति-सम्बन्धी, प्रख्यात व्यक्तियों की प्रशस्तियाँ, तथा प्रेम विषयक उनकी सुन्दर रचनाएँ हैं। उनकी रचनाओं में 'प्रेमकली' और 'भ्रमर-दूत' विशेष उल्लेखनीय हैं।

**वियोगी हरि** (हरिप्रसाद द्विवेदी) का जन्म १८९५ ई० में हुआ था।

'प्रेमशतक', 'प्रेमपथिक', 'प्रेमांजलि', 'चरखे की गूँज' 'चरखा स्तोत्र', 'असहयोग वीणा', और 'वीर सतसई' उनकी रचनाएँ हैं। उन्होंने 'धनुषयज्ञ' और 'वीर हरदौल' ब्रजभाषा में तथा 'राणा प्रताप' खड़ी बोली में उस समय लिखे, जब वे मिडिल स्कूल में पढ़ते थे। 'प्रेमपथिक' १९१५ ई० के आस-पास की रचना है और प्रेमशतक, प्रेमांजलि, प्रेम-परिषद् आदि रचनाएँ आलोच्य काल में लिखी गयी हैं। कवि कीर्तन, अनुराग वाटिका, वीर सतसई, मन्दिर प्रवेश आदि रचनाएँ आलोच्य काल के पश्चात् रची गयी हैं।

रत्नाकर, पूर्ण, सत्यनारायण कविरत्न और वियोगी हरि ब्रजभाषा के स्वनामधन्य कवि हैं। द्विवेदी युग की नवीन वैचारिक सरणी को वहन करने में अक्षम और छायावादी उन्मेष की नवीन अभिव्यञ्जना से पृथक् तथा जनमानस के नवीन परिवेश से दूर रहने वाली यह ब्रजकाव्य परम्परा युग की वाणी नहीं बन पायी। खड़ी बोली अपनी द्रुत गति से बढ़ती हुई १९२० ई० तक अभिव्यञ्जना शक्ति के नये सोपानों पर जा पहुँची।

**सैयद अमीर अली मीर** द्विवेदी युग के प्रसिद्ध कवि थे। इनका जन्म १८७३ ई० में हुआ था। इनकी कविताएँ सरस्वती में स्थान पाने लगी थीं। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—बूढ़े का ब्याह, नीति-दर्पण, बालक, उलाहना-पंचक, अन्योक्ति-शतक आदि।

**पं० रूप नारायण पाण्डेय** (जन्म १८८४ ई०, लखनऊ) ने बँगला से 'कृत्तिवास रामायण' का हिन्दी में अनुवाद किया। द्विवेदीयुगीन कवि होते हुए भी द्विवेदी-युगीन खड़ी बोली कविता से ये अप्रभावित ही रहे। ये अधिकांश में स्वच्छन्दता-वादी कवि थे। 'पराग' में इनकी कविताएँ संग्रहीत हैं। दलित कुसुम, वन-विहार और आश्वासन इनकी सुन्दर और सरस रचनाएँ हैं। छायावादी काव्य की पृष्ठभूमि का निर्माण करने की दृष्टि से इनके काव्य का बहुत अधिक महत्व है।

**ठाकुर गोपालशरण सिंह** की प्रथम रचना 'ग्रन्थ' सरस्वती में प्रकाशित हुई। उनकी आरम्भिक रचनाएँ 'संचिता' में संकेतित हैं। उनकी कृतियों में सबसे पहले 'माधवी' प्रकाशित हुई। इसमें ब्रजभाषा काव्य की प्रेरणा और छायावादी युग के आगमन का पूर्वाभास दोनों ही संकेतित हैं। मानसी, ज्योतिष्मती और कादम्बिनी उनकी रचनाओं के अन्य संग्रह हैं। उन पर द्विवेदीजी का गहरा प्रभाव है। वे प्रेम, करुणा और प्रकृति के कवि हैं। ग्रामीण जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति वे आकर्षित थे।

## सरस्वती के कवि एवं द्विवेदी-मण्डल के बाहर के कवि

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने १९०३ ई० में सरस्वती का सम्पादन सँभाला था। १९०१ ई० से ही वे सरस्वती में लिख रहे थे। उनकी 'हे कविते' रचना १९०१ ई० में सरस्वती में छपी थी। डॉ० रामसकल राय शर्मा ने 'द्विवेदी युग का हिन्दी काव्य' में १९०० ई० से १९१० ई० तक सरस्वती में लिखने वाले कवियों की एक सूची दी है।[1] उनके मतानुसार १९०३ ई० में द्विवेदीजी की 'सरस्वती की विनय' और 'जन्मभूमि', काशी प्रसाद की 'कवि-कीर्ति', श्रीधर पाठक का 'वर्षा-वर्णन' (ऋतु-संहार का हिन्दी अनुवाद), रामचन्द्र शुक्ल की 'रानी दुर्गावती', 'पूर्ण' की 'भरत वाक्य' और लोकमणि की 'शरदागमन' रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। ये सारी रचनाएँ खड़ी बोली रचना की प्राथमिक अवस्था की द्योतक हैं। १९०४ ई० की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं—रामचन्द्र शुक्ल की 'वसन्त', सत्यनारायण रतूड़ी की 'बुलबुल' और कन्हैयालाल पोद्दार की 'कोकिल'। १९०५ ई० में मैथिलीशरण गुप्त की 'हेमन्त', द्विवेदीजी की 'ग्रन्थकारों से विनय', जनार्दन झा की 'द्वारिका वर्णन', रामचन्द्र शुक्ल की 'शिशिर पथिक', सकलानी की 'सरस्वती अष्टक' तथा 'वसन्त', 'ग्रीष्म', 'निन्द्रा', 'मेरी चम्पा' और 'पावसराज', द्विवेदीजी की 'रम्भा', 'कुमुद सुन्दरी', 'महाश्वेता' एवं सत्यशरण रतूड़ी की 'प्रेमपताका' और 'प्रभात प्रभा', रचनाएँ प्रकाशित हुईं। १९०६ ई० की सरस्वती में द्विवेदीजी की 'प्यारे वतन', हरिऔधजी की 'बालक विनोद', पार्वती देवी की 'काव्य कुसुमांजलि', नाथूराम शर्मा 'शंकर' की 'हमारा अधःपतन' तथा सैयद अमीर अली मीर की 'काल की आत्म कहानी' रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। १९०७ ई० में हरिऔध की 'कर्मवीर' तथा कामताप्रसाद गुरु की 'शिवाजी' कविताएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। १९०८ ई० में गुप्तजी की 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा', 'अर्जुन और सुभद्रा', 'उर्वशी और केशों की कथा', गिरिधर शर्मा की 'मुरली और वसन्त', तथा कामताप्रसाद गुरु की 'ग्रीष्म', 'विलाप' और 'परशुराम' रचनाएँ प्रकाश में आयीं। १९०८ ई० के पश्चात् पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का स्वरूप निखरने लगा था। १९०९ ई० में डॉ० रामसकल राय शर्मा ने तोषकुमारी को द्विवेदी-युगीन काव्य की प्रथम स्त्री कवयित्री के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने उनकी 'प्रार्थना' रचना का उल्लेख किया। गुप्तजी की 'नागरी विलाप और हिन्दी भाषा', 'नकली किला', 'सीता जी का पृथ्वी-प्रवेश', 'मक्खीचूस', 'रण-निमन्त्रण',

---

१. डॉ० रामसकल राय शर्मा, द्विवेदी युग का हिन्दी काव्य, पृ० ८६-८९

'कीचक की नीचता', 'शकुन्तला को दुर्वासा का अभिशाप', 'उत्तरा का उत्ताप' और 'कारुण्य भारती' आदि रचनाएँ तथा द्विवेदीजी की 'शकुन्तला-जन्म', कामताप्रसाद गुरु की 'दासी रानी', आदि रचनाएँ भी सरस्वती में छपी थीं। १९१० ई० तक गुप्त, हरिऔध, पूर्ण, शंकर और कामताप्रसाद गुरु प्रमुख कवियों के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे।

डॉ० शर्मा ने, १९१० ई० तक सरस्वती में जिन कवियों की रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनकी एक सूची भी (द्विवेदी युग का हिन्दी काव्य, पृष्ठ ८८) दे दी है। इस सूची में ५७ कवि हैं, जिनमें प्रमुख रूप से आचार्य द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, कामताप्रसाद गुरु, लोचनप्रसाद पाण्डेय, सैयद अमीर अली मीर तथा श्रीधर पाठक, 'पूर्ण', 'शंकर' और हरिऔध हैं। इनके काव्य के आधार पर द्विवेदीयुगीन काव्य की मूल प्रवृत्तियों का परीक्षण भी किया गया।

१९११ ई० से १९२० ई० के मध्य काव्य की निश्चित परिपाटी का निर्माण, भाषा का परिमार्जन और खड़ी बोली काव्य का स्वरूप स्थिर हुआ। डॉ० शर्मा द्वारा प्रस्तुत अन्य सूची[1] इस प्रकार है—(१) 'पूर्ण', (२) गुप्त, (३) लक्ष्मीधर वाजपेयी, (४) मुकुन्द, (५) नवीन, (६) जनार्दन झा, (७) 'शंकर', (८) केशांचित् कवीनाम्, (९) लोचनप्रसाद पाण्डेय, (१०) पं० बालगोविन्द, (११) कन्हैयालाल पोद्दार, (१२) मन्नन द्विवेदी, (१३) कामताप्रसाद गुरु, (१४) रामचरित उपाध्याय, (१५) गिरिधर शर्मा, (१६) नित्यानन्द शर्मा, (१७) सैयद अमीर अली 'मीर', (१८) ब्रजनन्दन सहाय, (१९) सतकविदास, (२०) रूपनारायण पाण्डेय, (२१) पद्मसिंह शर्मा, (२२) महावीरप्रसाद द्विवेदी, (२३) रामनरेश त्रिपाठी, (२४) रामदयालु, (२५) अक्षयवट, (२६) मुकुटधर शर्मा, (२७) गोपालशरण सिंह, (२८) जयशंकर प्रसाद, (२९) मधुर, (३०) मधुप, (३१) सनेही, (३२) रामचन्द्र शुक्ल, (३३) पारसनाथ सिंह, (३४) स्वामीदयाल श्रीवास्तव, (३५) जगन्नाथ खन्ना, (३६) मुकुटधर, (३७) भारतीय, (३८) हरिऔध, (३९) प्रेमनारायण भट्ट, (४०) द्वारिकाप्रसाद गुप्त, (४१) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, (४२) बदरीनाथ भट्ट, (४३) मोतीलाल, (४४) देवीप्रसाद गुप्त, (४५) रामदहिन मिश्र, (४६) विपन्न, (४७) सियारामशरण गुप्त, (४८) कर्ण, (४९) विद्याधर तिवारी, (५०) विश्वनाथसिंह, (५१) हेमनाथ चन्द्रवंशी, (५२) चकबस्त, (५३) मुकुटधर पाण्डेय, (५४) पं० शम्भूनाथ तिवारी, (५५) हरिवंश मिश्र, (५६) नारायणप्रसाद श्रीवास्तव, (५७) पं०

---

१. डॉ० रामसकल राय शर्मा, द्विवेदी युग का हिन्दी काव्य, पृ० ११३

केशव प्रसाद मिश्र, (५८) रायकृष्णदास, (५९) शिवकुमार त्रिपाठी, (६०) राधावल्लभ, (६१) बाबूराम मिश्र, (६२) गोकुल चन्द्र शर्मा, (६३) द्विरेफ, (६४) मनोहरप्रसाद मिश्र, (६५) मणीराम गुप्त, (६६) श्री कवि, (६७) विजयानन्द त्रिपाठी, (६८) ज्योतिषचन्द्र घोष, (६९) कुशहरीदयाल निगम, (७०) जगमोहन वर्मा और (७१) गोविन्ददास।

प्रथम सूची के प्रमुख कवि दूसरी सूची में भी हैं। कुछ नये कवि, जैसे रूपनारायण पाण्डेय, गोपालशरण सिंह, सनेही, सियारामशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, मुकुटधर पाण्डेय और शिवकुमार त्रिपाठी भी इसमें हैं।

सन् १९१० ई० तक द्विवेदीयुगीन काव्य में वन्दना, प्रशस्तियाँ और देश-प्रेम, वर्तमान समस्याएँ, जागरण-विषयक कविताएँ और अभियान गीत लिखे जा रहे थे। सूक्तियाँ, सुभाषित और अन्योक्तियों से आगे बढ़ कर वीर-पूजा और मानवता की भावना तथा वास्तविक जीवन के विषयों की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित होने लगा था।

द्विवेदीजी ने सरस्वती में संकेत किया था कि "भारत में अनन्त नरेश, देशभक्त, वीरशिरोमणि और महात्मा हो गये हैं। हिन्दी के सुकवि यदि उन पर काव्य करें तो बहुत लाभ हो। 'पलासी युद्ध', 'वृत्रसंहार', 'मेघनाद वध' और 'यशवन्तराव' महाकाव्य की बराबरी का एक भी काव्य लिख कर हिन्दी की श्रीवृद्धि करनी चाहिए।"[1] परिणामस्वरूप हरिऔध का हिन्दी का प्रथम महाकाव्य 'प्रियप्रवास' (१९१३ ई०) तथा गुप्तजी की 'भारत-भारती' (१९१० ई०), 'रंग में भंग' (१९०९ ई०) और 'जयद्रथ-वध' (१९१० ई०) प्रकाशित हुए। 'रंग में भंग' और 'जयद्रथ-वध' खण्ड काव्य हैं। 'भारत-भारती' उपदेश प्रधान निबन्ध-काव्य है।

१९१४ ई० में सियारामशरण का 'मौर्यविजय', पं० रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित चिन्तामणि' (१९२० ई०), गुप्तजी के 'साकेत' के कुछ सर्ग प्रसाद का 'महाराणा का महत्व' तथा 'प्रेमपथिक' (१९१३-१४ ई०) आदि काव्य प्रकाशित हुए।

कुछ ऐसे भी कवि थे, जो सरस्वती में नहीं लिखते थे और जो द्विवेदीजी के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर रह कर काव्य-प्रणयन करते थे। हरिऔध, श्रीधर

---

१. सरस्वती, हिन्दी की वर्तमान अवस्था, सन् १९११ ई०

पाठक, और 'शंकर' मूलतः ब्रजभाषा के ही कवि थे, परन्तु द्विवेदीजी के आग्रह से खड़ी बोली में कविता कर रहे थे। श्रीधरजी स्वच्छन्दतावादी, 'शंकर' आर्यसमाजी और हरिऔध परम्परावादी रससिद्ध कवि थे। 'हरिऔध' और 'शंकर' पाठकजी की अपेक्षा द्विवेदीजी के प्रभाव-क्षेत्र में अधिक थे। रामनरेश त्रिपाठी और माखनलाल चतुर्वेदी द्विवेदीजी से प्रभावित, उपकृत और निर्देशित होते हुए भी स्वतन्त्र भावचेता कवि थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल के मत से "अनेक अच्छे कवि अपने-अपने ढंग पर सरस और प्रभावपूर्ण कविता करते रहे, जिनमें देवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर', पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, पं० रामनरेश त्रिपाठी, और रूपनारायण पाण्डेय मुख्य हैं।"[1]

## सभाएँ और पत्र-पत्रिकाएँ

यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि द्विवेदीजी के अथक परिश्रम के समानान्तर १६ जुलाई, १८९३ ई० को स्थापित काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भी हिन्दी के खड़ी बोली काव्य की उन्नति में जो महान योग दिया है, उससे १९००-१९२० ई० के मध्य काव्य सशक्त ही हुआ है। सभा के उद्योग से ही १८९८ ई० में संयुक्त प्रान्त की सरकार ने अदालतों में नागरी का प्रवेश ऐच्छिक कर दिया और सम्मन आदि के लिए नागरी तथा उर्दू दोनों लिपियों का प्रयोग करने की घोषणा की। नागरी प्रचारिणी सभा ने ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन की १०, ११ और १२ अक्टूबर १९१० ई० को स्थापना की। हिन्दी के प्रचार में उस समय हिन्दू समाज (प्रयाग), भाषा-सम्वर्द्धिनी सभा (अलीगढ़), देवनागरी प्रचारिणी सभा (मेरठ), नागरी प्रचारिणी सभा (आरा), एक लिपि विस्तार परिषद ( कलकत्ता ), हिन्दी साहित्य परिषद ( कलकत्ता ), नागरी प्रवर्द्धिनी सभा (प्रयाग), काव्य-लता सभा (छतरपुर), नागरी प्रचारिणी सभा, (जालन्धर एवं मैनपुरी) कार्य कर रही थीं। सन् १९१० ई० तक ब्यावर, गोरखपुर, बुलन्दशहर, अमृतसर, लहेरियासराय, हाथरस, लखीमपुर खीरी-लाहौर, भागलपुर, मुरादाबाद, लखनऊ, चित्तौड़, कोटा आदि स्थानों की साहित्य सभाएँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन से सम्बद्ध हो गयी थीं। सन १९१०-११ ई० तक बंगाल, बिहार, मध्यप्रान्त, गुजरात, राजपूताना, आदि में हिन्दी का प्रचार बढ़ गया था। सन् १९१५ ई० में गुजराती और मराठी साहित्य सम्मेलनों

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास ( आठवाँ संस्करण ) पृ० ६०७

ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया था। सन् १९१८ ई० में सम्मेलन ने हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की थी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ग्यारहवें अधिवेशन में 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' की योजना स्वीकृत हुई। अफ्रीका और बर्मा में हिन्दी सभाएँ स्थापित हुईं और १९१६ ई० में अफ्रीका में प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ। इस समय तक 'सरस्वती' एक विश्वविद्यालय के समान पूज्य हो गयी थी और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के सर्वमान्य महारथी, अग्रदूत, नियोजक, निदेशक, शिक्षक, गुरु और मार्ग-दर्शक माने जा रहे थे।

द्विवेदी युग के पूर्व 'सुधा-वर्षण' (१८५४ ई०) और भारत-मित्र (१८५७ ई०) केवल दो दैनिक पत्र थे, जो कभी बन्द हो चुके थे। 'भारत-मित्र' १९११ ई० में पुन: शुरू हुआ और गिरता-पड़ता १९३४ ई० तक चलता रहा। कलकत्ता समाचार (१९१४ ई० में) निकला और शीघ्र ही बन्द हो गया। 'बेंकटेश्वर समाचार' कुछ काल तक निकला। 'विश्वामित्र' (१९१७ ई०) और 'स्वतन्त्र' भी उन्हीं दिनों निकले। १९२० ई० में काशी से 'आज' प्रकाशित होने लगा। द्विवेदीयुगीन काव्य को प्रश्रय देने वाले पत्रों में भारत-मित्र, बंगवासी, बेंकटेश्वर समाचार प्रमुख थे। मदनमोहन मालवीय का 'अभ्युदय' (१९०७ ई०), माधवराव सप्रे का 'हिन्द केसरी' (१९०७ ई०), सुन्दरलाल का 'कर्मयोगी' (१९०९ ई०), गणेशशंकर विद्यार्थी का 'प्रताप' (१९११-१२ ई०), सुन्दरलाल का 'भविष्य' (१९१९ ई०), और १९२०-२१ ई० के आस-पास खंडवा से प्रकाशित 'कर्मवीर' तथा बाद में प्रकाशित होने वाला 'स्वराज्य', आगरा से 'सैनिक' तथा गोरखपुर से 'स्वदेश' आदि साप्ताहिक पत्र निकले थे। १९१३-१४ ई० में 'भारत-मित्र' ही हिन्दी का एकमात्र दैनिक पत्र था। साप्ताहिक पत्रिकाओं में 'हिन्दी बंगवासी', 'भारत-मित्र', 'बेंकटेश्वर समाचार', 'वीर भारत', 'अभ्युदय', 'बिहार-बन्धु', 'भारत जीवन', 'सद्धर्म प्रचारक', 'जयाजी प्रताप', 'शुभचिन्तक', 'अलमोड़ा अखबार', आदि उल्लेखनीय हैं। मासिक पत्रिकाओं में 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'प्रभा', 'इन्दु', 'लक्ष्मी', 'नवनीत', 'चित्रमय जगत', 'स्वर्ग भाषा', 'हित कारिणी', 'बाल-हितैषी', 'नवजीवन', 'वैदिक सर्वस्व', आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ जातीय, कुछ वैद्यक तथा स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी और कुछ अन्यान्य विषयों से सम्बन्धित पत्रिकाएँ निकल रही थीं। डॉ० उदयभानु सिंह के अनुसार १९१७-१८ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यालय में ८० पत्र-पत्रिकाएँ आती थीं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्य-भाषा पुस्तकालय में अधिकांश द्विवेदीयुगीन पत्रिकाओं की फाइलें सुरक्षित हैं। यह उल्लेखनीय है कि उस समय के अधिकांश

लेखक सम्पादक भी थे। श्यामसुन्दरदास, राधाकृष्णदास, भीमसेन शर्मा, कृष्ण-कान्त मालवीय, रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, रूपनारायण पाण्डेय, वियोगी हरि, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि पत्रिकाओं के सम्पादक भी थे। मुख्य रूप से सरस्वती, मर्यादा, इन्दु, चाँद, प्रभा, माधुरी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका में ही अधिकतर तत्कालीन साहित्य छपा। मर्यादा, प्रभा तथा माधुरी के सम्पादक आचार्य द्विवेदी के शिष्यों में से ही थे।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है द्विवेदीयुगीन काव्य के संवर्द्धन में उस समय की पत्र-पत्रिकाएँ और सभाएँ भी सक्रिय थीं। इन्हीं के माध्यम से द्विवेदी युग की कविता के नाना रूपाकार प्रकट हो सके थे।

●

षष्ठ अध्याय

# द्विवेदीयुगीन काव्य की विधाएँ

## काव्य रूप

द्विवेदी युग की व्यापक राष्ट्रीय चेतना के कारण और नव जागरण की प्रतिक्रिया के रूप में विभिन्न साहित्यिक रूपों और शैलियों का विकास हुआ। इस युग की कविता अपनी इतिवृत्तात्मक, उपदेशात्मक और नीतिपरक स्थितियों से ऊपर उठकर भावात्मकता की चरम परिणति को छू सकने के लिए बराबर यत्नशील रही। हिन्दी में द्विवेदी युग के पूर्व पृथ्वीराज रासो, पदमावत, रामचरित मानस, रामचन्द्रिका, रामाश्वमेध, रामस्वयम्वर, जैसे महाकाव्यों की तथा वीसलदेव रासो, आल्हा, ढोला मारवणी चउपई, माधवानल कामकन्दला, दानलीला, मानलीला, मृगावती, मधुमालती, इन्द्रावती, पुहुपावती, नलदमन, विरहवारीश, ढोला मारूरा दूहा, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, नहछू, नन्ददास का भ्रमरगीत, रासपंचाध्यायी, रुक्मणीमंगल, नरोत्तमदास का सुदामा चरित, बेलि क्रिसन रुक्मिणी री, आदि खण्डकाव्यों की परम्परा बनी हुई थी। गीति काव्य में भी सामवेद की संगीतात्मकता, मेघदूत, गीत-गोविन्द, कबीर के पद, विद्यापति और अष्टछाप के कवियों के गीत, सूरसागर, गीतावली, कृष्णगीतावली, विनयपत्रिका, मीरा के पद तथा भारतेन्दु के गीतों की परम्परा द्विवेदी युग के गीतिकाव्य की भूमिका प्रस्तुत कर रही थी। ऐतरेय ब्राह्मणों के ऐहिकतापरक मुक्तक, पालि और प्राकृत के मुक्तक, गोवर्धनाचार्य की आर्यासप्तशती, अपभ्रंश के मुक्तक, वज्रयानी जैनों तथा सन्त कवियों के मुक्तक, कबीर तथा ख़ुसरो के मुक्तक, सन्तों के ककहरा, बारहमासा, पहाड़ा, झूलना, रेखता आदि, तुलसी की वैराग्य-सन्दीपिनी, बरवै, रामाज्ञा प्रश्न, दोहावली, बाहुक, सतसई,

कवितावली, एवम् रीतिकाल के और भारतेन्दु के मुक्तक, जो आदिकाल से दोहा, सवैया, कवित्त, छप्पय, कुण्डलिया, सोरठा, बरवै आदि छन्दों में लिखे गये थे तथा जिन्हें हम सतसई, साखी, दृष्टकूट, उलट वाँसियाँ, सूक्ति, समस्या-पूर्ति, मुकरियाँ आदि न जाने कितने रूपों में जानते आये हैं—उन्हीं मुक्तकों की परिपाटी द्विवेदी युग के काव्य में मुक्तक-रचना की प्रेरणा बन कर उपस्थित थी। गीतिनाट्य, प्रगीत आदि भी संस्कृत के स्रोतों तथा नवीन आंग्ल प्रभावों से १६०० ई० के पूर्व हिन्दी कविता में स्वीकृत होने लगे थे।

द्विवेदी युग में निम्नलिखित काव्य-रूपों का प्रयोग हुआ है—

१. महाकाव्य—१. 'प्रियप्रवास' (२४ फरवरी १६१३ ई० में सम्पूर्ण)
२. 'साकेत' (प्रारम्भ १६१५ ई०, पूर्ति १६२६ ई०)
(प्रथम पाँच सर्ग, १६२० ई० तक)
३. 'रामचरित चिन्तामणि' (१६२० ई०)

२. खण्डकाव्य—१. गुप्तजी का 'रंग में भंग' (१६०६ ई०)
२. गुप्तजी का 'जयद्रथ-वध' (१६१० ई०)
३. प्रसाद का 'प्रेम-पथिक' (१६१३ ई०)
४. प्रसाद का 'महाराणा का महत्व' (१६१४ ई०)
५. सियारामशरण गुप्त का 'मौर्यविजय' (१६१४ ई०)
६. श्रीधर पाठक का 'श्रान्त पथिक' (अनूदित, १६०० ई०)
७. महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'कुमारसम्भवसार' (अनूदित, प्रथम ५ सर्ग, १६०२ ई०)
८. रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' ( ६२० ई०)
९. रामनरेश त्रिपाठी का 'मिलन' (१६१७ ई०)
१०. मैथिलीशरण गुप्तजी की 'शकुन्तला' (प्रथम संस्करण, संवत् १६७१ वि०)
११. मैथिलीशरण गुप्तजी का 'किसान' (प्रथम प्रकाशन १६१६ ई०)
१२. रत्नाकर का 'उद्धव शतक' (ब्रजभाषा, १६१०-१६२१ ई० के बीच)
१३. पन्त की 'ग्रन्थि' (१६१७ ई०)
१४. रत्नाकर का 'हरिश्चन्द्र'
१५. सियारामशरण का 'अनाथ' (१६२१ ई०)

लघु प्रबन्ध काव्य—इसके अन्तर्गत पद्य कथाओं तथा आख्यानक रचनाओं का वर्ग है, जिसके अन्तर्गत ये रचनाएँ हैं—

१. किशोरीलाल गोस्वामी का 'सावित्री प्रबोधन' (सरस्वती, जुलाई १९०० ई०)
२. नाथूराम शर्मा 'शंकर' का 'पवित्र रामचरित्र'
३. लोचनप्रसाद पाण्डेय रचित 'मेवाड़ गाथा' की पद्य-कथाएँ
४. लोचन प्रसाद पाण्डेय रचित 'मृगी दुखमोचन'
५. लाला भगवानदीन की 'वीर बालक' और 'वीर क्षत्राणी' की पद्य-कथाएँ
६. नाथूराम शर्मा 'शंकर' का 'वायस-विजय'
७. महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'जम्बुकी-न्याय'
८. प्रसाद के चित्राधार में—'अयोध्या का उद्धार', 'वन-मिलन' और 'प्रेम राज्य'
९. राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की 'वामनावतार' और 'शकुन्तला जन्म'
१०. वियोगी हरि की 'एक पुण्य चरित'
११. महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कविता-कलाप' में चित्रों पर आधारित घटना-प्रधान पद्य-कथाएँ, जिनमें मैथिलीशरण गुप्त की रत्नावली, उत्तरा से अभिमन्यु की विदा, द्रौपदी दुकूल, केशों की कथा, अर्जुन और उर्वशी, भीष्म-प्रतिज्ञा, रामचन्द्रजी का गंगावतरण, द्रौपदी-हरण, दमयन्ती और हंस, कीचक की नीचता आदि रचनाएँ हैं। पूर्णजी द्वारा लिखित—वामन, शकुन्तला-जन्म, रम्भा-शुक-संवाद, गंगा-भीष्म, महाश्वेता, उषा-स्वप्न, आदि रचनाएँ हैं।
१२. कुछ विद्वानों द्वारा आख्यानक गीतियों के रूप में 'रंग में भंग' और 'वीर पंचरत्न' को स्वीकार किया गया है।
१३. इसी लघुप्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत पर्यायबन्ध में लिखी गयी रचनाएँ भी हैं। ये वस्तु-वर्णनात्मक लघुप्रबन्ध सामान्य-विषयों पर लिखे जाते थे। कवि शंकर के 'पावस' और 'निदाघ-वर्णन', राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'वसन्त वियोग', लाला भगवानदीन का 'वसन्त वर्णन', श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा' और 'देहरादून', मैथिलीशरण गुप्त की 'राधाकृष्ण की आँखमिचौनी' और पूर्ण जी का 'दिल्ली दरबार' इसी विधा के अन्तर्गत लिखी गयी रचनाएँ हैं।
१४. पद्यात्मक निबन्धों में द्विवेदीजी की 'विधि-विडम्बना' और 'हे कविते', 'सन्देश', कवि शंकर का 'अविद्यानन्द का व्याख्यान', तथा गुप्तजी की पद्य-प्रबन्ध में संकलित छोटी-छोटी रचनाएँ हैं। बृहत् पद्य-निबन्धों में 'भारत-भारती' प्रमुख है।

काव्य रूपक—द्विवेदीयुगीन काव्य के घटनाप्रधान पद्य-नाटकों में, जिन्हें गीति नाट्य कहा जाता है, प्रमुख रूप से प्रसाद का 'करुणालय' उल्लेखनीय है। सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' भी इसी कोटि की रचना है।

मुक्तक—द्विवेदीयुगीन काव्य में वस्तु-प्रधान मुक्तक की ही प्रधानता रही है। वस्तुनिष्ठ मुक्तकों में कुछ तो मानव, प्रकृति, उत्सव, प्रसंग या दृश्य वर्णन हेतु लिखे गये और कुछ में किसी घटना, कथा या आख्यान का विवरण दिया गया। मुक्तकों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—
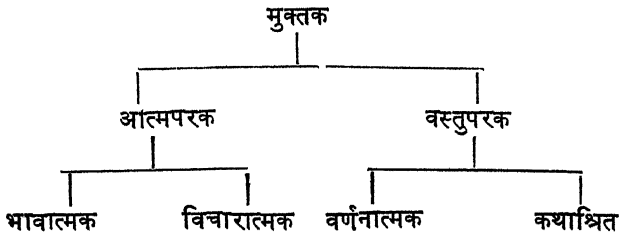
काव्यरूप की दृष्टि से मुक्तक के स्फुट और संयुक्त दो भेद हैं। काव्य-विषय की दृष्टि से मुक्तकों के गीत, प्रगीत तथा उनके भी कई उपभेद, जैसे—उद्बोधन-गीति, सम्बोधन-गीति, शोक-गीति, राष्ट्रीय-गीति, आदि भेद किये गये हैं। कला के आधार पर लोकगीत और कलागीत तथा पद और छन्द के आधार पर कवित्त, सवैया, दोहा शैली, तथा सानेट, रुबाई, आदि भेद होते हैं। संगीत के आधार पर इसके गेय और पाठ्य भेद होते हैं। इसके स्फुट मुक्तक और संयुक्त मुक्तक भेद ही अधिक उपयुक्त समझने चाहिए। पं० रामचन्द्र शुक्ल मुक्तकों को चुना हुआ गुलदस्ता कहते हैं और पं० पद्मसिंह शर्मा उन्हें मीठी रोटी के सदृश सर्वांग मधुर मानते हैं।

द्विवेदीयुगीन काव्य के आरम्भ में मुक्तक लिखे गये, परन्तु खड़ी बोली को कविता की भाषा का रूप देने के कारण उस समय नवीन प्रयोगों की अपेक्षा भाषा-सम्बन्धी प्रयोग ही अधिक हुए। इससे सरल, सीधा, बोलचाल की भाषा में इतिवृत्तात्मक मुक्तक रचनाएँ सामने आयीं और सरस मुक्तकों की अपेक्षा पद्य-प्रबन्धों की ओर अधिक ध्यान दिया गया। द्विवेदी युग में अधिकांशतः मुक्तक रचना हुई और छायावादी युग में अधिकतर प्रगीत लिखे गये। वस्तुपरक दृष्टिकोण के कारण कवियों ने आलोच्य युग में नैतिक और नीतिपरक मुक्तक ही अधिक संख्या में लिखे। व्यक्तिगत अनुभूतियों की

अभिव्यक्ति छायावादी गीति-काव्य में ही हो पायी। द्विवेदी युग में वस्तुपरक मुक्तकों की प्रधानता रही।

वस्तुपरक वर्णनात्मक मुक्तकों के अन्तर्गत प्रकृति, युद्ध, ऐतिहासिक स्थल, समाज आदि के अतिरिक्त 'मेंहदी', चातक', 'चकोर', 'कोकिल', 'कृष्ण' आदि विषयों पर रचना की गयी। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की 'नवल नागरी सुनगरी वर्णन' तथा 'अलका वर्णन', लाला भगवानदीन के 'नवीन बीन' के अधिकांश मुक्तक, कवि 'शंकर' की 'भारतोदय' की षट्पदियाँ, राजा रवि वर्मा के चित्रों पर आधारित और सरस्वती में प्रकाशित कई रचनाएँ मुक्तक काव्य ही हैं। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने स्फुट मुक्तक अधिक लिखे। रायकृष्णदास ने बिहारी से प्रभावित होकर दोहा शैली में नखशिख का वर्णन किया। 'रसकलश' में 'हरिऔध' के दोहे, श्रीधर पाठक के मनोविनोद के दोहे, शंकर की 'वसन्तसेना' का रूप-वर्णन तथा द्विवेदीजी की 'बलीवर्द' जैसी रचना मुक्तक क्षेत्र में काफी लोकप्रिय हुईं। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने विभिन्न ऋतुओं का वर्णन किया, जैसे—वसन्त, पावस, शरद, बीरबहूटी, चातक आदि। भगवानदीन की 'पूर्णिमा की चाँदनी', 'मेघ स्वागत', 'रामगिर्यश्रिम', श्रीधर पाठक की 'वनाष्टक', लाला भगवानदीन की 'आँख' और 'मेंहदी' विषयक फुटकल रचना, हरिऔध का 'आँसू', सनेही की 'क्रान्ति में शान्ति', पूर्ण की 'जीवन की निस्सारता', 'तपस्वी की महिमा', 'संसार की असारता', रूपनारायण पाण्डेय का 'परिवर्तन' आदि उस युग के लोकप्रिय मुक्तक थे।

आत्मपरक मुक्तकों में कुछ भावप्रधान और कुछ विचारप्रधान मुक्तक परिगणित होते हैं। कवि 'शंकर' का 'हे प्रभु मेरी ओर निहार', पूर्ण के 'विनय' और 'आराधना' के पद तथा प्रसाद के 'चित्राधार' में 'आज तो नीके निहारो' और 'ऐसे ब्रह्म लेइ का करिहैं' (पृष्ठ १८६) पद भी आत्मानुभूति-सम्बन्धी मुक्तकों के अन्तर्गत ही हैं। राय कृष्णदास का 'आज ऋतुराज ! तुम सुमन समाज साजि' (ब्रजराज, पृष्ठ १८) पद इस विधा की महत्वपूर्ण रचना है। 'ब्रजराज' के कई पद उल्लेख-योग्य हैं। कहीं-कहीं राजभक्ति और शासकों की प्रशस्ति से सम्बन्धित मुक्तक भी रचे गये, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। कवि 'शंकर' ने 'हमारा अधःपतन' में देश के विगत गौरव का वर्णन किया है।

उपदेशात्मक मुक्तकों में रूपनारायण पाण्डेय के 'कौन कृती कहाते हैं', 'वैद्य', 'स्त्री-शिक्षा' आदि, राय देवीप्रसाद पूर्ण के भक्ति और वेदान्त शीर्षक पद, नाथूराम शर्मा 'शंकर' के 'कर्मवीरता', 'नैसर्गिक शिक्षा', 'समालोचक-लक्षण' आदि उल्लेखनीय हैं। रूपनारायण पाण्डेय के 'आर्य' और 'जाति-सेवक' में

उद्बोधन की प्रधानता है। सनेही की 'सत्य की उपासना', हरिऔध की 'हरिऔध सतसई', राधाकृष्णदास के 'रहीम विलास' तथा पूर्ण की 'अन्योक्ति-विलास' में उपदेशात्मकता पायी जाती है।

आलोचनात्मक मुक्तकों में रूपनारायण पाण्डेय का 'सत्कवि' और 'लज्जा-वती' शंकर की 'समालोचक-लक्षण' तथा द्विवेदीजी का 'ग्रन्थकार-लक्षण' प्रमुख रचनाएँ हैं।

विवेचनात्मक मुक्तकों का विषय कर्म, दर्शन और भक्ति है। 'पूर्ण' का ब्रह्म-विज्ञान और शंकर का 'ब्रह्म विवेकाष्टक' विवेचन-प्रधान मुक्तक हैं।

समस्यापूर्ति के लिए श्रृंगार, उपदेश, नीति और व्यंग्य-प्रधान मुक्तक लिखने वालों में नाथूराम शर्मा 'शंकर' सर्वश्रेष्ठ थे।

द्विवेदी युग का अधिकांश मुक्तक काव्य इतिवृत्तात्मक शैली में लिखा गया है। द्विवेदीजी के स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार, ग्रन्थकार-लक्षण, कर्तव्य पंचदशी, आदि में यही प्रवृत्ति है। इस युग के वर्णनात्मक, कथात्मक, भावात्मक, उपदेशात्मक और आलोचनात्मक मुक्तकों की रचना इतिवृत्तात्मक शैली में हुई है। इनमें वस्तुतत्व की प्रधानता, गद्यात्मकता, और अभिधात्मकता स्पष्टतः पायी जाती है।

प्रगीतात्मक शैली के मुक्तकों के लिए द्विवेदीयुगीन काव्य-भूमि अनुर्वर थी। भगवद्भक्ति और व्यक्तिगत प्रेम को इस युग में प्रधानता नहीं मिल पायी। शंकर और पूर्ण की कुछ विनयपूर्ण रचनाएँ सुन्दर बन पड़ी हैं।

चमत्कार-प्रधान शैली के मुक्तक कम ही लिखे गये। हरिऔध के 'चोखे-चौपदे' तथा 'आँसू' और लाला भगवानदीन के 'मेंहदी' तथा 'आँख' पर रचे गये पद्य इसी शैली के मुक्तक हैं।

विश्लेषणात्मक शैली की रचना 'बलीवर्द' में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने धनी वर्ग पर व्यंग्य किया है। रामचरित उपाध्याय, प्रतापनारायण पुरोहित और 'पूर्ण' ने सुन्दर सूक्तियाँ और अन्योक्तियाँ लिखी हैं।

द्विवेदीजी की 'देवी-स्तुति' स्तोत्र शैली की रचना है।

द्विवेदीयुगीन काव्य में स्फुट मुक्तकों के प्रकार और शैलियों के अध्ययन के पश्चात् द्विवेदीयुगीन काव्य में संयुक्त मुक्तकों का स्थान निर्धारित कर लेना भी आवश्यक है। साहित्य-दर्पणकार ने दो-दो, तीन-तीन, चार-चार, पाँच-पाँच मुक्तकों के समूहों को क्रमशः युग्मक, संदानितक, कलापक और कुलक नाम दिया है।[1] वे गीत, जिनमें एक से अधिक छन्द हैं, संयुक्त मुक्तक ही हैं।

---

१. गुलाबराय, काव्य के रूप, पृ० ११९

डॉ० निर्मला जैन ने 'आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप-विधाएँ' ग्रन्थ में (पृष्ठ ४५२) संयुक्त मुक्तकों को इस प्रकार वर्गीकृत किया है :
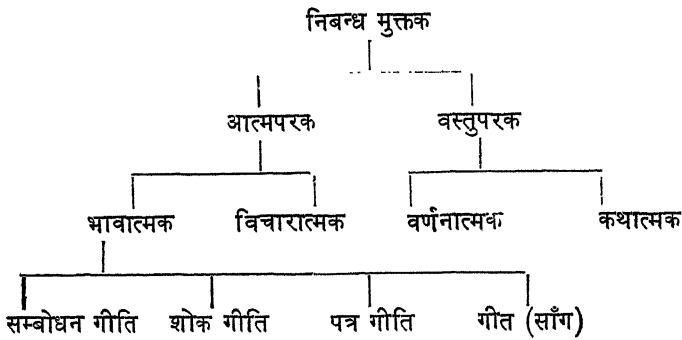
द्विवेदीयुगीन काव्य में वस्तुपरक दृष्टिकोण की प्रधानता थी। वर्णनात्मक कविताओं में राजा रवि वर्मा के चित्रों पर लिखी गयी रचनाएँ, जो सरस्वती में समय-समय पर छपीं और जिन्हें 'शंकर', 'पूर्ण', कामताप्रसाद गुरु, द्विवेदीजी तथा मैथिलीशरण गुप्त ने रचा था, उल्लेखनीय हैं। इनमें नख-शिख वर्णन भी पाया जाता है। कथात्मक मुक्तक लिखने वालों में रूपनारायण पाण्डेय, 'पूर्ण', लाला भगवानदीन, लोचनप्रसाद पाण्डेय, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामनरेश त्रिपाठी और सियारामशरण गुप्त प्रमुख हैं। चित्रों को आलम्बन बनाकर भी कविताएँ लिखी गयीं। लाला भगवानदीन की 'गजेन्द्र गाथा', द्विवेदीजी की 'उषास्वप्न' तथा 'गंगा-भीष्म', रूपनारायण पाण्डेय की 'वनविहंगम' और लोचनप्रसाद पाण्डेय की 'मृगी दुखमोचन' कथात्मक रचनाएँ हैं। रामनरेश त्रिपाठी की 'विधवा का दर्पण' और सियारामशरण गुप्त की 'खिलौना', 'स्वप्नभंग', 'सम्मिलित' आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। भावात्मक संयुक्त मुक्तकों का प्रणयन विशेषकर उत्सवों, पर्वों और समष्टिगत भावना को व्यक्त करने के लिए हुआ। रायकृष्णदास की 'छप्पन की बिदाई' और 'नये वर्ष की बधाई' सरस्वती (मार्च १६०० ई०) में छपी थीं। इसी प्रकार की सामूहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति करने वाली रचनाएँ 'पूर्ण' की 'राजदम्पति को आशीर्वाद' और 'भूप सप्तक' तथा द्विवेदीजी की 'अयोध्या विलाप' आदि रचनाएँ हैं।

## प्रगीत

इस विधा का सम्बन्ध अंग्रेजी की 'लिरिक' शैली से है। प्रगीत गेय काव्य है। प्रगीत एक विशेष प्रकार का गीत (साँग) है, जो गेय होता है। आज

प्रगीतों की श्रेणी में वे गीत भी आते हैं, जो चाहे गेय न हों, परन्तु विशेष वर्ग के—रोमाण्टिक—कवियों द्वारा रचित होते हैं। संगीत-प्रधान और अत्यल्प संगीतमय, ऐसे दो रूप प्रगीतों के हैं। भावना की प्रधानता, आत्म-केन्द्रित दृष्टिकोण, विलक्षण बिम्ब-विधान, संगीत और नादपूर्ण भाषा-शैली आदि प्रगीत की विशेषताएँ हैं। उनकी प्रेरक अनुभूति अखण्ड होती है। उनका आकार संक्षिप्त होता है। उनमें भावात्मक एकतानता होती है। डॉ० निर्मला जैन ने प्रगीत की विशेषताएँ इस प्रकार मानी हैं—

१. वैयक्तिकता, २. अन्तःस्फूर्त अभिव्यक्ति, ३. हार्दिकता या भावमयता, ४. अखण्ड अनुभूति, ५. अन्विति, ६. संक्षिप्त आकार ७. गति-प्रवाह, ८. संगीतात्मकता, ९. कलात्मक शैली, तथा १०. सम्बोधन गीति, शोक गीति, पत्र गीति, गीत और चतुष्पदी आदि प्रगीत-प्रकार होते हैं।

द्विवेदी युग में भावप्रवण गीतियों का प्रणयन प्रारम्भ हो चुका था। १९१४ ई० के पश्चात् ही और उसके आस-पास गुप्तजी, मुकुटधर पाण्डेय और बदरीनाथ भट्ट ने गीत-रचना आरम्भ कर दी थी। छायावादी युग में यह विधा अधिक विकसित हुई। छायावाद में गीति काव्य की ही प्रधानता रही। द्विवेदी-युग के अन्तिम छोर पर माखनलाल चतुर्वेदी की 'कैदी और कोकिला', तथा 'पुष्प की अभिलाषा' गीतियाँ हैं, जो बहुत प्रसिद्ध हुई थीं। सम्बोधन गीति या 'ओड', प्रगीत का ही एक प्रकार है। 'सन्देश काव्यों' और 'दूत काव्यों' के रूप में इसका संस्कृत और हिन्दी में प्रयोग हुआ था। द्विवेदी युग में रूपनारायण पाण्डेय की 'कल्पवृक्ष के प्रति' और प्रसाद की प्रारम्भिक रचनाओं में 'किरण', 'वसन्त', विषाद', 'दीप', 'रूप', आदि तथा निराला की 'जुही की कली' और परिमल में संगृहीत 'यमुना के प्रति', 'वसन्त समीर', 'प्रताप के प्रति' आदि प्रगीत सम्बोधन गीतियाँ हैं। पन्त की पल्लव काल का 'छाया', 'बादल', 'परिवर्तन' आदि रचनाएँ, मुकुटधर पाण्डेय की 'कुररी के प्रति', 'सियारामशरण की 'दूर्वादल' में 'घट' नामक गीति इसी प्रकार की रचना है। हिन्दी की शोकगीतियाँ अँग्रेजी की 'एलिजी' का अनुकरण हैं। द्विवेदीयुगीन काव्य में नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने पं० कुन्दनलाल शाह, अम्बिकादत्त व्यास और गणपति के निधन पर 'वियोग वज्रपात', 'वियोग वज्राघात' और 'गणपति प्रयाण' शीर्षक शोकगीतियाँ लिखी थीं। रूपनारायण पाण्डेय की किसी अबोध बालक के निधन पर लिखी गयी 'दलित कुसुम' रचना अन्योक्तिप्रधान शोकगीति है। कामताप्रसाद गुरु ने ग्रे की एलिजी का 'ग्रामीण विलाप' शीर्षक अनुवाद किया

था। छायावादी काल में निराला की 'सरोज स्मृति', और बापू की मृत्यु पर गुप्तजी द्वारा लिखी गयी 'अंजलि और अर्घ्य' व्यक्तिगत शोक गीतियाँ हैं।

पत्र गीतियों की शैली हिन्दी में माइकेल मधुसूदन दत्त की 'वीरांगना' के माध्यम से आयी। गुप्तजी ने इसी से प्रेरित होकर सात पत्रों की 'पत्रावली' रचना प्रस्तुत की थी।

गीत हिन्दी की लोकप्रिय प्राचीन विधा है। कुछ विद्वान गीत के लिए संगीत का विधान आवश्यक नहीं मानते। लोकगीत और कलागीत उसके प्रमुख भेद हैं। लोकगीत एकान्तिक और आन्तरिक अनुभूति-प्रधान होते हैं। सूर, तुलसी और मीरा के विनय या लीलावर्णन के पद कलागीतों की श्रेणी में आते हैं। परम्परागत रूप से लिखे जाने वाले गेय पद भक्ति-सम्बन्धी थे। 'पूर्ण' का 'सुरपुर होत जय जयकार' सायास रचा गया भक्ति पद है। लाला भगवान-दीन के 'नवीन बीन' में संकलित 'रंगपंचमी' के कृष्ण की फाग तथा क्रीड़ा-विषयक गेय पद उल्लेखनीय हैं। 'पूर्ण', 'शंकर', रूपनारायण पाण्डेय, श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय और वियोगी हरि ने भी इस प्रकार के भक्ति-सम्बन्धी गीत लिखे हैं। द्विवेदीजी के 'जय जय सुभग सुदेश' (द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ ४५४) और रूपनारायण पाण्डेय के 'वन्दे मातरम्' (पराग, पृष्ठ ३६) आदि राष्ट्रीय गीतों पर राष्ट्रीय प्रवृत्ति के अन्तर्गत विचार किया गया है। प्रकृति-विषयक गीत, राष्ट्रीय गीत एवं वन्दनाएँ भी इस युग में लिखी गयीं। द्विवेदी युग में राष्ट्रीय भावना का उन्मेष सबसे अधिक दिखायी पड़ा। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के 'स्वदेशी बारामासी' पर लोकगीतों का प्रभाव सुस्पष्ट है। लोकगीतों में होली, सोहर, चाँचर, कजली और लावनी तथा झूलना का प्रमुख रूप से प्रयोग हुआ। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और रूपनारायण पाण्डेय ने कुछ अच्छी होलियाँ लिखी थीं। श्रीधर पाठक का 'एकान्तवासी योगी' लावनी की लय पर रचा गया काव्य है। द्विवेदीजी की 'सरगौ नरक ठिकाना नाहिं' आल्हा की लय पर लिखी गयी रचना है।

१४ पंक्तियों का सानेट यद्यपि एक विदेशी काव्य-विधा है, परन्तु इसे भी अपनाया गया था। रूपनारायण पाण्डेय को सम्बोधन गीति के समान ही सर्व-प्रथम सानेट या चतुर्दशपदियाँ लिखने का श्रेय प्राप्त है। उनके 'पराग' संग्रह में चार सानेट हैं। पाण्डेयजी की 'चाँदनी रात', 'सर्प और खल' और 'आँसू' तथा प्रसाद की 'प्रसाद संगीत' में संकलित 'रमणी हृदय', 'प्रियतम', 'दीप', 'महाकवि तुलसीदास', 'पाईंबाग' और 'मनुहार' चतुर्दशपदियों के सफल प्रयोग हैं। पाण्डेयजी ने भिन्न तुकान्त सानेट भी रचे थे, जैसे—'छोड़ पुराने पत्र'।

प्रसाद ने भी 'मेरी कचाई', 'हमारा हृदय', 'प्रत्याशा' आदि इसी प्रकार की चतुष्पदियाँ लिखीं।

द्विवेदी युग में बुद्धि-प्रधान, या विचारात्मक संयुक्त मुक्तक लिखे गये। महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'ग्रन्थकारों से विनय' और 'मांसाहारी को हण्टर' उपदेश-प्रधान विचारात्मक रचनाएँ हैं। उस युग के प्रायः प्रत्येक कवि ने उपदेशात्मक रचना लिखी है। द्विवेदीजी की 'ठहरौनी', हरिऔध की 'चेतावनी' तथा 'मर्मस्पर्श' में संगृहीत शिक्षा और पर्व-त्यौहार-विषयक रचनाएँ विचारात्मक रचनाएँ हैं। कुछ व्यंग्य गीतियाँ भी लिखी गयीं, पर उनमें कलात्मकता का अभाव था।

पद्य-संवाद की संयुक्त मुक्तक शैली के अन्तर्गत 'पूर्ण' की 'रम्भा-शुक सम्वाद' (कविता-कलाप, पृष्ठ ७), लाला भगवानदीन का 'शुक-रम्भा संवाद', द्विवेदीजी का 'शहर और गाँव' (द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ ४०९) तथा 'कवि और स्वतन्त्रता' (द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ ४२०) रचनाएँ द्रष्टव्य हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि द्विवेदीयुगीन काव्य युग में छायावादी काव्यतत्त्व भी उभरने लगे थे। इस काल में सभी रचना-विधाएँ प्रयुक्त हो रही थीं। महाकाव्य, खण्डकाव्य, लघुप्रवन्ध, मुक्तक, प्रगीत, गीत आदि अनेक विधाओं में कविता लिखी जा रही थी।

## महाकाव्य की विशेषताएँ

महाकाव्य में महान कथानक की सम्पूर्णता आवश्यक है। उसमें लौकिक या पारलौकिक जीवन की नियोजना, युगानुरूप नवीन सन्देश, वर्णन-सम्बन्धी प्रकरणों की उचित स्थापना तथा मानवीय जीवन के सत्य और आदर्श का समन्वित रूप पाया जाता है। महाकाव्य के सम्बन्ध में पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रकट किये हैं। विश्वनाथ के अनुसार ऐतिहासिक या प्रख्यात कथानक, सर्गबद्ध कथावस्तु, सन्धियों का निर्वाह, धीरोदात्त नायक, शृंगार, वीर और शान्त रसों में से किसी एक की प्रमुखता और अन्य रसों का सहायक होना, चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति, आठ से अधिक सर्ग, सर्गांत में छन्द-परिवर्तन, सज्जन-स्तुति और दुर्जन-निन्दा, सन्ध्या, सूर्य, रजनी, प्रदोष, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, सागर, मुनि, स्वर्ग, पुर, यज्ञ, यात्रा, विवाह, मन्त्रणा, पुत्रोत्पत्ति आदि का सांगोपांग वर्णन, आदि महाकाव्य के लक्षण होते हैं। पश्चिम में अरस्तू, फ्रेंच विद्वान ली वस्सु, लॉर्ड केम्स, हॉब्स, बावरा, एबरक्राम्बी आदि विद्वानों के मतों के आधार पर महाकाव्य के लक्षणों को इस

प्रकार निरूपित किया जा सकता है। महाकाव्य वीरकाव्य है तथा उसमें लोक-विश्रुत और महत्वपूर्ण कथानक होता है। जातीय जीवन का व्यापक चित्रण, असाधारण व्यक्तित्व वाला प्रतिभासम्पन्न नायक, घटना-बाहुल्य, और वर्णन-वैविध्य, ओजपूर्ण भाषा, एक ही छन्द का प्रयोग, गरिमापूर्ण शैली, महान लक्ष्य और शाश्वत जीवन-मूल्यों की नियोजना आदि महाकाव्य के लक्षण हैं। पूर्वी और पश्चिमी मतों की तुलना करने पर कथा-संयोजन, चरित्र-सृष्टि, वर्णन-वैविध्य, छन्द-विधान, गरिमापूर्ण भाषा-शैली, जातीय जीवनादर्श और व्यापक जीवन का चित्रण एवं उद्देश्य की महानता आदि महाकाव्य की सर्वमान्य विशेषताएँ जान पड़ती हैं। भारतीय आचार्यों ने बहिरंग या कला पक्ष पर अधिक बल देते हुए महाकाव्य में रस-निष्पत्ति की आवश्यकता पर वल दिया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल व्यापक और सुसंगठित इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना और संवादों को महाकाव्य के प्रमुख तत्व मानते हैं। डॉ० श्याम-सुन्दर दास ने महाकाव्य की विषय-वस्तु के रूप में आत्मा के उदात्त आशय, सभ्यता या संस्कृति के संघर्ष तथा समाज की उद्वेगजनक परिस्थिति को महत्ता प्रदान की है। डॉ० गुलाबराय, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० प्रतिपालसिंह, डॉ० शम्भूनाथ सिंह, डॉ० गोविन्दराम शर्मा आदि सभी ने अपने-अपने मतानुसार महाकाव्य की विशेषताएँ बतायी हैं। डॉ० देवीप्रसाद गुप्त ने महाकाव्य की यह परिभाषा प्रस्तुत की है—"महाकाव्य वह महत् काव्यरूप है, जिसमें व्यापक कथानक विराट चरित्र-कल्पना, गम्भीर अभिव्यंजना शैली, विशिष्ट शिल्पविधि और मानवतावादी जीवनदृष्टि से उसका रचयिता युग-जीवन के उन्नत बोध के सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर प्रतिफलित करता है। संक्षेप में, श्रेष्ठ महाकाव्य की रचना मानवता के मंगलमय आख्यान और लोक-मानस की चेतना के आकलन का सांस्कृतिक प्रयास होती है।"[१] महाकाव्य की एक सार्वकालिक और सार्वदेशीय व्याख्या नहीं की जा सकती। युग-जीवन की परि-स्थितियों और परम्पराओं के अनुसार उसके रूप की धारणा बदलती रहती है।

द्विवेदी युग में प्रियप्रवास, साकेत (प्रथम पाँच सर्ग) और रामचरित चिन्तामणि महाकाव्य लिखे गये थे। कुछ विद्वान् 'रामचरित चिन्तामणि' को तथाकथित महाकाव्य[२] कहते हुए 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' को ही महाकाव्य का गौरव प्रदान करते हैं।

---

१. डॉ० देवीप्रसाद गुप्त, हिन्दी महाकाव्य-सिद्धान्त और मूल्यांकन, पृ० ३०

२. डॉ० वीणा शर्मा, आधुनिक महाकाव्य, पृ० २८

## प्रियप्रवास

'प्रियप्रवास' सत्रह सर्गों में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा रचित खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है। इसका प्रणयन १५ अक्टूबर, १६०६ ई० को प्रारम्भ हुआ और चार साल के अनवरत परिश्रम के बाद २४ फरवरी, १६१३ ई० को यह समाप्त हुआ। इसे कवि ने पहले 'ब्रजांगना विलाप' शीर्षक दिया था, किन्तु बाद में इसका नामकरण 'प्रियप्रवास' किया। इसमें कृष्ण के अलौकिक चरित्र को लौकिक रूप में चित्रित किया गया है। कवि ने कृष्ण-सम्बन्धी चित्रण में युगानुरूप परिवर्तन कर दिया है। प्राचीन परिपाटी को छोड़कर उसने संस्कृतगर्भित खड़ी बोली और संस्कृत के भिन्न तुकान्त छन्दों में 'प्रियप्रवास' की रचना की है। कृष्ण का सेवा भाव और राधा की सहिष्णुता, त्याग, जनसेवा, आदि प्रवृत्तियाँ इस महाकाव्य की नव्यता हैं। यह सर्गवद्ध रचना है। कृष्ण लोकख्यात धीरोदात्त नायक हैं और विप्रलम्भ शृंगार इसका प्रधान रस है। करुण,वीर, शान्त, वात्सल्य आदि सहायक रस हैं। इसका कथानक श्रीमद्भागवत पर आधारित है। इसमें महाकाव्योचित पाँचों नाटकीय सन्धियों का समावेश नहीं हो सका है क्योंकि इसका कथानक संक्षिप्त है।

**कथावस्तु :** प्रियप्रवास का आरम्भ प्रकृति-वर्णन से होता है :

"दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी कुल-वल्लभ की प्रभा।"[१]

इसी समय कृष्ण गोचारण के उपरान्त सखाओं सहित ब्रज में लौट आते हैं। द्वितीय सर्ग में कृष्ण को कंस के धनुष-यज्ञ में ले जाने के लिए अक्रूर के आगमन की सूचना दी जाती है। इस समाचार से ब्रजवासी दुखी और चिन्तित होते हैं। तृतीय सर्ग में कृष्ण की बिदाई का करुणापूर्ण वर्णन है। इसमें यशोदा का ममत्वमय वात्सल्य भी व्यंजित हुआ है। कृष्ण के रथ के आगे प्रेमविह्वल नर-नारी लेटते जाते हैं। यशोदा की विकलता को देखकर तो :

"रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिस ओस के, नयन से गिरता बहु वारि था।।"

---

१. हरिऔध, प्रियप्रवास, १।१

चतुर्थ सर्ग में राधा-कृष्ण की बाल-लीला, राधा की दुर्वह वेदना और कृष्ण के वियोग में पशु-पक्षियों तक का दुखी होना दिखाया गया है। राधा का विरह-वर्णन मार्मिक बन पड़ा है :

"हृदय चरण में तो चढ़ा ही चुकी हूँ।
सविधि वरण की थी कामना और मेरी।
पर सफल हमें सो है न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाल में जो लिखा है।"

पाँचवें सर्ग में बलराम और कृष्ण की सुधि लेने के लिए नन्द बाबा का मथुरा-गमन, ब्रजवासियों का करुण-क्रन्दन और यशोदा का शोकार्त स्वरूप सफलतापूर्वक अभिव्यंजित हुआ है। छठे सर्ग में कृष्ण के लौट आने के विषय में ब्रजवासियों की पूर्ण उत्कण्ठा दिखायी गयी है। राही, बटोही और कौओं तक से पूछताछ की जाती है। यशोदा शोक-सिन्धु में डूब जाती है। राधा के पास पवनदूत कृष्ण का सन्देश लाता है। ब्रजवासी पेड़ों पर चढ़कर कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा करते रहते हैं। राधा पवन को दूत बनाकर कृष्ण के पास अपना सन्देश भेजती है। सातवें सर्ग में नन्द श्रीकृष्ण को मथुरा में छोड़कर अकेले मर्माहत अवस्था में लौटते हैं। उस समय यशोदा ने अतिशय करुण विलाप किया है, यथा :

"प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है।
दुख जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है॥
अब तक जिसको मैं देख के जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहाँ है॥

(प्रियप्रवास, ७।११)

आठवें सर्ग में कृष्ण के लौटने की सूचना न मिलने पर यशोदा पुत्र-वियोग में पागल-सी हो उठती है। उन्हें नन्द बाबा कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन करते हुए प्रकृतिस्थ करते हैं। परन्तु यशोदा के दुख, निराशा और प्रेम का आधिक्य उमड़ता रहता है। नवम सर्ग में कृष्ण को ब्रज का स्मरण आता है और वे उद्धव को ब्रज में भेजते हैं। दसवें सर्ग में ब्रजवासीजन उद्धव को घेरकर अपनी-अपनी व्यथा-कथा का वर्णन करते हैं। माता यशोदा उद्धव के सम्मुख कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन करती हैं। दसवाँ सर्ग उनके मातृत्व की व्यंजना से आपूर्ण है। ग्यारहवें सर्ग में उद्धव की ओर संकेत करके एक गोप कालीनाग

के दलन तथा दावानल से गौ-गोपों की रक्षा का वृत्त सुनाता है। बारहवें सर्ग में इन्द्र के कोप से वर्षा के समय गोवर्धन धारण करने की कृष्ण-कथा है। तेरहवें सर्ग में कृष्ण का समाज-सेवी रूप चित्रित हुआ है। चौदहवें सर्ग में गोपिकाओं का विरह-निवेदन है। भ्रमर गीत की परम्परा का यहाँ निर्वाह दिखायी देता है। यहीं पर उद्धव-गोपी-संवाद के रूप में निर्गुण और सगुण ब्रह्म की बुद्धिवादी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। पन्द्रहवें सर्ग में एक ब्रजबाला को पुष्पों के माध्यम से विरह-निवेदन करते हुए और व्यंग्य-उपालम्भ देते हुए तथा भ्रमर से वार्तालाप करते हुए छिपे-छिपे उद्धव देखते हैं। सोलहवें सर्ग में उद्धव और राधा का संवाद है, जिसमें राधा का विश्वप्रेम, नवधाभक्ति, सत्यनिष्ठा, सगुण-निर्गुण का स्वरूप, कृष्ण के प्रति सन्देश और उद्धव का राधा की चरण-रज लेकर मथुरा लौटना वर्णित है। सत्रहवें सर्ग में कृष्ण का जरासन्ध के अत्याचारों से द्वारिकावासियों को मुक्त करने के लिए द्वारिका-गमन, दीन-हीनों की सेवा में राधा का समय-यापन, यशोदा का दुख और राधा द्वारा उन्हें धैर्य बँधाना आदि चित्रित हैं। अन्त में कवि का यह कथन है :

"सच्चे सनेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे,
राधा जैसी सदयहृदया विश्व-प्रेमानुरक्ता।
हे विश्वात्मा, भरतभुव के अंक में और आवें,
ऐसी व्यापी विरह घटना किन्तु कोई न होवे॥"

इस प्रकार सत्रह सर्गों में रचित यह महाकाव्य कई वर्णनों से सज्जित है। इसमें श्रीकृष्ण, राधा, नन्द, यशोदा और उद्धव पाँच प्रमुख पात्र हैं तथा बाल-वृद्ध, गोप-गोपियाँ, कंस आदि गौण रूप में चित्रित हैं। कृष्ण के चरित्र में मानवता के चरम विकास की झाँकी अंकित की गयी है। कृष्ण कर्तव्य-पालन में अग्रणी और नेतृत्व करने में पूरे कर्मवीर हैं। उनके जीवन का लक्ष्य है लोकहित। हरिऔध ने कृष्ण के रूप में शक्ति, शील, और सौन्दर्य से सम्पन्न, मानवतादर्श का प्रतीक और लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत व्यक्तित्व रचा है। राधा लोक-सेविका हैं। विरह-विदग्ध रूपों में चित्रित कृष्ण की वह अनन्य उपासिका, ब्रज की आराध्य देवी हैं। हरिऔध ने राधा को मध्ययुगीन चहारदीवारी से निकाल कर आधुनिक युग की सजग और लोकहित से समन्वित नारी के रूप में गढ़ा है। नन्द समष्टि-हित पर न्यौछावर होते रहे हैं। यशोदा वात्सल्य की साकार मूर्ति और ममता तथा करुणा की सजीव प्रतिमा हैं। उद्धव की सृष्टि

लोकसेवा तथा त्याग, तपस्या और विश्वप्रेम का उपदेश देने के लिए की गयी।

प्रकृति का चित्रण आलम्बन, उद्दीपन, संवेदनात्मक, वातावरण-प्रधान, उपदेशात्मक, प्रतीकात्मक, अलंकृत और दूत्यादूती के रूप में हुआ है। यहाँ प्रकृति-वर्णन में नव्यता पायी जाती है।

**रस** : प्रियप्रवास में युग-विशेष की परिस्थितियों, मान्यताओं, और आन्दोलनों का समावेश किया गया है। विप्रलम्भ शृंगार इसका प्रमुख रस है। प्रारम्भ में संयोग शृंगार का वर्णन भी हुआ है। वात्सल्य रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का वर्णन हुआ है। प्रियप्रवास में प्रवासजन्य विप्रलम्भ की प्रमुखता है, जिसमें राधा और गोपियों के वियोग-चित्रण का प्राधान्य है। राधा का विरह-वर्णन प्रियप्रवास के चतुर्थ सर्ग में विशेषतः करुणार्द्र करने वाला है, यथा :

> "क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
> वह रुधिर रहा है कौन-सी कामिनी का।
> विहग विकल हो-हो बोलने क्यों लगे हैं।
> सखि ! सकल दिशा में आग-सी क्यों लगी है।"

यही विप्रलम्भ आगे चलकर करुण रस में पर्यवसित हो जाता है। अन्य रस गौण हैं। कवि ने राधा और कृष्ण के प्रेम में आत्मोत्सर्ग और निष्काम प्रेम-विषयक मनःस्थितियों की नवीन उद्भावना की है। राष्ट्रीय भावों के समावेश द्वारा और विश्वप्रेम की उदात्त कल्पना को प्रकट करते हुए नयी काव्य-प्रवृत्ति का व्यक्तीकरण किया गया है। इस काव्य में मंगलाचरण भी नहीं है।

कलापक्ष की दृष्टि से यह एक अपूर्व कृति है। चित्रोपम भाषा का भावानुकूल प्रयोग इस कृति की विशेषता है। तृतीय सर्ग के प्रारम्भ में 'सुनसान निशीथ' का चित्रण—"सकल पादप नीरव थे खड़े। हिल नहीं सकता एक पत्र था" चित्रोपमता का उदाहरण है। नयी अभिव्यंजना का उदाहरण देखिए, "हा ! वृद्धा के अतुल धन ! हा ! वृद्धता के सहारे"। वर्ण-मैत्री, नाद-सौन्दर्य, लाक्षणिकता का संयोग इस काव्य को चमत्कारपूर्ण बनाता है। लाक्षणिकता का यह उदाहरण है :

> "बहु भयंकर थी वह यामिनी। विलपते ब्रज भूतल के लिए
> तिमिर में जिसके उसका शशी। बहु कला-युत होकर खो चला।"

इसमें कृष्ण के ब्रज से सदा के लिए चले जाने की अभिव्यक्ति की गयी है। समा बाँधना, दिन खोटे होना, हृदय पर साँप लोटना, आदि मुहावरों

का प्रयोग प्रियप्रवास में किया गया है। विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ और बोलचाल की भाषा का भी कवि ने प्रयोग किया है। अभिधा के "दिवस का अवसान समीप था", लक्षणा के "बहु भयंकर थी यह यामिनी" या "विलपते ब्रज भूतल के लिए" तथा व्यंजना के "आई बेला हरि गमन की छा गयी खिन्नता थी" आदि उदाहरण कवि की शब्दशक्ति-निपुणता का परिचय देते हैं। माधुर्य गुण की इस काव्य में प्रधानता है।

**छन्द** : प्रथम सर्ग में द्रुतविलम्बित, द्वितीय में द्रुतविलम्बित, मालिनी और शार्दूलविक्रीड़ित तथा चतुर्थ सर्ग से सत्रहवें सर्ग तक विविध वर्णवृत्तों का प्रयोग हुआ है। कविता सर्वत्र अतुकान्त एवम् अन्त्यानुप्रास-हीन है। कवि ने मन्दाक्रान्ता, वंसन्ततिलका, वंशस्थ और शिखरिणी छन्दों का विशेषत: प्रयोग किया है। वसन्ततिलका, मालिनी और मन्दाक्रान्ता छन्दों का प्रयोग वियोग या विलाप के प्रसंग में उपादेय होता है। कालिदास ने मेघदूत में मन्दाक्रान्ता का प्रयोग ही किया था।

**अलंकार** : प्रियप्रवास में अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक, सन्देह, अपह्नुति, स्मरण, प्रतीप, भ्रान्तिमान, परिकर, परिकरांकुर, विषम, दृष्टान्त, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, विभावना, मानवीकरण आदि अलंकारों का भावानुरूप प्रयोग किया गया है :

श्लेष :

"विपुल धन अनेकों रत्न हो साथ लाये
प्रियतम बतला दो लाल मेरा कहाँ है।
अगणित अनचाहे रत्न ले क्या करूँगी।
मम परम अनूठा लाल ही नाथ ला दो।"

स्मरण :

"मैं पाती हूँ मधुर ध्वनि में कूजने में खगों के।
मीठी तानें परम प्रिय की मोहिनी वंशिका की।"

कवि ने सरल, अलंकृत, गुम्फित एवं क्लिष्ट शैली के यथावसर प्रयोग करके प्रियप्रवास की प्रेषणीयता को बढ़ाया है। कहीं-कहीं उसकी भाषा में संस्कृतनिष्ठता के कारण कृत्रिमता और दुरूहता आ गयी है। फिर भी उसके वर्णन सजीव, सरस और कोमल हैं। इस काव्य में मंगलाचरण, प्रस्तावना, खल-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा आदि काव्य-परम्पराओं को छोड़ दिया गया है। कवि ने सम्पूर्ण कथा को विभिन्न पात्रों के मुख से कहलाया है। हरिऔध का प्रियप्रवास हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों में सर्वप्रथम अवश्य है, पर वह

सफल रचना भी है। भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को इस महाकाव्य में सुरक्षित रखा गया है। आदर्श माता-पिता, आदर्श समाज, आदर्श नेता, और आदर्श प्रेयसी तथा समाज-सेविका, प्रेमी-जन और परिकर की कल्पना, कृष्ण के अवतारी और महापुरुष स्वरूप की स्थापना एवं प्रार्थना, व्रत, पूजा आदि का सन्निवेश प्रियप्रवास के प्रमुख आकर्षण हैं। "वह कब टलता है भाग्य में जो लिखा है" उक्ति में प्रारब्धवाद की झलक है। राष्ट्रीयता, लोकसेवा, अहिंसा, सत्य, आध्यात्मिकता, निर्गुण-सगुण-विचार, नारी की महत्ता, अस्पृश्यता को दूर करने वाली 'दासता' नाम की भक्ति का महत्व, प्रकृति-प्रेम, समन्वय की भावना, आदि आधुनिक युग की अधिकांश विचारणाओं को कवि ने वाणी दी है।

## साकेत

सन् १९१३-१४ ई० में 'साकेत' की रचना प्रारम्भ की गयी थी। प्रथम सर्ग जून, १९१३ ई० में सरस्वती में छपा था। जुलाई, १९१३ ई० की सरस्वती में इसका दूसरा सर्ग, जनवरी, १९१७ ई० में तीसरा सर्ग, मई, १९१७ ई० में चतुर्थ सर्ग और जुलाई, १९१८ ई० में पंचम सर्ग सरस्वती में प्रकाशित हुआ था। १९२९ ई० और १९३१ ई० में 'विशाल भारत' में 'साकेत' के अंश छपे थे और १९३२ ई० में 'साकेत' का पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ था। 'पंचवटी' १९२३ ई० में साकेत के एक सर्ग के रूप में लिखी गयी थी, पर बाद में स्वतन्त्र कृति के रूप में १९२५ ई० में प्रकाशित की गयी। वाजपेयीजी ने साकेत को गुप्तजी की प्रतिनिधि रचना कहा है। यद्यपि साकेत के पाँच सर्ग ही द्विवेदी युग में लिखे गये थे, परन्तु शेष सर्ग भी द्विवेदीजी के प्रभाव में ही रचे गये। इसलिए साकेत को द्विवेदी युग की ही रचना मानना चाहिए।

**कथावस्तु** : जिस रामकथा का सूत्रपात वाल्मीकि रामायण से हुआ और 'रामचरित मानस' तथा 'रामचन्द्रिका' जैसी रचनाएँ लिखी गयीं उसी राम-कथा को लेकर यह कृति भी रची गयी। वाल्मीकि, केशव और तुलसी की रचनाओं के प्रभाव साकेत में मिल जाते हैं। राजस्थानी के कवि बाँकीदास ने साहित्यिकों का ध्यान उर्मिला की ओर आकर्षित किया था। टैगोर और द्विवेदीजी ने भी उर्मिला की उपेक्षा के सम्बन्ध में लेख लिखे थे। साकेत का प्रणयन मूलतः उर्मिला के चरित्र को प्रकाश में लाने के लिए किया गया था। यह बारह सर्गों की सर्गबद्ध रचना है। इसके नायक लक्ष्मण हैं और नायिका उर्मिला है। प्रथम सर्ग में सरस्वती-वन्दना से समारम्भ करके साकेत-नगरी का वर्णन और लक्ष्मण-उर्मिला के प्रेमालाप तथा वाग्विनोद का चित्रण हुआ

है। सर्गान्त में राम के राज्याभिषेक की सूचना दी गयी है। उर्मिला का राम के अभिषेक-चित्र को अंकित करना, लक्ष्मण का चित्र बनाते-बनाते उर्मिला को आलिंगनापाश में बाँधना वर्णित हुआ है। उर्मिला का सौन्दर्य वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि :

"स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला,
नाम है इसका उचित ही उर्मिला।
शील सौरभ की तरंगें आ रहीं।
दिव्य भाव भवाब्धि में हैं ला रहीं॥"

द्वितीय सर्ग में मन्थरा-कैकेयी-प्रसंग का वर्णन हुआ है। मन्थरा ने राम के अभिषेक को एक सुनियोजित षड्यन्त्र कहा है—"नहीं तो यह सीधा षड्यन्त्र, रचा क्यों जाता यहाँ स्वतन्त्र ?" और यह व्यंग्य किया है :

"भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उसे जो गेह।"

जो कैकेयी के मर्मस्थल को बेध गया। कैकेयी ने क्रोधावेश में दशरथ को वर देने के लिए विवश किया और राम के लिए वनवास तथा भरत के लिए राज्य माँग लिया। राजा दशरथ ने वर तो दे दिये, परन्तु तब—"रहे बस अर्ध-जीवित, अर्धमृत से वे"। तीसरे सर्ग में राम और लक्ष्मण कैकेयी के महल में बुलाये जाते हैं। दशरथ अर्ध-चेतनावस्था में कहते हैं कि "विश्वास ने मुझको ठगाया"। कैकेयी को वे क्रोध में कहते हैं कि "मरूँगा मैं तथा पछतायगी तू"। दशरथ की मूर्छा, लक्ष्मण का क्रोध और वनगमन की तैयारी का भी इसी सर्ग में वर्णन हुआ है। चतुर्थ सर्ग में कौशल्या को वनगमन का समाचार मिलता है। कौशल्या दुखी होकर कहती हैं कि "मुझे राम की भीख मिले।" सुमित्रा द्वारा क्षत्राणियों के अनुरूप अन्याय न सहने की गर्जना, कौशल्या द्वारा राम को वन जाने की अनुमति, सीता की राम के साथ जाने की तैयारी, उर्मिला को अयोध्या में छोड़ जाने का लक्ष्मण का संकल्प, सीता का वल्कल-वस्त्र-ग्रहण, उर्मिला की मूर्छा और राम, लक्ष्मण तथा सीता की वनवास हेतु विदा का वर्णन चौथे सर्ग में हुआ है।

पाँचवें सर्ग में वनमार्ग में ग्रामीण नर-नारी से भेंट, प्रजा का विलाप, रथ के आगे लेट जाने वाले प्रजाजन, राम का जन्मभूमि को प्रणाम, तमसा और गोमती पार कर निषादराज से मिलन, गंगापार पहुँचकर भरद्वाज मुनि के आश्रम में प्रवेश तथा चित्रकूट-प्रवास आदि प्रसंगों का वर्णन हुआ है।

षष्ठ सर्ग में उर्मिला की मूर्छा, कौशल्या द्वारा दशरथ को समझाने का प्रयास, सुमन्त्र का अकेले लौटना, दशरथ-मरण और भरत को लाने के लिए दूतों को भेजा जाना निरूपित हुआ है। दशरथ के अन्तिम शब्द अत्यन्त मार्मिक हैं :

"हे जीव चलो अब दिन बीते,
हा, राम राम लक्ष्मण सीते ॥"

सप्तम सर्ग में भरत-शत्रुघ्न का आगमन, भरत की ग्लानि और दुःख, शत्रुघ्न का क्रोध, कौशल्या के पास जाकर दुखी भरत का कथन कि "आ गया मैं गृह कलह का मूल, दण्ड दो, पर दो पदों की धूल", कौशल्या द्वारा भरत को धैर्य बँधाना, दशरथ का दाह-संस्कार घटनात्मक पद्धति में वर्णित है।

अष्टम सर्ग में भरत का चित्रकूट आगमन, कैकेयी का राम को लौट चलने का आग्रह तथा राम का भरत को गले लगाकर यह कहना :

"उसके आशय की थाह मिलेगी किसको।
जनकर जननी ही जान न पायी जिसको।"

रखा गया है। कैकेयी की शोक-संतप्त वाणी का हृदय को चीर देने वाला प्रसंग भी इसी सर्ग में है :

"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को
× × ×
यह सच है तो अब लौट चलो तुम भैया ॥
अपराधिन मैं हूँ तात तुम्हारी मैया ॥
यदि मैं उकसाई गयी भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ ॥
× × ×
युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी।
रघुकुल में थी एक अभागी रानी।
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा।
धिक्कार उसे था महास्वार्थ ने घेरा ॥"

अन्त में भरत राम की चरणपादुका प्राप्त करने में सफल होते हैं। यहीं पर लक्ष्मण का क्षीणकाया 'उर्मिला-रेखा' से मिलन होता है और उर्मिला कहती है कि :

"मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी।
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी।
गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया-पद-तल में,
वह भींग उठी प्रिय-चरण धरे दृग-जल में ॥"

नवम् सर्ग में उर्मिला-वियोग प्रगीत और मुक्तक शैली में वर्णित है। दसवें सर्ग में उर्मिला की बाल्यकाल की स्मृतियाँ, जनकगृह में सीता और उर्मिला की झाँकियाँ और उर्मिला का विरह-वर्णन अभिव्यंजित है।

एकादश सर्ग में अयोध्या के बाहर भरत की कुटी, उनकी तपस्या, माण्डवी और उर्मिला के दुख, राम के चित्रकूट प्रस्थान से लेकर शूर्पणखा के नाक-कान काटे जाने और खर-दूषण-वध तक की घटनाओं की सूचना आदि का वर्णन है। भरत द्वारा संजीवनी-प्राप्ति हेतु आकाश-मार्ग से जाते हुए हनुमान को बाण मारकर नीचे उतारना, संजीवनी देना और हनुमान से सीताहरण, जटायु-संस्कार, कबन्धासुर का वध, शबरी का आतिथ्य, सुग्रीव-मिलन, बालि-वध, अशोक वाटिका में सीता के दर्शन, लंका-दहन, विभीषण की शरणागति, राम-रावण का युद्ध, कुम्भकर्ण वध और लक्ष्मण को शक्ति लगने तक का विवरण दिया गया है। अन्त में हनुमान भरत से संजीवनी लेकर आकाश-मार्ग से लंका लौट जाते हैं।

द्वादश सर्ग में भरत-शत्रुघ्न युद्धस्थल में लंका की ओर प्रस्थान की तैयारी करते हैं। उर्मिला भी जाना चाहती है, परन्तु वशिष्ठ द्वारा सबको शान्त कर मन्त्रबल से लंका का युद्ध देखने की दिव्य-दृष्टि दे दी जाती है। लक्ष्मण की मूर्छा टूटना, पुनः युद्ध, मेघनाद-वध, और अन्त में रावण का वध होता है। राम का अयोध्या लौटना, उर्मिला की प्रसन्नता और लक्ष्मण-उर्मिला का मिलन इसी सर्ग का वर्ण्य विषय है।

साकेत की कथावस्तु का कोमल ताना-बाना, प्रधान पात्री उर्मिला को सम्बद्ध करते हुए और सभी घटनाओं को साकेत में केन्द्रित करते हुए बुना गया है। कुछ विद्वान इसे रामकथा और कुछ इसे लक्ष्मण-उर्मिला की कथा मानते हैं। 'राम का चरित' ही इस प्रबन्ध-काव्य का आधारफलक है। इसकी नव्यता यही है कि यह राम और सीता के स्थान पर परम्परा से हटकर उर्मिला और लक्ष्मण की प्रेम-कथा है। इसमें तुलसी के अवतारवाद के स्थान पर या ईश्वर की मानवता के स्थान पर मानव की ईश्वरता की स्थापना की गयी है। सीता देवी के स्थान पर स्वावलम्बिनी गृहिणी हैं। वे तकली, चरखा, कुदाल और खुरपी चलाती हैं। उर्मिला पहली बार महाकाव्य की नायिका बनती है। डॉ० नगेन्द्र ने साकेत में कई मौलिक उद्भावनाओं की ओर संकेत किया है। पात्रों में तत्कालीन युगानुरूप परिस्थितियों का सम्पूर्ण बोध भी आँका गया है। नारी के चरित्र की महान व्याख्या करना साकेत का लक्ष्य रहा है। उर्मिला और कैकेयी के चरित्र का उद्घाटन करते हुए नारियों की शिक्षा,

कर्तव्य, अधिकार, सेवा, साहस, विधवा-समस्या, आदि विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है। राम मनुष्य हैं, परन्तु उनके ईश्वरत्व की वैष्णव भावना भी कवि के हृदय में भरी हुई है :

"राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए सभी कहीं नहीं हो क्या ?"

साकेत में राम-सीता, उर्मिला-लक्ष्मण, भरत-माण्डवी, शत्रुघ्न-श्रुतकीर्ति, माता-पिता, पुत्र, भाई, भृत्य, मित्र, सहचर, देवर-भाभी, ननद-भाभी, सास-बहू आदि के आदर्श चरित्रों के गठन में गुप्तजी ने कोई कसर नहीं उठा रखी है। साकेत की आधुनिकता "मेरी कुटिया में राजभवन मनभाया" में प्रकट होती है। गुप्तजी के राम—"इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया" कहते हैं। दलितों, दीनों और अल्पसंख्यकों के उद्धार के लिए ही आज का युगपुरुष कार्य करता है और वही काम साकेत के राम करते हैं। आर्य-सभ्यता तथा आर्य-धर्म को वे प्रतिफलित करते हैं। गाँधी का प्रभाव, राष्ट्र-प्रेम की भावना—"भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में, सिन्धु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में" तथा सभी क्षेत्रों में मर्यादा की रक्षा का प्रयास करते हुए गुप्तजी ने भरत और उर्मिला के जीवन-सूत्रों से कथा को जिस नयी वस्तु-योजना द्वारा महाकाव्य का बाना पहनाया है, वह क्रान्तिकारी प्रवर्तन है। उर्मिला को प्रधान पात्र बनाना सामाजिक क्रान्ति की घोषणा भी है।

क्या 'साकेत' महाकाव्यत्व की दृष्टि से पूर्णत: सफल काव्य है ? यह प्रश्न विवादास्पद रहा है। 'साहित्य-दर्पणकार' के मतानुसार इस काव्य में मंगलाचरण है, कथावस्तु लोकख्यात है, आठ से अधिक सर्ग हैं, एक सर्ग प्राय: एक छन्द में लिखा गया है और सर्गान्त में छन्द का परिवर्तन हुआ है (नवम सर्ग को छोड़कर), श्रृंगार रस प्रधान है और अन्य रसों का समावेश है तथा सन्धियाँ, अर्थ-प्रकृतियाँ और कार्य-व्यापार हैं अवश्य, पर ये शिथिल और असन्तुलित हैं। डॉ० शम्भूनाथ ने महाकाव्य के जो आधुनिक लक्षण बतलाये हैं उनके अनुसार उद्देश्य की प्रेरणा, गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व, समग्र जीवन का चित्र, सुसंघटित जीवन्त कथानक, महत्वपूर्ण नायक, गरिमामयी उदात्त शैली, प्रभाव, रस-व्यंजना, जीवनी शक्ति, प्राणवत्ता आदि प्रमुख लक्षण इसमें पाये जाते हैं। इन आधारों पर यह महाकाव्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। समग्र जीवन को व्याप्त न कर सकने वाला चित्रण, कथानक की अनियोजित असम्बद्धता, राम, लक्ष्मण या उर्मिला का सन्देह भरा नायकत्व

तथा गम्भीर, प्रौढ़ और प्रांजल शैली की दुर्बलता और प्राणवत्ता की कमी की दृष्टि से सही अर्थ में 'साकेत' महाकाव्य सिद्ध नहीं होता। यथार्थ में यह महाकाव्य नहीं है, पर महान् काव्य है।

भारतीय संस्कृति की युगानुरूप रक्षा करते हुए कवि ने पात्रों के चरित्र, वेद, जप, तप, यज्ञ, व्रत, उपवास आदि के धार्मिक आदर्शों की स्थापना की है और वर्णव्यवस्था, स्त्रियों का स्थान, अस्पृश्यों का सम्मान आदि का आस्थापूर्ण चित्रण किया है। पारिवारिक आदर्श तथा अन्यान्य वर्णनों के आधार पर साकेत संस्कृति-प्रधान काव्य ठहरता है।

**भाषा** : साकेत की भाषा अत्यन्त शिष्ट और प्रौढ़ है। इसमें खड़ी बोली अपने पूर्ण अधिकार और शक्ति तथा अलंकृति के साथ प्रयुक्त हुई है। द्विवेदी युग में १९१३ ई० से १९३२ ई० तक के भाषा-संस्कार का प्रांजल रूप साकेत में देखने को मिलता है। साकेत में 'प्रियप्रवास' की भाँति अतिरिक्त तत्समता नहीं है। 'अरुन्तुद', 'अपत्य', 'त्वेष' आदि अप्रचलित शब्द भी प्रयुक्त हैं, परन्तु संस्कृत शब्दों को खड़ी बोली के साँचे में ढालकर सामान्यतः सरल बनाया गया है, जैसे—मनोज्ञता, सारल्य, प्रकटित आदि। छोटे-छोटे समास और प्रान्तीय शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों की प्रचुरता, लाक्षणिकता, तथा पात्रानुकूल भाषा के कारण साकेत की पदावली में एक चुम्बकीय शक्ति आ गयी है। तुकों के लल्ली-मल्ली, तत्ती-रत्ती आदि अनुपयुक्त और अनाकर्षक प्रयोगों के कारण काव्य-भाषा को भी धक्का लगा है।

**शैली** : साकेत की शैली प्रवाहमयी है। वह भावों के अनुसार कोमल, मधुर और परुष रूप में प्रयुक्त हुई है। प्रकृति-चित्रण और पात्रों की मुद्राओं के चित्रण में स्वाभाविकता दिखायी देती है।

प्रकृति-चित्रण—

> "वेष-भूषा साज ऊषा आ गयी
> मुख-कमल पर मुस्कराहट छा गयी।"

रूप-चित्रण—

> "तनिक ठिठक, कुछ मुड़कर दायें, देख अजिर में उनकी ओर।
> सीस झुका कर चली गयी वह, मन्दिर में निज हृदय हिलोर।"

और कतिपय ऐसे भावस्थल हैं जहाँ कवि की कला की सफलता स्वीकार करते ही बनती है।

कौशल्या का विधवा रूप इतना स्वच्छ और स्वाभाविक है कि मन पर उसकी सीधी छाप पड़ जाती है :

"जिस पर पाले का एक चित्र-सा छाया,
हत जिसकी पंकज-पंक्ति अचल-सी काया।
उस सरसी-सी, आभरण-रहित, सित-वसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड़ रसना ॥"

ऐसे ही शृंगार, हास्य या करुण रस के भावात्मक स्थल साकेत की शैली की गरिमा हैं।

**अलंकार** : साकेत में अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह, अनन्वय, व्यतिरेक, अपह्नुति, असंगति, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, आदि अलंकारों का जगह-जगह प्रयोग हुआ है।

अनुप्रास :

"जनकर जननी ही जान न पाई जिसको।"

यमक :

"अंगराग पुरांगनाओं के धुले,
रंग देकर नीर में जो हैं घुले।"

विरोधाभास :

"बचकर हाय पतंग मरे क्या ?
प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या ?"

व्यतिरेक :

"करके पहाड़-सा पाप मौन रह जाऊँ।
राई-भर भी अनुताप न करने पाऊँ।"

हेतूत्प्रेक्षा :

"सिकुड़ा सिकुड़ा दिन था सभीत-सा शीत के कसाले से,
सजनी यह रजनी तो जम बैठी विषम पाले से।"

मानवीकरण :

"मेरे चपल यौवन बाल।
अचल अंचल में पड़ा सो, मचलकर मत साल ॥"

विशेषण-विपर्यय :

"शशि खिसक गया, निश्चिन्त हँसी हँस बाँकी ।"

ध्वन्यर्थ-व्यंजना :

"सखि निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल-चंचल
झलमल झलमल तारा ।"

**छन्द** : साकेत में छन्द-योजना प्रसंगानुरूप और अत्यन्त प्रौढ़ है। प्रथम सर्ग में जहाँ लक्ष्मण-उर्मिला का श्रृंगारयुक्त हास-परिहास है, वहाँ पीयूष-वर्षण छन्द है। दूसरे सर्ग में कैकेयी-मन्थरा वार्तालाप के उपयुक्त 'श्रृंगार' छन्द, तीसरे सर्ग में सुमेरु छन्द, चौथे सर्ग के चपल छन्द, छठे में पदपादाकुलक छन्द, आठवें में राधिका छन्द, दसवें में वियोगिनी छन्द, ग्यारहवें में वीर और बारहवें में रोला छन्द के अतिरिक्त नौवें सर्ग में विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया गया है। हिन्दी के लगभग सभी प्रचलित छन्दों का यहाँ प्रयोग हुआ। आर्या, गीति, शार्दूलविक्रीड़ित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुतविलम्बित के साथ-साथ दोहा, सोरठा, घनाक्षरी और सवैया का भी प्रयोग किया गया है।

**रस** : साकेत में श्रृंगार, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त, हास्य आदि सभी रसों का समावेश है। वियोग श्रृंगार में :

"हाय न आया स्वप्न भी और गयी यह रात ।
सखि उडुगन भी उड़ चले, अब क्या गिनूँ प्रभात ?"

राम-वन-गमन, दशरथ-मरण, चित्रकूट-प्रसंग तथा अन्य स्थलों पर करुण रस की सृष्टि कवि ने सफलतापूर्वक की है :

"बस यहीं दीप निर्वाण हुआ ।
सुत विरह-वायु का बाण हुआ ।
धुँधला पड़ गया चन्द्र ऊपर ।
कुछ दिखलायी न दिया भू पर ।।" (साकेत, पृष्ठ १२३)

क्रुद्ध कैकेयी का यह चित्रण देखिए :

"एड़ियों तक आ छूटे केश, हुआ देवी का दुर्गा वेश ।
पड़ा तब जिस पदार्थ पर हस्त, उसे कर डाला अस्त-व्यस्त ।
तोड़कर फेंके सब श्रृंगार, अश्रुमय से थे मुक्ताहार ।
मत्त करिणी सी दलकर फूल, घूमने लगी आप को भूल ।"

हास्य :

"भाभी फिर भी गयीं न आयीं तुम कहीं ।
मध्यभाग की मध्यभाग में ही रहीं ।"

इनके अतिरिक्त अनेकों भावस्थल जहाँ ब्रीड़ा या अन्य भाव हैं, द्रष्टव्य हैं :

ब्रीड़ा :

"हँस सीता कुछ सकुचायीं, आँखें तिरछी हो आयीं ।
लज्जा ने घूँघट काढ़ा, मुख का रंग किया गाढ़ा ।
× × ×
सिमट सी सहसा गयी प्रिय की प्रिया ।
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया ।"

दैन्य :

"मुझे फूल मत मारो
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो ।"

शोक :

"सिहरे प्रभु माँ को देख हुई जड़ रसना ।
हा तात ! कहा 'चीत्कार' समान उन्होंने,
सीता सह लक्ष्मण लगे उसी क्षण रोने ।"

साकेत एक समृद्ध महाकाव्य है । उसमें नवीन काव्य-चेतना है और भारतीय संस्कृति, साहित्य और धर्म की पृष्ठभूमि है । उसमें मानवता की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है । वह द्विवेदी काल की महान कृति है । भाषा को संजीवनी प्रदान करने वाली यह रचना युग-युगों तक खड़ी बोली के विकास-क्रम को स्पष्ट करती रहेगी ।

## रामचरित चिन्तामणि

श्री पं० रामचरित उपाध्याय ने १९२० ई० में 'रामचरित चिन्तामणि' महाकाव्य लिखा । उपाध्यायजी का जन्म सन् १८७२ ई० में गाजीपुर में हुआ था । द्विवेदीजी की प्रेरणा से वे सरस्वती में लिखने लगे थे । उन्होंने राष्ट्र-भारती (१९२२ ई०), देवदूत (१९१८ ई०), देव-सभा, देवी द्रौपदी, भारत-भक्ति (सन् १९१९ ई०), विचित्र विवाह आदि रचनाएँ खड़ी बोली में लिखीं ।

'रामचरित चिन्तामणि' २५ सर्गों में विभक्त महाकाव्य है । कुछ विद्वान इसे 'तथाकथित महाकाव्य' कहते हैं । इसके कथानक का आधार वाल्मीकि रामायण तथा रामचरित मानस है । राम-जन्म, राम-विवाह, राम-वन-गमन,

सीता-हरण, रावण-वध, रामादि का अयोध्यागमन, सीता-परित्याग, लवकुश-जन्म, रामाश्वमेध और राम से लव-कुश का मिलन, आदि घटनाओं के वर्णन पर वाल्मीकि का प्रभाव है। परन्तु जहाँ वाल्मीकि के राम पुरुषोत्तम रूप में चित्रित हैं, वहाँ 'रामचरित चिन्तामणि' में उन्हें 'ईश्वर' माना गया है। कहीं-कहीं अध्यात्म रामायण का भी इस पर प्रभाव दिखायी देता है। राम के चरित्र का विकास सुसंघटित ढंग से नहीं हो पाया है। महाकाव्य सम्बन्धी विशेषताएँ इसके रूप-कलेवर में उपस्थित की गयी हैं। इसमें सर्ग-बन्धादि स्थूल लक्षण से लेकर वृत्त-कीर्तनादि सूक्ष्म लक्षणों तक महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण वर्तमान हैं (रामचरित चिन्तामणि, प्रस्तावना, पृ० २)। परन्तु इसकी कसावट में इतनी शिथिलता है कि इसे महाकाव्य मानने में दुविधा जान पड़ती है।

रामचरित उपाध्याय के पद्य-विधान पर आचार्य द्विवेदीजी का गहरा प्रभाव पड़ा। कवि ने परिपाटीबद्ध काव्यभाषा के स्वरूप से हटकर स्वच्छ और प्रसाद गुणसम्पन्न बोलचाल के रूपों से समन्वित भाषा का प्रयोग किया है। कथा में कल्पना की उड़ान, पदलालित्य या आवेगमयी भाव-व्यंजना तथा विशद वर्णनों को स्थान दिया गया है। प्रथम से तेईसवें सर्ग तक रामजन्म, धनुषयज्ञ, विवाह, वनवास, सीताहरण, युद्ध और राजतिलक आदि की छोटी-बड़ी कथाएँ बड़े पैमाने पर वर्णित करते हुए कहीं-कहीं ही मर्मस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत हो पाये हैं। कथा में सहज और निर्बाध गति विद्यमान है। चौबीसवें सर्ग में लव-कुश की कथा सीता-परित्याग के बाद ही शुरू होती है। इन दोनों प्रसंगों को ग्रथित करने का कवि का कौशल द्रष्टव्य है :

"राज करते थे अवधपुर में अमरपति से सुखी
एक नर भी स्वप्न में भी था नहीं कोई दुखी।
किन्तु दूतों से स्वयं रघुनाथ ने पूछा कभी।"[१]

लवकुश का जन्म और राम से उनका मिलन बहुत संक्षेप में वर्णित है। इसमें सीता का पृथ्वी-प्रवेश और उनका राम से मिलन नहीं दिखाया गया है। पर कथा की पूर्णता का आभास अवश्य हो जाता है। संवादों में न गठन है और न प्रसंगानुरूपता है। सीता-परित्याग के समय राम का यह कथन न कवि की और न समाज की दृष्टि से ही उचित है :

---

१. रामचरित चिन्तामणि, २४वाँ सर्ग, (शचीरानी गुर्टू की 'वैचारिकी' से उद्धृत)

"लक्ष्मण तुम्हें मेरी शपथ है बात खुल जावे नहीं,
जिस भाँति हो कल, गेह से सीता निकल जावे कहीं।
दर्शन तपोवन का उसे भी इष्ट है, इस व्याज से,
उसको निकालो गेह से, मुझको बताओ लाज से ॥"

राम का यह कथन उनके गौरव के प्रतिकूल है। रामचरित चिन्तामणि में भावात्मक वर्णनों का नितान्त अभाव है। वह इतिवृत्तात्मक रचना है। इसके चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता नहीं है। उपाध्यायजी लक्ष्मण को बड़ा शूर-वीर बनाते हैं, पर भरत को चित्रकूट आते देख कर वे कहते हैं :

"अब सीता को कहीं गुफा में तुरत छिपा दें।
शौर्य दिखा दें, राम, भरत को समर सिखा दें।
चिरवर्द्धित निज वैर चुका लें आज भरत से।
कर लें अपना राज्य छीन कर पापनिरत से।"
(रामचरित चिन्तामणि' पृ० ११२)

और दूसरे ही क्षण वे कहते हैं :

"भग चलिए हे राम, यहाँ वे जब तक आवें,
लौट जायेंगे स्वयं हमें यदि देख न पावें ॥"
(रामचरित चिन्तामणि, पृष्ठ ११६)

यह राम काव्य की उदात्तता पर कुठाराघात है। राम के चरित्र को वहाँ बड़ी ठेस लगती है जहाँ (बाईसवें सर्ग, ६३-६४ में) वे रावण-वध के बाद सीता से कहते हैं कि "मैंने रण इसीलिए किया था कि कोई मुझे भीरु न समझे। मैं तुम्हें अपनाकर कलंकित नहीं होना चाहता हूँ। तुम्हें शत्रु ने अपने घर में रख-कर अंक से लगाया है, फिर मैं तुम्हें किस प्रकार रख सकता हूँ।" स्पष्ट है कि इन स्थलों पर वाल्मीकि रामायण का प्रभाव है। परन्तु आज निरपराध पत्नी को इस प्रकार अपमानित करना औचित्यपूर्ण नहीं माना जाता। द्विवेदी युग में जब नारियों के उत्थान का जबर्दस्त आन्दोलन चल रहा था, इस प्रकार का कथन उपयुक्त नहीं है। इसी प्रकार ब्राह्मण के शाप के भय से राम द्वारा शम्बूक का वध किया जाना भी युगानुरूप कार्य नहीं है। सीता राम के विषय में यह कहती हैं :

"पति के बिना कोई सुखद है ही नहीं संसार में।
पति पोत है स्त्री के लिए संसार-पारावार में ॥"[१]

---

१. रामचरित उपाध्याय, रामचरित चिन्तामणि, ६।४७

पर लक्ष्मण सारी परम्पराओं को तोड़कर वनगमन के समय माता-पिता तक को मार डालने को उद्यत हो जाते हैं :

"माता और पिता दोनों को इससे मारूँगा तत्काल।
आज्ञा मिले, देखिये सज्जित है मेरे कर में करवाल।"[१]

और ऐसे ही दशरथ हैं जो विश्वामित्र से कहते हैं :

"मैं बिना राम के स्वप्न में पल भर जी सकता नहीं।
इस हेतु रहेंगे वे जहाँ, बना रहूँगा मैं वहीं।"[२]

प्रकृति के माध्यम से उपदेश देने की प्रवृत्ति, जो द्विवेदी युग की अपनी विशेषता है, रामचरित चिन्तामणि के तृतीय सर्ग के सूर्यास्त वर्णन के प्रसग में, तेरहवें सर्ग के ग्रीष्म और वर्षा-वर्णन के प्रसंग में तथा चतुर्दश सर्ग के शरद-वर्णन के प्रसंग में उदाहृत हुई है :

"काम के वशीभूत जो हैं गिरे,
दोष को देखते वे न अन्धे निरे।
केतकी कण्टकाकीर्ण है देखिए,
भृंग ने प्राण तो भी इसे हैं दिये॥"[३]

प्रकृति का सम्वेदनात्मक मानवीकृत रूप भी द्रष्टव्य है :

"केका केकी केकिनी की भी व्यग्र हुए सब प्राणी।
करुणा भरी सीता की सुनकर रोदन वीणा वाणी॥"[४]

ऋतु, पशु-पक्षी तथा अयोध्या नगरी का वर्णन (१-१-२४) वाल्मीकि रामायण से प्रभावित है। सामान्य नीतियों का परम्परानुसार वर्णन करते हुए 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' नीति को इस प्रकार प्रकट किया गया है :

"वज्र से हा वज्र कटता है सभी हैं जानते,
दुष्टता जब कीजिए तब दुष्ट जन हैं मानते॥"[५]

रामचरित चिन्तामणि में अयोध्या की स्तुति की गयी है।

---

१. रामचरित उपाध्याय, रामचरित चिन्तामणि, ७।६
२. वही, २।३३
३. वही, ३।२६
४. वही, पृ० ३५५
५. वही, १८।५६

रामचरित चिन्तामणि की कैकेयी दशरथ को शठ, निलज, मत बको, लबार, आदि शब्दों द्वारा ताड़ित करती है और राम भरत के विषय में मदव्यसनी और कामिनीप्रेमी विशेषणों का प्रयोग करती है। कुछ नवीन उद्भावनाओं की दृष्टि से (१) रावण को मारीच का उपदेश देना तथा (२) हनुमान द्वारा अशोक-वाटिका में अँगूठी देने से पहले सीता की परीक्षा करना उल्लेखनीय प्रसंग हैं। बाली-राम का संवाद, राम-विलाप, सीता-निर्वासन के समय लक्ष्मण-सीता-संवाद आदि मार्मिक और भावानुकूल स्थल हैं। गोदावरी-तट-वर्णन, ग्रीष्म और वर्षा-वर्णन, तथा जन्मभूमि-वर्णन सुन्दर हैं । उन्होंने संस्कृत के पंडित होने के कारण यहाँ तत्सम शब्दों का विशाल भण्डार खोल रखा है। सौख्य, शौच्य, स्वीय, वेत्रा, क्षाम, वृजिन, तिरस्क्रिया, धिक्कृति, आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है :

"हमें सुधा-सी यह दाख है प्रिया,
वही द्विजों की सहती तिरस्क्रिया।"[१]
"धिक्कृति है मम देह को यदि जीवन धारण।"[२]

'इसका सुठि स्वर्ण समाऽऽनन है'[३] और अनेकों सन्धिज शब्द, जैसे तमोऽवसनान, झंझानिल, शिरच्छेद, वीराम्बा के समान दुरूह प्रयोग आलोच्य ग्रन्थ में दिखायी देते हैं। और भी—

"सावधान हो रहो खलों का कौन ठेकाना।"[४]
"**विरहाग्नि** से **तायी** हुई **जनि** दूसरी पायी हुई।"[५]
"कुछ विषाद नहीं करना सती, **निवसती** बहु तापसियाँ यहाँ"[६]
"**झंकने** लगे दोनों **मनोमन**, मौन हो निज भूल पर।"[७]

तुकों के लिए 'वरसायक थे' की तुक पर 'पायक थे'[८] और 'तोड़वाया'

---

१. रामचरित उपाध्याय, [illegible], पृ० ३१
२. वही, पृ० ३४
३. वही, पृ० ३०
४. वही, पृ० २४
५. वही, पृ० ३२०
६. वही, पृ० ३५२
७. वही, पृ० ३२९
८. वही, पृ० ३८

की तुक पर 'जोड़वाया'[१] जैसे प्रयोग भाषा-शैली में शिथिलता पैदा करते हैं। 'श्यामसुन्दर राम'[२] में 'श्याम' का प्रयोग अनुपयुक्त है। इसी प्रकार सीता के निर्वासन को 'निवासन'[३] कहना अभिप्रेत अर्थ को अस्पष्ट बना देना है। कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ भी हो गया है। अशोक वाटिका में सीता से मिलकर जब हनुमान लौटे तो उन्होंने यह कहा :

"बोला पवनसुत जानकी को साथ में आने कहा,
मेरे विषय में सुन उसे होने लगी शंका महा।
वह युक्ति से बोली "न चलने में मुझे सन्देह है,
पर स्वप्न में भी परपुरुष की मैं न छूती देह है।
बरबस मुझे दशकण्ठ ने जो छू दिया तो क्या करूँ।
परवश पड़ी हूँ, आज तक, सरबस गया, कैसे मरूँ।"[४]

अनेक स्थलों पर कवि ने व्याकरण के नियमों का उल्लंघन भी किया है। कहीं संज्ञा बहुवचन में है तो क्रियाएँ एकवचन में, किसी वाक्य में वही व्यक्ति आप भी है और तुम भी अथवा कारक चिह्नों को मनमाने ढंग से प्रयुक्त किया गया है। इन दोषों के कारण उपाध्यायजी की भाषा साकेत या प्रियप्रवास की भाषा की समता कर पाने में अक्षम है :

"इसलिए वरदान आपने माँगे वैसे।
और तुम्हें क्या राम कभी अप्रिय थे ऐसे॥"

यहाँ 'आपने' और 'तुम्हें' दोनों सर्वनामों का एक ही व्यक्ति के लिए एक ही वाक्य में प्रयोग करके भाषा की कसावट को आघात पहुँचाया गया है। इसी प्रकार 'कहा सबों से', 'सुख करते थे सभी', और 'सम्मानें' में वचन-दोष है। यहाँ सभी से, सुख से रहते थे और सम्मान करें क्रमशः होना चाहिए था। इसी प्रकार 'साथ में आने कहा'[५] के स्थान पर आने के लिए कहा होना चाहिए। 'छिपा भस्म में अग्नि जैसे पड़ा हो',[६] में 'छिपी भस्म में अग्नि', होना चाहिए।

---

१. रामचरित उपाध्याय, रामचरित चिन्तामणि, पृ० ४५
२. वही, पृ० १०
३. वही, पृ० ३५३
४. वही, पृ० २४८
५. वही, पृ० २४८
६. वही, पृ० ११९

उपाध्यायजी ने 'ही' का संज्ञा, विशेषण और क्रिया के साथ उसे जोड़कर सभी, तभी, यही के समान प्रयोग कर दिया है। जैसे 'सुनी रहे हैं', 'एकी क्षुधित मृगेन्द्र', 'कुछी दिनों में' में सुनी को सुन ही के स्थान पर और एकी तथा कुछी को क्रमशः एक ही तथा कुछ ही के स्थान पर प्रयुक्त किया गया है। कई स्थलों पर न्यूनपदत्व दोष, और दूरपदान्वय दोष भी पाये जाते हैं। उपाध्यायजी की भाषा गद्यात्मक अधिक है। कहीं-कहीं प्रियप्रवास जैसी तत्समता भी रखी गयी है :

"अधिग्रस्ता यदपि अबला दुःखिता क्षीणपुण्या,
मैं हूँ विद्याविभव-विकला, अस्मि-प्राणावशिष्ठा ॥"[१]

कवि ने कुछ स्थलों पर मुहावरों का अच्छा प्रयोग किया है, जैसे :

"तेरे बिना राम को वन में कर को मलना होगा।"[२]
"तात ! सीधी अँगुली से घी निकलता है कहीं।"[३]
"ईंट का तो उपल जग में एक ही है जवाब।"[४]

उपमा, उत्प्रेक्षा, तुल्योगिता, प्रतीप, उल्लेख, प्रत्यनीक, विभावना, अतिशयोक्ति अपह्नुति, उदाहरण, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों के रूढ़िवादी प्रयोगों में कलात्मक सौन्दर्यबोध का अभाव पाया जाता है।

अर्थान्तरन्यास का उदाहरण देखिए :

"चम्पक वन में युक्ति भ्रमर की कभी नहीं चल सकती है।
यत्न वृथा है कभी तुहिन से नहीं आग जल सकती है।"

एकाध स्थल ही ऐसे हैं जहाँ क्रिया-व्यापार के साम्य के आधार पर सटीक उत्प्रेक्षा या उपमा भाषा को चित्रमय बना सकी है :

"मानो पुराने हंस को है श्येनिका घेरे हुए,
मानो जरठ गजराज को है सिंहिका घेरे हुए।"[५]

वर माँगते समय कैकेयी को श्येनिका और सिंहिका तथा दशरथ को पुराना हंस और जरठ गजराज के उपमानों से अलंकृत करते हुए संश्लिष्ट चित्र रचा गया

---

१. रामचरित उपाध्याय, रामचरित चिन्तामणि, पृ० २३९
२. वही, पृ० १५३
३. वही, पृ० २६६
४. वही, पृ० २४५
५. वही, पृ० ६८

है। कैकेयी की बात को "कनक की छूरिका उर में लगे विष में पगी"[1] कह कर उसके कथन का विषैलापन सिद्ध किया गया है। बालि को द्वारा राम को 'अनूठे तपस्वी' कहलाना व्याज-स्तुति का उदाहरण है। सीताहरण के पश्चात् राम के विलाप करने पर लक्ष्मण का उन्हें "पुरुषोत्तम पुरुषार्थ कीजिये दैन्य दूर कर" कहना 'पुरुषोत्तम' शब्द के लक्ष्यार्थ द्वारा राम को मर्यादाओं में रहने का संकेत देता है। इसी प्रकार :

"सिंह-सुता क्या कभी स्यार से प्रेम करेगी ?
क्या पर नर का हाथ कुलस्त्री कभी धरेगी ?"

में पहली पंक्ति उपमान वाक्य है और दूसरी पंक्ति उपमेय वाक्य है। यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। इस प्रबन्ध काव्य में अनुप्रास, यमक और श्लेष की बहुतायत है। इसके सम्वादों में पुनरुक्ति और काकु का प्रभाव लक्षित होता है। कवि की उपमाएँ प्राचीन और परम्परागत हैं और उसकी शैली अलंकृत है। कुछ स्थलों को छोड़ कर उसकी भाषा में बासीपन पाया जाता है। सम्वादों में वाग्वैदग्ध्य के कारण कहीं-कहीं शब्द-शक्ति-चमत्कार भी है। कहावतें और मुहावरे भाषा को सजीव बना देते हैं। रसानुकूल काव्य-गुण भी प्रयुक्त हुए हैं। पूरा काव्य प्रसाद गुणसम्पन्न है। वीर, वीभत्स और रौद्र रस में ओज गुण और करुणापूर्ण स्थलों में माधुर्य गुण का विधान किया गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पं० रामचरित उपाध्याय कृत 'रामचरित चिन्तामणि' को द्विवेदीयुगीन महाकाव्यों की अग्रिम पंक्ति में नहीं रखा जा सकता। ब्रजभाषा के मोह के कारण इस काव्य में परम्परावादी प्रयोगों की बहुलता है। १९२० ई० में खड़ी बोली की क्षमता, परिनिष्ठितता और व्यंजक शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी। परन्तु उपाध्यायजी इसकी रचना में समय से पिछड़ गये। इसलिए यह महाकाव्य 'तथाकथित' की कोटि में जा पड़ा।

डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप और विकास' में महाकाव्यों पर विचार करते हुए लिखा है कि रामचरित चिन्तामणि द्विवेदी युग के उन महाकाव्यों में से है, जिनमें महाकाव्यों के लक्षणों का निर्वाह होते हुए भी दृष्टिकोण और रूपशिल्प में कोई मौलिकता और नवीनता नहीं है। शास्त्रीय लक्षणों के निर्वाह का मोह जकड़े हुए है तथा 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' ऐसे महाकाव्यों में से हैं, जिनमें शैली की युगानुरूप नवीनता और दृष्टिकोण की मौलिकता होते हुए भी महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का

---

१. रामचरित उपाध्याय, रामचरित चिन्तामणि, पृ० १०४

निर्वाह करने का भी मोह बना रहा है तथा जिन पर मधुसूदन दत्त के मेघनाद-वध और विरहिणी-ब्रजांगना की प्रेरणा या छायावादी काव्यधारा की विद्रोही व्यक्तिवादी और प्रगीतात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव रहा है।

## खण्ड काव्य

यथार्थ में खण्ड काव्य महाकाव्य का ही एक रूप है। यह महाकाव्य की अपेक्षा आकार में छोटा काव्य-रूप है या लघुप्रबन्ध है। साहित्य-दर्पणकार खण्ड काव्य को 'काव्य' का ही एक देशानुसारी मानते हैं। इसकी कथावस्तु में एक तीव्रता या लक्ष्य की ओर बढ़ने की त्वरा होती है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने महाकाव्य और खण्ड काव्य के बीच के काव्यरूप को एकार्थ काव्य कहा है। महाकाव्य में जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण होता है, पर खण्ड काव्य में उसका एक पक्ष ही निरूपित किया जाता है। महाकाव्य जिस व्यक्ति से सम्बन्धित होता है, वह जातीय प्रतिनिधि होता है। उसका कथानक आठ से अधिक सर्गों में बँधा होता है और कथा सन्धियों में विभाजित होती है। खण्ड काव्य बड़ा होने पर एकार्थ काव्य बन जाता है और वह भी वृहत् होकर महाकाव्य बनता है। खण्ड काव्य में एक ही रस प्रधान होता है, पर अन्य रस सहायक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसमें नैसर्गिक और मानवीय प्रकृति के रूपों का चित्रण होता है। एक ही छन्द प्रायः प्रयुक्त होता है। कथा सीधी-सादी और वर्णन प्रवाहपूर्ण होता है। इन्हीं के आसपास आख्यानक गीति भी हैं, जिनमें पद्यबद्ध कथा मात्र होती है और वीरता या प्रेम का प्रवाहपूर्ण शैली में वर्णन होता है।

१९०५ ई० में मैथिलीशरण गुप्त का हिन्दी में आगमन हुआ। उनके 'रंग में भंग' (१९०९), 'जयद्रथवध' (१९१०), 'शकुन्तला' (१९१४) और 'किसान' काव्य (१९१६) विशेष रूप से खण्ड काव्य की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'रंग में भंग' का मूल स्रोत राजस्थानी गाथाओं पर आधारित है, 'जयद्रथ-वध' का आधार महाभारत है, 'शकुन्तला' का आधार अभिज्ञान शकुन्तलम् है और 'किसान' का आधार किसानों की तत्कालीन दुर्दशा है।

## रंग में भंग (१९०९ ई०)

**कथावस्तु** : 'रंग में भंग' की कथावस्तु के दो भाग हैं। प्रथम भाग में गैनोली-नरेश वरसिंह की पुत्री का अपने पति की लाश के साथ चिता में जीवित जल जाना वर्णित है :

> "ग्रहण जो पति ने किया था कल अतीव उमंग से,
> और पीला आज भी जो था हरिद्रा रंग से।

वह उसी कर से स्वपति का शीश रखकर गोद में,
मिल गयी चन्दन चिता के ज्वाल-जालामोद में।"[१]

यहाँ कथा समाप्त हो गयी थी परन्तु कवि ने एक नयी कथा के साथ इस कथा को जोड़कर उसे बढ़ा दिया है। खेतल राणा की वीरगति और मंडप में ही युद्ध करते-करते अपने ही श्वसुर पक्ष के लोगों के हाथों मारे जाने की खबर से दुखी होकर नये राणा लाखा ने प्रतिज्ञा की है :

"दुर्ग बूँदी का स्वयं तोड़े बिना जो अब कहीं—
ग्रहण अन्नोदक करूँ तो मैं प्रकृत क्षत्रिय नहीं।"[२]

राणा बिना अन्नजल के तो चल बसेंगे। इसलिए 'कृत्रिम बूँदी का दुर्ग' तोड़ने की युक्ति निकाली गयी। राणा का भृत्य वीर हाड़ा कुम्भ, जो आखेट से लौटा ही था, इस तरह अपनी जन्मभूमि बूँदी के किले का, चाहे वह नकली ही क्यों न हो, तोड़ा जाना न सह सका। मातृभूमि का अपमान उसे असह्य हो उठा :

"पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न नीर समीर से,
मैं समर्थ हुआ सभी विध रह विरोग शरीर से।
यदपि कृत्रिम रूप में वह मातृभूमि समक्ष है
किन्तु लेना योग्य क्या उसका न मुझ को पक्ष है।"[३]

इस कृत्य से राणा को रोकते हुए वह कहता है :

"प्राण बेचे हैं तुम्हें बेचा न मैंने मान है,
धर्म के सम्बन्ध में नृप और रंक समान हैं।"[४]
× × ×
"स्वर्ग से भी श्रेष्ठ जननी जन्मभूमि कही गयी,
सेवनीया है सभी की वह महा महिमामयी।
फिर अनादर क्या उसी का मैं खड़ा देखा करूँ।
भीरु हूँ मैं क्या अहो, जो मृत्यु से मन में डरूँ ?"[५]

उस नकली किले को ही मातृभूमि मानकर वीर कुम्भ ने राणा के साथ युद्ध किया और वह वीरगति को प्राप्त हुआ।

---

१. गुप्तजी, रंग में भंग, पृ० २२
२. वही, पृ० २४
३. वही, पृ० २६
४. वही, पृ० ३१
५. वही, पृ० ३२

इस काव्य में, १९०९ ई० के आसपास जो निर्दोष भाषा लिखी गयी वह एक बड़ी बात थी। कथावस्तु में वस्तु-चित्र ही मुख्य है। इस कथा में केन्द्री-करण का अभाव है। दो कथाओं को यहाँ संग्रथित कर दिया गया है। यहाँ काव्य-रूप की अपेक्षा काव्य के विषय पर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

**चरित्र-चित्रण** : रंग में भंग के पात्र वरसिंह, लालसिंह, खेतल राणा, वरसिंह की पुत्री, बारूजी आदि हैं। वरसिंह की पुत्री का मण्डप में ही विधवा होना और उसके चतुर्दिक् घूमती हुई कथा के उभार से पहले उसका चरित्र और बाद में वीर कुम्भ का चरित्र आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। प्रथम में श्रृंगार, वीर और करुण रस और दूसरे में वीर रस का प्राधान्य है। इन चरित्रों के निर्माण में कवि ने राष्ट्रीय भावना का सहारा भी लिया है। १९०५ ई० का बंगभंग और तत्सम्बन्धी आन्दोलन की तीखी हवा १९०९ ई० में जोर से बह रही थी। गुप्तजी ने तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन की झलक भी दिखा दी है :

"स्वर्ग से भी श्रेष्ठ जननी जन्मभूमि कही गयी।"[१]

× × ×

"मातृभूमि पवित्र मेरी पूजनीया जानिए।"[२]

× × ×

"मृत्यु माता की जगत में सह्य हो सकती किसे।"[३]

वरसिंह की पुत्री का पति को ईश्वर मानना भारतीय संस्कृति की एक विशेषता है :

"आर्य कन्या मान लेती स्वप्न में भी पति जिसे,<br>भिन्न उससे फिर जगत में और भज सकती किसे ?"[४]

× × ×

"सेवनीय सदैव पति ही नारियों का ईश है।"[५]

परिवार, समाज, राज्य, शासन तथा युद्ध का चित्रण करते हुए गुप्तजी ने जीवन के विभिन्न पक्षों का वर्णन किया है। मानापमान की भावना से विनाश

---

१. गुप्तजी, रंग में भंग, पृ० ३२

२. वही

३. वही

४. वही, पृ० २२

५. वही, पृ० २०

तक जाने वाली क्षत्रिय परम्परा का अभिधात्मक वर्णन भी द्रष्टव्य है। अपने धर्म की रक्षा करती हुई पुत्री सती हो गयी। मातृभूमि की रक्षा करते हुए वीर कुम्भ वीरगति को प्राप्त हुए। अपनी काव्यचातुरी को अपमानित पाकर सुकवि बारूजी ने अपने हाथों अपना ही सिर कलम कर दिया। जब लालसिंह ने बारूजी से कहा कि :

"विज्ञ होकर भी अहो! तुमने भला यह क्या किया ?
चाटुकारी में वृथा गौरव समस्त गमा दिया।"[१]
× × ×
"सत्य ही क्या दूसरा दानी न राना-सा कहीं।"[२]
× × ×
"बाण से भी वचन का होता भयंकर घाव है।
तब उन्होंने शीश अपना काट डाला आप ही।"[३]

**शिल्प :** इस काव्य में वीर, श्रृंगार, करुण और रौद्र रसों की व्यंजना हुई है। वर्णनात्मकता और अभिधा विशिष्ट पदावली का ही यहाँ साम्राज्य है। इसकी भाषा में सरलता है और बोलचाल की खड़ी बोली का अच्छा प्रयोग हुआ है :

"तब तुरन्त विवाह की होने लगी तैयारियाँ।"
× × ×
"उस विशाल बरात का वैभव बताना व्यर्थ है।"
× × ×
"वर समेत बरातियों ने वीर-गति पायी वहाँ।"

सीधे-सादे वर्णनात्मक चित्रणों के अतिरिक्त यह शैली भी द्रष्टव्य है :

"लालसिंह नरेन्द्र के सम्पूर्ण सद्गुण-संयुता,
थी हिमाचल-नन्दिनी-सी एक अति प्यारी सुता।
ज्यों अलौकिक रूप में थी वह विशेष प्रभावती,-
थी विदित त्यों ही सुहृदया शील-र्स्फूर्ति, महामती।"[४]

इस प्रकार के संस्कृतनिष्ठ पद बहुत कम लिखे गये। अनुप्रास, उपमा, रूपक,

---

१. गुप्तजी, रंग में भंग, पृ० ११
२. वही, पृ० १३
३. वही, पृ० १४
४. वही, पृ० ४

उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति, उदाहरण आदि अलंकार ही विशेष रूप से यहाँ प्रयुक्त हुए हैं :

"बैठ चित्र विचित्र चंचल जलधरों पर जगमगे।
चन्द्रयुत नक्षत्र मानो भू-भ्रमण करने लगे।"

बारात के चलने के दृश्य में अनुप्रास और उत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इस काव्य में स्वभावोक्ति अलंकार का विधान अनेक स्थलों पर हुआ है :

"लोक शिक्षा के लिए अवतार है जिसने लिया,
निर्विकार निरीह होकर, नर सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका, सर्व मंगल काम है,
प्रथम उस सर्वेश को, श्रद्धा समेत प्रणाम है।

संक्षेप में रंग में भंग एक सफल किन्तु साधारण खण्ड काव्य है। इसकी कथावस्तु सदोष है और हरगीतिका छन्द में यह रचा गया है।

**रस**

श्रृंगार रस :

"हो चुका श्रृंगार जब पूरा यथोचित रीति से,
ले चलीं वर के निकट सखियाँ उसे तब प्रीति से।
ललित लज्जाभार से ग्रीवा रुचिर नीची किये,
मन्दगति से वह गयी अवलम्ब उन सबका लिये।"[१]

वीर रस :

"रुण्ड मुण्ड अनेक कटकर भूमि पर गिरने लगे।"[२]

रौद्र रस रस :

"भूप और न सह सके तब मौन होकर रह गये।
और अपने रोष की ज्वाला किसी विध सह गये।
किन्तु उनके मद्य से कुछ-कुछ अरुण लोचन बड़े।
लाल-लाल हुए यथा दो लाल जलजों में जड़े।"[३]

---

१. गुप्तजी, रंग में भंग, पृ० ६
२. वही, पृ० १५
३. वही, पृ० १३

करुण रस :

"बात भी अब तक न जिससे थी हुई अनुराग में,
यों उसी के साथ जीवित जल गयी वह आग में।"[१]

× × ×

"तात अन्तःकरण मेरा जल गया है ताप से
मैं महाहतभागिनी हूँ पूर्वकालिक पाप से।
हो गयी मेरे दृगों की दृष्टि आज अदृष्ट है,
हाय मेरा नष्ट जीवन कष्ट से आकृष्ट है॥"[२]

यहाँ केवल रसानुरूप वर्णनात्मकता का आभास भर मिलता है। विप्रलम्भ के अन्तर्गत जड़ता का उदाहरण देखिए :

"नारियाँ रनिवास में सब रो रही थीं शोक से,
किन्तु बैठी मौन थी वह भिन्न हो ज्यों लोक से।"[३]

भाव-सन्धि का ऐसा उदाहरण जहाँ दो भावों का समचमत्कारक संयोग द्रष्टव्य है :

"पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न नीर समीर से,
मैं समर्थ हुआ सभी विध रह निरोग शरीर से।
यदपि कृत्रिम रूप में वह मातृभूमि समक्ष है,
किन्तु लेना योग्य क्या उसका न मुझको पक्ष है।"[४]

यहाँ मातृभूमि-विषयक रति और उसकी रक्षा का उत्साह दोनों ही व्यंजित हुए हैं :

"ज्ञात होता था कि मानो मूर्ति रक्खी है वहाँ,
जल गया अन्तःकरण जब फिर भला आँसू कहाँ।"[५]

उक्ति में पति की मृत्यु के पश्चात् विषाद में डूबी राजपुत्री का मूर्तिवत् रूप चित्रित हुआ है।

इस काव्य में संचारी भाव तथा अनुभाव भी वर्णित हैं। कुछ स्थलों पर सम्वाद रखे गये हैं, परन्तु उनमें मात्र वर्णनात्मकता है। पात्रों की स्थिति और

---

१. गुप्त जी, रंग में भंग, पृ० २२
२. वही, पृ० २१
३. वही, पृ० १७
४. वही, पृ० २९
५. वही, पृ० १७

स्वभाव के अनुरूप भाषा में उतार-चढ़ाव नहीं पाया जाता। रंग में भंग का शैली-शिल्प और कथासंगठन सुनियोजित है।

## जयद्रथ वध (१९१० ई०)

द्विवेदी युग के महत्वपूर्ण पौराणिक कथाकाव्यों में 'जयद्रथ वध' का विशेष महत्व है।

**कथावस्तु :** इसकी कथावस्तु महाभारत के द्रोणाचार्यकृत दुर्भेद्य चक्रव्यूह-विषयक घटना-व्यापार पर आधारित है। अर्जुन के सिवाय यह महत् कार्य कोई कर नहीं सकता है। अभिमन्यु जान-बूझकर मृत्यु का वरण करने की तैयारी में लग जाता है। उसे चक्रव्यूह को तोड़कर भीतर प्रवेश करना तो मालूम है, पर उससे बाहर निकलना नहीं मालूम है। अतः उसकी मृत्यु निश्चित ही थी पर अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु की इस परमवीरता से उसकी श्रेष्ठता ही प्रकट हुई। लव-कुश का आदर्श उसके सामने था। उत्तरा दुखी और शंकित है, अतः वह कहती है 'हे उत्तरा के धन रहो तुम उत्तरा के पास ही'। परन्तु अभिमन्यु सारे मोह-बन्धनों को तोड़ कर चक्रव्यूह का खण्डन करता है। व्यूह के द्वार पर जयद्रथ था, जिसने अन्य योद्धाओं को अपने साथ लेकर अभिमन्यु पर अन्यायपूर्वक आघात किया। अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि 'मारूँ जयद्रथ को न कल मैं तो अगिन में जल मरूँ।' उसे कृष्ण की सहायता मिलती है। उनकी कृपा से अर्जुन को पाशुपत अस्त्र प्राप्त हो जाता है। जयद्रथ सूर्यास्त तक स्वयं को छिपाये रखने की युक्ति सोचता रहता है। कृष्ण सब जानते हैं और सुदर्शन चक्र से सूर्य को ढँककर वे छिपे हुए जयद्रथ को बाहर निकाल लाते हैं। अर्जुन सन्ध्या को देख कर चिन्तित होते हैं :

> "लेकर उन्होंने श्वास ऊँचा वदन नीचा कर लिया।
> संग्राम करना छोड़ कर गाण्डीव रथ में रख लिया।"

परन्तु यह तो नकली शाम थी। जयद्रथ बाहर आ जाता है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं 'हे पार्थ प्रण पालन करो, देखो अभी दिन शेष है' और तत्काल अर्जुन जयद्रथ को मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करते हैं।

**चरित्र-चित्रण :** अभिमन्यु अकेले ही युद्ध में सात-सात महारथियों से घिरकर और लड़ते हुए निःशस्त्र हो जाने पर भी लड़ता रहता है। वह अन्यायपूर्वक मारा जाता है। लड़ते समय 'घुसने लगे सब शत्रुओं के बाण उसके गात में,' फिर भी वह अपने सामने लव-कुश का आदर्श रख कर अद्भुत शौर्य का परिचय देता है। उसके अन्तिम शब्द बड़े करुणार्द्र हैं :

"हे तात ! हे मातुल ! जहाँ हो है प्रणाम तुम्हें वहीं,
अभिमन्यु का इस भाँति मरना भूल मत जाना कहीं ।"

उत्तरा की कर्त्तव्य-परायणता का सूचक आदर्श वाक्य तो यही था कि :

"क्षत्राणियों के अर्थ भी सब से बड़ा गौरव यही,
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिए जो आप ही ।"

वह यह नहीं कहती कि अभिमन्यु शत्रु से न लड़े, परन्तु अपशकुन होने पर वह कहती है, 'हे उत्तरा के धन रहो तुम उत्तरा के पास ही ।' यह उसकी कमजोरी नहीं थी, बल्कि पत्नी की स्वाभाविक मनःस्थिति थी । अभिमन्यु-वध के पश्चात् उत्तरा का विलाप अत्यन्त मार्मिक है :

"चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानो रह गयी हत उत्तरा ।
संज्ञारहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पड़ी ।"[१]

पति के शव को अपनी गोद में रखकर उसका विलाप करना गहन दुख को प्रकट करने वाला है :

"फिर पीट कर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई,
कुररी सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई ।"[२]

अभिमन्यु के वीर गति प्राप्त करने के बाद उत्तरा शोकविह्वल होकर कहती है :

"हे कष्टमय जीवन ! तुझे धिक्कार बारम्बार है ।"

× × ×

"हे प्राण ! फिर अब किसलिए ठहरे हुए हो तुम अहो ॥"[३]

उत्तरा का विलाप ही जयद्रथ-वध खण्ड काव्य का सर्वाधिक मर्मस्पर्शी अंश है । अभिमन्यु का युद्धोत्साह और अर्जुन का कोप सुन्दर स्थल हैं । परन्तु उत्तरा-विलाप का प्रसंग ही श्रेष्ठ है । उसका शोक अनुभूति-व्यापार है :

"प्राणेश शव के निकट जाकर चरम दुख सहती हुई,
वह नव वधू फिर गिर पड़ी 'हा नाथ ! हा !' कहती हुई ।"[४]

---

१. गुप्तजी, जयद्रथ-वध, पृ० २१
२. वही, पृ० २२
३. वही, पृ० २२
४. वही, पृ० २१

अभिमन्यु की मृत्यु पर युधिष्ठिर के इस आत्मोद्गार को भाव-शबलता की कोटि में रखा जा सकता है :

"धीरज धरूँ हे तात कैसे ! जल रहा मेरा हिया,
क्या हो गया यह हाय ! सहसा दैव ने यह क्या किया ।
जो सर्वदा ही शून्य लगती आज हम सब को धरा,
जो नाथहीन अनाथ जग में हो गयी है उत्तरा,
हूँ हेतु इसका मुख्य मैं ही, हा ! मुझे धिक्कार है,
मत धर्मराज कहो मुझे, यह क्रूर जन भू-भार है ।।"

इस अंश में विषाद, तर्क, स्मृति, निर्वेद, और क्षोभपूर्ण आत्म-निन्दा, आदि कई भाव एक के बाद एक व्यंजित होते गये हैं । उत्तरा प्रलाप करती है और मृत अभिमन्यु को देखकर कहती है :

"मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रन्थिबन्धन साथ में
मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में,
मैं हूँ वही जिसको किया था विधिविहित अर्धांगिनी,
भूलो न मुझको नाथ हूँ मैं अनुचरी चिरसंगिनी ।"

भारतीय संस्कृति में तो 'हम नारियों की पति बिना गति दूसरी होती नहीं' कहने वाली उत्तरा को इस भयानक दुख में भी जीना पड़ा, क्योंकि 'वह गर्भिणी थी ।'

जयद्रथ-वध का नायक अर्जुन है । वीर, उदात्त, दृढ़प्रतिज्ञ, पुत्रवत्सल, शोकाकुल अर्जुन अभिमन्यु के अन्यायपूर्वक मारे जाने से और उत्तरा के वैधव्य-दृश्य तथा विलाप के कारण इतने उग्र हो जाते हैं कि तत्काल जयद्रथ से बदला लेने की प्रतिज्ञा कर बैठते हैं । जयद्रथ इस खण्ड-काव्य का प्रतिनायक है । वह वीर और शिवभक्त है, पर शस्त्रहीन अभिमन्यु का धोखा देकर वध करनेवाला भी है । वह जानता था कि 'निःशस्त्र पर आघात करना सर्वथा अन्याय है' । फिर भी वह नीचता करता है । अर्जुन की प्रतिज्ञा के कारण वह छिप जाता है, ताकि अर्जुन दूसरी शाम तक जलकर स्वयं ही अपने प्राण दे दें । अन्त में अपने जाल में वह स्वयं फँसकर अर्जुन के हाथों सूर्यास्त के पूर्व मारा जाता है । कृष्ण अर्जुन की विजय के मूल स्रोत और उसके सारथी हैं । वे उत्तरा को सान्त्वना देते हैं, अर्जुन को आशान्वित रखते हैं, उसे पाशुपत अस्त्र दिलाते हैं और प्रतिज्ञा को पूरी करने में उसकी सहायता करते हैं । इस खण्ड काव्य में कृष्ण को ईश्वर का अवतार न मानकर स्वयं ईश्वर ही कहा गया है :

"हे सच्चिदानन्द प्रभो ! तुम नित्य सर्वसशक्त हो।
अनुपम, अगोचर, शुभ परात्पर ईश्वर अव्यक्त हो।
तुम ध्येय, गेय, अजेय हो निज भक्त पर अनुरक्त हो।
तुम भवविमोचन, पद्मलोचन, पुण्य-पद्मासक्त हो।
तुम एक होकर भी अहो रखते अनेकों वेश हो।
आद्यन्तहीन, अचिन्त्य, अद्भुत, आत्मभू, अखिलेश हो।
कर्ता तुम्हीं, भर्ता तुम्हीं, हर्ता तुम्हीं हो सृष्टि के।
चारों पदार्थ दयानिधे, फल हैं तुम्हारी दृष्टि के।"

कवि ने उन्हें 'नेति नेति' कहा है। इस काव्य में वीरता, धीरता, पतिपरायणता, कर्तव्यनिष्ठा तथा मृत्यु से दुखी न होने का आदर्श रखा गया है।

**शिल्प** : जयद्रथ-वध की रचना सात सर्गों में हुई है। आदि से अन्त तक हरिगीतिका छन्द का ही प्रयोग हुआ है, जिसमें खड़ी बोली का स्वाभाविक संगीत सुप्रकट है :

"पापी मनुज भी आज मुँह से राम नाम निकालते।
देखो भयंकर भेड़िये भी आज आँसू डालते।
आजन्म नीच अधर्मियों के जो रहे अधिराज हैं।
देते अहो ! सद्धर्म की, वे भी दुहाई आज हैं॥"

जयद्रथ-वध खण्ड काव्य में कोई अनावश्यक प्रसंग या घटना नहीं है। आरम्भ में 'जानकी जीवन की जय' वाला मंगलाचरण है। इसमें अर्द्ध रात्रि, कैलाश पर्वत, गंगा और प्रकृति का चित्रण हुआ है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व की सुन्दर झाँकी भी प्रस्तुत की गयी है। उनके सम्वाद सजीव और नाटकीय हैं। हरिगीतिका छन्द का इतना सरल, साहित्यिक, और सफल प्रयोग, युद्धभूमि का चित्रण, करुण रस की मर्मस्पर्शिता तथा प्रवाहपूर्ण स्वच्छ भाषा का व्यवहार इस खण्ड काव्य की विशेषताएँ हैं। पदावली की गतिमयता देखिए :

"रहते हुए तुम-सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं।
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्यबल ही सब कहीं।
जलकर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी।
अच्युत ! युधिष्ठिर आदि का अब भार हो तुम पर सभी।"[१]

ओज गुण की प्रधानता वीर, रौद्र और वीभत्स रसपूर्ण रचनाओं में होती है। 'जयद्रथ-वध' में भी ओज गुण का समावेश है :

---

१. गुप्तजी, जयद्रथ-वध, (सत्ताईसवाँ संस्करण), पृ० ७८

"तब निकल नासापुटों से व्यक्त करके रोष यों,
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष ज्यों।"[१]

मुहावरे और कहावतों का प्रयोग भी कवि ने किया है—'मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में'[२] या 'हिल जाय तो पत्ता कहीं सत्ता बिना इस मूर्ति की।'[३] कुछ सूक्तियाँ लोकोक्तियों के समान ही प्रयुक्त हुई हैं :

"ले डूबता है एक पापी नाव को मँझधार में।"[४]
"हा! स्वप्न के वैभव किसी के काम आते हैं नहीं।"[५]
"है वस्तु अप्रिय अन्य जग में मृत्यु से बढ़कर नहीं।"[६]
"गुण पर न रीझे वह मनुज है, तो भला पशु कौन है।"[७]
"सम्पूर्ण दुखों का जगत में मोह ही बस मूल है।"[८]
"है कौन ऐसा जो तुम्हारा बाल भी बाँका करे।"[९]
"जाते किसी से हैं गिने आकाश के तारे कहीं।"[१०]
"जिसकी सिरोही सिर उसी का उक्ति यह कर दी सही।"[११]
"विष बीज बोने से कभी जग में सुफल फलता नहीं।"[१२]

**अलंकार** : शब्द-चमत्कार की दृष्टि से यहाँ अनुप्रास, यमक और वीप्सा का प्रयोग किया गया है। अर्थालंकारों का भी सुष्ठ प्रयोग द्रष्टव्य है, जैसे :

रूपक :

"भूषण सदृश उडुगण हुए मुख चन्द्र शोभा छा रही,
विमलाम्बरा रजनी-वधू अभिसारिका सी जा रही।

१. गुप्तजी, जयद्रथ-वध, (सत्ताईसवाँ संस्करण), पृ० ३७
२. वही, पृ० २५
३. वही, पृ० १०
४. वही, पृ० ६
५. वही, पृ० ३१
६. वही, पृ० ४०
७. वही, पृ० ६८
८. वही, पृ० ५५
९. वही, पृ० ४२
१०. वही, पृ० ६५
११. वही, पृ० ७९
१२. वही, पृ० ६८

खग-वृन्द सोता है, अतः कल-कल नहीं होता जहाँ,
बस मन्द मारुत का गमन ही मौन है सोता जहाँ।"[१]

उपमा :

"राजा युधिष्ठिर उस समय दोनों तरफ शोभित हुए।
प्रमुदित न विमुदित उस समय वे कुमुद-सम-शोभित हुए।"[२]

उत्प्रेक्षा :

"आकाश में जलते हुए यों छवि दिखायी दे रही,
मानो जगत को गोद लेकर मोद देती है मही।"[३]

सन्देह :

"सौभद्र पर सौ बाण छोड़े जो अतीव कराल थे।
आः बाण थे वे या भयंकर पक्षधारी व्याल थे।"[४]

उदाहरण :

"ग्रीष्मान्त में घननाद सुनकर भीत होता हंस ज्यों,
व्याकुल हुआ यह बात सुनकर सिन्धुराज नृशंस त्यों।"[५]

अर्थान्तरन्यास :

"पीछे युधिष्ठिर को किये आगे चले अर्जुन बली,
चलने लगे फण शेष के, मचने लगी अति खलबली।
अन्यत्र अनुगामी बड़ों के सुजन होते सर्वदा,
पर आपदा में दीखते हैं अग्रगामी ही सदा॥"[६]

विशेषोक्ति :

"हैं व्यग्र सुनने को श्रवण पर श्रव्य सुन पाते नहीं,
दृगहीन हैं पर दृश्य फिर भी दृष्टि में आते नहीं।"[७]
"हा नेत्रयुत भी अन्ध हूँ, वैभव सहित भी दीन हूँ।"[८]

---

१. गुप्तजी, जयद्रथ-वध, पृ० ४६
२. वही, पृ० ८१
३. वही, पृ० ४६
४. वही, पृ० १३
५. वही, पृ० ४०
६. वही, पृ० ६०
७. वही, पृ० ७०
८. वही, पृ० २६

अभिधा का ही अधिकांश स्थलों पर प्रयोग हुआ है। प्रयोजनवती लक्षणा और सारोपा लक्षणा का प्रयोग प्रभाव-वृद्धि में सहायक हुआ है :

"विषधर बनेगा रोष मेरा खल ! तुझे पाताल में,
दावाग्नि होगा विपिन में बाड़व जलधि जल-जाल में।
ज्यों व्योम में तू जायगा जो वज्र वह बन जायगा,
चाहे जहाँ जाकर रहे जीवित न तू रह पायगा।"[१]

'उत्तरा विलाप' के प्रसंग में अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना का सुन्दर प्रयोग हुआ है :

"जो सहचरी का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
वह था तुम्हारा इसलिए प्राणेश ! तुमने ले लिया।
पर जो तुम्हारी अनुचरी का पुण्य पद मुझको मिला,
है दूर हरना तो उसे, सकता नहीं कोई हिला॥"[२]

इसमें 'सहचरी' और 'अनुचरी' द्वारा शाब्दी व्यंजना की गयी है।

## शकुन्तला (१९१४ ई०)

कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के आधार पर 'शकुन्तला' काव्य की रचना हुई है। मंगलाचरण, उपक्रम, जन्म और बाल्यकाल, दर्शन, पत्र, अवधि, अभिशाप, विदा, त्याग, स्मृति, कर्तव्य, मिलन आदि शीर्षकों में कथासूत्र इस प्रकार बाँटा गया है कि रसानुभूति सहज ही होती जाती है। इसका मंगला-चरण सीता को लक्षित करता है :

"पंचवटी की छाया में जो
खेल खगों से करती हैं।
ममतामूर्ति समान मृगों के
मध्य समोद विचरती हैं।
मुसका रहे देखकर राघव
जिनकी यह अद्भुत लीला—
वही विदेहनन्दिनी हम पर
रहे सदा करुणाशीला॥"[३]

---

१. गुप्तजी, जयद्रथ-वध, पृ० ३९
२. वही, पृ० २३
३. गुप्तजी, शकुन्तला (सोलहवाँ संस्करण), पृ० ५

उपक्रम में स्वयं कवि ने मृगनयनी शकुन्तला के सन्दर्भ में कालिदास का स्मरण किया है, यथा :

"मृग के बदले मृगनयनी को वहाँ महीपति ने पाया—
और यहाँ श्री कालिदास ने श्रवण सुधारस बरसाया।
करके उस रस का आस्वादन हुए विरस भी सरस अहा।
× × ×
प्रस्तुत नूतन पद्यपात्र यह उसी सुरस हित किया गया।
अहोभाग्य है यदि इसमें वह एक बूँद भी लिया गया।"[१]

इस स्वीकारोक्ति से स्पष्ट है कि कवि ने कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् के आधार पर इस काव्य की कथावस्तु का संग्रथन किया है। मुनिवर कौशिक और मेनका की संतति, जिसे वन में किन्हीं शकुन्त पक्षियों ने पंखों की छाया में पाला था, वह 'मृदु कोपल-सी' कन्या कण्व ऋषि द्वारा पाली-पोषी गयी। उसका शकुन्तला नाम रखा गया। वह कन्या बड़ी होने लगी। उसे देखकर :

"लज्जित हुई देखकर उसको नन्दन-विपिन वल्लियाँ भी।
उसके रूपरंग सौरभ से महक उठा वह वन सारा।"[२]

कवि ने शकुन्तला में 'सीमारहित अनन्त गगन-सा प्रेम'[३] दिखा कर उसकी विश्व-प्रेम की भावना को संकेतित कर दिया है। प्रियप्रवास की राधा की तरह 'औरों का कल्याण कार्य ही उसका अपना क्षेम हुआ'[४] बताते हुए कवि ने उसे परम कल्याण का रूप दिया है। उसके संगीत को सुनकर :

"देव-देवियों के चरित्र जब प्रेम-सहित वह गाती थी
तब मालिनी नदी भी मानो क्षणभर को थम जाती थी।"

उसके क्रिया-व्यापारों के लिए हंस और मीन तैरना सीखने के लिए और शीतल सुगन्धित पवन मन्द-मन्द विचरण के लिए उपमान के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। पंचवटी की सीता के समान वह 'प्रकट अधिष्ठात्री-सी थी'। कवि ने उसे एक कल्पलता माना है, जिसके लिए पारिजात रूपी वर की खोज में कण्व चिन्तित थे। 'दर्शन' सर्ग में भवितव्यता और नियति पर भरोसा रखने वाला कवि दुष्यन्त के आगमन को नियति की इच्छा ही मानता है—'मुक्त है

१. गुप्तजी, शकुन्तला, पृ० ६
२. वही, पृ० ९
३. वही, पृ० १०
४. वही, पृ० १०

सर्वत्र ही भवितव्यता का द्वार।' यहाँ कवि ने पुनः शकुन्तला का नख-शिख वर्णन बड़े ही मर्यादित स्वरूप में उपस्थित किया है। उसे 'शुद्ध होम-शिखोपमा सुन्दरी' कहा गया है (पृष्ठ २५)। प्रणय-बन्धन को रति-काम युत मूर्तिमन्त वसन्त का उद्दीपन व्यापार माना गया है और अन्त में दुष्यन्त का प्रस्थान हुआ है।

'पत्र' सर्ग में शकुन्तला द्वारा वियोगाग्नि में जलते हुए दुष्यन्त को जो पत्र लिखा गया है वह सचमुच में वियोग की अनुभूति का यथार्थ चित्र है :

"कुसुमायुध दिन-रात घात करता रहता है।
तब मिलनातुर देह दाह दुस्सह सहता है॥"

गान्धर्व विवाह के बाद जब दुष्यन्त जाने लगे तब अश्रुपूरित शकुन्तला का यह पूछना कि 'प्राणेश्वर अब कब' (पृष्ठ २४), उसके उद्वेग का व्यंजक कथन है। राजा ने अपनी नामांकित मुद्रिका पहनाकर यह आश्वासन दिया :

"प्रतिदिन तू मेरा एक-एक नामाक्षर—
गिनती रहना हे प्रिये, सुनिश्चय रखकर।
जब तक सब अक्षर धन्य गण्य हों तेरे
लेने आवेंगे तुझे योग्य जन मेरे।"

'अभिशाप' में दुर्वासा का शाप, 'आवेगा तव-ध्यान ही न उसको', पति-ध्यान में खोयी हुई शकुन्तला को झेलना पड़ा है। अनुनय-विनय के पश्चात् दुर्वासा ने कहा कि 'आयेगी सुध मुद्रिका निरख के उद्भ्रान्त दुष्यन्त को'। शकुन्तला पति घर के लिए जब विदा हुई तब कण्व अश्रुपूरित हैं, पर वे उसे आशीष, सीख, सलाह और स्नेह देते हैं। कण्व का कथन है :

"मेरा वह उपदेश कभी तू भूल न जाना।
शील सुधा से सींच जगत को स्वर्ग बनाना।"

बेटी की विदा के समय भारत में जो कुछ कहा जाता है, उसी का यह सार है। करुण रस से भरपूर यह सर्ग गुप्तजी की भावुकता को प्रकट करने में समर्थ हुआ है। शकुन्तला के जाने के बाद :

"मोरों ने निज नृत्य, मृगों ने चरना छोड़ा,
हिमगिरि ने भी वाष्प-वारि-सम झरना छोड़ा।"

'त्याग' सर्ग में दुर्ष्यन्त अपने गान्धर्व विवाह की बात को भूल जाते हैं। वे शकुन्तला से पूछते हैं 'क्या मेरा ब्याह हुआ था इससे' ? हतभाग्य शकुन्तला

का मुख गौतमी ने घूँघट हटाकर दिखाया। चित्रात्मक व्यंजना यहाँ की गयी है। घूँघट हटाते ही राजा ने देखा :

"अहा चन्द्र-सा निकला घन से फैल गया उजियाला"[१]

× × ×

"लज्जा की लाली फैली थी, भौंहें तनिक चढ़ी थीं,
ग्रीवा नीची थी, पर आँखें नृप की ओर बढ़ी थीं।"[२]

शकुन्तला ने अपनी उँगली पर दृष्टि डाली, पर अँगूठी तो रास्ते में नदी में ही गिर गयी थी। शकुन्तला ने राजा को याद दिलाया कि :

"पिया न था उस दिन जब मेरे मृग ने तुम से पानी,
मुझ से पीने पर तब तुम ने, थी यह बात बखानी—
सचमुच सहवासी को ही सब कोई पतियाता है।
लता-कुंज की इस घटना का ध्यान तुम्हें आता है ?"[३]

गौतमी और मुनि-शिष्यों के कहने पर भी राजा को ध्यान नहीं आया, तब वह लौट गये। दुखी, गर्भिणी और अकेली शकुन्तला रोती हुई कहने लगी कि 'मैं अभागिनी अब कहाँ जाऊँ ?' उसी समय यह अलौकिक घटना घटती है :

"प्रभामयी मेनका उसे तब उड़ा ले गयी आकर—
और कश्यपाश्रम में रक्खा हेमकूट पर जाकर।"[४]

'स्मृति' सर्ग में मुद्रिका पाकर राजा को शकुन्तला की याद आती है। वह विलाप करता हुआ और स्वयं को धिक्कारता हुआ विचरण करता है। यहाँ नाटकीयता आ गयी है। 'कर्तव्य' सर्ग में दुष्यन्त इन्द्र की सहायता के लिए जाते हैं। वे लौटते हुए कश्यप के आश्रम में हेमकूट पर्वत पर शकुन्तला के पुत्र सर्वदमन को सिंह के दाँत गिनते हुए देखते हैं। वहीं पर शकुन्तला से उनका मिलन हुआ। शकुन्तला की अंगकृशता, उलझी वेणी, धूल भरे तनु-वस्त्र आदि देखकर दुष्यन्त बड़े दुखी होते हैं। अपनी भूल पर पछताते हैं और प्रिया के पैरों पर गिरकर क्षमा माँगते हैं। शकुन्तला को लेकर अन्त में राजा हस्तिनापुर को लौटे और सर्वदमन ने बड़े होकर सारी पृथ्वी को जीता तथा 'भरत' नाम पाया। कवि कहता है कि :

---

१. गुप्तजी, शकुन्तला, पृ० ३८
२. वही, पृ० ३८
३. वही, पृ० ४०
४. वही, पृ० ४३

"भारत भारत बना उन्हीं के नाम से,
अमर हुआ यों कौन गुणों के ग्राम से ?"

कवि इस भारतवर्ष से पूछता है :

"भारत ! अब वह समय तुम्हें क्या याद है ?
होता उसका कभी सहर्ष विषाद है ?
वे दिन अब क्या तुम्हें मिलेंगे फिर अहो,
इसका उत्तर और कौन देगा कहो ?"

यही इस छोटे खण्ड काव्य का कथानक है।

इसमें करुण रस प्रधान है तथा शृंगार भी यत्र-तत्र, जैसे—शकुन्तला का नखशिख-वर्णन, आ गया है। कहीं-कहीं शरीरी शृंगार का वर्णन भी है :

"नित्य उरोजों के उभार से अंगों को कसने वाली
वल्कल की चोली हँस-हँस कर ढीली करती थी आली।"[१]

मर्यादित शृंगार :

"था ऐसा वपु वन्दनीय उसका स्वर्गीय शोभा सना—
मानो लेकर सार भाग शशि का ही भार द्वार बना।"[२]

× × ×

या "लज्जा से मुखचन्द्र देख उसका अम्भोज निश्चेष्ट था।"[३]

करुण रस :

"बेटी कह कर किसे बुलाऊँगा मैं द्वारे"[४]

× × ×

"यही कहा उसने कि कहाँ अब मैं अभागिनी जाऊँ ?
माँ धरणी, तू मुझे ठौर दे, तुझमें अभी समाऊँ।"[५]

**अलंकार :** अनुप्रास और श्लेष के अतिरिक्त उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह, भ्रान्तिमान, उदाहरण, विभावना, अर्थान्तरन्यास, मानवीकरण और विशेषोक्ति आदि अलंकारों का बड़ा ही स्वच्छ प्रयोग शकुन्तला में किया गया है। उपमानों में परम्परा का आग्रह ही अधिक है।

---

१. गुप्तजी, शकुन्तला, पृ० १३
२. वही, पृ० २६
३. वही, पृ० २६
४. वही, पृ० ३३
५. वही, पृ० ४२

उत्प्रेक्षा :

"फूलों के गहने पहने वह विपिन-वासिनी सुकुमारी—
उतरी थी भूतल पर मानो दिव्यलोक की नवनारी।" (पृष्ठ १३)

उत्प्रेक्षा-रूपक :

"सचकित-से यह क्या रहस्य है ? यही वचन वे बोले।
शकुन्तला नलिनी पर मानो पड़े अचानक ओले।" (पृष्ठ ३७)

भ्रान्तिमान :

"पुष्पराशि समान उसकी देख पावन कान्ति
भूप को होने लगी जंगम लता की भ्रान्ति
क्या मनोमिष से उन्हीं के जानकर अरविन्द
घूमता था वर वदन पर एक मुग्ध मिलिन्द।" (पृष्ठ १५)

अर्थान्तरन्यास :

"बोले नृप होता है यों ही विषयिजनों का मरना,
मुझे सवेश चाहती है क्यों तू यों दूषित करना।
मर्यादा को छोड़ नदी जो है तट विटप गिराती,
यह अपना पानी बिगाड़कर छविहीना हो जाती।" (पृष्ठ ४०)

विभावना :

"सूना होकर भी शरीर उसका आभूषणों से अहा
दूना दर्शन योग्य दूषण बिना सौन्दर्य था पा रहा।" (पृष्ठ २६)

सन्देह :

"थे किंवा घनवृन्द इन्दुवर को स्वच्छन्द घेरे खड़े।" (पृष्ठ २६)

स्वभावोक्ति :

"कभी घड़ों में भरभर कर वह पौधों को जल देती थी।
कभी खगों के कभी मृगों के बच्चों की सुध लेती थी।
सुग्गे कभी पढ़ाती थी वह कभी मयूर नचाती थी।
सहचरियों के साथ छाँह में क्रीड़ा कभी रचाती थी।"

ऐसे सहज, सुन्दर, सरल चित्र द्विवेदीयुगीन कविता में अत्यन्त विरल हैं। कुछ स्थलों पर अमूर्त उपमानों के सहारे मूर्त उपमेय का वर्णन भी हुआ है। शकुन्तला का इसी प्रकार का चित्रण देखिए :

"मुक्त नभोमण्डल-सा अविचल निर्मल जीवन था उसका।
उषा के प्रकाश-सा पावन निरालस्य तन था उसका।" (पृष्ठ ११)

इसी प्रकार :

"लज्जा की लाली फैली थी भौंहें तनिक चढ़ी थीं,
ग्रीवा नीची थी पर आँखें नृप की ओर बढ़ी थीं।
कहती थी मानो वे उनसे क्या हमको छोड़ोगे ?
आर्यपुत्र दो दिन पीछे ही क्या यों मुँह मोड़ोगे ?" (पृष्ठ ३०)

इस काव्य में प्रकृति-चित्रण के भी सुन्दर स्थल हैं :

"पूरी निर्मल नीर से बह रही थी पास ही मालिनी।" (पृष्ठ २७)

"नीलाकाश अपार ऊपर यथा फैला हुआ था बड़ा।
चित्त हरा हो गया देख नभ की छटा,
घूम रही थी कहीं मनोरम घन घटा।
परिवह से सुरसरी कहीं थी बह रही।
मृदु कलरव से मर्म्म-कथा थी कह रही॥" (पृष्ठ ५३)

**भाषा** : अधिकांश स्थलों पर अभिधा शक्ति का ही विधान है और भाषा सरल, सीधी और सरस है। कहीं वह तत्समता लिये हुए भी है :

"दीर्घ श्मश्रु जटा समेत उनके थे केश सारे सित
होता था मुख दीप्तिमान उनसे यों सर्वदा शोभित।
होके मुक्त नितान्त मेघगण से वर्षान्त में ज्यों रवि—
पाता रश्मि समूह संयुत सदा तेजोमयी है छवि॥" (पृष्ठ २८)

कविता में प्रसाद और माधुर्य गुण का प्राधान्य है। माधुर्य गुण का उदाहरण इस प्रकार है :

"प्रियवर मैं तव हृदय की नहीं जानती बात।
सन्तापित करता मुझे कुसुमायुध दिन रात।" (पृष्ठ ११)

कहीं-कहीं भाषा में ग्राम्य स्पर्श भी है :

"किन्तु उन्होंने कहा सखी कुछ सोच न कीजो
प्रिय को उनकी नाम मुद्रिका दिखला दीजो॥"

× × ×

"गुरुओं की सम्मान सहित सुश्रूषा करियो।
सखी भाव से हृदय सदा सौतों का हरियो।" (पृष्ठ ३१)

कुछ भद्दी तुकें भी आ गयी हैं। 'स्मृति' सर्ग में दुष्यन्त अपनी प्रिया का स्मरण करते हैं :

"रक्खा इधर प्रिया को मैंने न जब कुड़क कर।
त्यों छोड़कर चले जब मुनि-शिष्य भी घुड़क कर।
तब दृष्टि हाय उसने जो अश्रुपूर्ण डाली।
वह डस रही मुझे है बनकर कराल काली।।" (पृष्ठ ४५)

सभी दृष्टियों से यह एक सरल और सुन्दर खण्डकाव्य है। एक स्थल पर तो बड़ी अच्छी और नवीन छायावादी अभिव्यंजना भी दिखायी देती है :

"मैं हूँ वह महानिन्द्य, अविनीत हा।
होगा मुझ-सा और कौन अपगीत हा।" (पृष्ठ ५६)

इधर अपगीत कह कर दुष्यन्त ने अपने आप को महानिन्द्य बनाकर कोमलता की सृष्टि की है। यह ध्यातव्य है कि इस ग्रन्थ के 'शकुन्तला को दुर्वासा का अभिशाप' (१६०६ ई० में), 'शकुन्तला को कण्व का आशीर्वाद' (१६११ ई० में) और 'शकुन्तला' (१६१४ ई० में) सरस्वती में चित्रों के परिचय के रूप में छप चुकी थीं।

## किसान (१६१४ ई०)

द्विवेदीयुगीन काव्य के अन्तर्गत 'किसान' एक क्रान्तिकारी रचना है, जो फाल्गुन पूर्णिमा संवत् १६ ·३ वि० को समाप्त हुई थी। उसकी कथा का विशाल पट भारत, फिजी द्वीप और टिगरिस के तट तक फैला हुआ है। सर्गों का विभाजन प्रार्थना, बाल्य और विवाह, गार्हस्थ्य, सर्वस्वान्त, देशत्याग, फिजी, प्रत्यावर्तन और अन्त, इस प्रकार आठ सर्गों में हुआ है। कथा-सूत्र को छोटे-बड़े आकार में घेरे हुए ये सर्ग एक किसान का 'आत्मचरित' निरूपित करते हैं। प्रार्थना सर्ग की प्रथम चार पंक्तियों में 'दयामय हे राम' का स्मरण कर कवि ने मंगलाचरण की आवश्यकता साधी है। प्रार्थना सर्ग में भारत के किसानों की दीन दशा का प्रथम विश्वयुद्ध के समय का चित्र बड़ी स्पष्टता से चित्रित किया गया है। किसानों का अधपेट नर्क-सा जीवन, आँसू पीकर कटने वाले उसके दिन, 'हा-हा खाना और सर्वदा आँसू पीना' और अन्त में कुला-प्रथा के अन्तर्गत 'आरकाटी' द्वारा घेरे जाकर फिजी भेजे जाने के षड्यन्त्र में फँस जाना दिखाया गया है। द्वितीय सर्ग में चीते को मारकर बहादुरी प्रकट करने वाले किसान का कुलवन्ती जैसी साध्वी से विवाह होता है। इस सर्ग में बचपन की उमंगों के अतिरिक्त प्रकृति का दृश्य-विधान बहुत अच्छे ढंग से वर्णित है :

"ऊपर नील वितान तना था, नीचे का मैदान हरा।
शून्य मार्ग में विमल वायु का आना था उल्लास भरा।
× × ×
उड़ने की इच्छा होती थी उड़ते देख विहंग बड़े।
× × ×
मानो स्वयं प्रकृति ही फिरती हमें गोद में लिये हुए,
खगता, मृगता और मनुजता तीनों के गुण दिये हुए॥
मोर नाचते थे उमंग से, मेघ मृदंग बजाते थे।
× × ×
रस बरसाती हुई घटा भी नीचे उतरी आती थी।
प्रकृति नटी निज पट पलपल में प्रकट पलटती जाती थी॥" (पृष्ठ ११)

यही किसान पुलिस, जमींदार, बेगार-प्रथा आदि से त्रस्त होकर अपना घर छोड़ने के लिए बाध्य हो जाता है। पुलिस के अत्याचार ने उसे डाकू बन जाने की प्रेरणा दी। परन्तु कुलवन्ती ने उसे उस दुष्कर्म से बचा लिया। महाजन का कर्ज भी बढ़ता गया। उसके माता-पिता की मृत्यु हो जाती है। १९१४ ई० के आसपास का गाँवों का जीवन कितना दुखद और भयावह बन गया था :

"साहू महाजन जमींदार तीनों ठने।
वात, पित्त, कफ, सन्निपात जैसे बने।" (पृष्ठ २६)

किसान के मन में क्रान्ति करने की इच्छा होती है :

"नहीं नहीं, शिव नहीं, बनूँगा रुद्र मैं।
जानेंगे सब लोग नहीं हूँ क्षुद्र मैं।" (पृष्ठ २७)
× × ×
"यदि मैं डाकू बनूँ मुझे क्या दोष है?
दोषी है तो पुलिस उसी पर रोष है।" (पृष्ठ २८)

वह आरकाटी के चक्कर में फँसकर कुली-प्रथा के अन्तर्गत फिजी द्वीप ले जाया जाता है। भारतीय नस्ल के इन काले कुलियों के साथ फिजी में गोरों का अपमानजनक व्यवहार उसे सालता है। वन्य पशुओं जैसा वहाँ का जीवन था। १९१४ ई० में लिखे गये इस काव्य में गाँधीजी का स्मरण कवि ने बड़ी श्रद्धा के साथ किया है :

"अब भी गाँधी जैसे सुत की जननी भारतमाता।
तुझसे यह दुर्दृश्य निरन्तर कैसे देखा जाता ?" (पृष्ठ ३८)

शील रक्षण करती हुई घायल कुलवन्ती वहीं प्राण त्याग देती है। वह गर्भवती मरते-मरते अपने उत्सर्ग में यह कह जाती है :

"यही नहीं वह कुली-प्रथा भी उसमें बह जावेगी।
भावी भारत में बस इसकी स्मृति ही रह जावेगी।" (पृष्ठ ४०)

कुली जीवन की नारकीय यातना भोगकर किसान फिजी से दुखी और निराश लौटता है। लॉर्ड हार्डिंग्ज, एन्ड्रूज तथा प्रियर्सन के प्रयास से कुली-प्रथा समाप्त हो जाती है। किसान सेना में भरती होकर टिगरिस के तट वाले युद्ध में चला जाता है। वह ब्रिटिश सेना की सहायता करने की भावना से युद्ध में जाता है। 'अन्त' सर्ग में यह खटकने वाली बात भी है :

"ब्रिटिश राज्य के उपकारों का बदला चुका दें आज।"

× × ×

"राजभक्ति सर्वत्र हमारी रही सदा से ही विख्यात।" (पृष्ठ ४६)

अन्त में युद्ध में आहत होकर 'विक्टोरिया क्रास' पाने वाला वह किसान भारतीयों की याद करता हुआ, अपनी प्रिया कुलवन्ती से मिलने के लिए स्वर्ग सिधार जाता है।

इस प्रकार किसान के आत्मचरित का वर्णन हुआ है।

किसान का चरित्र संघर्षमय, करुण, दुख से भरा और त्यागमय है। कुलवन्ती साध्वी, त्यागमयी और शान्तिप्रिय नारी है जो पति के साथ-साथ भारत से फिजी तक जाती है और वहाँ अपने शील की रक्षा करती हुई प्राण दे देती है।

इस काव्य में शान्त और करुण रस ही प्रमुख हैं। एकाध स्थल पर ओज का हलका-सा आभास मिल जाता है :

"करके फिर हुंकार मचा दी मारामार वहाँ मैंने।
सुध न मुझे भी रही कि कितने किये प्रहार वहाँ मैंने।" (पृष्ठ १४)

**प्रकृति-चित्रण** : कवि ने किसान के बाल्यजीवन का वर्णन करते हुए प्रकृति का चित्रण सुन्दर ढंग से किया है :

"मुक्त पवन मेरे अंगों का वन में स्वेद सुखाती थी।
घनी-घनी छाया पेड़ों की गोदी में बिठलाती थी।" (पृष्ठ १०)

यहाँ मानवीकरण की छायावादी प्रवृत्ति का सुन्दर प्रयोग दिखायी देता है। प्रकृति का मोहक रूप देखिए :

"पत्तों पर मोती हिमकण से प्रातःकाल चमकते थे।
सन्ध्या को ऊपर तारागण कैसे दिव्य दमकते थे।" (पृष्ठ ११)

अलंकारों में अनुप्रास, उपमा, रूपक, स्वभावोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों का अधिकतर प्रयोग हुआ है। इस काव्य में अभिधात्मक वर्णन हैं। लक्षणा या व्यंजना का प्रयोग नहीं के बराबर है। प्रसाद और माधुर्य गुण ही सर्वत्र है।

कहावतों और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है :

"लिखी कबूलात हुई निशानी, कटवा बैठे हाथ।" (पृष्ठ १८)

और लोकोक्तियाँ भी हैं :

"मर जाओ पर प्रकृति-नियम टलता नहीं।" (पृष्ठ २४)

एक स्थान पर प्रयोजनवती गौणी लक्षणा का सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है :

"शिक्षा को हम और हमें शिक्षा रोती है,
पूरी बस वह घास खोदने में होती है।
कहाँ यहाँ विज्ञान रसायन भी सोती है।
हुआ हमारे लिए एक दाना मोती है।"

कुल मिलाकर यह काव्य यद्यपि खण्ड काव्य की श्रेणी की रचना है, परन्तु आत्मचरित-प्रधान साधारण कोटि की रचना है। सामयिक परिस्थितियों का चित्रण ही यहाँ प्रमुख है।

गुप्तजी के रंग में भंग, जयद्रथ-वध, शकुन्तला और किसान में से केवल जयद्रथ-वध ही अपनी एकबद्ध कथासूत्रता और रसात्मक खण्ड काव्य की कसौटी के आधार पर उच्च कोटि की रचना ज्ञात होता है।

### विरहिणी ब्रजांगना (सन् १९१४)

गुप्तजी ने 'विरहिणी ब्रजांगना' की प्रस्तावना में लिखा है कि "विरहिणी ब्रजांगना मधुसूदन कृत 'ब्रजांगना' काव्य का भावानुवाद है।" डॉ० उमाकान्त का मत है कि यह अविकल अनुवाद है। वंशीध्वनि, जलधर, यमुनातट आदि मूल के अठारह खण्ड इसमें वर्तमान हैं। परिमाण भी मूल से कम नहीं है। ब्रजांगना के वंशीध्वनि प्रथम खण्ड के ६ पद्य विरहिणी ब्रजांगना में ९ पद्यों में अनूदित हुए हैं। शेष खण्डों में पद्य संख्या लगभग समान है। कवि ने बड़ी

सावधानी से अनुवाद किया है। मूल भाव और विचारों की रक्षा की गयी है। कहीं पर शब्दों को ज्यों का त्यों ले लिया गया है, यथा—'अनाया, अतिथि, आमि, तोमार' को कवि ने 'मैं तव अतिथि अनाया हूँ' लिखा है। 'यमुना पुलिने आमि भ्रमि एकाकिनी' को 'आज अकेली फिरती थी यमुना के तीर' अनुवाद किया है। ध्वनि, सुधांशु शब्द ज्यों के त्यों और कहीं वंशी की ध्वनि के लिए 'निनाद' ले लिया गया है। एक स्थान पर एकाकिनी के स्थान पर 'सहसा' का प्रयोग असफल रहा है। राधा के करुण-विरह का वर्णन माधुर्यपूर्ण है।

इस प्रकार गुप्तजी के खण्ड काव्यों और महाकाव्य के अध्ययन से हिन्दी खड़ी बोली के द्विवेदीकालीन विकास का सम्पूर्ण अध्ययन हो सकता है। साकेत, रंग में भंग, जयद्रथ-वध, शकुन्तला, किसान और विरहिणी व्रजांगना (अनूदित) काव्यों का (१६०५ ई० से १६२० ई० तक) कलात्मक एवं भावात्मक विकास हिन्दी कविता के भारतेन्दुकालीन प्रभावों से मुक्त होकर छायावादी विधा की परिणति तक जाने का इतिहास है। इसी बीच मैथिलीशरण गुप्त की पद्य-प्रबन्ध (१६१६ ई०), वैतालिक (१६१६ ई०) आदि अन्य रचनाएँ प्रकाशित हुईं। यहाँ उनके खण्ड काव्य ही विवेच्य थे, इसलिए इन ग्रन्थों का साधारण परिचय ही दिया जा सकेगा। गुप्तजी का 'पद्य-प्रबन्ध' उनकी १६१० ई० तक की फुटकर रचनाओं का संकलन है। 'भारत-भारती' में भारतीयों की अवनति और हीनता का करुण चित्र उकेरा गया है। यह उनकी सर्वाधिक लोकप्रिय कृति है। लोगों ने इस रचना को पढ़कर प्रेरणा प्राप्त की थी। 'पत्रावली' में ऐतिहासिक आधार पर लिखित सात पद्यात्मक पत्रों का संग्रह हुआ है। खड़ी बोली का महिमामण्डित रूप इस कृति में देखने को मिलता है। 'वैतालिक' में चिर सुषुप्त भारतीयों के उद्‌बोधनार्थ व्याख्यान-शैली में सन्देश दिया गया है। यह वैचारिक कृति है, पर इसका प्रकृति-चित्रण नव्य और सुन्दर है।

खड़ी बोली काव्य की नींव भरनेवालों में गुप्तजी का प्रदेय अनुपम है। उन्होंने हमारे इतिहास, पुराण, धर्म, संस्कृति, परम्परा और लोकजीवन को वाणी दी और भारतीय जीवन को युगानुकूल सन्देश दिया। 'किसान' में आन्दोलन के अन्तर्गत शोषित वर्ग को खड़ा किया गया। किसान से सिपाही—हल और बन्दूक एक ही राष्ट्रधर्म के दो स्वरूप सामने रखे गये। प्रेमचन्द और मैथिलीशरण गुप्त एक ही युग और एक ही नवीन राष्ट्रीय चेतना के प्रतिनिधि हैं। भारत की आत्मा गुप्तजी की वाणी में रूपायित हुई है।

## सियारामशरण गुप्त (१८९५ से २९ मार्च १९६३)

### मौर्यविजय

द्विवेदी युग के अन्य सशक्त कवि श्री सियारामशरण गुप्त की प्रथम कविता 'शिक्षाष्टक' सन् १९१० में इन्दु में प्रकाशित हुई थी। उनके पाँच खण्ड काव्य प्रकाशित हुए हैं—मौर्यविजय, अनाथ, आत्मोत्सर्ग, नकुल और अमृतपुत्र। इनमें से 'मौर्यविजय' का प्रथम प्रकाशन सन् १९१४ ई० में हुआ था। १९१७ ई० में 'अनाथ' का प्रकाशन हुआ।

'मौर्य-विजय' प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भिक काल की रचना है। छायावाद के प्रथम उन्मेष का वह युग था। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा अनेकानेक समस्याओं के बीच राष्ट्रीयता के पोषक जननेता की भारत में आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। गुप्तजी की 'भारत-भारती' (१९१२ ई०) में जातीय काव्य के श्रेष्ठतम स्वरूप की सीमाओं को प्रतिबद्ध किया जा चुका था। १९१४ ई० में उन्होंने 'शकुन्तला' की रचना की थी। सियारामशरणजी के मन में भी देश की आजादी के लिए संघर्ष करने वाले आदर्श नेता की रूपरेखा निर्मित हो रही थी, जो 'मौर्यविजय' में साकार हुई। यह तीन सर्गों में रचा गया खण्डकाव्य है।

प्रथम सर्ग का आरम्भ राम की प्रार्थना के मंगलाचरण रूप में दिखायी देता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकालीन समाज में सुख, प्रेम, धीरता, वीरता, नियम-संयम सभी कुछ था। तभी सिल्यूकस का आक्रमण हुआ। तक्षशिला में चन्द्रगुप्त भी युद्ध के व्यूह की रचना करते हैं। इस सर्ग में राष्ट्रीय भावना व्यंजित हुई हैं। द्वितीय सर्ग में सैनिकों का अपने भारतीय बल-विक्रम को प्रकट करने वाला गीत और चन्द्रगुप्त तथा सिल्यूकस के अपनी-अपनी सेनाओं को उद्‌बोधन, उत्साहवर्द्धक कथन तथा युद्ध का चित्रण किया गया है। इस सर्ग में 'मातृभूमि को शीश चढ़ा दें' (पृष्ठ २७), की उत्सर्ग भावना को उत्कर्षित करता हुआ चन्द्रगुप्त सैनिकों को उद्‌बोधन देता है :

"शूरो ! भारत साम्राज्य की लाज तुम्हारे हाथ है।
है तुम्हें धर्म का ध्यान तो विजय सर्वदा साथ है।" (पृष्ठ २९)

सैनिकों की यह उक्ति है :

"छोड़ेंगे हम नहीं कर्म प्राणों के डर से।
ग्रीकों का बल-गर्व छुड़ा देंगे हम सारा।
भारत के हम और हमारा भारत प्यारा।"
(पृष्ठ ३०, संस्करण १९६५)

यहीं पर 'आर्यों की सन्तान श्रेष्ठ हैं हम बलधारी' कहकर चन्द्रगुप्त सैनिकों के शौर्य को जगाता है। इस युद्ध में आर्यगण विजयी हुए। इसी सर्ग में वीर रस की ये सुन्दर पंक्तियाँ भी हैं :

"जिसके सम्मुख दृष्टि ग्रीक जो कोई आया,
उसने उसको वहीं सदा के लिए सुलाया।
परिपूर्ण दिशाएँ हो गयीं शस्त्रों की झंकार से।
रिपु कट-कट कर गिरने लगे बाणों की बौछार से।" (पृष्ठ ३९)

× × ×

"शस्त्र चमकने लगे भयंकर समरस्थल में
मरने लगे अनेक वीर गिरकर पल-पल में।
वीरों के हृदयों में विपुल बिजली-सी भरने लगी।
जो उन्हें शत्रु-संहार हित उत्तेजित करने लगी।
कहीं किसी की टूक-टूक हो गयी सिरोही।
खो बैठे निज आँख अनेकों अश्वारोही।
हाथ-पैर भी छिन्न हो गये कितनों ही के।
शीश धड़ों से भिन्न हो गये कितनों ही के।
बस हत-आहत ही वीर थे आते दृष्टि जहाँ-तहाँ।
थी ताण्डव-सा करने लगी भीषण मृत्यु स्वयम् वहाँ।" (पृष्ठ ४०)

वीभत्स रस का यह उदाहरण है :

"लाशों से पट गया शीघ्र युद्धस्थल सारा।
रख-रख उन पर पैर वेग से बढ़कर आगे।
थे सब रण कर रहे हृदय से भय को त्यागे।" (पृष्ठ ४१)

रौद्र रस का यह वर्णन है :

"हुए वहाँ रुधिराक्त बहुत से समर-स्नेही,
होते थे प्रत्यक्ष ज्ञात वे पावक-से ही।"

इन वर्णनों में ओज गुण का चमत्कार देखा जा सकता है। यह सर्ग वीर रस, ओज गुण तथा सादृश्यमूलक अलंकारों के लिए द्रष्टव्य है। यह युद्ध-वर्णन सजीव और स्वाभाविक नहीं, बल्कि काल्पनिक है।

तृतीय सर्ग में सिल्यूकस की पुत्री एथेना अपने पिता को इस युद्ध से विरत करना चाहती है :

"इस घोर युद्ध का रोकना निश्चय मेरा धर्म है।" (पृष्ठ ४५)

वह हारे हुए पिता को चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि कर लेने की सलाह देती है। ग्रीस के विप्लव का समाचार भी उसी समय आया। मन्त्री ने सन्धि कर लेने की सलाह दी। उसी समय चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना के साथ सिल्यूकस के शिविर को घेर लिया। द्वन्द्व युद्ध में चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस की तलवार एक ही झटके में छीन ली और कहा कि यद्यपि आप मेरे बन्दी हैं, परन्तु आप के दोषों को क्षमा कर हम आपको मुक्त करते हैं। चन्द्रगुप्त ने एथेना का अनुपम रूप-लावण्य देखा। वे मुग्ध हो गये। इसके कई दिन बाद जब सिल्यूकस को शिविर में अस्थिर चित्त से घूमते हुए दिखाया गया, है तब उसके अन्तर्द्वन्द्व को कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट किया :

"बहु घात और प्रतिघात वह
है भावों का सह रहा।" (पृष्ठ ५३)

सिल्यूकस सोचता है कि :

"किस कुसमय में हाय ! यहाँ पर थे हम आये।
हैं कितने आघात यहाँ पर हमने पाये।
इसका बदला हाय ! नहीं हम ले सकते हैं।"

उसने तय किया कि चन्द्रगुप्त से सन्धि करके एथेना का उसके साथ विवाह कर दिया जाये। इस निश्चय को कार्यान्वित कर वे ग्रीस लौट गये। अन्त में भारतीय वीरों की गुणगाथा गाते हुए कवि कहता है :

"हम धीर वीर गम्भीर हैं,
है हमको अब कौन भय ?
फिर एक बार हे विश्व, तुम
गाओ भारत की विजय।"

कवि की यह उक्ति 'गावेंगे ऐसे गीत हम क्या फिर और किसी समय ?' प्रकट करती है कि यह काव्य १९१४ ई० में भारतीय राष्ट्रीय वीरों को आजादी के लिए सन्नद्ध होने का सन्देश देने के लिए लिखा गया था।

**उद्देश्य :** इस काव्य का उद्देश्य राष्ट्रीय भावना को उभारना था।

**रस :** इस काव्य में शान्त, वीर, रौद्र और वीभत्स रस हैं।

**शब्द-शक्ति :** वर्णनात्मक होने के कारण इस रचना में अभिधा का ही प्राधान्य है :

"जब चन्द्रतुल्य नृप चन्द्र ने यहाँ सुधा की वृष्टि की।
तब सिल्यूकस ने राहु सम उन पर अपनी दृष्टि की।"

यहाँ यमक और उपमा के साथ सिल्यूकस की दृष्टि को राहु बताकर लक्षणा प्रकट की गयी है। प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा का एक और उदाहरण :

"हे वीरो अब जरा और आगे बढ़ जाओ।
रख रिपु दल पर पैर यशोगिरि पर चढ़ जाओ।।"

**प्रकृति-चित्रण** : कवि ने कहीं-कहीं प्रकृति के सुन्दर चित्र अंकित किये हैं, पर वे साधारण हैं :

"पूर्ण चन्द्र है उदित सुनील नभोमण्डल में,
चारु चन्द्रिका छिटक रही है वसुधातल में।
विहग गणों का बन्द हुआ है आना-जाना
नहीं रुका है किन्तु पिकों का मधु बरसाना।" (पृष्ठ १४)

"कल-कल करता हुआ सिन्धु नद बहता जाता,
रजत कान्तिमय विमल सलिल मन को ललचाता।
उसमें निज प्रतिबिम्ब ब्याज से आकर तारे—
क्रीड़ा-सी कर रहे, विपुल सुन्दरता धारे।"

× × ×

"नीले-नीले दूर दीख पड़ते जो भूधर—
वे दृष्टि प्राकार-तुल्य लगते हैं सुन्दर।
पृथ्वी मानो वसन चन्द्रिका का है पहने,
नभ के ग्रह नक्षत्र बने हैं उसके गहने।" (पृष्ठ १५)

**अलंकार** : अलंकारों में अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, उपमा, अतिशयोक्ति आदि सादृश्योपम अलंकार ही अधिकतर प्रयुक्त हुए हैं।

उत्प्रेक्षा :

"पृथ्वी मानो बसन चन्द्रिका का है पहने।" (पृष्ठ १५)

उपमा और प्रतीप :

"चन्द्रकला के सदृश वहाँ पर किये उजाला,
छबि को ही कर रही विलज्जित थी वह बाला।" (पृष्ठ ४३)

प्रतीप :

"तेरा सा सौन्दर्य सृष्टि में दृष्टि न आता।
तेरी शोभा देख स्वर्ग भी है सकुचाता।" (पृष्ठ २१)

दृष्टान्त :

"निज रुचिर गुणों से वे सुधी सब को प्रिय थे सर्वथा।
होता है प्यारा कुमुदपति कुमुद-समूहों को यथा।" (पृष्ठ १०)

उपमा और रूपक :

"सज्जन रूप चकोर समूहों को सुखदायी,
उनकी उज्ज्वल कीर्ति चन्द्रिका-सी थी छायी॥" (पृष्ठ १०)

उपमा :

"हुए वहाँ रुधिरात्त बहुत से समर-सनेही।
होते थे प्रत्यक्ष ज्ञात वे पावक-से ही।" (पृष्ठ ४१)

विशेषोक्ति :

"यद्यपि मन्द सुगन्ध पवन से शीतल वन है।
चिन्तानल से किन्तु जल रहा उसका मन है। (पृष्ठ ५३)

विरोधाभास :

"हमें मृत्यु के बाद हमारे गीत जिलाते।" (पृष्ठ २६)

यमक :

'जब चन्द्र तुल्य नृप चन्द्र ने यहाँ सुधा की वृष्टि की।
तब सिल्यूकस ने राहु सम उन पर अपनी दृष्टि की।" (पृष्ठ १२)

मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा चमत्कार पैदा किया जाता है। इस काव्य में मुहावरों के यत्र-तत्र प्रयोग हुए हैं, जैसे :

"लघु से लघुतम भी शत्रु को
तुच्छ समझना भूल है।" (पृष्ठ २३)

× × ×

"लाज तुम्हारे हाथ है,
ठान लिया मन में यही।" (पृष्ठ २९, ३२)

'मौर्यविजय' सभी दृष्टि से एक समर्थ खण्डकाव्य है। तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण-बेला में 'मौर्यविजय' का सन्देश आनेवाली पीढ़ी का प्रेरणास्रोत रहा है।

यह उस महावीर की गाथा थी, जिसके लिए 'भारत-भारती' के मुख पृष्ठ पर अंकित पंक्तियाँ यथार्थ में ही खरी उतरती हैं :

"जिसके समक्ष न एक भी विजयी सिकन्दर की चली।
वह चन्द्रगुप्त महीप था कैसा अपूर्व महाबली।
जिससे कि सिल्यूकस समर में हार तो था ले गया।
कान्धार आदिक देश देकर निज सुता था दे गया।"

**भाषा** : तत्समप्राय भाषा-शैली का उदाहरण इस प्रकार है :

"वह उल्लासच्छटा वहाँ अब दृष्टि न आती।" (पृष्ठ ५२)

यशःस्तम्भ, रिपुसंहारण, कवचामृत, अश्वारूढ़, विपज्जाल, वह्निज्योति, रुधिरात्त, प्रतिशोधन, कर्माञ्जलि, चिन्तानल, रिपु-हृद्धामों, आदि तत्सम शब्दों का प्रयोग खड़ी बोली के प्रकृत रूप को गढ़ने में बाधक नहीं बना है। वे छन्द की लय में ऐसे समा गये हैं, जैसे लहरों में पानी। इस काव्य की भाषा में उपदेशात्मकता और वस्तुनिष्ठता के कारण विशेष सौष्ठव तो नहीं पैदा हो सका, परन्तु भावों की सात्विकता के कारण प्रासादिकता सुस्थिर रही।

### अनाथ

इस खण्ड काव्य की कथा चार सर्गों में विभक्त है। प्रथम भाग में २३ छन्द, द्वितीय में ३४, तृतीय में ३१ और चतुर्थ में २५ छन्द हैं। सियारामशरण गुप्त की यह कृति तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में विशेष महत्त्व रखती है।

**कथा-सूत्र** : इस रचना में भारतीय ग्राम्य जीवन की करुण गाथा तथा दीनहीन भारतीय कृषक की दुखपूर्ण जीवनी अंकित है। गरीबों की दयनीय दशा, ऋणग्रस्तता, अधिकारियों का दुर्व्यवहार, जमींदारी, बेगारी, शोषण और रूढ़िबद्धता का चित्रण कवि ने बड़े सरल ढंग से किया है। मोहन एक साधारण किसान है। वह किसी तरह जीवनयापन करता है। यमुना उसकी पत्नी है। भूख से क्षुधित घर के सभी प्राणी उदास, निराश और असहाय हैं। उसका पुत्र मरणासन्न है और :

"मोहन भी है वहीं मौन बैठा मन मारे
भीख माँगने जाय आज वह किसके द्वारे ?
है कोई भी नहीं उसे ऋण देने वाला।
महाजनों ने छार-खार उसको कर डाला।"[१]

यमुना और बच्चे रोते रहते हैं। मोहन लोटे को गिरवी रख कर आटा खरीदने

१. सियारामशरण गुप्त, अनाथ, पृ० ६

जाता है। दैवयोग से लौटते समय उसे 'चून' मिल जाता है। परन्तु वह इतना कम है कि उससे परिवार की भूख नहीं मिट सकती। इसी समय एक चौकीदार पहले तो मोहन को पुकारता है और फिर मारता है। उसके हाथ से चून गिर जाता है और चौकीदार उसे पकड़कर बेगार कराने के लिए थाने ले जाता है। पंखे की डोर पकड़े हुए धूप में बैठा मोहन पीटा भी जाता है। दरोगा भोजन कर रहा है। उसका कुत्ता गर्मी के कारण हाँफ रहा है। वह भूखा है तथा बच्चों की भूखी-प्यासी मरणासन्न स्थिति का स्मरण करता है। सिपाही के द्वारा वह पुनः पीटा जाता है :

> "बदमाश कहीं का जरा नहीं डरता है।
> बेहया जोर से हवा नहीं करता है।"[१]

प्रकृति भी उसके विरुद्ध थी। मन में शोक, करुणा, भय, विस्मय और अन्यायों का बोझ उठाये हुए वह दिन भर बेगार करता है। जब मुरलीधर ज्वर में प्रलाप कर रहा था और यमुना बच्चोंसहित रो रही थी तब काबुलीवाला अपना पैसा वसूल करने आता है और यमुना का हाथ पकड़ लेता है। मोहन को थाने से लौटते समय मालगुजार के यहाँ बुला लिया जाता है और इधर घर में काबुलीवाला यमुना को पकड़कर ले जाता है। यहाँ कवि की लेखनी भी काँप उठी है :

> "और लिखने को अगला वृत्त।
> किस तरह हों हम हाय प्रवृत्त।"[२]

मालगुजार के यहाँ मोहन को बेगार में सुरा-सुन्दरी में मत्त मालगुजार के महल के बाहर बैठा दिया जाता है। इधर घर में मुरलीधर मर जाता है। यह खबर पाकर मोहन दौड़कर घर की ओर आता है। एक ठोकर लगती है और उसके प्राण निकल जाते हैं। एक किसान की, गरीब ग्रामीण की यह करुण कथा है, जिस पर जमींदार, पुलिस, समाज आदि अत्याचार करते हैं। इस प्रकार कवि ने अपने युग की समस्या को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है।

शोषण के कारण मानवता की करुणाजनक परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण कवि ने बड़ी सादगी से किया है। उसने प्रबुद्ध वर्ग की चेतना को इसलिए जागृत किया है कि वह धनिकों, सरकारी कर्मचारियों, मालगुजारों,

---

१. सियारामशरण गुप्त, अनाथ, पृ० १७

२. वही, पृ० २६

महाजनों आदि के अत्याचारों का विरोध करे और भरपूर परिश्रम करनेवाले गरीब को भरपेट भोजन प्राप्त करने की सुविधा दे :

> "लोहू पसीना एक कर हम अन्न उपजाते यहाँ।
> पर वही अपना अन्न ही क्या हम कभी पाते यहाँ।
> कुछ तो हड़प जाते हमारे सेठ साहूकार हैं।
> बाकी बचे तो छीन लेते हाय मालगुजार हैं।"

यह करुण रस की रचना है।

इसकी भाषा सरल और प्रसाद गुण-युक्त है। कहीं-कहीं लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है।

## रामनरेश त्रिपाठी

त्रिपाठीजी के 'मिलन' (१९१७ ई०), 'पथिक' (१९२० ई०) और 'स्वप्न' (१९२८ ई०) खण्ड काव्यों में से प्रथम दो ही आलोच्य काल में रचे गये थे। कवि ने पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान न चुनकर कल्पित आख्यानों द्वारा देशभक्ति जैसे शुष्क और विषय-प्रधान काव्य को सरस बनाते हुए देश की तत्कालीन सामाजिक दशा का वर्णन किया है। त्रिपाठीजी ने खड़ी बोली को परिष्कृत और परिमार्जित करने की दिशा में भी अपनी कुशलता का परिचय दिया है।

'मिलन' पाँच सर्गों का खण्डकाव्य है। १९१४ ई० से १९१८ ई० तक हमारे देश पर भी प्रथम विश्वयुद्ध का प्रभाव पड़ा था। सन् १९१६ ई० में गाँधीजी का देश की सक्रिय राजनीति में प्रवेश, खिलाफत आन्दोलन और अंग्रेजों से देश की आजादी की माँग को जोरदार बनाने का प्रयास शुरू हुआ था। त्रिपाठीजी का 'मिलन' इन्हीं प्रयासों का प्रतिरूप है :

> "पर-पद-दलित स्वदेश भूमि का
> चलो करें उद्धार।"[१]

क्योंकि

> "किया जिन्होंने स्वर्णभूमि को कौड़ी का मुहताज।"[२]

उनको

> "प्रतिफल देना उन्हें उचित है धर विकराल कृपाण।"[३]

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन (सातवाँ संस्करण), पृ० ९

२. वही, पृ० ४

३. वही, पृ० ५

यही सोचकर विजय, जो इस कथा का नायक है और जो अपनी प्रिया विजया के प्रेम-बन्धन में अभी तक बँधा था, जनता को संगठित कर देश का उद्धार करने का निश्चय करता है :

"अस्थिचर्म-मय कंकालों में
जो कुछ बल है शेष।
संचय कर रिपुरहित करूँगा
अपना प्यारा देश॥"[१]

विजया पुरुष वेश में विजय के साथ सुन्दर प्रकृति के मध्य अपनी कुटीर को छोड़कर नाव में बैठ नदी पार करने जाती है, परन्तु तूफान में नाव उलट जाती है और दोनों डूब जाते हैं। प्रथम सर्ग में संयोग की वियोग में परिणति होती है :

"मुख चुम्बन कर देख एकटक
फिर दृग पट कर बन्द,
धारण कर प्रिय मूर्ति हृदय में
पाकर परमानन्द।"[२]

इस सर्ग में प्रकृति के सुन्दर चित्र हैं :

"नीरव निशा, तपोवन नीरव
शांत दिशा आकाश।
नीरव तारागण करते थे
झिलमिल अल्प प्रकाश।"[३]

प्रकृति का मानवीकरण भी हुआ है :

"बीती निशा उषा उठ आयी
पहन सुनहला चीर।"[४]

कवि ने 'ईश्वर-भक्ति लोक-सेवा है, एक अर्थ दो नाम'[५] का सिद्धान्त प्रकट करके मनुष्यता और हरिभक्ति को समानार्थक बताया है।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन (सातवाँ संस्करण), पृ० ५
२. वही, पृ० १६
३. वही, पृ० १
४. वही, पृ० १३
५. वही, पृ० १२

सूर्योदय के प्रकृति-चित्रण से दूसरे सर्ग का आरम्भ हुआ है :

> "गगन नीलिमा में हीरे का तेजपुंज अभिराम।
> एक पुष्प आलोकित करता था जल-थल-नभ-धाम ॥
> बरछी-सी उसकी किरनों से खाकर गहरी चोट।
> अन्धकार हो क्षीण छिपा था तरु-पत्तों की ओट ॥"

इस सर्ग में विजया को एक मुनि द्वारा नदी से बेसुध दशा में निकालना, उसकी मूर्छा का टूटना, उसका अपने प्रिय के वियोग में प्रलाप करना, प्रेम की महत्ता प्रकट करना, साधु का उसके पति की खोज में जाना और पुनः विजया द्वारा जल में कूदकर प्राण देने का प्रयत्न करना और फिर बचकर जल से बाहर आना तथा आत्महत्या जैसे पाप के कारण मन में विरति पैदा होना एवं पति के उद्देश्य को पूरा करने का उसका दृढ़ संकल्प दिखाया गया है। यह सर्ग मूलतः वियोग श्रृंगार के लिए द्रष्टव्य है :

> "विजया हुई विरह से व्याकुल, श्रांत, क्लांत, उद्भ्रांत।"[१]
>
> × × ×
>
> "प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।
> ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक ॥"[२]

प्रेमी ही सुखी और स्वच्छन्द होता है। उसे सारी सृष्टि प्रेममय प्रतीत होती है :

> "जन-जन में प्रेमी को दिखती है प्रियतम की कान्ति।
> इससे उसे लोक-सेवा में मिलती है अति शान्ति ॥"[३]

विरह-विदग्धा विजया प्रेम में डूबी हुई है। नदी उसे चिढ़ाती-सी जान पड़ी :

> "रूप-गर्विता तरंगिणी का था सब सुन्दर अंग।
> छवि छलकी पड़ती थी मानो तट पर चढ़ी तरंग ॥"[४]

कवि ने कुररी पक्षी के माध्यम से वियोग श्रृंगार का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है :

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन (सातवाँ संस्करण), पृ० २२
२. वही, पृ० २३
३. वही, पृ० २५
४. वही, पृ० २७

"विजया प्रेम विनिद्रित विजया विसुध चेतनाहीन।
प्रियतम, प्राणेश्वर, पुकारती कुररी-सी अति दीन।"[१]

वह सोचती है कि मरना ठीक नहीं है। प्रिय के अधूरे कार्य को पूरा करना उसका उद्देश्य हो जाता है :

"जिस प्रकार से अब स्वदेश का होगा पुनरुत्थान।
वही करूँगी यत्न अहर्निशि देकर तन-मन-प्रान॥"[२]

तीसरे सर्ग में साधु को जल में बहती हुई युवक की देह मिल जाती है। विजय भी डूबने से बच जाता है। अपनी कुटी में लाकर साधु उसका उपचार करता है। युवा शरीर को देखकर और उसके देशभक्ति के विचार से परिचित होकर उस साधु ने युवक को विजया का पता नहीं बताया। युवक ने अपने पिता, ग्राम आदि का पता दिया तथा अपने पिता के अन्यायी शासक से पीड़ित होने की बात कही। पिता ने उसे क्यों एक साधु को सौंपा उसने यह भी बताया। उसे देशभक्त बनाने की अपनी अन्तिम इच्छा जो पिता ने प्रकट की थी, बतायी। साधु की पुत्री के साथ अपने बचपन के सुन्दर दिनों का और उसके प्रणय और परिचय का रहस्योद्घाटन किया तथा अपना यह दृढ़ निश्चय दोहराया :

"जब तक देश स्वतंत्र न होगा मिटकर अत्याचार।
तब तक मैं संयमी रहूँगा ब्रह्मचर्य-व्रत धार।"[३]

मुनि ने उस युवक को सामाजिक तथा जातीय अवनति की अवस्था समझायी। उसने कहा कि 'हे पुत्र देश की है गति अति प्रतिकूल' और बताया कि देश में दुख रोग, भूख और कुतंत्र फैला हुआ है। यह स्थल तत्कालीन दशा का यथार्थ चित्रण करता है :

"अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है, उद्यम का न उपाय।
वन भी नहीं ठौर टिकने को, कहाँ जाय क्या खाय।"[४]

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन (सातवाँ संस्करण), पृ० २६
२. वही, पृ० ३१
३. वही, पृ० ४८
४. वही, पृ० ५०

तथा

"मिलता नहीं जन्म भर उनको खाने को भर पेट।"[1]

देश-दशा का यह चित्र देखिए :

"चोरी, जारी, छल, प्रपंच, अघ, आडम्बर, पाखण्ड।
बढ़ते जाते हैं जनता में, दुर्गुण परम प्रचण्ड
सब का एक मूल कारण है, दरिद्रता विकराल
घर-घर में हैं भरे भूत से भूखे नर कंकाल॥"[2]

उस समय इससे अधिक साफ और क्या कहा जा सकता था। ऐसी स्वच्छ, सरल, सीधी, जनता की बात जनता की भाषा में कहना विपत्ति न्यौतना था। शक्तिसम्पन्न हुए बिना भारत अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर पायेगा, यथा :

"कैसा है सुगन्धमय सुन्दर यह गुलाब का फूल।
पर इसकी डालों में हैं ये कैसे तीखे शूल।"[3]

ये शूल ही उसकी रक्षा करते हैं। यह उदार, सरल जाति है जिसकी दयालुता का शत्रु लाभ उठा रहे हैं। साधु युवक को बाधाओं में भी बढ़ते जाने का सन्देश देता है। वह मानता है कि :

"जो रहती है जाति जगत में मरने को तैयार।
वही अमरता का पाती है ईश्वर से अधिकार।"[4]

वह साधु उस बलिष्ठ और सुन्दर युवक को देश-सेवा का मन्त्र देता है। यह कह कर वह बाहर चला जाता है कि वह ठीक समय पर लौटेगा।

चौथे सर्ग में घटनाचक्र तेजी से घूमता है। विजया प्रेम में पागल होकर अपने प्रिय को खोजती फिरती है। वह एक दिन गाँव के एक किसान के परिवार को और उसकी दीन-दशा को देखती है :

"देखा केवल चर्माच्छादित एक मनुज कंकाल।
फटा-पुराना एक अँगोछा पहने परम बिहाल॥"[5]

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन, पृ० ५०
२. वही, पृ० ५१
३. वही
४. वही, पृ० ५२
५. वही, पृ० ५७

"बाहु-बद्ध कर पदस्तम्भ को चिन्ता ग्रसित अधीर।
घुटनों मध्य चिबुक रख कम्पित थर-थर अबल शरीर।"[१]
"ओढ़ घास की बनी चटाई, बिछा भूमि पर घास।
वे सोते थे पास-पास ही प्रायः कर उपवास।"[२]

वह किसान दरिद्र है। राजकर्मचारियों ने उसे झूठी गवाही देने से इनकार करने पर सताया और उसके अन्न, वस्त्र और बरतन बिकवा दिये। ऐसे गरीब अधपेट सोनेवाले किसान की सेवा करने का व्रत लेकर विजया सच्चे सेवा धर्म के नाते गाँव-गाँव में इन कंकाल रूप किसानों को जगाने लगी :

"चिपके पेट रीढ़ से जिनके चुचके पुचके गाल"[३]

ऐसे किसान लोक-सेवा के केन्द्र बन गये। वह सेवा व्रत लेकर गाँवों में गयी। उन्हीं गाँवों में वह युवक भी गया। देशप्रेम का ज्वार उठा। लोग देश को स्वतन्त्र करने के लिए अपना बलिदान करने को तैयार हो गये। विजया का गीत स्वतंत्रता का बीज बन गया। साधु ने भी युवक के पिता के मिलन नगर नामक गाँव में व्याख्यान दिया। स्वतन्त्रता के लिए प्रजा को उत्सुक देखकर शासकों ने बड़े अत्याचार किये :

"धर विजया को, पकड़ युवा को, मुनि को डाला मार।"[४]

बस, विद्रोह फैल गया। युवक ने लोगों को लड़ने के लिए तैयार किया। यहीं पर ओज गुण, वीर और रौद्र रस का सुन्दर वर्णन पाया जाता है जैसे :

"बढ़े कुचलने को बैरीगण मानो मत्त पतंग।
झपटे लोग सिंह सम, तब तो पलट गयास ब ढंग।।"[५]
"लोहू गर्म हुआ वीरों का धड़क उठे सब अंग।"[६]
"गरज उठे सब सिंहनाद से झपटे शस्त्र सँभाल।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन, पृ० ५७
२. वही, पृ० ५९
३. वही, पृ० ६३
४. वही, पृ० ६८
५. वही, पृ० ६९
६. वही

टिक न सके बैरी कुछ पिछड़े, सह आक्रमण कराल ।।
विजया भी भैरवी भेस में आयी धर करवाल ।।"[१]

युवक पर पड़ने वाले तलवार के वार को मुनि ने झेल लिया । युवक ने शत्रु का सिर काट लिया और :

"विजया ने दूसरी ओर से कर भैरव हुंकार ।
मार भगाया शत्रु वृन्द को करके कठिन प्रहार ।"

देश स्वतन्त्र हुआ । मुनि युवा का पिता था, यह रहस्य स्वयं मुनि ने अपनी मृत्यु के पूर्व उद्घाटित कर दिया । पाँचवें सर्ग में विजया का युवक से पुनर्मिलन हुआ है ।

इस खण्ड काव्य में प्रसाद, माधुर्य और ओज तीनों गुण हैं तथा शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्ष चित्रित हैं । वर्णनात्मक रचना होने के कारण इस रचना में अभिधा का ही अधिक प्रयोग है, परन्तु लक्षणा भी विद्यमान है :

"चन्द्र चूम लूँ बोला मन में जैसे ही आनन्द ।
आकर लगा तुरत ओठों से मधुर सुधाकर चन्द ।"[२]

**भाषा** : कवि ने 'मिलन' में खड़ी बोली का स्वाभाविक और सरस स्वरूप प्रस्तुत किया है । तत्सम शब्दावली कई स्थानों पर पायी जाती है :

१. "सरला सुधबुधहीन बालिका शोकानुभव विहीन ।
करो नहीं मुझ कपोतनी को वधिक-वियोगाधीन ।।"[३]

२. "चन्द्र कुण्डली सा बलयित कर रमणी कण्ठ ललाम ।
चिबुक प्रस्फुटोन्मुख गुलाब धर चूम बाल अभिराम ।"[४]

३. "कृशता, तरणिताप, पथ श्रम फिर विरहानल विकराल ।
सुधि प्रभात की घृत-आहुति-सी बाल न सकी सँभाल ।"[५]

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन, पृ० ७०
२. वही, पृ० ७६
३. वही, पृ० ३
४. वही
५. वही, पृ० ३०

४. "परिघ-समान प्रलम्ब युगल-भुज पृथुल कठिन भुज दण्ड ।"[१]

५. "अर्धचन्द्र सम भाल सुचिक्कण मुख का भाव गँभीर ।"[२]

तरल-तरंगित, विरह-विताड़ित, चन्द्र-चुम्बन, सरित-सलिल, स्वर्ण-सुमन आदि श्रुति सुखद प्रयोग किये गये हैं, देखिए :

"तरल-तरंगित सरित-सलिल में उसकी प्रभा ललाम ।
लहक रही थी, ज्यों झड़ते हों स्वर्ण-सुमन अभिराम ।"[३]

ढिग, भेस, ठौर जैसे देशज शब्द भी इस काव्य में प्रयुक्त हुए हैं ।

भाषा की प्रासादिकता का यह उदाहरण देखिए :

"मुझ पर और देश दोनों पर रखते हो अनुराग ।
किसके लिए किसे तुम प्रियतम, कर सकते हो त्याग ?"[४]

कहीं-कहीं 'पड़ी न अब तक गाज', 'आहें भरते थे', 'कलेजा थाम', 'उखड़ रहे थे पैर', 'कौड़ी का मुहताज' आदि मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं ।

**अलंकार :**

रूपकातिशयोक्ति :

"सुन प्रणयी के इन्द्रवदन में, मृदुल कौमुदी हास ।
विकसित हुआ झुकाया उसने शशि को शशि के पास ॥"[५]

उपमा और रूपक :

"पंकज-माला सी प्रणयी के मृदु गलबहियाँ डाल ।
दृग-चकोर से देख चन्द्रमुख बोली विह्वल बाल ॥"[६]

उदाहरण :

"गन्ध-विहीन फूल हैं जैसे चन्द्र चन्द्रिकाहीन ।
यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम-विहीन ॥"

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन, पृ० ३७
२. वही, पृ० ३८
३. वही, पृ० १९
४. वही, पृ० ३९
५. वही, पृ० ३
६. वही, पृ० ६

**प्रतीप :**

"तुम से हुआ यशस्वी यश भी देख विशुद्ध चरित्र ।"[१]

तुल्ययोगिता :

"शोकमग्न मेरी विपत्ति में, सब ने तजा विलास ।
खग ने गान, लता ने हिलना, मृग ने गगन-प्रयास ।"[२]

कवि ने मूर्त और अमूर्त दोनों ही प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया है। प्रकृति का अलंकारिक वर्णन भी हुआ है ।

मानवीकरण :

१. "नीरव तारागण करते थे झिलमिल अल्प प्रकाश ।"[३]
२. "बीती निशा उषा उठ आयी पहन सुनहला चीर ॥"[४]
३. "नभ में बुझा चुके थे सुर भी निज-निज घर के दीप ।"[५]

समग्र दृष्टि से देखने पर 'मिलन' ऐसी रचना जान पड़ती है जो खड़ी बोली के परिमार्जन, परिष्करण और समृद्धि का परिचायक है ।

## पथिक

पथिक की भूमिका में स्वयं कवि की यह स्वीकारोक्ति है कि 'रामेश्वरम् की यात्रा में पर्वत, वन, नदी और समुद्र-तट का प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर मेरे मन को जो सुख प्राप्त हुआ है, उसकी कुछ झलक इस पथिक के पद्यों में लाने की चेष्टा मैंने की है। इसका पहला पद्य रामेश्वरम् में समुद्र-तट पर वैशाख कृष्ण ६, संवत् १९७७, शुक्रवार को प्रातःकाल चार बजे रचा गया ।'[६] पथिक में पाँच सर्ग हैं ।

**कथासूत्र :** जैसे एक लम्बा संगीत अपनी अनन्त लय के साथ, बन्द होने पर भी न टूटे और उसकी प्रतिध्वनि सदा सुनायी पड़ती रहे, उसी प्रकार का पथिक का यह काल्पनिक कथासूत्र है। एक पथिक समुद्रतट पर प्रातःकाल

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, मिलन, पृ० ७३
२. वही, पृ० २८
३. वही, पृ० १
४. वही, पृ० १३
५. वही, पृ० १६
६. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक (तैंतीसवाँ संस्करण, १९५६ ई०), पृ० ३

की मनोहर छटा देख रहा है। एक स्वर्गीय किरण-सी बाला जो उसकी पत्नी है, उसे इस प्रकृति-प्रणय की मूर्छा से जगाती है। वह उसे घर लौट चलने को कहती है और बच्चे की याद दिलाती है। परन्तु प्रकृति-सौन्दर्य के आनन्द में डूबा हुआ पथिक प्रलाप करने लगा। उसकी सुन्दर प्रिया पति-वियोग में अपने प्राण देने के लिए समुद्रतट पर गयी थी पर पति को देखकर वह खिल उठी। पथिक ने मनुष्य जगत के दुखों को गिनाकर लौट चलने में अपनी अनिच्छा प्रकट की। इस मानवीय जगत से अधिक मोहक उसे अब प्रकृति प्रतीत हो रही थी। वह अपनी सुन्दर पत्नी को समुद्रतट पर ही छोड़ कर वन में कहीं जाकर विलुप्त हो गया। इस सर्ग में प्रकृति-सौन्दर्य के अनेक सुन्दर और अलंकृत स्थल हैं।

दूसरे सर्ग में पथिक एक साधु द्वारा अपने देश और जाति की सेवा करते हुए लोकहित, विश्वकल्याण, देशभक्ति, जनसेवा और मानवसेवा की साधना के लिए प्रेरित किया गया। उद्‌बोधन के इन पदों में मानवीय गुणों की महत्ता, देश तथा जाति के प्रति व्यक्ति का कर्तव्य और त्यागमयी लोक-भावना की सुन्दर रूपरेखा खींची गयी है।

तीसरे सर्ग में पथिक जब देश-सेवा के लिए जाता है, तब वह समाज की दरिद्रता, किसानों की दुर्दशा, फूट, दम्भ, विश्वासघात, छल आदि का साम्राज्य देखता है। इसका कारण है राजा की निरंकुशता और दुर्नीति। प्रजा में कुछ लोग सद्‌विचार वाले हैं, जो सत्यनिष्ठा, निर्भयता, साहस आदि उपदेश तो देते हैं पर स्वयं उनका पालन नहीं करते। कुछ ने तो देशभक्ति को जीविका का साधन बना रखा है। कुछ राजा से द्वेष रखने के कारण और कुछ स्वार्थवश प्रजा के साथ हैं। पथिक ने देश भर का भ्रमण किया। उसने प्रजा के कष्ट पहचाने। अपने देशानुराग और सहिष्णुता के कारण वह प्रजा का नेता बन गया। उस पथिक ने एक दिन राजा को प्रजा के कष्ट बताये और उन कष्टों के निवारण की याचना की। राजा ने उसे राजसभा से निकलवा दिया। कई बार के प्रयत्नों का भी कुछ फल नहीं निकला। तब पथिक ने प्रजा को राजा का साथ छोड़ने और उससे सभी प्रकार के सम्बन्ध तोड़ लेने का सन्देश दिया।

इस सर्ग में भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन की १९२० ई० के आसपास की झाँकी साफ दिखायी देती है। निरंकुश शासन के अत्याचारों के विरुद्ध जो आवाज़ तिलक और गाँधी ने उठायी थी और लाल-बाल-पाल ने जो मन्त्र फूंका था तथा असहयोग की जो रूपरेखा अँग्रेजी सत्ता के विरुद्ध निश्चित हुई थी, उसकी अभिव्यक्ति इस सर्ग में देखी जा सकती है। प्रजा अपने देश-सेवक

पथिक को तन-मन से चाहती थी, पर पथिक के प्रति राजा का कोप बढ़ रहा था।

चौथे सर्ग में कथावस्तु की चरमावस्था है। पथिक की प्रिया का विरह वर्णन, पथिक के वध की सूचना पाकर प्रिया का कारागार में जाना और पथिक के सामने रखे विष के कटोरे को उठाकर विषपान करना और अबोध बालक का अपनी माता के शव से दुलार की याचना करना, पथिक को तड़पा-तड़पा कर मारना, उसके पुत्र का वध होना, युवकों का विद्रोह करना, वधिकों का घिराव होना, गाँधीवादी अहिंसक उपदेश के रूप में पथिक का सन्देश देना, नेता का लक्षण और साधु का आशीष, दीनों-दरिद्रों में ईश्वर की उपस्थिति का आभास होना और अन्त में साधु का समाधि लेकर स्वर्ग सिधारना तथा पथिक का सुत और नारी सहित वध होना ये सभी घटनाएँ चौथे सर्ग में तेजी से घटित होती हैं।

पाँचवें सर्ग में जनता की उदासी, विरक्ति और राजा से घृणा दिखायी गयी है। सारे देश में स्तब्धता छा जाती है। राजा ने क्रोध में आकर पथिक के घर को मटियामेट करने की आज्ञा दे दी थी। प्रजा का राजा के प्रति आक्रोश बढ़ता गया। राजकर्मचारी, दास-दासी, सिपाही आदि सभी ने राजा का काम करना छोड़ दिया। उसे कोई पानी देने वाला भी न रहा। प्रजा की शक्ति को दिखाते हुए राज्य से राजा को निष्कासित किया गया। पथिक, साध्वी, सुत और साधु के वध-स्थल पर एक मन्दिर बनवाया गया। पथिक की प्रतिमा स्थापित की गयी। शेष बलिदानियों की प्रतिमाएँ भी उसी के पास बैठायी गयीं। वहाँ मेला लगने लगा और लोग पथिक को 'पूज्य देश के पिता' के रूप में प्रणाम करने लगे, क्योंकि :

"एक शुद्ध सच्चे प्रेमी ने आत्मशक्ति साधन से।
मुक्त कर दिया एक देश को नरक-तुल्य शासन से॥"

पथिक की कथावस्तु सुश्रृंखलित है। उसमें कहीं भी कोई बिखराव या ढीलापन नहीं दिखायी देता। यह सुविन्यस्त खण्ड काव्य है।

**चरित्र-चित्रण :** प्रकृति-प्रेमी पथिक का चरित्र जन-सेवक और आत्मबल सम्पन्न जननेता के पवित्र रूप में उत्तरोत्तर निखरता चला गया है। कहाँ वह 'एक पथिक स्वच्छन्द समुद्र समीरण का अनुरागी'[१] था, जो 'कमनीय एक

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, २/१ सर्ग

स्वर्ग किरन-सी बामा'---अपनी पत्नी को छोड़कर प्रकृति के रमणीय रूप में खो गया था। वही एक साधु के उपदेश के कारण बदल गया। उस साधु का यह सन्देश था :

"सुखी रहो, निस्वार्थ प्रेम की जग में ज्योति जगाओ।
भ्रम में भूले-भटके भव को सुख की राह लगाओ।"

साधु का उपदेश था कि यह देश माता के तुल्य है। पथिक जाति और देश सेवा को लक्ष्य बनाये। वह वन में नहीं, समाज में जाकर लोक-सेवा करते हुए देश को आजाद करे :

"जाओ पुत्र! जगत में जाओ, व्यर्थ न समय गँवाओ।
सदा लोक-कल्याण निरत हो जीवन सफल बनाओ॥"

देश और जाति के हित के बाद ही विश्व-कल्याण की कामना करनी चाहिए :

"यद्यपि सब जग का हित चिन्तन सब को आवश्यक है।
पर प्रत्येक मनुज पर पहला देश जाति का हक है॥
पैदा कर जिस देश-जाति ने तुमको पाला-पोसा
किये हुए है वह निज हित का तुमसे बड़ा भरोसा।
उससे होना उऋण प्रथम है सत्कर्तव्य तुम्हारा।
फिर दे सकते हो वसुधा को शेष स्वजीवन सारा॥"

साधु के देश-प्रेम और जाति-हित कामना के निस्वार्थ सन्देश ने पथिक को झकझोर दिया और वह कह उठा :

"फिर बोला हे जन्मभूमि, हे देश, प्रेम-धन मेरे।
मैं यह जीवन पुष्प-चढ़ाता हूँ चरणों पर तेरे।"

देश का प्रकृति-सौन्दर्य अनुपम था, पर समाज में उसने जो देखा वह भीषण था :

"धधक रही सब ओर भूख की ज्वाला है घर-घर में।
मांस नहीं है, निरी साँस है शेष अस्थि-पंजर में॥
अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है, रहने का न ठिकाना।
कोई नहीं किसी का साथी अपना और बिगाना॥"

उसने देखा कि भूखे पेट दरिद्र जनता, मजदूर, और कृषक जीते हैं तथा रक्षक से भक्षक बना हुआ शासक दल है। चारों ओर घोर दीनता है तथा झूठ, दम्भ, छल, अनीति, विश्वासघात, चरित्रहीनता, अशिक्षा, भय आदि देश में फैले हुए हैं। मूल कारण राजा की वह नीति थी जो प्रजा की उन्नति

के प्रतिकूल थी। उसने यह भी देखा कि कुछ लोगों ने स्वार्थ-साधन के लिए देश-प्रेम को व्यापार बना लिया है। अतः वह देश-सेवा के काम में अपूर्व लगन से जुट गया। उसने शारीरिक सुख की चिन्ता छोड़ दी। उसने मोटा वस्त्र पहना, वह सदा भूमि पर सोया और उसे न किसी से घृणा हुई न द्वेष। वह लघु से लघु मनुष्य की सेवा करता था। उसने अपना तन-मन जनता को अर्पण कर दिया। फलतः वह जनता का आराध्य बन गया। उसने जनता को जगाया। देश में फैली हुई उदासी का कारण पराधीनता थी। उदाहरणार्थ :

"पराधीन रहकर अपना सुख शोक न सह सकता है।
यह अपमान जगत में केवल पशु ही सह सकता है॥
बल के बिना बुद्धि का कौशल कायरता है छल है।"

× × ×

"दुखदायी शासन से अपनी सारी शक्ति हटा लो।"

× × ×

"एक घड़ी की भी परवशता कोटि नरक के सम है।
पल भर की भी स्वतन्त्रता सौ स्वर्गों से उत्तम है॥"[१]

जनता को स्वतन्त्रता का सन्देश देने वाला यह जननायक बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया गया और उसके वध की तिथि की घोषणा कर दी गयी। पथिक-प्रिया अपने अबोध बालक को लेकर जब राजमहल के निकट पहुँची, तब वहाँ भीड़ थी, राजा की आज्ञा थी कि 'प्रजा करे यदि छेड़छाड़ तो कत्ले-आम कर देना'। महल के आगे लौह-शृंखलाओं में जकड़ा हुआ पथिक बैठा था और :

"विष से भरा कटोरा उसके धरा हुआ सम्मुख था
सिर पर खड़ी मृत्यु थी, उसका न म्लान मुख था।"

× × ×

"इतने में ही भीड़ चीर कर वायु वेग से आके।
पथिक-प्रिया ने शीघ्र पी लिया विष का पात्र उठा के।"

देखते-देखते वह साध्वी पति के लिए अपने प्राण दे बैठी। उसका आत्मत्याग भारतीय नारी की पतिपरायणता, त्याग, तपस्या, शील और संस्कृति का अक्षय चरम-विन्दु था। यह त्रासदी यहीं नहीं रुकी।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, (तैतीसवाँ संस्करण, १९५६) पृ० ५०

राजाज्ञा से पुत्र का वध भी किया गया :

"हा हा करते रहे लोग सब किन्तु वधिक ने कर में,
ले कराल करवाल बाल की हत्या की पल भर में।"

पत्नी और पुत्र के वियोग में भी पथिक विचलित नहीं हुआ। गांधीजी की अविचल छवि इस पथिक में दिखायी देती है। जनता जब उग्र होकर वधिकों को घेर लेती है, तब भी वह अपने पुत्र की सिरकटी लाश और पत्नी के शव के पास खड़ा होकर प्रजा को हिंसा का प्रदर्शन करने से रोकता है :

"रक्तपात करना पशुता है कायरता है मन की।
अरि को वश करना चरित्र से शोभा है सज्जन की।"[१]

अपने सन्देश में वह कहता है कि मेरी पत्नी और पुत्र के वध को देखकर कोई उसका बदला न ले। उसी समय साधु भीड़ में से सामने आ जाते हैं। आशीष देते हैं। पथिक गुरु को प्रणाम करता है। उनकी प्रेरणा से ही ब्रह्म की असली सत्ता को वह जान पाया है। साधु समाधि में लीन होकर स्वर्गवासी हो गये। उसी समय राजाज्ञा से वधिकों ने पथिक का वध कर डाला।

यथार्थ में पथिक के जीवन का अवसान ही कथा की चरमावस्था है। परन्तु इस त्रासदी को बचाने के लिए अन्त में पथिक की प्रेरणा से ही प्रजा, कर्मचारीगण, भृत्य आदि राजा का सम्पूर्ण बहिष्कार करते हैं। उसका देश से निष्कासन होता है और पथिक के वधस्थल पर हुतात्माओं की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाती हैं।

पथिक देश और जाति के लिए अहिंसा के मार्ग से, आत्मबल से जनता का हृदय-परिवर्तन करने वाला और देश की स्वतन्त्रता के लिए उत्सर्ग हो जाने वाला चरित्र है। इस पथिक का जीवन और आत्मबल, अहिंसा, त्याग, तप, जनसेवा, देशभक्ति, सभी कुछ गाँधी से मेल खाती है।

पथिक की प्रिया एक पतिपरायणा नारी है। उसे वियोग, विष और मृत्यु के बाद प्रतिमा होने का सम्मान मिला। उसका यह गीत देखिए :

"मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जागृति गति और सुषुप्ति मिलन है।"[२]

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० ५६/६१

२. वही, पृ० १६

वह प्रेममयी है। पति ने उसे छोड़कर प्रकृति-प्रणय और फिर देश-प्रेम को अपना लक्ष्य बनाया था। पर पति के वध की सूचना पाते ही वह दौड़ी जाती है। उसकी विरह अवस्था द्रष्टव्य है :

"देता है सूचना पपीहा, हवा किवाड़ बजाती।
तुझको आया समझ द्वार पर तुरत दौड़ मैं जाती।"

× × ×

"काग साध अब पूरी करलो चुन-चुन कर इस तन को।
देना छोड़ दया करके प्रियदर्शन-व्रती नयन को।"

× × ×

"हे भगवान घास मैं होती प्रिय उस पर पग धरते।
अति कृतज्ञ होती प्रिय-पद की धूलि मुझे तुम करते।"[१]

तथा

"रिमझिम बरस रहे सावन घन उमड़-घुमड़ अलबेले
तरुतल कहीं भींगते होंगे मेरे पथिक अकेले।"[२]

ऐसी विरहिणी प्रिया, सुन्दर पत्नी शीलवान पति-परायणा पति को विष का कटोरा पीने के लिए उद्यत देखकर स्वयं आत्मोसर्ग कर बैठी। द्विवेदीयुगीन हिन्दी काव्यधारा में प्रेम का ऐसा उदाहरण अन्यत्र नहीं है। त्रिपाठीजी की यह पथिक-प्रिया सत्याग्रही नारियों की पथ-प्रदर्शक रही है।

साधु की देश और जाति के लिए प्राण-त्याग की भावना और समाधिस्थ होकर एक ज्योति-सा निर्वाण हो जाना इस काव्य की सात्विक प्रेरणा है। देशप्रेम या जाति-प्रेम ईश्वरीय आदेश हैं। वे हमारे परम पवित्र कर्तव्य हैं। बच्चे का वध होना एक अमानुषिक घटना है। उस अबोध बालक का विष पीकर मरी हुई माता से अनुनय करना

"सो गयी तू क्यों माँ, उठ चल अब घर को।
मुझे लगी है भूख, अकेला जाऊँ कहाँ किधर को।
माँ! तू कुछ न खिलाती मुझको, कभी न दूध पिलाती।
सारे दिन रोती रहती है, खेल न कभी खिलाती।"[३]

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० ५३
२. वही, पृ० ५४
३. वही, सर्ग ४, पृ० ५७

हृदयद्रावक है। इस दृश्य को देखकर जनता का हृदय उमड़ आया। विद्रोह की तैयारी हो गयी। बालक ने सबका मन मोह लिया। उसके वध ने पथिक को मर्मांतक पीड़ा पहुँचायी पर उसने अपना धैर्य नहीं छोड़ा :

"मेरा पुत्र अंश था मेरा आज काम वह आया।
बना प्रमाण सत्य का मेरे, सफल हो गयी काया।"

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह अनूठा खण्ड-काव्य है।

**अभिव्यंजना शैली** : त्रिपाठी जी का पथिक 'प्रियप्रवास', 'भारत-भारती', 'जयद्रथवध', आदि के बाद की रचना है। इसकी भाषा तत्सम प्रधान है। जहाँ-तहाँ विचुम्बित, विनिद्रित, विमोहित, विनिन्दित, आदि प्रत्यय-युक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है। संसृति, स्मृति, सस्मित, प्रवाल, कम्बु, केतु, शक्ति कल्मष, विरहाकुल, आर्त्तनाद, वंचक, तपोधन, द्योतक, वसुमति, निहरित, कूजित, अकिंचन, आच्छादित, छाया-शायित, कुंचित, पुष्कर, लतिकालिंगित, मल्लिका, रक्तक, किंशुक, आघोष, व्रती, आदि अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रवाहमयी पदावली में करके उन्हें सहज गतिमान बना दिया गया है। उच्चारण-सुकरता और श्रवण-सुखदता के लिए वर्ण-मैत्री के आधार पर तरल-तरंगित, स्वर्ण-सुमन, समुद्र-समीरण, सुषमा-सौन्दर्य, वीचि-विचुम्बित, राग-रथी, हर्ष-विमर्ष-विरागी, नट-नागर, कोकिल-कंठी, मनमोहन-कला-प्रवीणा, स्वर-वीणा, रंग-विरंग, वारि-माला, प्रकृति-प्रणय, मृगमाला-विहरित, कोकिल-कूजित, लता-लसित, तृण-संकुलित, लोक-सौन्दर्य, बक-पंक्ति-गमन, कुन्द-कली, उमड़-घुमड़, रिमझिम, लौह-शृंखला-बद्ध, पथिक-प्रिया, आदि प्रयोगों द्वारा त्रिपाठीजी ने खड़ी बोली काव्य में माधुय की सृष्टि की है। कहीं-कहीं नये शब्द भी निर्मित किये गये हैं।

"क्षमा शान्ति, करुणा, उदारता, श्रद्धा-भक्ति-विनयिता।"[1]

× × ×

"यह इच्छा है कुंज-कुंज में वायु बना विचरूँगा।"

× × ×

"कुम्हलाये पौधों में फिर से चेतनता वितरूँगा।"[2]

× × ×

"खड़े चतुर्दिक शान्त भाव से लतिकालिंगित द्रुम हैं।"[3]

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० ३२

२. वही, पृ० २६

३. वही, पृ० ४१

कुछ देशज शब्द जैसे असवारी, बूड़, जुड़ाते, भाती, पाती, पठाऊँ, बाँच आदि प्रयोग पाये जाते हैं। ये काव्य के लालित्य में बाधा पहुँचाते हैं। 'रही उड़ीक द्वार पर मैं हूँ अन्त घड़ी जीवन की'[१] का उड़ीक (प्रतीक्षा) पंजाबी की ठेठ बोलचाल की भाषा का शब्द है। कहीं-कहीं हरदम, हौसला, गुल, बुलबुल, नहला, हुक्म, नसीब, आदि शब्दों का प्रयोग खटकता है। भाषा में स्वच्छता और सुबोधता के साथ-साथ प्रवाह और गति है। कहीं तत्सम शब्दावली युक्त भाषा और कहीं सरल सीधी बोलचाल की भाषा प्रयुक्त हुई है, जैसे :

"राग-रथी, रविरागपथी, अविराग-विनोद-बसेरा।
प्रकृति-भवन के सब विभवों से सुन्दर सरस सबेरा।
एक दिवस अति मुदित उदधि के वीचि-विचुम्बित तीरे।
सुख की भाँति मिला प्राची से आकर धीरे-धीरे॥"[२]

साधारण सरल भाषा :

"कष्ट दिया मैंने जो तुमको उसे न मन में लाना।
आओ, वैठो, सुनो तुम्हें है कुछ रहस्य बतलाना॥"[३]

इस रचना की भाषा में सफाई, कसावट और साधुता है।

**लोकोक्ति और मुहावरे** : 'फूले नहीं समाते'[४], 'हीरा-सा जीवन ले क्यों कौड़ी के मोल बिकाऊँ'[५], 'कली खिल उठी जी की'[६], 'निर्भय गाल बजाते'[७], 'तो यह इसका पुत्र खड्ग के घाट अभी उतरेगा'[८] आदि प्रयुक्त हुए हैं।

**अलंकार** : 'पथिक' में मुख्य रूप से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा का अधिक प्रयोग किया गया है।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० ५२
२. वही, पृ० १७
३. वही, पृ० ३०
४. वही, पृ० २२
५. वही, पृ० २७
६. वही, पृ० २८
७. वही, पृ० ४७
८. वही, पृ० ५९

उपमा :

"कहीं श्याम चट्टान कहीं दर्पण-सा उज्जवल सर है ।"[1]
"सिन्धु गोद में लय से पहले तरंगिता सरिता-सी ।"[2]
"मुख ऊपर दुख की छाया थी सन्ध्या-सी उपवन-सी ।।"[3]

रूपक :

"सिन्धु विहंग तरंग पंख को फड़काकर प्रतिक्षण में ।"[4]
"देख सलिल दर्पण में शोभा वे फूले न समाते ।"[5]

उत्प्रेक्षा :

"निकल रहा है जलनिधि तल पर दिनकर बिम्ब अधूरा ।
कमला के कंचन-मन्दिर का मानो कान्त कँगूरा ।"[6]

उपमानों की नवीनता देखिए :

"उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरन-सी वामा ।
कवि के स्वप्न समान, विश्व के विस्मय-सी अभिरामा ।"[7]

मूर्त उपमेय के लिए अमूर्त उपमान :

"सुन्दर सर है लहर मनोरथ-सी उठकर मिट जाती ।"[8]

अमूर्त के लिए मूर्त उपमान :

"हुई निविड़ तम में प्रभात-बेला सी जागृत आशा ।
देख पुण्य का उदय हुई बलवती उच्च अभिलाषा ।"[9]

**प्रकृति-चित्रण** : पथिक खण्ड काव्य में प्रकृति-चित्रण के स्वतन्त्र और उद्दीपक रूप पाये जाते हैं । चित्रात्मक शैली, मानवीकरण, और निर्जीव वस्तुओं में चेतना का आरोप करते हुए प्रकृति-वर्णन सजीव बनाये गये हैं :

---

१ रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० ३९
२. वही, पृ० १७
३. वही, पृ० १८
४. वही, पृ० ३१
५. वही, पृ० ४१
६. वही, पृ० २०
७. वही
८. वही, पृ० ४१
९. वही, पृ० ४८

"कोमल मलय पवन घर-घर में सुरभि बाँट आता है।"[1]

"देता है सूचना पपीहा हवा किवाड़ बजाती।"[2]

प्रकृति-चित्रण के स्वतन्त्र वर्णन में कवि अपने युग के कवियों से बहुत आगे है :

"रत्नाकर गर्जन करता है, मलयानिल बहता है।
हरदम यह हौसला हृदय में प्रिये ! भरता रहता है।
इस विशाल, विस्तृत महिमामय रत्नाकर के घर में।
कोने-कोने में लहरों पर बैठ फिरूँ जी भर मैं।"[3]

"लहरों पर लहरों का आना सुन्दर अति सुन्दर है।"[4]

"यह बबूल-वन सिन्धु तीर पर हरी छतरियाँ छाये।
क्षिति पर शीतल छाँह बिछाकर शूल-समूह छिपाये।"[5]

"बड़ी दूर से चलकर लहरें मौजभरी आती हैं।
चूम-चूम निज देश चरण वह नाच-नाच गाती हैं।"[6]

प्रकृति-चित्रण में जयदेव से प्रभावित कोमल-कान्त पदावली भी प्रयुक्त हुई है :

"मृगमाला विहरित कल कोकिल कूजित कुसुमित वन को।
ललित लहलही लता लसित अलि मुखरित कुंज भवन को।
तृण-संकुलित हरित वसुमति गिरि लहर उदधि नभ घन को।
देख हुआ कौतूहल अति आश्चर्य तुम्हारे मन को।"[7]

"वंजुल मंजुल सदा सुसज्जित मज्जित छदन-विवर से।
अलिकुल आकुल मुकुल बकुल संकुल व्याकुल नभचर से।"[8]

इन्हीं उद्धरणों में अनुप्रास की छटा भी देखी जा सकती है।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० ३१
२. वही, पृ० ५३
३. वही, पृ० २०
४. वही
५. वही, पृ० २६
६. वही
७. वही, पृ० ३०
८. वही, पृ० ४१

**शब्द-शक्ति** : इस काव्य में अभिधा का प्राधान्य है, पर लक्षणा के प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं :

"दिया निकाल देश-सीमा से बाहर बड़े जतन से।
उस बबूल तरु को उखाड़ कर फेंका नन्दन वन से।"[१]

यहाँ 'बबूल तरु' का अर्थ अत्याचारी राजा और 'नन्दन वन' का अर्थ भारत-भूमि है। यहाँ लक्षण-लक्षणा है।

**गुण** : पथिक में भावानुरूप भाषा-शैली का प्रयोग हुआ है। 'कामना और नहीं कुछ मेरी' (पृ० १९) गीत में प्रसाद गुण देखिए :

"कैसी मधुर मनोहर उज्जवल है यह प्रेम-कहानी।
जी में है अक्षर बन इसके बनूँ विश्व की बानी॥
स्थिर, पवित्र, आनन्द-प्रवाहित, सदा शान्त सुखकर है।
अहा, प्रेम का राज्य परम सुन्दर, अतिशय सुन्दर है।"[२]

और ओज गुण का यह नमूना है :

"पथिक नाम की सुधि आते ही परम क्रोध चढ़ आया।
दृग-विस्फारित, नाक प्रश्वसित, हुई प्रकम्पित काया।
अक्षर लगे निकलने मुख से मानो ज्वलित अँगारे—
देखे प्रजा पापिनी क्रोधानल की भभक हमारे॥"[३]

इस काव्य में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिस्थितियों और राजा-प्रजा तथा स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की चर्चा की गयी है। सत्य, अहिंसा, त्याग, आत्मबलि, आत्म-बल, शान्ति, असहयोग, साधुता तथा संयम के रूप में गाँधीजी के जीवन-दर्शन का प्रभाव सुस्पष्ट है। पथिक का बलिदान एक स्थायी प्रभाव पाठक के मन पर छोड़ जाता है। भावों की स्पष्ट अभिव्यंजना और खण्ड काव्य की सफलता की दृष्टि से यह काव्य एक सुन्दर सफल रचना है। छायावाद के विकास की पहली भूमिका के अन्तर्गत इसका विशिष्ट महत्व है।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ० ७१
२. वही, पृ० २१
३. वही, पृ० ६८

## प्रसाद

### प्रेमपथिक

जयशंकर प्रसाद का यह सर्गविहीन खण्ड काव्य उसी प्रकार लघुप्रबन्धात्मक खण्ड काव्यों की श्रेणी की रचना है, जिस प्रकार गुप्तजी का 'रंग में भंग', रत्नाकर का 'उद्धव-शतक', पन्त की 'ग्रन्थि', या स्वयं प्रसादजी का 'महाराणा का महत्व' है। प्रसाद के 'चित्राधार' का प्रथम संस्करण १९१८ ई० में निकला था। इसके अन्तर्गत कानन-कुसुम कविता संग्रह, प्रेम-पथिक, महाराणा का महत्व, सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य, छाया, उर्वशी, राज्यश्री, करुणालय, आदि एक साथ प्रकाशित हुए थे। 'करुणालय' को विद्वान् गीति-रूपक, भावनाट्य, कथोपकथनात्मक पद्य-कथा, तथा नाटकोन्मुख कथोपकथनात्मक पद्यबद्ध कहानी की संज्ञा देते हैं और इसे खण्ड काव्य नहीं मानते। डॉ० गणेश खरे ने इसे 'गीतिनाट्योन्मुख काव्य' कहा है। यह गीतिनाट्य के ढंग पर लिखी गयी रचना है।

लघु-प्रबन्ध की दृष्टि से 'प्रेमपथिक' और 'महाराणा का महत्व' ही विशेष रूप से विवेचन योग्य रचनाएँ हैं।

'प्रेमपथिक' के दो रूप उपलब्ध हैं— ब्रजभाषा का रूप और खड़ी बोली का रूप। 'प्रेमपथिक' पहले तुकान्त रूप में ब्रजभाषा में १९०६ ई० में प्रकाशित हुआ था। बाद में खड़ी बोली रूपान्तर का कुछ अंश इन्दु, किरण ५, नवम्बर १९१४ ई० में, 'चमेली' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। पुस्तकाकार रूप में यह रूपान्तर माघ शुक्ल ५, सं० १९७० वि० को पहली बार प्रकाशित हुआ। प्रसाद जी ने स्वयं कहा है कि "यह ब्रजभाषा में आठ वर्ष पहले लिखित प्रेमपथिक का परिवर्तित, परिवर्द्धित तुकान्तविहीन हिन्दी रूप है।"[१] ब्रजभाषा के प्रेमपथिक में १३६ पंक्तियाँ हैं। इसकी रचना के समय प्रसाद की आयु सोलह वर्ष की थी। इस कथा पर गोल्डस्मिथ रचित 'हर्मिट' के हिन्दी अनुवाद 'एकान्तवासी योगी' (श्रीधर पाठक) का प्रभाव लक्षित होता है। उन दिनों पाठकजी के तीनों अनुवादों की एकान्तवासी योगी, श्रान्तपथिक और उजड़ ग्राम की बड़ी ख्याति थी।

**कथावस्तु :** 'प्रेमपथिक' की कथा काल्पनिक तो है ही इसे रोमाण्टिक भी समझना चाहिए। स्वच्छन्दतावाद की ओर यह झुकाव एकान्तवासी योगी के कारण भी है। यह प्रसाद का 'भावमूलक' काव्य है। इसकी कथावस्तु

१. प्रसाद, प्रेमपथिक, निवेदन पृ० ५

उत्पाद्य है। खड़ी बोली के 'प्रेमपथिक' में २७० पंक्तियाँ हैं। व्रजभापा वाले रूप में केवल 'प्रेमपथिक' के गृहत्याग के पश्चात उसकी कहानी अन्य पुरुष में कही गयी है, पर यहाँ किशोर अपनी कहानी उत्तम पुरुष में कहता है और चमेली भी आपबीती सुनाती है। चमेली का मूल काव्य में कहीं पता नहीं है। पहले 'प्रेमपथिक' में प्रेम स्वयं मनुष्य रूप में पथिक के सामने आ खड़ा होता है, पर खड़ी बोली के 'प्रेमपथिक' में यह भिन्न रूप में कल्पित है। पथिक एक दिन चन्द्रिका-यामिनी में सरिता के तट पर शिला पर बैठा था। उसका हृदय भावमय हो उठा। चमेली का सुन्दर मन उसके हृदय गगन में उदित हुआ। उसे बीती बातें याद आने लगीं। मोहमुग्ध प्रेमपथिक तन्द्रा में डूबने लगा और उसने देखा कि :

"देवदूत-सा चन्द्रबिम्ब से एक व्यक्ति उज्जवल निकला।"

ब्रजभाषा वाले ग्रन्थ में प्रेम का अस्वाभाविक प्रवेश है। वहाँ प्रेम का पथिक से सम्भाषण होता है, प्रेम उसे लौट जाने की मन्त्रणा देता है और प्रेम मार्ग की बाधाओं को समझाता है, परन्तु खड़ी बोली का 'प्रेमपथिक' अधिक स्वाभाविक भूमि पर स्थित है। इस कथावस्तु का आधार शुक्लजी के मत से इस सार्वभौमिक सिद्धान्त पर आधारित है—"किसी के प्रेम में योगी होना और प्रकृति के निर्जन क्षेत्र में कुटी छाकर रहना, एक ऐसी भावना है जो समान रूप से सब देशों के और श्रेणियों के स्त्री-पुरुषों के मर्म का स्पर्श स्वाभावतः करती आ रही है।"[१] इसी आधार को लेकर कवि ने रचना के आरम्भ में लिखा है :

"सन्ध्या की हेमाभ तपन थी, किरणें जिसको छूती हैं।
रंजित करती हैं देखो जिस नयी चमेली को मुद से।
कौन जानता है कि उसे तम में जाकर छिपना होगा?
या फिर कोमल मधुकर उसको मीठी नींद सुला देगा।"

इस चमेली की अन्योक्ति के आधार पर कवि ने प्रकृति-चित्रण के माध्यम से एक करुण कहानी रच दी है। कौन जानता है कि चमेली को अन्धकार में छिपना पड़े, वह डाली से तोड़ी जाये, किसी की सेज पर रखी जाये और उसकी परवाह ही न की जाये या वह कुम्हला कर मिट जाये, या टके मोल माला के

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५२२

रूप में बिक जाये या यों ही डाली में पड़ी पवन-स्पर्श के लिए लालायित रहे।

"लीलामय की अद्भुत लीला किस से जानी जाती है ?"[१]

नियतिवादी प्रसाद कहते हैं कि :

"कौन उठा सकता है धुँधला पट भविष्य का जीवन में ?"[२]

नदी के तट पर द्रुमदल आच्छादित कुटीर में पददलिता छाया-सी एक तापसी बैठी हुई दिखायी देती है। वह पथिक से रात्रि में विश्राम करने की प्रार्थना करती है और आत्मकथा सुनाने का उससे आग्रह करती है। पथिक कहता है—अतीत की कथाएँ दुखदायी होती हैं, पर मैं तुम्हें सुनाता हूँ। इसे मात्र कहानी समझ-कर मन को कष्ट मत देना। उसने कहा कि मैं आनन्द-नगर का निवासी हूँ। जन्मभूमि का वर्णन करता हुआ वह अपने गाँव के किसान और अपने सुन्दर मनोहर घर का परिचय देता है। घर में उसके पिता थे। पास में एक गृहस्थ और रहते थे। पथिक की उनकी पुत्री से मित्रता थी। वे दोनों साथ-साथ खेलते थे। कन्या के पिता के साथ उसके पिता की मैत्री थी। अचानक पथिक के पिता चल बसे। बालक-बालिका का प्रणय बढ़ता गया। यहाँ बालिका को कवि ने पुतली कहा है। पथिक के पिता ने मरते समय पुतली के पिता से कहा था :

"तुम्हें सौपता हूँ अब इसको, इसे पुत्र अपना जानो।"[३]

पिता की मृत्यु के बाद पथिक बालिका के ही घर में रहने लगा। धीरे-धीरे उनका प्रणय बढ़ता गया और यह दशा आ गयी कि :

"हम दोनों थे भिन्न देह से तो भी मिलकर बजते थे
ज्यों उँगली के छू जाने से सत्वर तार विपंची के।"[४]

× × ×

"वे जाड़ों की लम्बी रातें बातों में कट जाती थीं।"

इसी बीच अचानक जब एक दिन दोनों फल तोड़कर घर लाये तो ज्ञात हुआ कि पुतली के फलदान की तैयारी हो गयी है। कवि ने इस स्थल पर पथिक से कहलाया है :

---

१. प्रसाद, प्रेमपथिक, चतुर्थ संस्करण, सं० २०१६ वि०, पृ० ९
२. वही, पृ० ९
३. वही, पृ० १५
४. वही, पृ० १७

"जाता है फलदान तुम्हारा, हम दोनों भी फल खायें ।"[१]

वह रात भी दुखद थी :

"मेघखण्ड उस स्वच्छ सुधामय विधु को एक लगा ढँकने ।"[२]

घर में उत्सव था । तोरण-बन्दनवार सजे थे । शहनाई बज रही थी । मन में बारबार यह आता था कि क्या :

"पुतली ब्याही जावेगी, जिससे वह परिचित कभी नहीं ।"[३]

पर पुतली चली गयी । पथिक भी उस घर को छोड़कर "जैसे टूटा फल तरु से" उसी प्रकार आनन्द नगर से कहीं चला गया । वह प्रेम-पथ का पथिक बन गया । सारे नगर उसके लिए परदेश बन गये । पर्वत, नदी और शून्य आकाश में उसे वियोग-ही-वियोग दिखायी पड़ा । एक दिन बढ़ते अँधेरे में पूर्णिमा की चन्द्रिका छिटकी थी । पथिक सरिता के किनारे बैठा था । उसने देखा कि एक देवदूत-सा व्यक्ति चन्द्र-बिम्ब से निकल कर कहने लगा :

"पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है ।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए ;
प्रेमयज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा ।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-।बहारी होने का फल पाओगे ।"

× × ×

"प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,"

× × ×

"क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है ।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं ।"[४]

उसने बताया कि 'प्रेम जगत का चालक है' तथा 'इसका है सिद्धान्त मिटा देना अस्तित्व सभी अपना' तथा 'यह विश्व स्वयं ही प्रियतम है' । यह कह कर देवदूत विलीन हो गया । उस समय से पथिक अपने व्यक्तिगत प्रेम को विश्व-प्रेम में सर्मपित करके विचर रहा है और इस ओर चला आया है ।

---

१. प्रसाद, प्रेमपथिक, पृ० १८
२. वही
३. वही, पृ० १९
४. वही, २२

कथा सुनते ही तापसी बोली कि क्या तुम्हें अब भी पुतली का स्मरण है ? किशोर पथिक ने तुरन्त ही उसे पहचान लिया। न वह रूप, न वह लावण्य, न अलस कटाक्ष, न वे घुँघराले बाल और न वह उन्मादक रूप। पुतली ने किशोर रूपी पथिक को अपनी आत्म-कथा सुना दी। विवाह में उसे न स्नेह मिला, न सुख। उसके पति धन के गर्व में डूबे थे। वह विधवा हो गयी। नर-पिशाचों ने उसके प्रति काम-वासना प्रकट की। एक वृद्ध ने अपनी जमींदारी की इस शान्त कुटीर में उसे आश्रय दे दिया है। फिर तो वे दोनों रो पड़े और करुणा की गंगा-यमुना में भक्ति का प्रयाग प्रकट हो गया :

"करुणा-यमुना प्रेम-जाह्नवी का संगम है भक्ति-प्रयाग,
जहाँ शान्ति अक्षयवट बनकर, युग-युग तक परिवर्द्धित हो"[१]

किशोर ने पुतली को व्यक्तिगत प्रेम के स्थान पर विश्वात्मा के प्रेम में उसे समाहित कर देने की प्रेरणा दी। उसने कहा :

"प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में, विश्व स्वयं ही ईश्वर है।"[२]

'आओ, हम हृदय-हृदय से मिल जायें' और 'जीवन पथ में सरिता होकर उस सागर तक दौड़ चलें' :

"चलो मिलें सौन्दर्य प्रेमनिधि में, तब कहा चमेली ने,
जहाँ शान्ति रहती है—वहाँ सदा स्वच्छन्द रहें।
लगी बनाने सोने का संसार तपन की पीत विभा,
स्थिर हो लगे देखने दोनों के दृग तारा अरुणोदय।"[३]

इस रचना की कथावस्तु यही है। प्रकृति, मानव और ईश्वर को सम्बद्ध करने वाला यह कथानक प्रेम को केन्द्र बनाता है। प्रेम सारे विश्व में व्याप्त है। प्रेम की इस स्थिति द्वारा ईश्वर का साक्षात् सम्भव है। विश्व स्वयं ईश्वर है। प्रकृति विश्वप्रेम का ही अंग है। प्रकृति स्वयं उस असीम से मिलने के लिए आतुर है। यही प्रसाद के 'प्रेमपथिक' का दार्शनिक चिन्तन है, जो उनकी आन्तरिक अनुभूति के संयोग से प्रकृति और ईश्वर से कहीं अधिक मानव के बीच हमें लाकर खड़ा कर देता है। प्रसाद के प्रेम-दर्शन के कारण यह एक महत्वपूर्ण

---

१. प्रसाद, प्रेमपथिक, पृ० २८
२. वही, पृ० ३०
३. वही, पृ० ३१

रचना है। प्रेम ही ईश्वर है। रूप विषयक प्रेम मोह है। इन्द्रियों से परे जो प्रेम है, वह जगत का संचालक है। मानवीय प्रेम का यह स्वरूप द्विवेदी युग को प्रसाद की एक देन था। इस 'प्रेमपथिक' के कथानक में शैवदर्शन, उपनिषद् और सूफी भावना के दर्शन होते हैं। कथावस्तु में जिज्ञासा की तरल गति है :

"जीवन-पथ में सरिता होकर उस सागर तक दौड़ चलें।
जहाँ अखण्ड शान्ति रहती है, वहाँ सदा स्वच्छन्द रहें।"

इस काव्य में स्थान, काल और क्रिया सम्बन्धी अन्वितियाँ घटित हुई हैं। वर्णन तथा संवाद भी लम्बे हैं और कथा-क्रम सपाट है।

**भाषा :** प्रेमपथिक की भाषा में स्पष्ट रूप से निर्माण काल की शिथिलता दिखायी देती है।

१. अतीत कथाएँ...उसको (उनको) तुम्हें सुनाता हूँ।

२. यह (ये) संज्ञाएँ उड़ जाती हैं।

३. सुन्दर कुटिया यह कैसी है, रम्य तटी में सरिता के (की)।

इन उद्धरणों में विभक्ति या सर्वनाम सम्बन्धी भूलें हैं।

"अहा चमेली......दया फूल चँगेर सजावेगी—" में 'चँगेर' जैसा ग्रामीण शब्द खटकता है। 'रातें बातों में कटना' या 'टके मोल विकना' आदि मुहावरों का प्रयोग हुआ है। "फिर तो चारों दृग आँसू चौधारे लगे बहाने" जैसी ढीली या कसावटरहित शैली सर्वत्र प्रयुक्त है।

कवि ने लक्षणा और व्यंजना से भी काम लिया है। 'चमेली' की लाक्षणिकता से पुष्प और पुतली रूपी नायिका का आभास होता है। जैसे :

"जाता है फलदान तुम्हारा हम दोनों भी फल खावें"

में करुण-व्यंजना स्पष्ट है।

**अलंकार :** उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि अलंकार ही अधिकतर इस काव्य में प्रयुक्त हुए हैं।

उपमा :

"शान्त तपस्वी-सी वल्लरियाँ।"
"कुटीर पर लतिका ईश दया-सी छायी है।"
"फैला था उल्लास सदृश आलोक।"

पहली उक्ति में उपमान मूर्त है, शेष में अमूर्त । 'एक तापसी भी बैठी है। पददलिता छाया-सी' में भी अमूर्त उपमान है । 'चन्द्रमुखी रजनी' में रूपक है । उत्प्रेक्षा :

"हम दोनों थे भिन्न देह से तो भी मिलकर बजते थे ।
ज्यों उंगली के छू जाने से सस्वर तार विपंची के ।" (पृ० १७)

चन्द्रबिम्ब, स्वर्गबिहारी, आनन्दभूमि, नीलाम्बर-मध्य, प्रतिबिम्बित, हृदय-गगन, तन्द्रा, शैशव, स्वप्न-सदृश, जैसे संस्कृतनिष्ठ शब्द जहाँ प्रयुक्त हैं, वहाँ 'कन्दील' जैसे शब्द भी रखे गये हैं । कहीं भाषा तत्समप्रधान है :

"तुमुल तरंग गरजते फिरते किसी फूल को प्लावित कर ।"

या

"कुसुम दलों से लदी हुई धरणी का यह शोभा उद्यान ।"

और कहीं सरल बोलचाल की भाषा है :

"प्राय: लोग कहा करते हैं—रात भयानक होती है ।"
"हाँ फिर हम दोनों ऐसे ही बहुत दिनों तक मिलते थे"
"बच्चा, यह फलदान जा रहा है चाचा की पुतली का ।"

लक्षणा का एकाध उदाहरण और दिया जा सकता है :

"बना रही है सोने का संसार तपन की पीत विभा ।"

चमेली के रूप का लाक्षणिक वर्णन इस प्रकार है :

"चिढ़ जाता था वसंत का कोकिल भी सुनकर वह बोली ।
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के सौरभ से ।"

'प्रेमपथिक' में सौन्दर्य को क्षणभंगुर कह कर उस पर 'रीझो मत, देखो । देखो' में जहाँ आध्यात्मिकता है, वहाँ 'जीवन के पथ में सुख-दुख दोनों समता को पाते हैं' में समरसता के दर्शन का संकेत है, जो आगे चलकर 'आँसू' और 'कामायनी' में स्पष्टता पाता है । 'मेघखण्ड उस स्वच्छ सुधामय विधु को एक लगा ढँकने' में प्रतीक शैली का प्रयोग हुआ है । नियतिवाद, प्रतीकवाद, रहस्यवाद और छायावाद की नवीन भावधारा के आगमन की सूचना देने की शक्ति से सम्पन्न यह छोटी-सी काल्पनिक आख्यायिका एक रमणीय कृति है ।

**प्रकृति वर्णन** : प्रकृति के प्रतीकार्थ से पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायता

ली गयी है। प्रसाद की प्रकृति काल्पनिक रूपों में प्रस्तुत हुई है। उनके प्रतीकों में नवीनता है।

'सन्ध्या के हेमाभ तपन', 'विमल मधुर मलयानिल' तथा 'सुन्दर कुटिया वह कैसी है रम्य तटी में सरिता के', 'शान्त तपस्वी-सी वल्लरियों के झुरमुट से घिरी हुई' में नवीन भाषा शिल्प है। 'रविकर पाकर उषा उठ खड़ी हुई अहो जैसे प्रियकर का अवलम्बन किये प्रेयसी उठती है', मानवीकरण का उदाहरण है।

**छन्द** : ३० मात्राओं के तुकान्तविहीन छन्द में 'प्रेमपथिक' की रचना हुई है। यह ताटंक के वज़न पर बनाया गया है। इसमें प्रवाह है और लय की मधुरिमा है। कहीं भी कर्ण कटु शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। तत्कालीन इतिवृत्तात्मकता का कहीं-कहीं आभास अवश्य मिल जाता है :

"हाँ अभाव का अभाव देखकर आवश्यकता पूरी है।"

अथवा :

"पास उसी के और एक थे गृहस्थ रहते सज्जन थे।"

## महाराणा का महत्व

**रचना काल** : यह सर्गविहीन खण्ड काव्य है। इसकी रचना १९१४ ई० के पूर्वार्द्ध में हुई तथा इन्दु, कला ५, खण्ड १, किरण ६, जून १९१४ ई० में इसका सर्वप्रथम प्रकाशन हुआ। पहले यह चित्राधार में छपी और बाद में १९२८ ई० में स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित हुई।

**कथावस्तु** : इसकी कथावस्तु को यद्यपि पाँच दृश्यों में बाँटा गया है, परन्तु इसका कोई निर्देश नहीं किया गया। इस काव्य का आरम्भ इन पंक्तियों से होता है :

"क्यों जी कितनी दूर अभी वह दुर्ग है।"

इन पंक्तियों में संवाद की ध्वनि है और जिज्ञासा का यहीं से प्रारम्भ होता है। प्रचण्ड दोपहरी, मेवाड़ की रेगिस्तानी भूमि और शुष्क पत्तों को उड़ाती हुई तेज हवा के बीच सैनिकों से रक्षित सेनापति रहीम खानखाना की पत्नी एक शिविका में किसी दुर्ग की ओर जा रही है। बेगम को प्यास लगती है और शिविका जमीन पर रखी जाती है। द्वितीय दृश्य में महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह अपने सैनिकों के साथ शिविका के रक्षकों पर आक्रमण करके बेगम

तथा सैनिकों को बन्दी बनाते हैं। यवनों की इस छोटी-सी सेना के नायक के साथ अमरसिंह के युद्ध का वर्णन वीर रसपूर्ण और ओज गुण-सम्पन्न है।

"गुँथी बिजलियाँ दो मानो रण व्योम में
वर्षा होने लगी रक्त के विन्दु की।"

तीसरे दृश्य में महाराणा का व्यक्तित्व, आर्यजाति के श्रेष्ठतम राष्ट्रप्रेमी वीर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जब सालुम्बापति कृष्णसिंह ने खानखाना की बेगम और यवन सैनिकों के बन्दी होने की सूचना दी तो यह कहते हुए कि :

"स्त्री को क्षत्रिय देते दुख नहीं।"

राणा ने बेगम को तुरन्त मुक्त करके आदरपूर्वक उसके पति के पास पहुँचा देने की आज्ञा दी, अमरसिंह की निन्दा की और किसी स्त्री को आगे दुख न देने का आदेश दिया। राणा के महत्व का प्रतिपादक यह तृतीय दृश्य महत्वपूर्ण है। चतुर्थ दृश्य में बेगम का रूप-वर्णन है। बेगम और खानखाना के वार्तालाप में बेगम द्वारा राणा प्रताप की प्रशंसा, नवाब द्वारा प्रताप के वीरत्व और चरित्र-बल की स्वीकृति तथा देश और जाति के लिए राणा की सूखे पत्ते खाकर भी अपने प्रण पर अटल रहने की प्रवृत्ति दिखायी गयी है। बेगम नवाब को प्रेरित करती है कि वे बादशाह अकबर के साथ राणा की सन्धि कराकर उपकार का बदला दें। नवाब को विश्वास नहीं है कि प्रताप एक यवन से सन्धि स्वीकार करेंगे। राणा प्रताप की प्रशंसा उनके महत्व को ही बढ़ाती है। नवाब दोनों में सन्धि कराने का निश्चय करता है।

पाँचवें दृश्य में चाँदनी रात के शाही महल पर उतर आने का दृश्य-चित्रण मनोरम है। नवाब ने बादशाह अकबर को बताया कि किस प्रकार राणा प्रताप ने उसकी बेगम को, जो शत्रु-पत्नी थी, सादर वापस भेजा और अपने पुत्र अमरसिंह को डाँटा। नवाब ने कहा कि प्रताप ने कभी आपके राज्य पर आक्रमण नहीं किया। वह वीर, सज्जन, उदार और अपने छोटे राज्य से ही सन्तुष्ट हैं। अतः युद्ध करके उसे और कष्ट देना उचित नहीं है। केवल आपका चुप हो जाना ही शान्ति के मंगलघोष के समान होगा। इससे आपका यश बढ़ेगा। अकबर ने इस सलाह को मानकर राणा के साथ के युद्ध को बन्द करवा दिया और अपनी फौज को अजमेर लौट आने की आज्ञा दी। अन्त में खानखाना ही नहीं, अकबर भी प्रताप का महत्व स्वीकार कर लेता है।

वस्तुविन्यास की दृष्टि से यह एक सफल काव्य है। इसकी काल और स्थान सम्बन्धी एकता शिथिल है, परन्तु क्रियात्मकता आद्यन्त बनी हुई है। यह खण्ड काव्य के स्थान पर काव्य रूपक या काव्यात्मक एकांकी कहा गया है। वस्तुतः आख्यायिका के शिल्प की यह रचना है।

**चरित्र-चित्रण** : 'महाराणा का महत्व' के नायक प्रताप हैं। विदेशी भी उनकी राष्ट्रीयता की प्रशंसा करते हैं :

"सच्चा साधक है सपूत निज देश का
मुक्त पवन में पला हुआ वह वीर है।"

प्रताप को प्रकृति के सुन्दर परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। शाही महलों के वैभव की झाँकी भी सुन्दर वन पड़ी है :

"तारा हीरक हार पहन कर चन्द्रमुख
दिखलाती, उतरी आती थी चाँदनी
शाही महलों के सुन्दर मीनार से
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका
मन्थर गति से उतर रही हो सौध से।"

रहीम खानखाना का चरित्र प्रतिनायक होने पर भी, उत्तम है। वे वीर, अन्त-र्दर्शी, निर्भीक, शत्रु की प्रशंसा करने वाले, ईश्वरभक्त, असाम्प्रदायिक और निरभिमानी हैं। अकबर के सम्मुख अपनी ग्लानि को निर्मल भाव से व्यक्त करने वाले खानखाना के कारण ही अकबर ने अपनी सेना को वापस अजमेर बुला लिया था। शृंगारी प्रवृत्ति के होकर भी वे बेगम को 'प्रिये', 'गान्धार की सुन्दर दाख', 'वामलोचने' मात्र कहते हैं। वे उच्छृंखल रसज्ञता प्रदर्शित नहीं करते।

अमरसिंह, कृष्णसिंह, बेगम और अकबर के गौण चरित्रों को भी यथा-स्थान अच्छा अवकाश दिया गया है। सभी पात्र या तो वीर और कृतज्ञ हैं या सज्जनता के वशीभूत हैं।

**सम्वाद** : इस खण्डकाव्य में नाटकीयता अधिक है और वस्तु-वर्णन कम। पतझड़, ग्रीष्म, अर्बुद गिरि, शाही महल और युद्ध के वर्णन अच्छे बन पड़े हैं। सम्वादों में नाटकीयता अधिक है। हास्य, व्यंग्य, विनोद, मनोवैज्ञानिकता, नीति और तर्क से भरे हुए इन सम्वादों में प्रताप-कृष्णसिंह, नवाब-बेगम और अकवर-नवाब के सम्वाद सजीव और आकर्षक हैं।

**कलापक्ष** : 'महाराणा का महत्व' में कवि ने परम्परागत रूढ़ियों से हटकर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को ग्रहण किया है। उसकी भाषा स्वच्छ और परिष्कृत है। शिविका, हय, चमू, असि पुच्छमर्दिता, वेणी, स्वकीय, दुग्धफेननिभ शय्या आदि तत्सम शब्दों का सहज प्रयोग हुआ है। सामासिक पद-योजना कम हुई है। एक-दो स्थानों पर 'रुधिर-फुहरा-पूर्ण-यवन-कर' जैसी उक्तियाँ हैं। कहीं-कहीं व्याकरण-दोष भी हैं :

"उज्जवल हो जाता है छुटी मलीनता।"

या

"महाप्राण जीवों के कीर्ति-सुकीर्ति से।"

'थोथा' और 'लथेड़ता' देशज शब्द भी प्रयुक्त हैं। भावानुकूल भाषा-शैली में अभिधा का ही प्राधान्य है, लक्षणा और व्यंजना का नहीं, पर अप्रस्तुत-योजना अधिक नवीन है, जैसे :

"पतझड़ का क्रोध प्रकट करना,
प्रभंजन का क्रोध सदृश घूमना,"

या

"राजपूतों का लू समान आना।"

और

"कँपी सुराही कर की, छलकी बारुणी
देख ललाई स्वच्छ मधूक कपोल के
खिसक गयी डर से जरतारी ओढ़नी
चकाचौंध सी लगी विमल आलोक की।"

ये नवीन उपमान सुन्दर हैं। चाँदनी का प्रेमिका रूप में अवतरण दृश्य बिम्ब है।

इस अतुकान्त काव्य में २१ मात्रा के प्लवंगम छन्द का प्रयोग किया गया है। डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ने अपने शोध प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना' में इस प्लवंगम छन्द को प्रकाशक द्वारा अरिल्ल छन्द कहने की भूल की ओर संकेत किया है। अरिल्ल १६ मात्राओं का होता है और प्लवंगम २१ मात्रा का। शुक्लजी का मत है कि "प्रसादजी ने १९१४ ई० में 'भारत' नाम की पहली कविता प्लवंगम छन्द में लिखी, जिसे भूल से प्रकाशक ने अरिल्ल छन्द कहा है, जो १६ मात्राओं का होता है, इक्कीस मात्राओं का नहीं।"[१] कुछ

१. डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना, पृ० ४००

इसे भूल से अरिल्ल छन्द कहते हैं। काव्य में ऐतिहासिकता के साथ सरसता और सजीवता भी है।

संक्षेप में 'महाराणा का महत्व' एक सफल खण्ड काव्य है, जिसकी ऐतिहासिक कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, नाटकीय तत्वों की योजना तथा भाषा, छन्द आदि में स्वच्छता, प्रौढ़ता, प्रशस्तता, सरसता और स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं। इसमें प्रकृति-चित्रण कम है, पर है सरस और उसका मानवीकरण छायावादी शैली के प्रथम सोपान का स्मरण कराता है।

## करुणालय

**रचना काल** : करुणालय का सर्वप्रथम इन्दु, कला ४, खण्ड १, किरण २, सं० १९६९ अर्थात् फरवरी १९१३ ई० में प्रकाशन हुआ। पाँच वर्ष के पश्चात् चित्राधार के प्रथम संस्करण में (१९१८ ई०) इसका समावेश हुआ और १९२८ ई० में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में इसका प्रकाशन हुआ। स्वयं प्रसाद की 'सूचना' के अनुसार यह एक "दृश्य गीति-नाट्य के ढंग पर लिखा गया है।"[1] इसे कुछ विद्वान गीति रूपक, भाव-नाट्य, कथोपकथनात्मक पद्यकथा, तथा नाटकोन्मुख कथोपकथनात्मक पद्यबद्ध कहानी कहते हैं। खण्ड काव्य होते हुए भी यह गीति नाट्योन्मुख काव्य ही अधिक है।

**कथावस्तु** : करुणालय का कथानक ऋग्वेद, तैत्तरीय संहिता, अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण, रामायण, महाभारत, ब्रह्मपुराण, देवी भागवत और वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में उपलब्ध होता है। प्रसादजी ने हरिश्चन्द्र, शुनःशेप, अजीगर्त, विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि पात्रों को एक मौलिक ढंग से प्रस्तुत कर नरबलि की प्रथा का विरोध किया है। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक स्थितियों का आकलन करने वाला यह काव्य अहिंसा और सत्य की प्रतिष्ठा का एक मौलिक प्रयास था।

इस कथानक में पाँच दृश्य हैं। बिना किसी मंगलाचरण या प्रस्तावना के, एक नाटकीय ढंग से, राजा हरिश्चन्द्र के नौका-विहार से प्रथम दृश्य का आरम्भ होता है। हरे-भरे तट, मलयानिल-ताड़ित लहरें, तारागण, वंशीरव का आनन्द और प्रकृति का सुन्दर वर्णन करते हुए कवि प्रकृति को 'सहचरी' कहता है। वे नौका से कहते हैं :

> "नौके ! धीरे और जरा धीरे चलो,
> आह, तुम्हें क्या जल्दी है उस ओर की।"

---

१. करुणालय की सूचना

तभी सेनापति ज्योतिष्मान आकर इक्ष्वाकुवंश के वीरत्व की प्रशंसा करते हैं। अचानक नाव स्तब्ध हो जाती है। घोर गर्जन और उत्पात होता है। नेपथ्य से आकाशवाणी में कहा जाता है कि यह राजा पाखण्डी है। इसने पुत्रबलि का वचन देकर भी अपने वचन का पालन नहीं किया। वरुण उससे शीघ्र ही पुत्रबलि देने का वचन लेकर शान्त होते हैं। नौका का स्तब्ध होना, उत्पात, आकाशवाणी आदि ये सब अतिमानवीय क्रियाएँ हैं। राजा वचन देता है कि :

"देव ! जन्मदाता हूँ फिर भी अब नहीं,
देर करूँगा, बलि देने में पुत्र की।"[१]

द्वितीय दृश्य में हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित का अन्तर्द्वन्द्व, आत्मस्वातन्त्र्य की भावना, पुत्र-बलि की आज्ञा के विरुद्ध पिता का विरोध, इन्द्र का कर्मयोग का सन्देश और इन्द्र तथा वरुण की धार्मिक क्षेत्र में प्रतिद्वन्दिता दिखायी गयी है। रोहित वन में विचरण करता है और सोचता है कि पिता परम गुरु है, पर उसके प्राणों का हरण करने का वह अधिकारी नहीं है। हरिश्चन्द्र के युग में इस आत्मस्वातन्त्र्य की भावना का उल्लेख क्रान्ति का द्योतक है :

"वरुण देव हो या कि दैत्य, वह कौन है ?
क्या उसको अधिकार हमारे प्राण पर,
क्या वह इतनी सार्वजनिक सम्पत्ति है।
नहीं, नहीं, 'वह मेरा है', वह स्वत्व है।"[२]

बलि कर्म एक क्रूर कर्म है। इसी बीच वरुण के प्रतिद्वन्दी इन्द्र ने आकर उसे उपदेश दिया कि :

"चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत, कर्म्म मार्ग विस्तीर्ण है।"[३]

और रोहित को कर्मपथ में प्रवृत्त करके इन्द्र चले जाते हैं। कर्मवाद का सन्देश बलि प्रथा का विरोध और रोहित का अन्तर्द्वन्द्व इस दृश्य की विशेषताएँ हैं।

---

१. प्रसाद, करुणालय (तृतीय संस्करण, सं० २०१८ वि०), पृ० १५
२. वही, पृ० १७
३. वही, पृ० १९

तृतीय दृश्य अजीगर्त मुनि और उसकी पत्नी तारिणी के वार्तालाप से प्रारम्भ होता है। अकाल पड़ा है। पशु भी खत्म हो चुके हैं। वनों में हरियाली भी नहीं है। रोहित सौ गायों के बदले उसके मध्यम पुत्र शुनःशेप को खरीद लेता है। अजीगर्त कहता है :

"तो मध्यम सुत दे देना स्वीकार है
बलि देने के लिए एक नर-मेध में।"

चौथे दृश्य में रोहित अपने साथ शुनःशेप को लेकर आता है। वह अपने पिता राजा हरिश्चन्द्र से कहता है :

"हूँ पशु लेकर आया यहाँ।"[१]

रोहित पिता के अप्रसन्न होने पर कहता है कि पुत्र के न होने पर :

"कौन फिर देता पिण्ड तिलोदक।"

वशिष्ठ का यह समर्थन भी कितना क्रूर है कि—

"यदि पशु का है पिता दे दिया सत्य ही
उसने बलि के लिए इसे, तो ठीक है।
राजपुत्र के बदले उसको दीजिये
बलि, तब देव प्रसन्न तुरन्त हो जायेंगे
और आप भी सत्य सत्य हो जायेंगे।"

राजा तथा मुनि वशिष्ठ इस क्रूर कर्म के समर्थक हो जाते हैं।

पाँचवें दृश्य में यज्ञमण्डप में यूप से बलि के लिए बँधा हुआ शुनःशेप है। वह एक अबोध बालक है। वरुण को प्रसन्न करने के लिए बैठे हुए राजा हरिश्चन्द्र, रोहित, वशिष्ठ, होता, आदि हैं। वशिष्ठ का पुत्र शक्ति इस वध-कार्य को सम्पन्न करने से इनकार कर देता है और वशिष्ठ से कहता है कि आप :

"पिता आप इस पशु के निष्ठुर तात से भी कठोर हैं।"[२]

अजीगर्त सौ गायें और लेकर अपने पुत्र का वध करने को तैयार हो जाता है। इसी समय शुनःशेप 'करुणालय' परमात्मा से प्रार्थना करता है :

"हे हे करुणासिन्धु, नियन्ता विश्व के
त्राहि त्राहि करुणालय, करुणासंग में
रखो, बचालो, विनती है पद पद्म में।"[३]

---

१. प्रसाद, करुणालय, (तृतीय संस्करण, सं० २०१८ वि०), पृ० २७
२. वही, पृ० ३०
३. वही, पृ० ३१

इसी प्रार्थना के आधार पर इस काव्य का नाम 'करुणालय' रखा गया है आकाश में अचानक गर्जन होता है। राजा और वशिष्ठ को विश्वामित्र आकर इस भ्रष्ट-क्रूर धर्म के कर्म के लिए फटकारते हैं। वे वशिष्ठ से पूछते हैं :

"किसी पुत्र को अपने बलि दोगे कभी।"[१]

क्या यही धर्म है ? यह क्या अन्धेर है ? मनुष्य अपनी आवश्यकता का अनुचर बनकर कितना नीचे गिर गया। वशिष्ठ लज्जित होते हैं, तभी एक राजकीय दासी सुव्रता आकर अपनी कहानी कहती है कि वह विश्वामित्र की पत्नी है और शुनःशेप उसका और विश्वामित्र का पुत्र है। विश्वामित्र के जो अन्य मधुच्छन्दा आदि सौ पुत्र थे, उनसे भी यह ज्येष्ठ पुत्र था। इधर विश्वामित्र सुव्रता को और शुनःशेप को स्वीकार करते हैं। राजा सुव्रता को दासीपन से मुक्त करते हैं और क्षमा माँगते हैं। विश्वामित्र का यह कथन स्वयं प्रसाद-जी का भी मत है :

"क्योंकि अधम है क्रूर आसुरी यह क्रिया
यह न आर्य-पथ है, दुस्तर अपराध है।"[२]

अन्त में 'विश्व के आधार' के जयगान के समवेत स्वरों में यह काव्य समाप्त होता है।

इसके कथानक में हरिश्चन्द्र और रोहित, अजीगर्त और शुनःशेप तथा विश्वामित्र और सुव्रता के संवाद हैं। विश्वामित्र गर्भिणी सुव्रता को असहाय छोड़कर चले गये थे। उसे अजीगर्त के गृह में अपना प्रसव समर्पित करना पड़ा। इससे विश्वामित्र का चरित्र गिरा है। हरिश्चन्द्र की भी मूर्ति धुँधली हुई है। गुरु वशिष्ठ को भी इस क्रूर और अधम बलिप्रथा के कारण नीचा देखना पड़ा है। विश्वामित्र का नरबलि का खुला विरोध उनके प्रति सम्मान बढ़ाता है। सभी पात्रों के चरित्र छोटे और विरल हैं और पूरी तरह विकसित नहीं हैं। रोहित कथा का नायक है, पर कृति का मुख्य और अन्तिम फल शुनःशेप को प्राप्त होता है। सुव्रता, तारिणी, ज्योतिष्मान, मधुच्छन्दा, शक्ति आदि निरर्थक पात्र हैं।

**सम्वाद** : सम्वादों में वागवैदग्ध्य और संक्षिप्तता का अभाव है। जहाँ-तहाँ उपदेश की प्रवृत्ति भी पायी जाती है।

---

१. प्रसाद, करुणालय (तृतीय संस्करण, सं० २०१८ वि०), पृ० ३२

२. वही

**उद्देश्य** : नरबलि की प्रथा का विरोध और तुकान्तहीन मात्रिक छन्द का प्रयोग करके हिन्दी खड़ी बोली को समृद्ध करने की कामना इस काव्य के ये दो उद्देश्य स्पष्ट रूपेण द्रष्टव्य हैं। यह छन्दगत नवीन प्रयोग हैं। २१ मात्राओं वाले प्लवंगम छन्द का अतुकान्त रूप इसमें प्रयुक्त है। वाक्यों की समाप्ति पर पंक्तियों के बीच में भी पूर्ण विराम दिये गये हैं। प्रवाहपूर्ण वर्ण-विन्यास और श्रुति के अनुकूल गति इसकी छन्द-योजना में मिलती है।

**भाषा** : इसकी भाषा अभी परिष्कृत नहीं है। तत्सम शब्द जैसे हिरण्य-मयवर्म, यूप, विधु, बिम्ब, मिथ्याभाषी, स्वर्णखचिता, शिरस्त्राण हैं और बिल-कुल चलती हुई साधारण भाषा के शब्द भी :

"रे मनुष्य तू कितने नीचे गिर गया।"
"कहिये क्या है दुख आपको।"
"चले चलो जी साथ हमारे शीघ्र ही।"

'हूजिये, 'जाके' आदि ग्राम्य प्रयोग भी किये गये है। व्याकरण की भूलें भी हुई हैं—'यह राजा पाखण्ड है', 'प्रकृति चित्रपट-सा दिखलाती'। फिर भी भाषा सरल और स्वाभाविक है, पर नाटकीयता ने इस काव्य की गम्भीरता को क्षतिग्रस्त किया है।

**अलंकार :**

उपमा :

"हरे शालि के खेत पुलिन में रम्य हैं।"
"सुन्दर बने तरंगायित से सिन्धु से।"[१]

अपह्नुति :

"धूल नहीं यह पैरों में है लग रही।
समझो यही विभूति लिपटती है तुम्हें।"[२]

विशेषण विपर्यय :

"विकल पीड़िता प्राण।"[३]

यमक :

"और आप भी सत्य—सत्य हो जायेंगे।"[४]

---

१. प्रसाद, करुणालय, पृ० १२
२. वही, पृ० १६
३. वही, पृ० २३
४. वही, पृ० २८

उपमा :

"तू है सचमुच स्वप्न सी ।"[१]

रूपक :

"हिंस्र जन्तु से पूर्ण, मनुज पशु थे यहाँ ।"[२]
× × ×
"मलयानिल अपने हाथों पर है धरे
तुम्हें लिये जाता है अच्छी चाल से ।"[३]

में मानवीकरण किया गया है ।

इस स्थान पर यह भी द्रष्टव्य है कि प्रसाद के इस पौराणिक आख्यान में एकेश्वरवाद (वरुण) और आत्मवाद (इन्द्र) की द्वन्द्वात्मक विचार-धाराएँ सामने आयी हैं । करुण रस ही इस काव्य का प्रमुख रस है । प्रसाद और माधुर्य गुण इसकी विशेषताएँ हैं । संक्षेप में, यह प्रयोगात्मक काव्य और शिथिल रचना है । कवि के जीवन-दर्शन का इसमें निर्देश पाया जाता है ।

करुणालय की सबसे बड़ी विशेषता उसमें प्रस्थापित मानवीय गुणों की महत्ता है । नरबलि की धार्मिक प्रथा का ऋषि-मुनियों द्वारा सशक्त विरोध समाज के ढाँचे के परिवर्तन की सूचना देता है, साथ ही वह यह भी बतलाता है कि आर्यों ने हर समय उचित और आवश्यक परिवर्तन किये हैं ।

## ग्रन्थि (जनवरी, १९२० ई०)

कुछ लोग 'ग्रन्थि' को खण्ड-काव्य नहीं मानते हैं, क्योंकि इसकी कथा शुद्ध कथा न होकर एक पृष्ठभूमि मात्र है । अत: वे इसे गीति काव्य मानते हैं । 'ग्रन्थि' एक विरह काव्य है । इसमें एक घटना का वर्णन है । नायक अपनी कथा स्वयं कहता है । इसकी भाव-व्यंजना प्रभावोत्पादक है । यह एक प्रेम-वंचित भावुक हृदय की मर्मव्यथा की कथा है, परन्तु यथार्थ में यह कवि की स्वानुभूति-व्यंजना ही है ।

'ग्रन्थि' में भौतिक घटनाओं का न तो कवि ने महत्व सिद्ध किया है और न भौतिक घटनाएँ प्रत्यक्ष घटी हैं । संयोगवश नौका के डूबने पर किसी रमणी से भेंट, सहसा प्रेम और संयोगवश उस रमणी का किसी अन्य से विवाह तथा प्रेम-वंचित नायक के विरह की अभिव्यक्ति इस काव्य का वर्ण्य विषय है । इसमें नायक के जीवन के खण्ड विशेष का वर्णन अवश्य है, पर न कथा के सूत्र और घटना में

---

१. प्रसाद, करुणालय, पृ० ३५

२. वही, पृ० १३

३. वही

तर्कसम्मत कार्य-कारण सम्बन्ध है और न ही नायिका के प्रेम की अभिव्यक्ति है। प्रेम की प्राप्ति और नायिका की प्राप्ति के प्रयत्नों में अन्तर होता है। प्रेम-प्राप्ति की आकुलता, भावोच्छ्वास और वियोग-व्यथा के चित्रण के साथ ही पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण नहीं हुआ। यहाँ न संघर्ष है, न घात-प्रतिघात, न विरोधों से लड़ने की उत्कण्ठा और न प्रतिशोध की भावना। कुछ दूर तक मिलन और फिर विरह ये ही 'ग्रन्थि' के दो खण्ड दिखायी देते हैं।

यहाँ घटनाएँ गीत में खो गयी हैं। इसके उत्तरार्द्ध में प्रेम, मानव हृदय, सौन्दर्य तथा भाग्य को धिक्कारा गया है। यह वियोगानुभूति का गीति-प्रधान खण्ड काव्य है।

'ग्रन्थि' में आत्मनिष्ठता की संश्लिष्ट वर्णनात्मकता है। प्रकृति का रमणीय परिवेश इस वर्णन को सजीव बनाता है। कथासूत्र क्षीण और भाव-संवलित है। नाव की दुर्घटना अचानक घटित हुई, पर वह पाठक की उत्सुकता नहीं जगा पाती। 'ग्रन्थि' जहाँ-तहाँ एक लम्बा प्रगीत प्रतीत होती है। नाटकीय आकस्मिकता, सक्रियता और कथा-प्रवाह की क्षिप्रता का यहाँ अभाव है।

'ग्रन्थि' में सर्गबद्धता नहीं है। 'एक बार', 'एक प्रातः', 'अब इधर', 'प्रेम वंचित' शीर्षक चार अध्यायों या सर्गों के प्रतिरूप हैं।

दूसरा नामकरण विवाह के ग्रन्थि-बंधन के प्रतीक के आधार पर किया गया है।

इसके सम्वाद न सजीव हैं और न व्यवस्थित। प्रगीत शैली का सबसे अच्छा प्रयोग 'ग्रन्थि' में हुआ है। पर यह अपनी स्फीतता के कारण कहीं-कहीं एकरस भी हो गयी है।

**कथावस्तु** : 'एक बार' से प्रारम्भ होने वाली इस खण्ड काव्यात्मक रचना का आरम्भ विरह-विदग्ध हृदय के स्मरण से होता है। अपनी कल्पना को जगाता हुआ कवि उस समय की याद दिलाता है जब :

"तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।"[१]

और जब कवि की संज्ञा लौट आती है तब :

"शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर,
शशिकला-सी एक बाला व्यग्र हो—

१. पंत, ग्रन्थि, पृ० ७

देखती थी म्लान मुख मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर चिन्तित दृष्टि से ।"[१]

नाव अचानक डूबी थी और अचानक ही यह 'शशिकला-सी एक बाला' सामने आती है। वह नायक का शीश अपनी कोमल जाँघ पर रखे हुए उसे मंगल-कामना करती हुई स्नेहार्द्र दृष्टि से देखती है। कवि को अपने इस सौभाग्य पर गर्व है, डूबने का दुख नहीं। प्रेम का उदय भी प्रथम दृष्टि में ही हो जाता है :

"एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था ।"[२]

यहाँ नायिका के रूप का तथा उसके लज्जा, प्रणय आदि का चित्रात्मक वर्णन हुआ है :

"लाज की मादक सुरा-सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब से,
छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप से ।"[३]

इसके पश्चात् ही प्रणय का प्रथम परिचय, मादक स्पर्श और पुलक के चित्रण के साथ-साथ प्रेम की अनोखी रीति का वर्णन हुआ है :

"यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की,
जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा ।"[४]

कवि अपने नायक को इस प्रेम-वीथी में पूरी तरह खो देता है।

फिर 'एक प्रात:' से प्रारम्भ होने वाले द्वितीय सर्ग में वातायन से उद्यान

---

१. पंत, ग्रन्थि, पृ० ८
२. पंत, ग्रन्थि (चतुर्थ संस्करण), पृ० १०
३. वही
४. वही, पृ० १३

में प्राकृतिक सुषमा को निहारती हुई नायिका से उसकी सखियों के यौवनोचित हास-परिहास का वर्णन हुआ है :

"मग्न हैं नव कमल वन में हंसिनी ।"[१]

कवि ने अलंकारों की झड़ी लगा दी है। रति की भावनाओं को उद्दीप्त करने वाली उक्तियाँ भी हैं। कवि ने अप्रस्तुत सामग्री का प्रकृति से चयन करके इस प्रणय-सम्बन्धी हास-विलास को उत्कर्ष प्रदान किया है। एक सखी का यह कथन देखिए :

"मन्द चलकर रुक, अचानक अधखुले"
चपल पलकों से हृदय प्राणेश का,
गुदगुदाया हो नहीं जिसने कभी
तरुणता का गर्व क्या उसने किया ?"[२]

तीसरे अध्याय को 'अब इधर' से शुरू करते हुए नायक कथा का वह अंश प्रस्तुत करता है, जिसमें उसके मातृ-निधन, पितृ-वियोग, दरिद्रता और नायिका से विछोह का वर्णन हुआ है :

"प्रात सा जो दृश्य जीवन का नया
था खुला पहले सुनहले स्पर्श से।
साँझ की मूर्छित प्रभा के पत्र पर
करुण उपसंहार हा, उसका मिला।
गिर पड़ा वह स्वप्न मेरा अश्रु-सा।"[३]

इसे कवि नियति या भवितव्य मानता है। कवि के नायक का दुख इसलिए और भी मार्मिक है, क्योंकि :

"हाय, मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रन्थि-बन्धन हो गया। वह नव कमल
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया।"[४]

---

१. पंत, ग्रन्थि (चतुर्थ संस्करण), पृ० १८
२. वही, पृ० २७
३. वही, पृ० ३२
४. वही, पृ० ३४

दुःख की अनुभूति और गहरी हो जाती है, जब नायक यह कहता है :

"शैवालिनि, जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल, आलिंगन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके, चूमो तरंगों के अधर,
उडुगनो, गाओ, पवन, वीणा बजा।
पर हृदय, सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी।"[१]

नायिका का ग्रन्थि-बन्धन किसी अन्य से हो गया। शैवालिनी सिन्धु से मिलने जा रही है। वियोगी हृदय का उच्छ्वास इस तरह प्रकट हुआ है :

"और भोले प्रेम तुम क्या हो बने
वेदना के विकल हाथों से ? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है।"[२]

स्मृति, नियति, उन्माद, आह, अश्रु तथा वेदना का मानवीकरण किया गया है, जैसे :

"वेदने, तुम विश्व की कृश दृष्टि हो,
तुम महा संगीत नीरव हास हो,
है तुम्हारा हृदय माखन का बना,
आँसुओं का खेल भाता है तुम्हें।"[३]

विरह के विषय में नायक का कथन है :

"शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर
विरह. अहह कराहते इस शब्द को
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोक से
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा।"[४]

---

१. पंत, ग्रन्थि (चतुर्थ संस्करण), पृ० ३५
२. वही, पृ० ३८
३. वही, पृ० ४०
४. वही, पृ० ४२

चौथे अध्याय में 'प्रेम वंचित' के प्रति कवि कहता है कि :

"प्रेम वंचित को तथा कंगाल को
है कहाँ आश्रय विरह की वह्नि में ।"[१]

वेदना के विषय में कवि की उक्ति है :

"वेदना के ही सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पद
वेदना का ही मनोहर रूप है,
वेदना का ही स्वतन्त्र विनोद है ।"[२]

कवि वेदना की शरण को निरापद मानकर उसमें सब तरह से अपने को :

"आज मैं सब भाँति सुख सम्पन्न हूँ,
वेदना के इस मनोरम विपिन में ।"[३]

उसकी आशाएँ भग्न हो गयी हैं। उसकी नींद किसी ने छीन ली है। कवि पूछता है :

"कौन मेरे कल्पना के विपिन में
पागलों-सा यह अभय है घूमता ?
हृदय, यह क्या दग्ध तेरा चित्र है ?
धूम ही है शेष अब जिसमें रहा।
इस पवित्र दुकूल से तू दैव का
बदन ढँकने के लिए क्यों व्यग्र है ।।"[४]

'ग्रन्थि' में वेदना को आत्मनिष्ठ संश्लिष्टता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। वेदना की यह द्विवेदीयुगीन अनुभूति इस मार्मिक रूप में व्यंजित है कि उसकी कलात्मक विशिष्टता का कायल होना ही पड़ता है ।

प्रसाद और माधुर्य गुण की यह रचना है। इसमें करुण और शान्त रस के अतिरिक्त शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष रखे गये हैं। लक्षणा के चमत्कृत प्रयोगों की इस रचना में बहुलता है।

---

१. पंत, ग्रन्थि (चतुर्थ संस्करण), पृ० ४३
२. वही, पृ० ४६
३. वही, पृ० ४७
४. वही, पृ० ४९

**अलंकार** : कवि ने 'ग्रन्थि' के साधारण वक्तव्य भी व्यंजनात्मक शैली में रचे हैं। एक साथ कई अलंकार एक ही स्थान पर आ गये हैं। सहोक्ति, यथाक्रम, श्लेष तथा उपमा की संसृष्टि देखिए :

"निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही।
अवनि से उर से मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी।"

यमक, सहोक्ति और अनुप्रास का यह उदाहरण है :

"तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।" (पृ० ७)

सहोक्ति, यथासंख्य और पुनुरुक्तवदाभास अलंकार देखिए :

"इन्दु पर, उस इन्दु-मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे, पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था॥"

रूपक :

"प्रथम भय से मीन के लघु बाल जो,
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
उर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी।"

अनुप्रास :

"वह मधुर मधुमास था, जब गन्ध से
मुग्ध होकर झूमते थे मधुप-दल॥"

विरोधाभास :

"यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की
जो अपांगों से अधिक है देखता।
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा।"

कवि उपमाओं का प्रेमी है। वह उनका सर्वाधिक प्रयोग करता है, जैसे—'शशिकला-सी एक बाला', 'लाज की मादक सुरा-सी लालिमा', 'तूल-सी

मार्जार-बाला', 'वह मृगी-सी चकित' आदि। वर्ण-मैत्री का प्रयास भी दिखायी देता है, यथा—विनीरव-वेदना, कंटक-कुसुम, अभय-भवितव्यते, विरह-वह्नि आदि। विशेषण-विपर्यय के प्रयोग हैं—विनीरव-आह, विकम्पित-अधर, उपल-उन्माद, अपाहज-स्वाँग, पुलकित स्पर्श, आदि। मानवीकरण सर्वत्र पाया जाता है। प्रकृति-चित्रण को मानवीकरण के सहारे सजीव बनाया गया है। संस्कृत-निष्ठ पद-रचना की प्रधानता है, परन्तु प्रवाह में कहीं भी बाधा नहीं पड़ती :

"बाँधती है एक मृदुल मृणालिनी
मत्त बाल गयंद को कृश सूत्र से।
गूँथ मुक्ताहार एक मरालिनी
हंसपति को दे रही उपहार है॥"[१]

कहीं-कहीं सरल भाषा भी है :

"भाव सारे भर दिये, ताबीज से।"[२]

**छन्द** : पंत ने 'ग्रन्थि' में विप्रलम्भ के लिए उपादेय पीयूषवर्ष छन्द का प्रवहमान भिन्न तुकान्त प्रयोग किया है। डॉ० नगेन्द्र ने पंत की छन्द-योजना के विषय में लिखा है कि "वास्तव में पंत की छन्द-योजना विशद् है। उनके प्रत्येक छन्द में राग की एक धारा अनिवार्य रूप से व्याप्त मिलती है। कहीं भी शब्दों की कड़ियाँ अलग-अलग असम्बद्ध नहीं दिखायी पड़तीं—उनकी दरारें लय से भरकर एकाकार कर दी गयी हैं।"

## 'आत्मार्पण' खण्ड काव्य (सन् १९१८ ई०)

द्वारकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेन्द्र' द्वारा लिखित और गंगा पुस्तक माला द्वारा १९१८ ई० में प्रकाशित यह ऐतिहासिक खण्ड काव्य एक उत्तम रचना है।

**कथानक** : 'आत्मार्पण' खण्ड काव्य में पाँच सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में रूपनगर के राजा की पुत्री प्रभावती के सौन्दर्य की चर्चा को सुनकर औरंगजेब दो हजार घुड़सवार भेजकर रूपगढ़ को घेर लेता है। प्रभावती ने विवश होकर राणा राजसिंह को अपनी लाज बचाने और शील की रक्षा करने के लिए पत्र भेजा है। वह उन्हें मन ही-मन अपना पति मान लेती है। देखिए :

---

१. पंत, ग्रन्थि, चतुर्थ संस्करण, पृ० २०
२. वही, पृ० १३

"आप ही के हाथ मेरी लाज है।" (पृ० ४)

× × ×

"अमृत रस को श्वान चखना चाहता।
सिंहिनी को स्यार रखना चाहता।
हंसिनी पर काग का अनुराग है।
दनुज लेना चाहता मख भाग है। (पृ० ५)

× × ×

"प्राण दूँगी पर न जीऊँगी वहाँ।"

× × ×

"चित्र में ही वर चुकी हूँ आपको।" (पृ० ६)

× × ×

"रुक्मिणी-सा आज मेरा हाल है
द्वारकेश समान सत्वर आइये।" (पृ० ७)

दूसरे सर्ग में कुल-पुरोहित पत्र लेकर राणा के पास पहुँचते हैं। पत्र पढ़कर राणा का चिन्तित होना, सरदार चूड़ावत का उत्साह दिलाना और राणा द्वारा पत्र की स्वीकृति प्रदान करना वर्णित है। इसी सर्ग में कवि ने हिन्दुओं के पतन के कारण जैसे—फूट, ईर्ष्या, जातीयता की भावना का ह्रास आदि बताये हैं। इन्हीं कारणों से हिन्दू राज्यों का पतन हुआ था।

तीसरे सर्ग में राणा राजसिंह प्रभावती को पत्रोत्तर भेजते हैं, जिसमें राणा ने शीघ्र ही रूपनगर पहुँचकर प्रभावती का वरण करने का दृढ़ निश्चय प्रकट किया है।

चौथे सर्ग में भारतीय इतिहास में घटने वाली एक अनन्य घटना का वर्णन हुआ है। नयी दुलहिन के प्रेम में बँधा हुआ चूड़ावत सरदार जब अपनी प्रिया से मिलकर युद्ध में जाने लगता है और यह सन्देशा भेजता है कि 'बढ़ रही मुझमें निराशा ही प्रिया' तब प्रिया ने अपना शीश काटकर चूड़ावत को भेजवा दिया। प्रिया के उस कटे हुए सिर को देखकर :

"चौंक कर वह वीर सोते से जगा,
मोह को धिक्कारने मन में लगा ॥
श्याम घन में दामिनी आ पड़ गयी,
अग्नि में अथवा घृताहुति पड़ गयी ॥" (पृ० ३५)

पाँचवे सर्ग में बादशाह ने चूड़ावत को समझाते हुए उसे युद्ध से विरत करना चाहा, पर चूड़ावत न माने। उन्हें युद्ध की ललकार सुनायी देने लगी। चूड़ावत ने अपनी सेना को इस प्रकार उत्तेजित किया :

"वीरो, बढ़ो कमर कस कर अब,
दर्प शत्रु का कर दो खर्व।
मेरे बल हो तुम्हीं सदा ही,
मुझे तुम्हारा रहता गर्व।" (पृ० ४०)

× × ×

"जहाँ धर्म है वहीं विजय है॥" (पृ० ४१)

"अरि-शोणित से रणचण्डी का,
खप्पर भरो, लाल, तत्काल।"

× × ×

"मैं तो तन्मय हुआ, पहनकर
प्रिय रानी के सिर का हार
केवल रण का रंग चढ़ा है
'मार-मार' है मुझे सवार।" (पृ० ४२)

कवि ने इसी स्थल पर युद्ध-वर्णन किया है, जिसमें वीर रस का अच्छा परिपाक है। वीरों की तलवारों का वर्णन देखिए :

"काट-काट कर सिर ढेर लगाती,
रही खून में वे ही डूब॥"

यहाँ अपने शिविर में रात को भारतीय वीर गाते हैं कि :

"जय जय पूज्य देश, जय भारत,
जय जय प्यारे हिन्दुस्तान।"

× × ×

"सोने की चिड़िया कहते हैं
तुझको अन्य विदेशी लोग।
मुँह बाये इच्छुक रहते हैं
तेरा करने को उपभोग।"

तीसरे दिन भी युद्ध भीषण हुआ और चूड़ावत ने :

"विकट पराक्रम युद्ध आक्रमण
किया वीर ने तब तत्काल।" (पृ० ५१)

"लड़ते लड़ते सैन्य भेद कर
बादशाह के पहुँचा पास ।
उनके गज के सम्मुख जाकर
खींची निज घोड़े की रास" (पृ० ५३)

बादशाह घबड़ा गया और बोला :

"माफी माँग सुलह करता हूँ
प्राण-दान दें मुझे जरूर ।।
इतनी बड़ी फौज रहते भी
की शिकस्त मैंने मंजूर ।।"

बादशाह ने उसके साथ सन्धि कर ली । उसने ये शर्तें रखीं कि बादशाह प्रभावती को न छेड़े, मेवाड़ पर दस वर्ष तक कोई आक्रमण न करे और अपनी सेना से कहे कि वह चूड़ावत से लड़े । बादशाह ने शर्तें मान लीं और युद्ध में लड़ते-लड़ते चूड़ावत ने वीरगति पायी ।

उपसंहार में कवि ने राणा के विवाह, बादशाह से उसके युद्ध और उसकी विजय का वर्णन किया है । अन्तिम पद में कवि का कथन है :

"हिन्दूपन की धाक जगत में
जम जाये फिर हे जगदीश ।"
× × ×
"बनें साहसी राणा जैसे ।"
× × ×
"प्रकटें प्रभावती-सी सतियाँ ।" (पृ० ६१)

यह वीर रस काव्य जातीय काव्य है ।

इसमें बीर, शान्त, संयोग और वियोग शृंगार, करुण, रौद्र, वीभत्स आदि रसों की व्यंजना हुई है और अभिधा-प्रधान प्रासादिक पदावली का प्रयोग किया गया है ।

अलंकारों में अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि ही प्रमुख रूप से रखे गये हैं । इसमें शिकस्त, मंजूर, कुरान, कसम, सुबह, ख्याल आदि उर्दू के भी शब्द प्रयुक्त हुए हैं । साफ चलती हुई खड़ी बोली की यह रचना है, जो व्याकरण की दृष्टि से मँजी हुई भी है । वस्तुवर्णनात्मक शैली का यह काव्य है । इस रचना में सामाजिक, धार्मिक और नैतिक मान्यताएँ स्पष्ट हुई हैं, पर यह साम्प्रदायिक काव्य नहीं है । सम्वाद और प्रार्थना गीत में तत्कालीन राष्ट्रीय भावनाओं का निदर्शन है । राजसिंह और प्रभावती के पत्रों में कल्पना-

त्मकता अधिक है। युद्ध का बीज कारण यह पंक्ति है—"फिर सुनी निज चित्र की जब दुर्दशा।" अतः औरंगजेब ने सैन्य भेजकर प्रभावती को पाना चाहा था।

## चारण

१९१९ ई० में श्रीवर द्वारा लिखित और इण्डियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित 'चारण' एक कल्पित पद्यात्मक कथा है, जो बारह परिच्छेदों में लिखी गयी है। १९१४ ई० में इसकी रचना हुई थी। एक राजपूत वीर निर्जन वन में भटक जाता है। वन में उसे एक कुटी में वृद्ध पुरुष मिला। वह अपने परिचय में कहता है कि मैं चारण हूँ और मैंने प्रतिज्ञा की है कि वीरों की कीर्ति ही गाऊँगा। किसी की राजसभा में नहीं जाऊँगा। उदयपुर, बूँदी, कोटा, जयपुर तथा जोधपुर के दरबारों में उसके वीरगान की प्रतिष्ठा थी। चारण कहता है कि अब गद्दी पर विलासी युवक आसीन हैं। अतः मैं उनके कीर्तिगान को पाप समझता हूँ। चारण ने तृतीय परिच्छेद में चित्तौड़ की कीर्ति गायी है। चतुर्थ परिच्छेद में जयमल पत्ते और अकबर के युद्ध में जयमल की कीर्ति गायी गयी है। पाँचवें में प्रताप, छठवें में दुर्गादास, सातवें में अमरसिंह राठौर तथा आठवें में रानी कमलावती की कीर्ति के चित्रात्मक और वीर-रसपूर्ण वर्णन है। वह चारण गाते-गाते मृत हो गया। विजयसिंह द्वारा चारण का दाह संस्कार करके स्मारक का पत्थर लगा दिया गया। बारहवें परिच्छेद में 'स्वर्गादपि गरीयसी' मातृभूमि का गौरव-गान गाने वाले चारण की समाधि का वर्णन है।

यह खण्ड काव्य देशभक्ति से परिपूर्ण तथा उद्‌बोधनात्मक है। इस काव्य में प्रकृति का चित्रण भी सुन्दर है। यह काव्य वर्णनात्मक है। वीर, शान्त, शृंगार रौद्र, वीभत्स, आदि रसों को प्रस्तुत किया गया है। पदावली में कहीं-कहीं ब्रजभाषा का पुट भी है।

सेठ गोविन्ददास का 'प्रेम-विजय' महाकाव्य १९१६ ई० से १९१९ ई० के बीच लिखा गया था, पर उसकी कथावस्तु में लेखक ने १९३० ई० में इतना परिवर्तन कर दिया है कि वह अब द्विवेदी युग के बाद की या परवर्ती रचना बन गयी है।

# अनूदित काव्य

## श्रान्त पथिक (१९०२ ई०)—श्रीधर पाठक

यह गोल्डस्मिथ के 'द ट्रैवलर' का शाब्दिक अनुवाद है और एक साधारण रचना है। पर्यटन से थका हुआ नायक आल्प्स पर्वत के उच्च शिखर पर बैठकर आत्मिक सुख की खोज करता है। उसे प्रत्येक देश के निवासी, जो

स्वदेशाभिमान को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, सुखी नहीं दिखायी पड़ते। वे सब दुःखी मालूम पड़ते हैं, क्योंकि पथिक की दृष्टि में सच्चा सुख हृदय में रहता है। यही भावना इस काव्य में प्रकट हुई है। कबीर ने कहा ही है :

"गोधन, गजधन, बाजिधर और रतनधन खान।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥"

## कुमारसम्भवसार—महावीर प्रसाद द्विवेदी

कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' के १७ सर्गों में से प्रथम पाँच ही सर्गों को सर्वोत्तम मानकर आचार्य द्विवेदी जी ने उनका अनुवाद १६०२ ई० में किया था। तृतीय और पंचम सर्ग का शब्दशः अनुवाद किया गया है पर प्रथम, तृतीय और चतुर्थ सर्ग के अनुवाद में मूल का आशय मात्र लिया गया है। प्रथम सर्ग के हिमालय के वर्णन का यह अनुवाद देखिए :

"गेरू से लिख भोजपत्र पर जहाँ अनंग-देव सन्देश,
विद्याधर सुन्दरी भेजती हैं पिय पास विशेष विशेष।
जहाँ रात में विपिन-निवासी, औषधियाँ रख दीप समान।
करते हैं, उनके प्रकाश में, केलिकला के विविध विधान॥"[१]

प्रथम सर्ग में किन्नर-किन्नरियों के रति-भाव, सुरा गायें, किरात, हिमालय और मैना का विवाह तथा पार्वती या उमा का जन्म आदि वर्णित हैं। पार्वती का रूप-वर्णन (१७, १८, १६, २० से २६ पद तक) शृंगारिक है। अनुवाद की इतनी स्वच्छ और सुन्दर शैली कवि ने अपनायी है कि परम्परागत उपमान भी अपनी छटा में नवीन से प्रतीत होते हैं। अंग-प्रत्यंगों का वर्णन कहीं-कहीं मुक्त रूप में रखा गया है। कहीं-कहीं हावों और अनुभावों के सुन्दर चित्र भी हैं :

"महि को, चरण अँगूठों से, जब चलते समय दबाती थी,
नख आभा के मिस वह मानो लाल रंग टपकाती थी।
उससे नूपुर शब्द सीखने की इच्छा रखने वाले,
हंसों ने क्या उसे सिखाये चलने के क्रम मतवाले?"[२]

दूसरे सर्ग में तारक से भयभीत इन्द्र तथा अन्यान्य देवगण ब्रह्मा से प्रार्थना करते हैं और उसके नाश के लिए एक सेनानी चाहते हैं। इसके लिए ब्रह्मा ने उमा और शंकर से प्राप्त पुत्र के ही योग्य सेनानी होने का निर्देश किया और कहा कि उसके लिए तुम शंकर की उपासना करो :

---

१. द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ३०७

२. वही, पृ० ३१०

"उनका मन तप में लीन, उमा के द्वारा,
तुम खींचो, खींचें अयस्कान्त ज्यों सारा ।।"[१]

तीसरे सर्ग में इन्द्र ने कामदेव को बुलाकर शंकर को प्रभावित करने का आदेश दिया । जब काम उस वन में पहुँचा जहाँ शंकर जी तपस्या कर रहे थे, तब :

"जितने थे स्थावर-जंगम, सब आतुरता-वश बारम्बार,
रति-सूचक-श्रृंगार-भावना करने लगे अनेक प्रकार ।।"[२]
× × ×
"फूल-रूप एक ही पात्र में भरा हुआ मीठा मकरन्द ।
भ्रमरी के पीने के पीछे, पिया भ्रमरवर ने स्वच्छन्द ।
छूने से जिस प्रिया मृगी ने सुखवश किये विलोचन बन्द,
एक सींग से उसे खुजाया कृष्णसार मृग ने सानन्द ।।"[३]

शंकर की तपस्यारत मुद्रा, पार्वती का रूप-गुण और पार्वती तथा शंकर का सामुख्य, पार्वती और शंकर को लक्ष्य कर अनंग द्वारा शर-सन्धान तथा इससे क्रोधित होकर शिव का काम को देखना, इत्यादि वर्णन स्वाभाविक और सुन्दर है, यथा :

"नयन दाहिने के कोने में मुट्ठी रक्खे हुए कठोर,
कन्ध झुकाये हुए वाम पद छोटा किये भूमि की ओर ।
धनुष बनाये हुए चक्र सम, विशिख छोड़ते हुए विशाल,
मनसिज को इस विकट वेष में त्रिनयन ने देखा तत्काल ।।"[४]

शिव के तृतीय लोचन से अग्नि की ज्वाला निकल कर मन्मथ को भस्म कर देती है ।

चतुर्थ सर्ग में रति का विलाप, व्योमवाणी और उसको दिया गया आश्वासन है :

"जब शिव-संग विवाह करेगी शैल कुमारी ।
तब अनंग को अंग-दान देंगे त्रिपुरारी ।"

पाँचवें सर्ग में उमा की कठिन तपस्या, द्विजवर से उसका सम्भाषण, शंकर के भयावने रूप और वातावरण का वर्णन, भुजंग-भूषण शंकर के विचित्र रूपों का

---

१. द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ३१८
२. वही, पृ० ३२५
३. वही
४. वही, पृ० ३३१

वर्णन, उमा द्वारा क्रोध, उमा द्वारा शंकर के सौन्दर्य का स्तुतिपरक स्मरण और जब वह क्रोधित होकर उठने लगीं तब शंकर द्वारा उमा का हाथ पकड़ना द्रष्टव्य स्थल हैं। यह स्वाभाविक चित्र द्रष्टव्य है :

"शैल मार्ग में आ जाने से आकुल सरिता तुल्य नितान्त।
पर्वत-सुता न चली न ठहरी हुई चित्र खींची-सी भ्रान्त।"

इस अनुवाद में मूल काव्य का सौन्दर्य उद्भासित हुआ है। १९०२ ई० में खड़ी बोली जब पद्य की भाषा बनने के लिए आगे बढ़ रही थी, तब ऐसी स्वच्छ और प्रवाह-युक्त अभिव्यक्ति की कोई सम्भावना नहीं थी। तत्सम शब्दों से युक्त सीधी सरल पदावली इस अनुवाद को सुन्दर बनाती है। कवि का शब्द-चयन अत्यन्त प्रौढ़ है। पृथुल, हिममण्डित मस्तकधारी, चन्द्रबिम्ब, शृंगों, अकाल-सन्ध्या, करि-कपोल-तडित-सालद्रुम-दुग्ध-गन्ध, उच्चैः श्रवा, विशिख, रूप, तपोविघातक आदि तत्सम शब्दों के साथ ही, चाहते हैं, खिज जाहीं, क्या चहत हो, उपजाया है, स्वीकारा है, चहती है, ऐसौ करौ उपाय, जाय कर, वरदाना आदि ब्रजभाषा-प्रयोग भी दिखायी देते हैं। अनुवादक यद्यपि शृंगार रस का विरोधी है, किन्तु उसने यहाँ शृंगारिक रचना के अनुवाद का बड़े मनोयोग से वर्णन किया है। कुच, कटि, भ्रू, बाहु, जघन, नाभि, त्रिबली, अलकें आदि को अनुवाद से बहिष्कृत नहीं किया गया है। यह एक सफल अनुवाद है।

प्रथम सर्ग में ३६ पद, दूसरे में ३६, तीसरे में ७६, चौथे में ३४ और पाँचवें में ८७, इस प्रकार २६९ पदों के इस पाँच सर्गों वाले अनुवाद को हम निश्चय ही खण्ड-प्रबन्ध की श्रेणी में रख सकते हैं। इसमें उमा और शंकर के जीवन का एक खण्ड विशेष, तारतम्य युक्त कथा-प्रवाह और उसका सुखद अन्त अपने आप में सम्पूर्ण रचना-कार्य है।

अनुवाद में मूल के रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, अनुप्रास, श्लेष, विभावना, निदर्शना, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों को रखा गया है। अतः यह एक प्रामाणिक अनुवाद है।

## द्विवेदीयुगीन ब्रजभाषा काव्य एवं रूप विधाएँ

भारतेन्दु युग की काव्यभाषा ब्रजभाषा थी। पद्य में खड़ी बोली का प्रयोग इसी युग में शुरू हुआ था। बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके मण्डल के कवियों के अतिरिक्त परवर्तीकाल में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध',

श्रीधर पाठक, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', रावराजा श्याम बिहारी मिश्र, सुखदेवबिहारी मिश्र, पं० सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि, दुलारेलाल भार्गव, रामनाथ ज्योतिषी, लाला भगवानदीन, नाथूराम शर्मा, 'शंकर', गयाप्रसाद शुक्ल'सनेही' आदि कवि ब्रजभाषा में कविता लिखते थे। इनमें से कई द्विवेदी युग के प्रभाव से खड़ी बोली के रचयिता भी हो गये। जो कवि निष्ठापूर्वक ब्रजभाषा में लिखते रहे उनमें रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न, पूर्ण और वियोगी हरि का नाम उल्लेखनीय है।

## बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर (१८६६ ई० से १९३२ ई०)

रत्नाकर का रचनाकाल सन् १८९४ ई० से १९०२ ई० और फिर १९१९ ई० से १९३२ ई० तक दो भागों में बँटा हुआ है। सन् १८६६ ई० में जन्म और २१ जून १९३२ ई० को उनकी मृत्यु हुई। कवि ने अनेक काव्य-ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिखे। वे रीतिकालीन काव्य-धारा की परम्परा के अन्तिम कवि थे। उनकी समस्त कृतियों का संग्रह काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने 'रत्नाकर' नाम से प्रकाशित किया है, जिसमें 'हिन्डोरा', 'समालोचनादर्श', 'हरिश्चन्द्र', 'कलकाशी', 'उद्धवशतक', 'गंगावतरण', 'शृंगार-लहरी', 'गंगा-लहरी', 'श्रीविष्णुलहरी', 'रत्नाष्टक', 'प्रकीर्णपद्यावली' और 'वीराष्टक' ग्रन्थ संग्रहीत हैं। 'हरिश्चन्द्र' और 'गंगावतरण' खण्ड काव्य हैं। 'उद्धवशतक' की रचना १९१० से १९२० ई० के बीच में ही हुई। स्वयं रत्नाकरजी ने १९२१ में अपने एक सन्दूक के हरिद्वार में चोरी चले जाने की बात कही है। उसमें उनके ५०० से अधिक कवित्त थे।

## हरिश्चन्द्र खण्ड काव्य (१८९४ ई०)

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर जी की पहली कृति 'हरिश्चन्द्र' खण्ड काव्य है। इसमें ४ सर्ग और २३६ रोला छन्द हैं। काव्य के धीर-प्रशान्त नायक राजा हरिश्चन्द्र हैं। इस काव्य का आधार है भारतेन्दु कृत 'हरिश्चन्द्र' नाटक। प्रथम सर्ग में हरिश्चन्द्र के राज्य का वैभवपूर्ण चित्रण, इन्द्र के दरबार में नारद का प्रवेश, हरिश्चन्द्र की प्रशंसा और हरिश्चन्द्र की स्वर्ग-प्राप्ति की अभिलाषा विषयक इन्द्र की आशंका, हरिश्चन्द्र की परीक्षा का निश्चय, नारद का क्रुद्ध होना आदि प्रसंगों का वर्णन है। इसके पश्चात् विश्वामित्र का क्रोध दिखाया गया है और इन्द्र का कथन है कि :

"तुमसे महानुभावनि हूँ के होते जग में ॥
इक सामान्य गृहस्थ भूप को व्रत किहि मग में।" (३१ प्रथम सर्ग)

विश्वामित्र स्वयं हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने का निश्चय करते हैं।

दूसरे सर्ग में विश्वामित्र अयोध्या पहुँचते हैं और राजा के सिंहद्वार पर ये पंक्तियाँ लिखी देखते हैं :

"टरहि चन्द्र सूरज औ, टरहिं मेरु गिरि सागर,
टरहि न पै हरिश्चन्द भूप कौ सत्य उजागर।"

इससे विश्वामित्र उत्तेजित हो उठते हैं। राजा हरिश्चन्द्र उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वी दान में दे देते हैं। दक्षिणा की सहस्र मुद्रा चुकाने के लिए जब राजा ने अपने मन्त्री को कहा, तब विश्वामित्र ने चेतावनी दी कि अब राजा का कोष पर कोई अधिकार नहीं है। राजा स्वयं को, पुत्र और पत्नी समेत बेचकर दक्षिणा देने को तैयार होते हैं, परन्तु पूरी वसुधा विश्वामित्र की हो चुकी थी। अत: वे किस धन से बिकते ? वे सोचते हैं कुबेर से युद्ध करके धन लाकर ऋण-मुक्त, हो लूँ पर वह भी कैसे सम्भव था, क्योंकि युद्ध भी विश्वामित्र के अस्त्र देने पर ही हो सकता था। अन्त में शम्भु के त्रिशूल पर बसी और लोक से बाहर मानी जाने वाली काशी में बिककर उन्होंने मुक्त होने का निश्चय किया। राजा हरिश्चन्द्र, शैब्या और रोहित के साथ बिकने के लिए प्रस्थान करते हैं। वह स्थल अत्यन्त करुण है।

तीसरे सर्ग में विश्वामित्र का राजा हरिश्चन्द्र के प्रति अनुचित शब्दों का प्रयोग, हरिश्चन्द्र का स्वयं अपने को बेचने के लिए फेरी लगाना, रोहित और शैब्या का एक उपाध्याय के हाथ बिकना, आधी दक्षिणा को देखकर विश्वामित्र का क्रोध, देवताओं द्वारा विश्वामित्र को धिक्कारना, विश्वामित्र का शाप और देवताओं का दु:खी होना, तथा हरिश्चन्द्र का डोम चौधरी के हाथों बिककर ऋण चुकाना वर्णित है। विश्वामित्र का क्रोध फिर भी शान्त नहीं होता।

चौथे सर्ग में राजा का मरघट की रखवाली करना, कापालिक के वेष में धर्म और अष्टसिद्धियों का आगमन, रोहित का सर्प द्वारा डसा जाना, शैब्या का पुत्र को लेकर मरघट आना और राजा हरिश्चन्द्र का फाँसी लगाने को उद्यत होना, प्रसंग वर्णित हैं। शैब्या को आत्महत्या करने से रोका जाता है। वे सत्यपथ से विचलित न होते हुए अपने ही पुत्र का दाह-संस्कार करने के लिए अपनी पत्नी से कफन और कर माँगते हैं। शैब्या हरिश्चन्द्र को पहचान लेती है और जब कफन के लिए अपना वसन फाड़ती है, तब राजा को नारायण दर्शन देते हैं, रोहित जीवित हो जाता है और इस प्रकार सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा पूरी होती है।

इस काव्य में करुण रस प्रधान है :

१. "विकनि देहु हमहिं पहिलै सुनि हमारी।
जामै वे दृग लखै न ऐसी दशा तिहारी।।"

२. "कहौं विप्र सों कीजै क्षमा नैंकु अब द्विजवर।
लेहि निरखि भरि-नैन, नाह कौ आनन सुन्दर।
फिर यह आनन कहाँ, कहाँ यह नैन अभागी।
यों कहि बिलखि निहारि नृपति मुख रोवन लागी।।"

बाजार में बिकने के लिए खड़ी शैब्या की यह करुण उक्ति है :

"महाराज ! हम होत बिकन नहिं उचित तिहारौ।
तातैं प्रथम बेचि हमको ऋण-भार निबारौ।।
यों कहि लगी पुकारि कहन भरि वारि विलोचन।
कोउ लै मोल हमें करि कृपा करै दुख मोचन।।"

माँ को रोते देख रोहिताश्व, जो बच्चा था, पूछता है :

"बहुरि तोतरे वचन बोलि आरत उपजैया।
बूभूयौ–ऐ ये कहा भयौ रोवस क्यों मैया।
सुनि बालक की बात अधिक करुणा अधिकाई।
दम्पति सके न थामि आँसु-धारा बहि आई।।"

जब शैब्या अपने पुत्र रोहित का शव गोद में लिये हुए क्रन्दन करती है, तब करुण रस की बाढ़-सी आ जाती है :

"कहति पुकारि पुकारि वत्स मैया मुख हेरो
वीर पुत्र ह्वै ऐसे कुसमय आँखि न फेरो।।"

चतुर्थ सर्ग के ४४ से ४८ संख्यक पद्य मार्मिक हैं। कुछ भावपूर्ण स्थल देखिए :

"तव पितु को दृढ़ सत्य व्रतहु कछू काम न आयौ।
बालपनेहिं में मरे जथाविधि कफन न पायौ।" (चतुर्थ सर्ग)

"पै ज्योंही गर माँहि फाँद दै कूदन चाह्यौ।
त्योंही सत्य विचार बहुरि उन माँहि उमाह्यौ।।
हरे हरे यह कहा बात हम अनुचित ठानी।
कहा हमें अधिकार भई जब देह बिगानी।।"

× × ×

"अब तो हम हैं दास डोम के आज्ञाकारी।
रोहिताश्व न पुत्र न शैब्या नारि हमारी।।

"चले स्वामि के काज माँहि दृढ़ ह्वै चित लावै।
लेहि कफन के दान वेगि विलम्ब लगावै।"

चतुर्थ सर्ग में शैव्या के विलाप का हृदय-द्रावक चित्रण है। करुण रस के अतिरिक्त रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों की भी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

वीभत्स रस :

"कहूँ स्वान इक अस्थि खण्ड लै चाटि चिचोरत।
कहु कोउ सव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत।"

"जहँ-तहँ मज्जा-माँस, रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ-कहुँ रतनारे।"

ओज का अच्छा निर्वाह भी पाया जाता है।

**छन्द** : इस काव्य में आद्यन्त रोला छन्द का प्रयोग किया गया है। कवि ने शृंगार, वीर और करुण रसों का रोला छन्द में इस काव्य में सफल निर्वाह किया है।

**अलंकार** : इस रचना में अनुप्रास, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की सफल योजना पायी जाती है।

**भाषा** : रत्नाकर जी की भाषा में सजीवता और रसवत्ता है। भाषा प्रौढ़ और सशक्त है। उन्होंने अवधी और बनारस के आस-पास बोली जाने वाली भोजपुरी को भी ब्रजभाषा में इस प्रकार ढाल लिया है कि वे विजातीय नहीं जान पड़ते। वचन, लिंग, कारक, अव्यय, संज्ञा और विशेषण के प्रयोगों में रत्नाकर ने व्याकरण की शुद्धता का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। उर्दू तथा देशज शब्दों का प्रयोग भी जहाँ-तहाँ हुआ है। उनकी शैली सुललित तथा चित्रोपम है।

## उद्धव-शतक (१९१० ई० से १९२० ई० के मध्य रचित)

**रचना काल** : रत्नाकर जी का 'उद्धव-शतक' १९१० ई० से लेकर १९२० ई० के बीच लिखा गया। १९२१ ई० के आरम्भ में उनका एक सन्दूक हरिद्वार में चोरी चला गया था। इसमें रत्नाकरजी द्वारा लिखित ५०० कवित्त खो गये थे। इससे प्रतीत होता है कि ये कवित्त १९२१ ई० के पूर्व और १९१० ई० के पश्चात् फुटकर रूप में लिखे गये थे, जो 'उद्धव-शतक' के रूप में संकलित किये गये। 'गंगावतरण' खण्ड काव्य १९२१ ई० से १९२३ ई० के

मध्य लिखा गया जिसे द्विवेदी युग के बाद की रचना होने के कारण विवेच्य नहीं माना गया। 'गंगावतरण' में १३ सर्ग हैं और रोला छन्द का प्रयोग हुआ है। इसके पूर्व 'उद्धव-शतक' लिख लिया गया था, परन्तु उसका प्रकाशन बाद में हुआ।

**प्रबन्ध, मुक्तक या प्रबन्ध मुक्तक** : शास्त्रीय दृष्टि से 'उद्धव-शतक' मुक्तक काव्य है, पर इसमें प्रवन्ध काव्य के अनेक गुण भी हैं। इसमें एक कथा भी है और इसका प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र भी है। चित्रोपमा की कुशल शैली के कारण डॉ० रसाल इसे चित्रोपम सत्काव्य कहते हैं। यह वार्तात्मक काव्य है। ११८ घनाक्षरी छन्दों में विरचित यह सरस कृति कथोपकथनों से परिपूर्ण है। रचना-कौशल और कथा-विन्यास को देखकर शुक्लजी ने इसे प्रबन्ध काव्य[1] की कोटि में ही माना है।

'उद्धव-शतक' को प्रबन्धात्मक होने के कारण खण्डकाव्य माना जाता है। मुक्तक के गुण—मार्मिक अनुभूति, कलात्मक चित्रण, रस-चमत्कार, वाग्विदग्धता, ललित-पदावली, आदि 'उद्धव-शतक' में विद्यमान हैं, पर कथा का तार ऐसा बँधा हुआ है कि उसमें अपने आप प्रबन्ध के गुण आ गये हैं। कवि की यह कुशलता भी है और दोष भी। कुछ विद्वान इसे प्रबन्धात्मक मुक्तक रचना मानते हैं।

**कथावस्तु** : 'उद्धव-शतक' की कथावस्तु को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया गया है।

१. उद्धव का मथुरा से ब्रज जाना और कृष्ण के वियोग का चित्रण। इसमें २० छन्द हैं।

२. उद्धव की ब्रज-यात्रा, इसमें ३ छन्द हैं।

३. उद्धव का ब्रज में पहुँचना, इसमें ६ छन्द हैं।

४. उद्धव के प्रति ब्रज की नारियों के वचन, जिसमें ४ छन्द हैं।

५. उद्धव के प्रति गोपियों के वचन, जिसमें ६३ छन्द हैं।

६. उद्धव की ब्रज से बिदाई, इसमें ५ छन्द हैं।

७. उद्धव का मथुरा लौटना, जिसमें ६ छन्द हैं।

८. उद्धव के वचन श्री भगवान के प्रति, जिसमें ९ छन्द हैं।

इस कथा-सूत्रता में ज्ञान-भक्ति और निर्गुण-सगुण के पुरातन संघर्ष को कवि ने कलात्मक रूप में चित्रित करके सगुणोपासना की श्रेष्ठता सिद्ध की है। इस

---

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७०५

कथा का विषय है भ्रमर-गीत की प्रचलित कथा। रत्नाकर की अधिष्ठात्री राधा है। राधा की तन्मयता को देखकर उद्धव का निर्गुण का ज्ञान वह जाता है। उद्धव इन गोपिकाओं की अनन्य भक्ति के साँचे में ढलकर सूर्यकान्त मणि बन जाते हैं। 'उद्धव-शतक' का आरम्भ मंगलाचरण से हुआ है। कृष्ण यमुना में स्नान करते हुए धारा में बहते हुए एक कमल को उठाकर सूँघ लेते हैं। इससे राधा के स्पर्श की गन्ध का स्मरण हो आता है और वे बेसुध हो जाते हैं। उद्धव के उपचारों से भी वे प्रकृतिस्थ नहीं होते, पर शुक के 'राधा शब्द' उच्चारण करते ही आँखें खोल देते हैं। उनके होश में आने पर उद्धव का कथन है :

"गोपिन मैं, आप मैं, वियोग औ संजोग हू मैं
एकै भाव चाहिए सचोप ठहरायो है।
आपु ही सौं आपु कौं मिलाप और बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख दुख सब ठायौ है।"

संसार मिथ्या और मरीचिका है। कृष्ण ने उद्धव से कहा कि तुम एक बार राधा और गोकुल की गोपियों से मिलकर लौट आओ। यदि तब भी तुम यही सीख मुझे दोगे तो मैं तुम्हारा यह निर्गुण मान लूँगा :

"आओ एक बार धरि गोकुल गली की धूरि,
तब इहिं नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम।
मन सौं, करेजे सौं, स्रवन-सिर-आँखिन सौं-
उद्धव तिहारी सीख भीख कर लैहैं हम।"

उद्धव गोकुल चले आये। उनकी ज्ञान की गठरी हलकी पड़ने लगी। राधा और गोपियों की भक्ति के सामने उनका ज्ञान फीका जान पड़ा :

"ज्ञान की गठरी की गाँठि छरकि न जान्यो कब,
हरैं हरैं पूँजी सब सरकि कछार में।
डार मैं तमालनि की कछु बिरमानी अरु,
कछु अरुझानी है करीरनि के झार में।"

वे गोपियों को ज्ञान का उपदेश देते हैं :

"ऐसैं करो लीन आतमा कौ परमातमा मैं
जामैं जड़ चेतन विलास विकस्यौ रहै।
मोह बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोहि
सो तो सब अन्तर निरन्तर बस्यौ रहै॥"

वे माया को ज्ञान से पराजित करने का सन्देश देते हैं :

"माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै
काँच-फलकनि ज्यों अनेक एक सोई है।
देखो भ्रम-पटल उघारि ज्ञान-आँखिन सौं,
कान्ह सब ही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है।"

अनेक में एकत्व की यह सरलतम व्याख्या है। वे जलविन्दु और समुद्र की उपमा देकर कृष्ण और गोपियों की एकात्मकता का ज्ञानमय उपदेश देते हैं, पर गोपियों पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वे तो यही जानना चाहती हैं कि 'प्यारे परदेस सौं कब धौं पग धारे हैं ?' वे अधीरा हैं और राधा हठयोग को स्वीकार नहीं करती। वह कृष्ण को अनन्त और विश्वव्यापी नहीं मानतीं। वे तो उसे सरूप, सगुण और प्रत्यक्ष समझती हैं। अलख और अरूप ब्रह्म का उन्होंने विरोध किया है। त्रिकुटी में उसे कैसे रखा जा सकता है, निरूप जो है :

"रूप रसहीन जाहि निपट निरूपि चुके,
ताकौ रूप ध्याइबौ औ रस चखिबौ कहो
एते बड़े विश्व माँहि हेरैं न पैये जाहि,
ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूँदि लखिबौ कहौ।"

वे रूपरंगहीन अनन्त की आराधना नहीं करना चाहतीं :

"राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म,
तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा।
एक ही अनग साधि साध सब पूरी अब
और अंग रहित अराधि करिहैं कहा॥"

गोपियों ने उद्धव को अपने सरल सीधे भक्तियुक्त तर्कों से परास्त कर दिया। वे कहती हैं :

"ऊधौ ब्रह्म-ज्ञान को बखान करते न नैंकु
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियन तैं।"

वे पूछती हैं कि आपका यह अलख अरूप ब्रह्म हमारे किस काम आयेगा ? उद्धव का 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' सिद्धान्त गोपियों की भक्ति से हार गया। उद्धव आत्म-विभोर होकर मथुरा लौटे और कृष्ण से जब वे मिले तब उनकी आँखों में अश्रुधारा बह रही थी।

**चरित्र-चित्रण** : रत्नाकर जी ने 'उद्धवशतक' के 'पूर्वस्मृति' अंश में कृष्ण को विरहातुर के स्थान पर कामातुर बना दिया है :

"पाइ बहे कंज मैं सुगन्ध राधिका को मन्जु
ध्याय कदलीवन मतंग लौं मताए हैं ॥"

'मतंग लौं मताए हैं' में काम की ही ध्वनि प्रधान है। कृष्ण उद्विग्न भी बहुत अधिक हैं :

"कहा कहैं ऊधौ सौं कहैं हूँ तौ कहाँ लौं कहैं
कैसे कहैं कहैं पुनि कौन-सी उठानि तैं।
तौ लौं अधिकाई पै उमगि कण्ठ आइ भिंचि
नीर ह्वै बहन लागी बात अँखियानि तैं ॥"

कृष्ण गोपियों को छोड़कर त्रिलोक का भी राज्य पाना नहीं चाहते। रत्नाकर ने कृष्ण के विराट रूप की भी रचना करने का प्रयास किया है। कृष्ण निर्गुण की तरह नहीं, सगुण की तरह ही और प्रत्यक्ष ही पूजित हुए थे, इसी कारण उन्होंने उद्धव को चुनौती दे डाली थी। कृष्ण को गोपियों पर विश्वास था। उन्होंने उद्धव को उनके पास भेजा भी था। उद्धव भी बड़े तार्किक और निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। संसार को वे मिथ्या मानते थे और ब्रह्म को सत्य समझते थे। माया के प्रपंच को चारों ओर फैला हुआ जानकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना ही उनका लक्ष्य था। गोपियाँ जो प्रेम में पगी थीं और जिनको निर्गुण ब्रह्म सर्वथा अमान्य था अपनी अद्वितीय भक्ति और प्रेम की अनन्यता के द्वारा निर्गुणिया उद्धव को हरा देती हैं। अपनी वाग्विदग्धता के कारण ये गोपियाँ हिन्दी साहित्य में स्मरणीय हैं। उनकी व्यंग्यात्मक उक्तियों के नमूने देखिए :

"जग सपनौ सौ सब परत दिखायी तुम्हें
तातैं तुम ऊधौ हमैं सोवत लखात हौ।
कहै रत्नाकर सुनै को बात सोवत की
जोई मुँह आवत-सो बिवस बचात हो ॥"

× × ×

"चेरी हैं न ऊधौ काऊ ब्रह्म के बबा की हम।
सूधौ कहैं देति एक कान्ह की कमेरी हैं।"

× × ×

"[illegible] बिनू कैसें गाय दुहि हैं हमारी वह

पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहैं ॥''

× × ×

''वे तो हैं हमारे ही हमारे ही, हमारे ही औ
हम उनही की उनही की उनही की हैं।''

× ×

''वे तो भए जोगी जाइ पाइ कूबरी को जोग।
आप कहैं उनके गुरू हैं किधौं चेला हैं ॥''

× × ×

''नाम कौ बताइ औ जताइ ग्राम ऊधौ बस,
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ ॥''

× × ×

''भली हैं बुरी हैं और सलज्ज निरलज्ज हू हैं
जो कहो सो हैं पै परिचारिका तिहारी हैं ॥''

ये भोली-भाली ग्रामीण गोपियाँ कृष्ण के प्रति पूरी तरह आसक्त हैं। ज्ञान का खण्डन और प्रेम का प्रतिपादन उनका लक्ष्य है। वे भावमयी भक्तों की श्रेणी में आती हैं। इनके दर्शन, चिन्तन और अनुभूति का विषय केवल कृष्ण हैं। वे सरल, वाचाल और एकनिष्ठ प्रेमिकाएँ हैं।

**प्रकृति-चित्रण :** षट्ऋतु वर्णन के उद्देश्य से लिखे गये छह पद्य प्रकृति वर्णन से सम्बन्धित हैं :

''विकसित विपिन वसंतिकावली कौ रंग
लखियत गोपिन के अंग पियराने में।''

ग्रीष्म में जीवन जल उठा है। वर्षा में घाव हरे हो उठे हैं। शरद में काम की प्रबलता है, हेमन्त में उदासी है, शिशिर में काम द्वारा झकझोरी गयीं गोपियाँ कृष्ण के विरह में व्यथित हैं।

**भाषा :** इसमें ब्रजभाषा की लालित्यपूर्ण पदावली का संगीतमय प्रवाह पाया जाता है। भाषा-शैली में कहीं भी शिथिलता और अस्पष्टता नहीं है। इसकी निर्दोष और कसावदार पदावली व्यंजनापूर्ण है। नाद-सौन्दर्य और प्रभावोत्पादकता से भरी-पूरी यह भाषा कवि को रीतिकाल का अन्तिम श्रेष्ठ कवि सिद्ध करती हैं। रत्नाकर का भाषा-शिल्प चमत्कार-बहुल और आभिजात्ययुक्त है।

**शैली** : काव्य में कई स्वतन्त्र चित्र हैं :

"हमकों लिख्यौ है कहा, हमकों लिख्यौ है कहा
हमकों लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं।"

'टूक-टूक ह्वै हैं मन मुकुर हमारो हाय' जैसे छन्द अलंकृत चित्रमयता के उदाहरण हैं।

**छन्द** : इस काव्य में घनाक्षरी या कवित्त छन्द का प्रयोग हुआ है। यह वर्णिक वृत्त है। इसमें ८, ८, ८ और ७ के क्रम से १६ और १५ वर्णों पर यति देते हुए ३१ वर्ण रखे जाते हैं।

'उद्धवशतक' में वैद्यक (पाती कौन रोग की पठावत दवाई है), रसायन (चल चित पारे की भसम भुरकाय कैं) विज्ञान :

"ज्यों-ज्यों बसे जात दूरि-दूरि प्रिय प्रान भूरि
त्यों-त्यों धँसे जात मन-मुकुर हमारे में।"

और तर्क, मनोविज्ञान, वेदान्त, दर्शन, आदि विषयों की बहुज्ञता प्रकट हुई है।

**अलंकार** : हेमन्त ऋतु के चित्रण में सांग रूपक (उद्धवशतक, ६२) है। रत्नाकर अलंकारों के मर्मज्ञ हैं। स्मरण, वीप्सा, श्लेष, प्रतीप, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि प्रमुख अलंकार 'उद्धवशतक' में प्रयुक्त हुए हैं।

'हमकों लिख्यौ है कहा, हमकों लिख्यौ है कहा' में वीप्सा अलंकार है। रूपक रत्नाकर का प्रिय अलंकार है।

'रहित सदाई हरिआई हिय छायनि में' (छन्द ६०) विभावना का उदाहरण है। 'न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात' में स्मरण, 'चलत न चार्‌यौ भाँति कोटिन विचार्‌यौ तऊ' छन्द ७ में उपमा और १०० संख्यक छन्द में अतिशयोक्ति अलंकार है।

**रस** : इसमें श्रृंगार रस प्रधान है, जिसका विप्रलम्भ पक्ष प्रमुख रूप से वर्णित है।

इस काव्य में सूर और नन्ददास की तर्कपूर्ण शैली का प्रयोग हुआ है। सम्वाद सरस और चित्ताकर्षक हैं। वाग्विदग्धता और वाक्चातुरी का समावेश हुआ है। विप्रलम्भ के अन्तर्गत आने वाले अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, असूया, औत्सुक्य, शंका आदि संचारियों को दृष्टि में रखकर वियोग वर्णन किया गया है। तुल्यानुराग का यह सुन्दर उदाहरण है।

**अन्य ग्रन्थ** : रत्नाकरजी का 'हिंडोला' (१८९४ ई०) संयोग श्रृंगार का निर्बन्ध काव्य है। नन्ददास के 'रास पंचाध्यायी' से प्रभावित इस काव्य में

दार्शनिक और धार्मिक विचारों की प्रधानता है। घनाक्षरी तथा दोहे में मंगला-चरण किया गया है और फिर १०० रोला छन्दों में मुख्य विषय वर्णित हुआ है।

"मन इन्द्रिय अरु शक्ति सहित गोपालहि लियौ।
तिहि तरंग में रचि झूलन अति रुचिर भुलायौ।" (पृ० २२ छन्द १००)

**कलकाशी** : यह निबन्धात्मक काव्य १४२ छन्दों में रचा गया। मंगला-चरण में काशी की स्तुति की गयी। यह काव्य नीरस और वर्णनात्मक है।

'गंगालहरी', 'शृंगारलहरी', 'विष्णुलहरी', 'प्रकीर्णपद्यावली', 'रत्नाष्टक', 'वीराष्टक', आदि रचनाएँ १९२० ई० के पश्चात रची गयीं। 'गंगावतरण' की रचना कवि ने १४ मई सन् १९२१ को प्रारम्भ की थी, जो १९२३ ई० में समाप्त हुई।

## राय देवीप्रसाद पूर्ण (१८६८-१९१५ ई०)

पूर्णजी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों में रचनाएँ की थीं। उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद भी किये थे। उनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं— (१) चन्द्रकला भानुकुमार नाटक, (२) धाराधर धावन (मेघदूत का अनुवाद), (३) स्वदेशी कुण्डल, (४) राम-रावण विरोध, (५) राज दर्शन, (६) वसन्त वियोग। उनकी फुटकर रचनाओं में कादम्बरी, सरस्वती, सुन्दरी-सौन्दर्य, भक्ति-विज्ञान, रम्भा-शुक संवाद, विश्वविद्यालय-डेपुटेशन, नूतन वर्ष का स्वागत और शकुन्तला-जन्म उल्लेखनीय हैं। 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक को छोड़कर उनके शेष सभी ग्रन्थ द्विवेदी युग में ही लिखे गये। पूर्णजी एक सिद्ध वकील, सम्मान्य नेता और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति से प्रेरित कवि थे, जो द्विवेदी जी के मण्डल से बाहर रहकर ही लिखते रहे। वे ब्रजभाषा के पक्षपाती थे, पर उनकी सर्वोत्तम रचनाएँ खड़ी बोली में ही हैं। 'स्वदेशी कुण्डल' में ५२ कुंडलियाँ हैं। इसमें खड़ी बोली में कवि ने परमेश्वर की भक्ति, सरकारी कानून का सम्मान, धन की महिमा, प्रजा का आलस्य, देश-दशा का मनन, उन्नति के विचार, विभिन्न प्रान्तों के निवासी, सभी जातियों के समन्वय की भावना, सनातनधर्म और आर्यसमाजी लोगों पर विचार, स्वदेशी का स्वीकार, आदि विषयों पर कुंडलियाँ लिखी हैं, जैसे :

"खारा अपना जल पियो मधुर पराया त्याग।
मीठे को सीठा करै 'पूर्ण' देश अनुराग।"

'स्वदेशी कुण्डल' में तत्कालीन भारतीय जीवन के विषयों का समावेश किया

गया है। 'शकुन्तला-जन्म' और 'कादम्बरी' के काव्य-सौन्दर्य से प्रभावित होकर द्विवेदीजी ने पूर्णजी को 'कविता-कलाप' में स्थान दिया था। उनकी साहित्य-सेवा और सामाजिक सक्रियता स्मरणीय मानी गयी है। उनका कोई मौलिक प्रबन्ध काव्य, महाकाव्य या खण्ड काव्य द्विवेदीयुगीन काव्य की काल-सीमा में नहीं रचा गया।

## सत्यनारायण कविरत्न (१८८४-१९१८ ई०)

कविवर सत्यनारायण कविरत्न ब्रजभाषा, ब्रजभूमि और ब्रजपति के भक्त थे। वे भक्तिकाल के कवियों की परम्परा और भारतेन्दु काल की ब्रजभाषा कविता की रचना-प्रणाली के परवर्ती कवि हैं। हिन्दी में वे ब्रजभाषा के अन्तिम शक्तिशाली कवि थे। उनका काव्य करुण रस पूर्ण और मधुर था।

कविरत्न ने 'उत्तर रामचरित', 'मालती-माधव' और 'होरेशस' शीर्षक अनुवाद किये थे। 'उत्तर रामचरित' भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का सर्वोत्तम हिन्दी अनुवाद ही है। 'मालती-माधव' अनुवाद भवभूति के इसी नाम के नाटक का उस समय तक हुए अनुवादों में सर्वश्रेष्ठ अनुवाद था।

उनकी 'हृदय-तरंग' का हिन्दी संसार में बड़ा आदर हुआ। इसमें प्रेमकली और भ्रमरदूत शीर्षक-पद्य-प्रबन्ध भी हैं। इनकी कोई प्रबन्ध-रचना नहीं है। 'हृदय-तरंग' काव्य-संग्रह नागरी प्रचारिणी सभा आगरा से प्रकाशित हुआ है। इसमें विनय, देशभक्ति, भ्रमरदूत, प्रकृति-सौन्दर्य, ब्रजभाषा, रामतीर्थ, गोखले, तिलक, गाँधी, रवीन्द्र और लोकहित के विषयों पर कविताएँ हैं। इनका 'होरे-शस' का अनुवाद भी प्रख्यात है। कवि ने देशभक्ति को सभी स्थलों पर प्रधानता दी है। ब्रजभाषा के कवि देशभक्ति जैसे नवीन विषयों पर कठिनाई से रचना करते थे, पर कविरत्न जी का इस ओर स्वाभाविक झुकाव था। उनकी 'बन्दौं भारतभूमि महतारी' रचना में भारतमाता का सजीव करुण चित्र मर्मस्पर्शी है। गाँधी और तिलक विषयक रचनाओं में भी 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' का स्वर मुखरित है। सत्यनारायणजी रीतिमुक्त कवि थे। उनका पावस-वर्णन उल्लेखनीय है। बसंत-वर्णन का उदाहरण देखिए :

> "मृदु मंजु रसाल मनोहर-मंजरी मोर-पखा सिर पै लहरैं।
> अलबेली नवेलिन बेलिनु में नवजीवन ज्योति छटा छहरैं।
> पिक भृंग सगुंज सोई मुरली सरसों शुभ पीत पटा फहरैं।
> रसवंत विनोद अनन्त भरे ब्रजराज बसन्त हिये बिहरैं।"

उनका शरद, ग्रीष्म और हेमन्त का वर्णन भी भाव विदग्ध है।

सत्यनारायणजी के काव्य की केन्द्रीय भावना कृष्णभक्ति की रही है। समष्टि-हित में विश्वास रखते हुए कवि ने भगवान कृष्ण की सख्य भाव की उपासना को अपनी कविता में स्थान दिया है। अपने इसी उपास्य से वे कहते हैं :

"माधव तुमहू भये बेसाख !
वही ढाक के तीन पात हैं, करौ न कोई लाख।
भक्त अभक्त एक से निरखत कहा होत गुन गायें।
जैसे खीर खवायें तुमको वैसे सींग दिखायें ॥
बेपैंदी के लोटा के सम तव मति गति दरसावै।
यह कछु को कछु काज करत में तुमहिं लाज नहिं आवै।"

दीनों की दुर्दशा के हेतु वे कृष्ण पर ही व्यंग्य करते हैं :

"तुम्हरे अछत तीन तेरह यह देश दशा दरसावै।
पै तुमको यहि जन्म धरै की तबकहुँ लाज न आवै।
आरत तुम्हइ पुकारत हम सब सुनत न त्रिभुवन राई।
अँगुरी डारि कान में बैठे धरि ऐसी निठुराई ॥"

कवि ने हिन्दुओं और विधवाओं की दीन-दशा पर तथा जनहित सम्बन्धी विषयों पर रचना की है। उन्हें श्रीकृष्ण का सगुण रूप ही ग्राह्य था।

### भ्रमर दूत

कवि का 'भ्रमर दूत' लघु-प्रबन्ध या लम्बी कविता है। इसमें भ्रमर को यशोदा ने दूत बनाकर कृष्ण के पास द्वारिका भेजा है। इसमें न उद्धव हैं, न गोपियाँ। केवल यशोदा ही इस काव्य में अपनी मनोव्यथा प्रकट करती हैं। इसमें भक्ति और ज्ञान को लेकर उपालम्भ नहीं दिया गया, वरन् देश की दशा का चित्रण किया गया है। जो भी उपालम्भ हैं, वे सभी वात्सल्य विषयक ही हैं नन्ददास या अन्य पिछले खेवे के कवियों के भ्रमर दूत से नितान्त भिन्न यह सत्यनारायणजी का भ्रमर दूत है, जो एकदम मौलिक और नवीन उद्भावनाओं से परिपूर्ण है। यशोदा ने द्वारिका-प्रवासी कृष्ण के पास भ्रमर द्वारा जो सन्देश भेजा, वह भारत की तत्कालीन दशा को प्रकट करता हुआ देशभक्ति को व्यंजित करता है :

"नित नव परति अकाल, काल चलत चक्र चहुँ ॥
× × ×
होत जात दुर्बल विकृत दिन दिन आर्य समाज।"

पढ़ी-लिखी न होने के कारण यशोदा अपने माता-पिता को कोसती हैं :

"माता पिता बैरी भये, सिच्छा दई न मोंहि।"

वे आगे कहती हैं :

"नारी सिच्छा अनादरत जे लोग अनारी ।
ते स्वदेश अवनति प्रचण्ड पातक अधिकारी ।।
× × ×
विद्या बरन लहि मति परम अबला सबला होई ।
लखौ अजमाइके ।"

जब कृष्ण के पास सन्देशा लेकर किसे भेजा जाये, यह समस्या आयी, तब स्वयं कृष्ण ही भ्रमर का रूप धारण करके आ गये :

"भगत भगत आये तबै, भाये मन अभिराम ।
भ्रमर रूप में ।"

इस काव्य में युगानुरूप नवीन उद्‌भावनाएँ हैं, जो सत्यनारायणजी की प्रगतिशीलता की द्योतक हैं। वे ब्रजभाषा को संसार की सभी भाषाओं से श्रेष्ठ मानते थे। उन्होंने उसमें नये विषयों को अभिव्यक्त करने की क्षमता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया।

अनुप्रास, यमक, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, स्वभावोक्ति आदि अलंकारों का यहाँ प्रयोग हुआ है। नेताओं की प्रशस्तियों में ओज गुण है, पर अन्यत्र प्रसाद या माधुर्य पाया जाता है। उनकी ब्रजभाषा नये शब्दों के योग से गढ़ी हुई सरल, सजीव और चलती हुई है। उनकी भाषा में परसार, परमेसुर, निरदय तथा बजमारे के साथ फारसी के मुहर, सूरत आदि प्रयुक्त हुए हैं। मुहावरों का प्रयोग उनकी भाषा को शक्ति देता है। उदाहरणार्थ, बेपेंदी के लोटा, ऊँची बड़ी दुकान तिहारी फीकी बनै मिठाई, सबै धान तेईस पसेरी, तीन तेरह, आदि।

'प्रेमकली' रचना भी लम्बी है। यह श्रृंगार रस की रचना है।

उनकी भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं में शान्त रस पाया जाता है। 'भ्रमरदूत' के प्रत्येक पद में राष्ट्रीयता और जातिहितैषिता की भावना प्रकट हुई है। इसका आठवाँ पद्य स्वभावोक्ति का अच्छा उदाहरण है। इसमें सर्वत्र अनुप्रास की बहार दिखायी देती है, जैसे :

'कूकि कूकि केकी कलित कुंजन करित कलोल'

वे ब्रजभाषा के पक्षपाती थे। यशोदा के मुँह से उन्होंने कहला दिया है :

'लखियत जो ब्रजभाषा जाति हिरानी सोउ'

इस प्रकार ब्रजभाषा के ह्रास पर उन्होंने खेद प्रकट किया है। उनकी 'ब्रज-भाषा' शीर्षक रचना बहुत प्रसिद्ध है। यह लम्बी रचना है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"सजन सरस घनश्याम अब दीजे रस बरसाय।
जासों ब्रजभाषा लता हरी भरी लहराय॥
भुवन विदित यह यदपि चारु भारत भुवि पावन।
पै रसपूर्ण कमण्डल ब्रजमण्डल मनभावन॥"

## देशभक्त होरेशस—अनूदित

सत्यनारायण कविरत्न का सर्गहीन लघुप्रबन्ध 'देशभक्त होरेशस' ब्रजभाषा में किया गया लार्ड मैकाले की अंग्रेजी कविता का अनुवाद है।

**कथावस्तु** : ईसा से ७५३ वर्ष पूर्व रोमुलस ने इटली में रोम नगर को बसाया था। उसकी सातवीं पीढ़ी में अन्यायी राजा टारक्वीनस सुपरबस को प्रजा ने सकुटुम्ब रोम से बाहर निकाल दिया। उसने क्लूजियम के राजा लार्सपोरसेना को साथ लेकर टाइबर नदी के पुल के इस पार रोमनों के जेनि-कुलम किले पर आक्रमण किया। रोम के एक वीर नागरिक होरेशस ने अपने दो साथियों को लारशस और हारमीनियस को लेकर पुल के फाटक पर युद्ध किया। इसी बीच रोमन लोगों ने पुल तोड़ दिया और रोम की रक्षा हो गयी। होरेशस लड़ते-लड़ते नदी में कूद गया, पर अन्त में बच गया। होरेशस एक युग-पुरुष था जिसने अपने देश और धर्म की रक्षा की थी।

इस काव्य में ब्रज और अवधी के मिश्रित क्रियापद हैं। इसमें सरसता का अभाव है। युद्ध का वर्णन सजीव और प्रवाहयुक्त है। लोस्यूकस और होरेशस का द्वन्द्वयुद्ध लोमहर्षक है। अक्टर से होरेशस के युद्ध का वर्णन चित्रात्मक है। ब्रजभाषा के इस वीर रस पूर्ण अनुवाद में कवि ने प्रारम्भ में कहा है :

"देशभक्ति जिनके जीवन को लक्ष्य सुहावन।
जिन पर निर्भर मानव कुल को भविष्य पावन।
भेदभाव तजि जो स्वदेश-रक्षा-रंग-राँचे।
प्रिय आर्योचित धर्म कर्म के प्रेमी साँचे।
गहि सत्य न्याय को पक्ष जो निज जीवन अरपन करत।
तिन वीर नरन के चरन में भेंट अकिंचन यह धरत॥"

सौंह खाइ, इमि कह्यो सुनाई, ठिड़कत, जाई, बनावा, दिसि धाई, बहति, सौं, उछारैं, काढ़न, खूँदिहैं, छकरनु, कहुँ, धर-धर जाकी धरक-धरक धुकधुकी

न धरकी, लराई, चुटिया, धावत, मचावत, उमड़ि रही रज घटा, उठावैं, अगारी, पूरोज्वाना, सँभारि, आवौं, तुअ संग, मैं पावौं, बड़े-बड़ेन की मोंछ उखारें, पीसें डारें, गगन बिदारी, हँस्यो ठठाई, गरवाई, बाढ़े, ठाढ़े, पुजवै अभिलाखै, चाखै, बगदत, सूधी, केसनु बिथुराई, जनु कागद काढ़े, बिलच्छन प्रयोगों में ब्रजावाणी की घटा लक्षित होती है। कुछ वर्णन अच्छे हैं :

"उमड़ रही रजघटा घुमड़ि, घनघोर मचावत्।
विकट बवन्डर की बादल लों चुटिया धावत् ॥"[१]

अस्टर को पराजित करने का दृश्य देखिए :

"तासु कण्ठ होरेशस धरि निज पाँउ दबायो।
लग्यो उखारन दै दै झटका तेग समायो।"[२]

नदी में कूदने का वर्णन इस प्रकार है :

"चरचरानि, तरकनि दरकनि सरकनि तखतनि की।"[३]

× × ×

"मूक अचम्भित भौंचक मुख फारे सब ठाढ़े।
चितवत ही रह गये चित्र जनु कागद काढ़े ॥"[४]

ये वर्णन सजीव हैं। इसके संवाद छोटे और सुन्दर हैं। इस काव्य में नाटकीयता के कारण सजीवता आ गयी है। रौद्र, वीभत्स और शान्त रस का भी यथोचित समावेश है, पर इसका प्रधान रस वीर ही है।

अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, श्लेष, उल्लेख, अतिशयोक्ति, आदि प्रमुख रूप से प्रयुक्त किये गये हैं।

यमक :

'टोना कर-कर टोना जहँ नभ चुम्बनकारी।"[५]

अनुप्रास :

'घर-घर जाकी धरक-धरक धकधुकी न धरकी।"[६]

---

१. पं० सत्यनारायण, देशभक्त होरेशस, पृ० ७

२. वही, पृ० १८

३. वही, पृ० २१

४. वही, पृ० २३

५. वही, पृ० १

६. वही, पृ० २

उत्प्रेक्षा :

"तिह प्रहार स्यों गिर्यो वीर ल्यूनेश धरनि पै।
मनहु तड़ित ताड़ित बलूत अलवरनश गिरि पै।"

इस कथा के माध्यम से स्वतन्त्रता की भावना को उद्‌बुद्ध करना ही अनुवादक को उद्दिष्ट था।

## वियोगी हरि (१८९५ ई० में जन्म)

श्री वियोगी हरि (छतरपुर) बुन्देलखण्ड की विभूति हैं। वे एक प्रशान्त साधक हैं। वे हरिजन-सेवा में अपना सम्पूर्ण जीवन संलग्न कर भगवान की सच्ची सेवा कर रहे हैं। वे ब्रजभाषा के निष्णात कवि और कृष्ण के सच्चे उपासक हैं। फुटकर रचनाओं के अतिरिक्त 'वीर सतसई' रचना उनकी अक्षय-कीर्ति का भण्डार है। 'वीर सतसई' की रचना दोहों में हुई है। इसमें विरह-वीर विषयक नयी उद्‌भावना की गयी है। वीर सतसई १९२५ ई० के बाद की रचना है। उनका एक खण्डकाव्य 'राणा प्रताप' है, जो खड़ी बोली में रचा गया था, अब अप्राप्य है। १९१५ ई० के आसपास उनका 'प्रेमपथिक' शिखरिणी छन्द में रचा हुआ काव्य है, जिसमें प्रेमपुरी की काल्पनिक यात्रा का वर्णन हुआ है। यह कृति भी उपलब्ध नहीं है। इसी समय प्रेमशतक, प्रेमांजलि और प्रेमपरिषद रचनाएँ लिखी गयीं। कविकीर्तन, वीर सतसई, अनुराग वाटिका, मन्दिर प्रवेश आदि रचनाएँ १९२० ई० के पश्चात् प्रकाशित हुईं। खड़ी बोली में उन्होंने बंगला के 'शुकदेव काव्य' का छायानुवाद किया। शिखरिणी, सवैया, दोहा, तथा कुंडलियाँ छन्दों में इसकी रचना हुई। इसमें आध्यात्मिक पुट वर्तमान है। यह अनुवाद सरस, स्वाभाविक और प्रवहमान भाषा में हुआ है।

**वीर सतसई** : यद्यपि यह १९२० ई० के पश्चात् की रचना है और विवेच्य काल से बाहर है, किन्तु इसके दोहे सम्भवतः द्विवेदी युग में ही निर्मित हुए थे। पहले शतक में मंगलाचरण के अतिरिक्त शूरवीर, दयावीर, सत्यवीर, धर्मवीर, विरहवीर, दानवीर, युद्धवीर आदि विषयों के १०० दोहे हैं। इसमें विरहिणी ब्रजांगनाओं को विरहवीर की नयी उपाधि दी गयी है :

"साध्यो सहज सुप्रेम व्रत चढ़ि खाँड़े की धार।
विरह वीर ब्रजबाल ही रसिक मेंड़ रखवार॥" (१३।४१)

प्रकृतवीर भी कवि की नयी उद्‌भावना है :

"समुद-शिरीष-प्रसून तें कठिन बज्र तें होय।
प्रकृत वीर-वर हीय को चित्र न खींच्यो कोय।।"

दूसरे शतक में कवि-कर्तव्य, मातृ-शिक्षा, प्रेम और वीरत्व आदि १४ विषयों पर १०० दोहे हैं। तीसरे शतक में भीष्म-प्रतिज्ञा, वीर-विदा, चित्तौड़, राजस्थान, हल्दीघाटी, बुन्देलखण्ड, पराधीनता, स्वाधीनता, स्वदेश, विद्रोह आदि विषयों पर सौ दोहे हैं। ये स्वाधीनता विषयक कवि की उक्तियाँ देखिए :

"वही धर्म, वही कर्म, बल वहि विद्या वहि मन्त्र।
जासो निज गौरव सहित होय स्वदेश स्वतन्त्र।।"
(दो० ६२।४४ पृ०)

"जौ अधीन तौ छाँड़िये स्वर्गहु विभव-विलास।
जो पै हम स्वाधीन, तो भलो नरक को बास।।"
(६४।४४ पृ०)

"परभाषा, पर-भाव, पर-भूषन, पर-परिधान।
पराधीन जन की अहै यह पूरी पहचान।" (७३।५५ पृ०)

चौथे शतक में मारुतिवन्दन, लंकायुद्ध, अभिमन्यु, द्रौपदी का केश-कर्षण, चन्द्रगुप्त, आल्हा-ऊदल, गोरा-बादल, प्रताप, राजसिंह चूड़ावत, शिवाजी, छत्र-साल, गुरु गोविन्दसिंह आदि के सम्बन्ध में प्रशस्तिपरक दोहे हैं।

पाँचवें शतक में दुर्गादास राठौर, तिलक, पन्ना धाय, दुर्गावती, नीलदेवी, लक्ष्मीबाई, कवि पत्तन आदि से सम्बन्धित दोहे हैं। लक्ष्मीबाई के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है :

"हौं देख्यो अचरजु अबै, झाँसी दुरग अपार।
दृग कमलनि अंगार, त्यौं कर कमलनि तरवार।।"

छठें शतक में तत्कालीन परिस्थितियों पर व्यंग्योक्तियाँ हैं। 'वे और ये' देखिए :

"रहे रंगत रिपु रुधिर सों समर केस निरवारि।
तिनके कुल अब ही जरे काढ़त माँग सँवारि।। (३।७६ पृ०)

कितना भारी अन्तर :

"उत भूखे क्रन्दन करत कलपि किसान मजूर।
इत मसनद पै मद छके सुनत अलाप हुजूर।।" (११।७७ पृ०)

धिक्कार :

"निज चोटी बेटीन की सके राखि नहिं लाज ।
धिक धिक डाढ़ी मूँछ ये, धिक धिक डाढ़ी आज ।।" (२२।७८ पृ०)

इसी शतक में भावी इतिहास, व्यर्थ युद्ध, फूट, गीतारहस्य, गोनाश आदि रचनाएँ हैं। अयोग्य नरेश का यह चित्रण देखिए :

"ज्यों आँधर कर आरसी, जिमि वानर कर बीन ।
तिमि रैयत अवरेखिए, नृपति प्रमत्त अधीन ।।" (५९।८२ पृ०)

सातवें शतक में विविध विषयों पर चुटीले दोहे हैं। जैसे :

"करै जाति स्वाधीन जो साँचो सोइ सपूत ।
यों तो, कहु, केते नहीं कायर क्रूर कपूत ।।" (१९।८९ पृ०)

वियोगी हरि की वीर-सतसई सच्चे अर्थों में प्रेरणादायिनी रचना है। इसकी भाषा शुद्ध और सरल तथा सरस और सधी हुई ब्रजभाषा है। वह वस्तु-व्यंजक और ओजपूर्ण है।

## अन्य कवि

ब्रजभाषा के काव्य-गगन में बाबू हरिश्चन्द्र और उनके मण्डल के कवियों की चर्चा की जा चुकी है। प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, लाला श्रीनिवासदास, नाथूराम शर्मा 'शंकर' आदि मुख्यत: ब्रजभाषा के ही कवि हैं। श्रीधर पाठक, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रसाद भी प्रारम्भ में ब्रजभाषा में ही लिखते थे। पूर्ण, कविरत्न, रत्नाकर और वियोगी हरि इस धारा के अन्तिम कवि हैं। महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी को जिस एक दोहे पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सौ रुपये दिये थे वह दोहा इस प्रकार है :

"राजघाट पर बँधत पुल, जहँ कुलीन कौ ढेर ।
आज गये कल देखि कै, आजहिं लौटे फेर ।।"[१]

ब्रजभाषा विषयक सत्यनारायण कविरत्न का यह दोहा दृष्टव्य है :

"सजल सरल घनश्याम अब रौजै रस बरसाइ ।
जासौं ब्रजभाषा लता, हरी भरी लहराइ ।।"[२]

ब्रजभाषा के परवर्ती कवियों में ग्वाल, पं० सत्यनारायण, रत्नाकर और नवनीत जी का ऊँचा स्थान है। कवीन्द्र नवनीतजी चतुर्वेदी (१८५८ ई० से १९१९

---

१. वियोगी हरि, ब्रजमाधुरी, पृ० ३१९

२. वही, पृ० ३३६

ई०) ने भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग दोनों युगों में, काव्य-रचना की थी। उनके रचे हुए १६ ग्रन्थ और १५०० फुटकर पद्य हैं। 'रहिमन शतक' में कवि ने रहीम के सौ दोहों को कुण्डलियों में पल्लवित किया है, जैसे :

"कमला थिर न रहीम कहि यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय॥
क्यों न चंचला होय जाय बूढ़े को ब्याही।
परस नेत्र सम्पन्न लता ज्यों ते अवगाही॥
कहै नीति करि प्रीति भीत ह्व चाहत विमला।
पर तीया को धर्म साधि थिर रहै न कमला॥"

'कुब्जापच्चीसी' में कुब्जा के मन की थाह को प्रकट करने वाले पच्चीस छन्द लिखे गये हैं। 'गोपी-प्रेम-पीयूष-प्रवाह' में कृष्ण और राधा के वियोग, उन्माद, प्रमाद, प्रलाप मूर्च्छादि अवस्थाओं का निरूपण करते हुए दृढ़ प्रेम के लक्षणों का वर्णन किया गया है। 'स्नेह शतक' के सौ कवित्त भी अनूठे हैं। नवनीतजी अपने समय के 'कवीन्द्र' थे। ग्रियर्सन और मैक्समूलर ने उनके प्रति आदर प्रकट किया था।

**भोलाराम भण्डारी** : (१८५७-१९३३ ई०) 'कविता के कोश' कहलाते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपाल चन्द्र गिरधर दास ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। ज्योतिषी शिवप्रसाद ने 'शक्तिचरितामृत' की रचना १९०० ई० में की थी। ठाकुर जगमोहन सिंह (१८५७-१९३३) की ब्रजभाषा रचना का निर्देश यथास्थान अन्यत्र हुआ है। लाला सीताराम बी० ए० ने कई अंग्रेजी ग्रन्थों का अनुवाद किया था। कालिदास के तीनों काव्यों के अनुवाद भी उन्होंने सरल ब्रजभाषा में किये थे। पं० अम्बिकादत्त व्यास (१८५६-१९०० ई०) ने बिहारी के दोहों पर 'बिहारी-बिहार' नामक ग्रन्थ कुण्डलियों में लिखा था। खड़ी बोली में भी 'कंसवध' काव्य उन्होंने लिखा। उनके 'बिहारी-बिहार' की निम्नलिखित कुण्डलिया द्रष्टव्य है :

"मेरी भव वाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परे, स्याम हरित द्युति होइ॥
स्याम हरित दुति होइ, परत तन पीरी झाई।
राधा हूँ पुनि हरी होत लहिं स्यामलताई॥
नैन हरे लखि होत रूप रस रंग अगाधा।
सुकवि जुगत छविधाम, हरहु मेरी भव वाधा॥"

राधाकृष्ण दास ने 'ब्रजरज' शीर्षक एक रचना ५० कवित्तों में रची थी। इसके प्रथम पद की यह बात अवश्य द्रष्टव्य है कि वे भगवान राम को ब्रह्म से अधिक मानव ही मानना चाहते हैं :

"चाहे पारब्रह्म हू को पारब्रह्म होउ तऊ
मानव ही मानों तोहिं ऐसो मोहिं ज्ञान दै ॥"

'ब्रजरज' (पृ० १)

ब्रजभाषा पर उनका यह अधिकार देखकर दंग रह जाना पड़ता है। उनकी भाषा में सरलता और सहज प्रवाह है। राधा तथा श्याम के भक्ति तथा शृंगार विषयक उनके पद मार्मिक हैं, जैसे :

"मन मीन फँसावन की अँकुसी
या लटूरी अरी, लट तेरी बनाई।" (५/३ पृ०)
× × ×
"आग की धार में धाइ धँसी
सिगरो ब्रज क्यों न कहे मोहिं बावरी ॥"

(३४/३४ पृ०)

उन्होंने बिहारी के ढंग के कलात्मक दोहे भी रचे हैं, जैसे :

"नासा मोरि कराहि कै, अंगनि मौंहनि ऐंठि।
काँटो नहिं काढ़न दियो, काँटे सी हिय पैंठि।" (३६/३१ पृ०)

उनके "जय जय हरि भक्तपात्र' 'तिहारे चरननि जे रमि जाहिं", 'नैया छोड़ि दई मँझधार', आदि भक्ति के पद भी उल्लेखनीय हैं। 'ध्यान' (१९०९ ई०), प्रभात (१९१३ ई०), सावन (१९१० ई०) और मुरझाई कली (१९१२ ई०) उनकी सुन्दर रचनाएँ हैं।

बाबू राधाकृष्णदास (जन्म ७ अगस्त, १८६५ ई० तथा मृत्यु २ अप्रैल १९०७ ई०), ब्रजचन्दजी बल्लभीय, पं० विजयानन्दजी, श्रीधर पाठक, हरिऔध, महापात्रलालजी, महाराजकुमार रँगनारायण पाल, रंगवाले' (१८६४-१९२६ ई०), रत्नाकर, लाला भगवानदीन, पूर्ण, ब्रजबल्लभदेवजी, बालसखा (१८६०-१९२५ ई०) रागोपालजी गोपाल, ब्रजेशजी महापात्र (१८७१ से १९६१ ई०), सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (१८७१ से १९५६ ई०), मिश्रबन्धु (श्याम बिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र), सैयद अमीर अली मीर, वचनेश मिश्र, लाला किशन-लालजी (१८७४-१९३६ ई०), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रसाद, श्यामसेवक, नबीबखाँ फलक (जन्म १८९३ ई०), आदि कवियों ने द्विवेदी युग के पहले और बाद में

अपना काव्य-सृजन ब्रजभाषा में किया है। रामाधीनजी (जन्म १८८४ ई०) को ओरछा नरेश ने 'अन्योक्त्याचार्य' की उपाधि दी थी। पुरुषोत्तम, नाथूराम माहोर (दोनों का जन्म १८८५ ई०), श्री रामप्रसाद त्रिपाठी (जन्म १८८६ ई०) और ब्रजनन्दन कविरत्न (जन्म १८९२ ई०) ने सुन्दर कविताएँ लिखीं। हरदयालु सिंह, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' (जन्म १८९८ ई०) आदि कवि ब्रजभाषा काव्य-रचना के क्षेत्र में अच्छा काम कर गये हैं। पं० गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' जी की ब्रजभाषा की कविता भी नहीं भुलायी जा सकती है। प्रेम, निर्भय, अनूप शर्मा, दुलारेलाल भार्गव, लला, हितैषी, सरजू-शरण शर्मा, श्याम नारायण मिश्र 'श्याम', प्रणयेश शुक्ल, भद्रदत्त शर्मा शास्त्री, उत्तमराम शुक्ल नागर, बालमुकुन्द चतुर्वेदी 'मुकुन्द', रामनाथ ज्योतिषी, रामचन्द शुक्ल 'सरस', लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश', राजेश दयालु, सेवकेन्द्र त्रिपाठी, गोविन्द चतुर्वेदी, किशोरीशरण 'अलि,' डॉ० जगदीश गुप्त, छवीले-वल्लभ गोस्वामी आदि कवियों का नाम ब्रजभाषा के परवर्ती उन्नायकों में गिना जाता है। इनमें से कुछ तो उच्चकोटि के कवि भी हैं।

## लघु प्रबन्ध-काव्य

द्विवेदी युग में कुछ कृतियाँ ऐसी रची गयीं, जिन्हें खण्ड काव्य न कहकर लघु प्रबन्ध कहा गया है। ये लघु प्रबन्ध काव्य न तो बृहत् प्रबन्ध रचना की कोटि में आते हैं और न किसी जीवन-खण्ड को ठीक रूप से घेरते हैं। इन लघु प्रबन्धों में किसी एक घटना का चित्रण, किसी वस्तु-व्यापार का एकपक्षीय वर्णन या किसी समस्या के पक्ष विशेष पर विचार किया जाता है। इस विद्या में छन्दों का परस्पर सुनिश्चित पूर्वापर क्रम होता है और वर्ण्य-विषय इस प्रकार ग्रथित होता है कि उसके किसी अंश को अलग नहीं किया जा सकता। ऐसी रचनाएँ छोटे आकार की वर्ण्य वस्तु के क्रम में बँधी हुई, सर्ग-विहीन और विषय का एकपक्षीय रूप प्रस्तुत करने वाली होती हैं। इनमें विषय के केवल एक पक्ष या पहलू का चित्रण होता है। डॉ० निर्मला जैन ने लघु प्रबन्ध काव्य को तीन वर्गों में बाँटा है—

(१) पद्य कथाएँ तथा आख्यानक गीतियाँ

(२) पर्याय प्रबन्ध

(३) काव्य निबन्ध

**पद्य कथाएँ :** इनका उद्देश्य नैतिक आचार या आदेश सम्बन्धी शिक्षा देना होता है। किशोरीलाल गोस्वामी का 'सावित्री-प्रबोधन' (सरस्वती, जुलाई, सन्

१९००) में नाथूराम शर्मा 'शंकर' का 'पवित्र रामचरित्र', 'लोचन प्रसाद पाण्डेय की 'मेवाड़ गाथा', लाला भगवानदीन के 'वीर बालक' और 'वीर क्षत्राणी' की पद्यकथाएँ, 'शंकर' की 'वायसविजय' महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'जम्बुकी न्याय', रूपनारायण पाण्डेय का 'वन-विहंगम', प्रसाद के चित्राधार में संकलित 'अयोध्या का उद्धार', 'वन-मिलन' और 'प्रेमराज्य', पूर्ण का 'वामनावतार' और 'शकुन्तला-जन्म' तथा वियोगी हरि का 'पुण्य चरित' इसी विधा की पद्यकथा या आख्यानक गीति पद्धति के लघु प्रबन्ध काव्य हैं। घटना प्रधान पद्यकथाओं में वे रचनाएँ आती हैं, जो चित्रों के आधार पर लिखी गयी थीं। चित्र विशेष में अंकित कथा-प्रसंग पर मैथिलीशरण गुप्त की रत्नावली, उत्तरा से अभिमन्यु की बिदा, द्रौपदी-दुकूल, केशों की कथा, अर्जुन और उर्वशी, भीष्म-प्रतिज्ञा, रामचन्द्रजी का गंगावतरण, द्रौपदी-हरण, दमयन्ती और हंस, कीचक की नीचता, आदि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। पूर्ण जी की वामन, शकुन्तला-जन्म, रम्भा-शुक-संवाद तथा द्विवेदीजी की गौरी, गंगा-भीष्म, महाश्वेता और उषा-स्वप्न आदि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं।

आख्यानक गीतियों में लाला भगवान दीन के 'वीर पंचरत्न' की परि-गणना की जाती है।

इन कथात्मक लघुप्रबन्धों के अतिरिक्त किसी विषय का वर्णन करने वाली निबन्धात्मक कृतियाँ भी लघु प्रबन्ध ही हैं। इन्हें पर्याय प्रबन्ध माना गया है। आनन्दवर्धन ने कहा है कि वसन्तादि किसी एक ही विषय के वर्णन के उद्देश्य से प्रवृत्त काव्य विशेष को पर्याय प्रबन्ध कहते हैं। इसका आधार काव्य-विषय होता है। इसकी स्थिति मुक्तक और प्रबन्ध की मध्यवर्तिनी होती है। बुढ़ापा, विधि-विडम्बना, जगत-सचाई-सार, गो-रक्षा, माता का स्नेह, सपूत, कपूत, आदि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। शंकर का 'पावस' और 'निदाघ-दर्शन,' पूर्ण का 'वसन्त-वियोग', लाला भगवानदीन का 'वसन्त-वर्णन', श्रीधर पाठक की 'काश्मीर-सुषमा' और 'देहरादून', गुप्तजी की 'राधाकृष्ण की आँखमिचौनी' और पूर्ण का 'दिल्ली-दरबार' आदि रचनाएँ इसी विधा की हैं।

पद्यात्मक निबन्ध शैली में भी कुछ रचनाएँ लिखी गयी हैं, जैसे---द्विवेदीजी की 'हे कविते' और 'विधि-विडम्बना', 'शंकर' का 'अविद्यानन्द का व्याख्यान' इसी कोटि की रचना है। गुप्तजी की 'भारत-भारती' बृहत् निबन्ध काव्य है।

लघु प्रबन्ध काव्य के ये तीनों वर्ग विशेष रूप से द्विवेदीयुगीन काव्य में

पाये जाते हैं। इनके उदाहरग देखिए—'शंकर' कृत 'पवित्र रामचरित्र' में साठ षट्पदियाँ हैं, जिनमें से एक यह है :

"मिलकर जननी से माँग असीस बिदाई,
हठ जनक सुता की भक्ति भरी मन भाई।
सुन लक्ष्मण का प्रण पाठ कहा चल भाई।
घर तज सानुज सस्त्रीक चले रघुराई।
निज नारि सती, प्रिय बन्धु न वीर विसारो,
पढ़ रामचरित्र पवित्र मित्र उर धारो।।" (शंकर-सर्वस्व पृ० ६८)

महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'जम्बुकी' काव्य में ८५ पद्य हैं। यह रचना मार्च १९०६ में सरस्वती में प्रकाशित हुई थी यथा :

"यह सुन बुड्ढा जम्बुक बोला,
सब बातों को उसने तोला
वाह न अब कुछ बाकी रहा,
खूब कहा जी खूब कहा।।"

(द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ४००)

रूपनारायण पाण्डेय की इस 'वन विहंगम' कविता में १७ पद्य हैं, यथा :

"वन बीच बसे थे, फँसे थे ममत्व में, एक कपोत-कपोती कहीं।
दिनरात न छोड़ता न एक को दूसरा, ऐसे हिलेमिले दोनों वहीं।
बढ़ने लगा नित्य नया-नया नेह, नयी-नयी कामना होती रही।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की सीमा न रही।।"

('वन विहंगम'—'पराग' पृ० ६२ से)

पूर्ण कृत 'शकुन्तला-जन्म' में १९ पद्य हैं। उदाहरणार्थ :

"भ्रकुटि धनु को डरत नाहीं अरत शुक ललचाय,
चहत अधरन चोंच मारन बिम्ब को भ्रम खाय।
शुङ्क चम्पक रंग की तज चंचरीक सुपुंज,
भूलि अंग सुगन्ध पै लगि संग छावत गुंज।।"

(कविता कलाप, पृ० ६)

मैथिलीशरण गुप्त के 'द्रौपदी-दुकूल' में २७ छन्द हैं, यथा :

"प्रबल जाल में फँसी हुई ज्यों
दीन मीन व्याकुल होती,
विवश विकल द्रौपदी सभा में
आयी त्यों रोती-रोती।

अपनी यह दुर्दशा देखकर
उसको ऐसा कष्ट हुआ,
जिसके कारण ही पीछे हा,
सारा कुरुकुल नष्ट हुआ।"

(कविता कलाप, पृ० २४)

द्विवेदीजी की 'विधि-विडम्बना' में १६ पद्य हैं, जैसे :

"घोड़े जहाँ अनेक, गधों का वहाँ काम क्या था ? सच कह,
विदित हो गयी तेरी सारी चतुराई, तू चुप ही रह।
शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार,
लिखवाता है उनके कर से नये-नये अखवार।"

(द्विवेदी काव्यमाला, पृ० २९१)

'हे कविते' रचना में २४ पद्य हैं जैसे :

कहीं-कहीं छन्द, कहीं सुचित्रिता,
कहीं अनुप्रास-विशेष में तुझे।
सुजान ढूँढ़ें अनुमान से सदा,
परन्तु तू काव्यकले, वहाँ कहाँ ?"

(द्विवेदी काव्यमाला, पृ० २९४)

लघुप्रबन्ध काव्य के ये कुछ उदाहरण ही पर्याप्त हैं। इससे उनकी भाषा शब्द-विन्यास और छन्द तथा अलंकार योजना आदि के अतिरिक्त अभिव्यंजना-कौशल का कुछ आभास मिल जाता है। पिछले अध्यायों में श्रीधर पाठक की 'काश्मीर-सुषमा' और 'देहरादून' रचनाओं पर विचार हुआ है। पद्यात्मक निबन्धों में 'भारत-भारती' की गणना की जाती है, पर उसका भी विवेचन किया जा चुका है।

पद्य कथाओं के अनुबन्ध में 'शंकर' की 'वायस-विजय' पंचतन्त्र के काकोलूकीय प्रकरण का वीर छन्द में किया गया पद्यानुवाद है। इस प्रकरण में कौओं और उल्लुओं की लड़ाई का वर्णन है। इस लड़ाई में वायस की जीत हुई है। इसी कारण इसे 'वायस-विजय' कहा गया है। कौओं का राजा था मेघवर्ण और उल्लुओं का राजा अरिमर्दन था। शत्रु को अपना विश्वास दिलाकर तथा उसके मन्त्रियों में फूट डाल कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने की राजनीति इस प्रसंग में प्रकट की गयी है :

"सुनकर किया चिरंजीवी ने संश्रय मूलक मन्त्र प्रकाश,
विग्रह, सन्धि, यान-आसन से होगा नहीं शत्रु का नाश।
जो मिल जायँ हमारे दल में सेनासहित अन्य भूपाल,
तो उस अरिमर्दन का स्वामी, कर सकते हो वण्टाढाल ॥"[1]

'पूर्णजी' के 'रम्भा-शुक संवाद' की रम्भा का यह कथन द्रष्टव्य है :

"सुवर्ण वर्णी तरुणी छबीली,
प्रिया रँगीली सुमुखी रसीली।
जो प्रेम ऐसो नहिं बाम को है,
तारुण्य तो ये केहि काम को है ?"

इस कथन का शुक्र उत्तर देता है :

"होवे जरा में बल बुद्धि हानी।
मिली तपस्या हित ही जवानी।
उद्योग नाहीं शुभ काम को है।
निकाम तो ये तनु चाम को है ॥"[2]

गुप्तजी की 'अर्जुन और उर्वशी' कविता में परिपक्वता का अभाव है। इसमें २३ पद्य हैं। अर्जुन का इन्द्र के प्रति यह कथन देखिए :

"न चाहता पर सम्प्रति स्वर्ग में।
न अमरत्व तथा अपवर्ग में।
बस विभो, रिपु-नाशन के लिए—
निज अलौकिक आयुध दीजिये ॥"[3]

पर्यायबन्ध के अन्तर्गत 'शंकर' की 'पावस और निदाघवर्णन' से निदाघ निदर्शन की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। कवि ने अठारह छन्दों में ग्रीष्म के कोप का वर्णन किया है :

"लपट लट लू लहराती हैं, जल तरंग-सी थहराती हैं।
तृषित कुरंग वहाँ आते हैं, पर न बूँद वन की पाते हैं।

---

१. शंकर-सर्वस्व, पृ० १२४
२. कविता कलाप, पृ० ८
३. वही, पृ० २९

सूख गयी सुखदा हरियाली, हा रसहीन रसा कर डाली।
कुंतल जवासों के न जले हैं, फूल-फूल कर आक फले हैं।"[१]

पूर्णजी के 'दिल्ली-दरबार' के एक अंश की बानगी देख लेना भी उचित है :

"सलामी हुई विधान समेत खड़े हो दरबारी समुदाय।
देर तक देते रहे चियर्स, सहित हुर्रे संकोच विहाय।
विराजे राजासन आसीन राजमंडप में दोनों व्यक्ति।
इन्द्र-इन्द्राणी से विख्यात पराक्रमधारी अतुलाशक्ति।"[२]

पद्यात्मक निबन्धों में 'शंकर' के 'अविद्यानन्द का व्याख्यान' की कुछ पंक्तियों को देखिये :

"न भाषा पढ़ो, न राजभाषा पढ़ो, बढ़ो वीर ऊँचे पदों पर चढ़ो।
करो चाकरी घूस खाया करो, मिले वेतनों को बढ़ाया करो॥
सगे बाप की भी न सेवा करो, पराधीनता का कलेवा करो।
कमीना किसी से कहाना नहीं, घटा मान आँसू बहाना नहीं॥"[३]

गुप्तजी की 'राधाकृष्ण की आँखमिचौनी' इसी प्रकार की रचना है :

"यमुना किनारे शिला ऊपर प्रसन्न चित्त—
बैठी देख एक बार राधा सुकुमारी को।
छिपे-छिपे आये श्याम मूँदने प्रिया के दृग,
हो गयी परन्तु ज्ञात सारी घात प्यारी को॥
तब हँस बोली चलो देखो चतुराई रहो,
ऊँचे किये हाथ तथा भेंटने बिहारी को।
देखो, मित्र, सरस्वती ने राजा रविवर्मा के
अंकित किया है इसी दृश्य मनोहारी को॥[४]

इसी प्रकार द्विवेदीजी ने एक चित्र के आधार पर 'उषा-स्वप्न' की रचना की थी :

"यदुवंशी अनिरुद्धकुमार, रूपराशि शोभा आगार।
पास स्वप्न में उसके आया, जी से वह ऊषा को भाया।

---

१. शंकर-सर्वस्व, पृ० १६६
२. पूर्ण संग्रह, पृ० २६०
३. वही, पृ० १५८ (सर० फ० १६०७ ई०)
४. कवित' कलाप, पृ० ३६

सुन्दरता भी शरमा जावे, यदि वह उसके सम्मुख आवे ।
बदन नील नीरद सम काला, अति विशाल गलमुकता माला ।
× × ×
पर ज्यों ही वह भुजा उठाये चली युवा को गले लगाने ।
नींद दृगों से त्योंही भागी, कहीं नहीं कुछ जब वह जागी ।।"[१]

मुक्तक

द्विवेदी युग में स्फुट और संयुक्त दोनों प्रकार के मुक्तक लिखे गये । इनकी विवेचना यथास्थान जा चुकी है ।

(१) वस्तुपरक वर्णनात्मक मुक्तकों के अन्तर्गत प्रकृति, युद्ध, ऐतिहासिक-स्थल, चकोर तथा कोकिल विषयक मुक्तक लिखे गये । पूर्ण जी की 'अलका-वर्णन' रचना इसी कोटि की है । उन्हीं के 'धाराधरधावन' (जो मेघदूत का अनुवाद है) की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"चन्द्रमनि-मण्डित अमन्द मन्दिरनि माँहि,
तारन के बिम्ब फूल भासत बिसाला हैं,
जैसी मन्द-मन्द घन, घनकैं तिहार घनी,
तैसी तहाँ ठनकैं मृदंगन की आला हैं ।
संग नवबामा लसैं रूप रस धामा चारु
सुख के सकल साज सोहत रसाला हैं,
'रतिफल' नामवारी रति परिनाम वारी,
कल्पवृक्ष हाला के पियत यच्छ प्याला हैं ।"[२]

चातक, चकोरियाँ, कोकिल का ही नहीं, बल्कि खटमल का वर्णन भी हुआ है :

"बड़े लाल से लाल रँगीले छोटे चुन्नी से चमकीले ।
करें किलोल बिसार उदासी, खाट खटोलनि के सुखवासी ।"[३]

महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'कोकिल' रचना का यह उदाहरण देखिए :

"कोकिल अति सुन्दर चिड़िया है ।
सच कहते हैं अति बढ़िया है ।

१. कविता कलाप, पृ० ७१, ७२
२. पूर्ण संग्रह, पृ० २४४.
३. शंकर-सर्वस्व, 'खिलाड़ी खटमल', पृ० २८३

जिस रंगत के कुँवर कन्हाई,
उसने भी वह रंगत पाई।
भौरों के सुगन्ध की माती,
कुहू-कुहू यह सब दिन गाती।
मन प्रसन्न होता है सुनकर
इसके मीठे बोल मनोहर।''[१]

'कविता-कलाप' में चित्रों पर लिखी गयीं, जो रचनाएँ संग्रहीत हैं, वे वस्तुपरक वर्णनात्मक मुक्तकों के अन्तर्गत ही आती हैं। 'शंकर' की 'वसन्तसेना' रचना जिसमें आठ-आठ पंक्तियों के १८ पद्य हैं, वस्तुपरक स्फुट मुक्तक ही हैं :

''कञ्ज से चरण कर, कदली से जङ्घ देखो,
क्षुद्र तण्डुला से दो उरोज गोल गोल हैं।
कृष्ण कुण्डला से कान, भृंगबल्लभा से दृग,
किंसुक की नासिका, गुलाब-से कपोल हैं।
चंचरीक पटली से, केश नयी कोंपल से-
अधर अरुण, कलकण्ठ के-से बोल हैं।
शंकर बसन्तसेनाबाई में वसन्त के से
सोहने सुलक्षण अनेक अनमोल हैं।।''[२]

पूर्णजी का पावस वर्णन :

''गाजैं मेघ कारे मोर कूकैं मतवारे, रटैं
पपी-वृन्द न्यारे, जोर मारुत जनावती।
इन्द्र-चाप भ्राजे, बक अवली विराजे छटा,
दामिनि की छजे भूमि हरित सुहावती।''[३]

लाला भगवानदीन की 'रामगिर्याश्रम' रचना इसी प्रसंग में द्रष्टव्य है :

''सुन्दर शीतल स्वच्छ समाकृति फटिक शिला मनमोहैं।
किधों विन्ध्य मुनिवर के अनुभव स्वच्छ सुदृढ़ ये सोहैं।

---

१. द्विवेदी काव्य-माला, पृ० ३५७
२. कविता कलाप, (वसन्तसेना), पृ० १५
३. पूर्ण संग्रह, पृ० १०५

विमल जलाशय निकट जीव सब निज-निज ताप बुझावैं।
किधौं विन्ध्यगिरि सिद्धराज से सब निज रुचि रस पावैं।
(काव्यवाटिका, संग्रहकर्ता—किशोरीलाल गुप्त, पृ० १५२)

बीरबहूटी :

"देवलोक तें अधिक सुख, पावस महि जिय जान।
इन्द्रवधू तातें सदा, छित विहरति हैं आन।"[१]

सारंग :

"सारंग झरि, सारंग रव, सुखद श्याम सारंग।
बिहरत वर सारंग मिलि, सरसत बरसा-रंग।"[२]

वलीवर्द :

"तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज महाराज।
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना-दाना को मुँहताज॥"[३]

(२) आत्मपरक मुक्तकों के अन्तर्गत पूर्ण जी की 'विनय' और 'आराधना' और 'शंकर' की 'हे प्रभु मेरी ओर निहार' आदि आत्मानुभूति सम्बन्धी मुक्तक रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

रायकृष्णदास की :

"आज ऋतुराज तुम सुमन समाज साजि।"[४]

और प्रसाद की :

ऐसे ब्रह्म लेइ का करिहैं।"[५]

रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं।

(३) उपदेशात्मक मुक्तक : रूपनारायण पाण्डेय कृत 'कौन कृती कहलाते हैं', तथा 'वैद्य' और 'स्त्री-शिक्षा' उपदेश-प्रधान मुक्तक ही हैं। जैसे :

"हिंसा से हम दूर रहें, विद्रोही नहीं विदेशी के,
कर्तव्य, प्रतिष्ठा, निष्ठा से कायल हैं दूरंदेशी के।

---

१. पूर्ण संग्रह, पृ० ११२
२. वही
३. द्विवेदी काव्य-माला, पृ० २७४
४. रायकृष्णदास, ब्रजरज, पृ० १८
५. प्रसाद, चित्राधार, पृ० १८६

रुचि राजनीति से रखते हैं, नर खोटा-खरा परखते हैं,
हैं लोभ लोभ में लिप्त नहीं, लालच की लीला लखते हैं ॥"

(पराग, पृ० १०६)

शंकर, रूपनारायण पाण्डेय, हरिऔध, द्विवेदी, राधाकृष्णदास आदि कवियों ने उपदेशपूर्ण मुक्तक लिखे हैं। कुछ और उद्धरण नीचे दिये जा रहे हैं :

"तत्पर होकर सदा जाति-हित जो करता है,
बाधाएँ हों लाख, नहीं उनसे डरता है,
निज सुख-दुख की जिसे नहीं पर्वाह जरा है,
रोम-रोम में जाति-प्रेम का भाव भरा है,
जो अपने कर्तव्य में पर्वत जैसा अटल है,
जन्म उसी का धन्य है, जीवन हुआ सफल है।"[१]

सनेही जी की 'सत्य' रचना उपदेश से भरपूर है :

"गहो सत्य को मित्र, कपट, मिथ्या को त्यागो,
छल पैशाचिक कर्म समझकर उससे भागो।
माया में मत फँसो, मोह निद्रा को त्यागो,
जागो, जागो, बन्धु, भला अब तो तुम जागो ॥"[२]

(४) आलोचनात्मक मुक्तक : रूपनारायण पाण्डेय का 'सत्कवि' और 'लज्जावती', शंकर का 'समालोचक-लक्षण' और द्विवेदीजी का 'ग्रन्थकार-लक्षण' आलोचनात्मक मुक्तक हैं, यथा :

सत्कवि :

"जिनकी कृति हो अमर जगत में पूजा पाती,
जनता सुनकर सरस सूक्तियाँ वश हो जातीं।
प्रतिभा जिनकी सदा बनी रहती है दासी,
किया करे लेखनी सदा नव-रस-वर्षा-सी।
सुकवि सरल सिद्धान्त के, जो न पंडितम्मन्य हैं,
भक्त भारती के भले वे नरनायक धन्य हैं।"[३]

---

१. रूपनारायण पाण्डेय, पराग, पृ० १७

२. काव्य वाटिका, संग्रहकर्त्ता बाबू किशोरीलाल गुप्त, विशारद, प्रकाशक हरिदास कम्पनी पृ० १९६

३. रूपनारायण पाण्डेय, पराग, पृ० १०४-१०५

ग्रन्थकार-लक्षण :

शब्द-शास्त्र है किसका नाम ?
इस झगड़े से जिन्हें न काम।
नहीं विराम-चिह्न तक रखना जिन लोगों को आता है।
इधर-उधर से जोड़-बटोर,
लिखते हैं जो तोड़ मरोड़,
इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं।।"[१]

(५) विवेचनात्मक मुक्तक : धर्म, दर्शन, भक्ति आदि विषयों पर विवेचनात्मक मुक्तक रचे गये। द्विवेदी युग के प्रायः प्रत्येक कवि ने इस विधा में लिखा। दृष्टान्त हेतु 'पूर्ण' रचित 'ब्रह्मज्ञान' द्रष्टव्य है :

"पावक जरावै नहीं पवन सुखावै नहीं,
सीतहू गलावै नहीं, ऐसो अविकारी है,
फन्दा ताहि फाँसै नहीं, गाँसी ताहि गाँसे नहीं,
नासै नहीं काल ऐसो अचल बिहारी है।।
'पूरन' है सच्चित् है आनन्द है अच्युत है,
देह में वृथा क्यों ताहि लेखत अनारी है।
गौर है न श्याम है न सूधौ है न बाम जीव,
लघु है न भारी है पुरुष है न नारी है।।"[२]

**समस्या पूर्ति :** शृंगार, उपदेश, नीति और व्यंग्यप्रधान मुक्तकों की समस्या पूर्ति वाली विधा में रचना हुई है। द्विवेदी युग के पूर्वार्द्ध तक यह विधा बहुत प्रचलित रही, पर धीरे-धीरे इसका ह्रास होता गया। 'शंकर' ने इस प्रकार की उत्तम रचनाएँ लिखी हैं। 'शंकर-सर्वस्व' के पृष्ठ २९१ से ३८४ तक सैकड़ों समस्या-पूर्तियाँ प्रकाशित की गयी हैं। 'बाँकुरे बिहारी पै,' 'बसन्त ऋतु आई,' 'मेरे मन भाये हैं,' 'चाँदनी पै चन्द्र चूर-चूर कर डारो है,' 'घायल करत है,' 'उपमा न पायी है,' 'केहि कारन कूप में डोलत पानी,' 'चाँदनी सरद की,' आदि समस्यापूर्तियों में वाक्चातुरी तथा काव्य-कुशलता दिखायी देती है। एक समस्यापूर्ति, जिसे चित्रकार के सम्पादक स्व० श्री कुन्दनलाल

---

१. द्विवेदी काव्यमाला, पृ० २९६
२. पूर्ण संग्रह, ब्रह्म विज्ञान, पृ० १९१-१९२

शर्मा ने रखा था और जो आठ सौ से अधिक समस्यापूर्तियों में राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा सर्वश्रेष्ठ घोषित की गयी थी, इस प्रकार है :

"सूखि गयो बिन जीवन वारि शरीर तड़ाग मिटी हरियाली।
'शंकर' चेतन कन्त बिना कस कूकति कीरति राज मराली।
को कल हंस उड़ाय दियो कहि रे खल काल कराल कुचाली।
सो जब जो अस पूछत हो किम कारण कौन निकाली है जाली।"[१]

यह पद्य 'कारण कौन निकाली है जाली' समस्या पर रचा गया था। द्विवेदी युग में मुक्तक काव्य की रचना अनेक शैलियों में हुई हैं :

१. इतिवृत्तात्मक शैली, 'ग्रन्थकार लक्षण'---द्विवेदी
२. चमत्कार प्रधान शैली, 'मेंहदी'—लाला भगवानदीन
३. विश्लेषणात्मक शैली, सूक्तियाँ और अन्योक्तियाँ
४. स्तोत्र शैली, 'देवी स्तुति शतक'—द्विवेदी

इतिवृत्तात्मक शैली में 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार,' 'ग्रन्थकार-लक्षण,' 'कर्तव्य-पंचदशी' आदि रचनाएँ द्विवेदीजी ने लिखी थीं। चमत्कार प्रधान शैली की लाला भगवानदीन रचित 'मेंहदी' की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं :

"तुमने पैरों में लगाई मेंहदी। मेरी आँखों में समाई मेंहदी।
खूनी होते हैं जगत के सब्ज रंग। दे रही है यह दोहाई मेंहदी।
कुल से छूटी कूटकर पीसी गयी। तब तेरे पद छूने आई मेंहदी।"[२]

'आँख' भी इसी शैली की रचना है :

"कहो तो आज कह दें आपकी आँखों को क्या समझे।
सिना सिंदूर मृगमदयुक्त अद्भुत कुछ दवा समझे॥
अगर इसको न मानो तो बता दूँ दूसरी उपमा।
सहित हाला हलाहल मिश्रिता सुन्दर सुधा समझे॥"[३]

द्विवेदीजी कृत 'देवी स्तुति शतक' स्तोत्र शैली की रचना है, जैसे :

"व्योमाम्बु भूमि अनिलानल तत्व माँही।
जाकी कला कुशल व्यापक है सदा ही।

---

१. शंकर सर्वस्व, पृ० ३४९
२. कविता-कौमुदा, दूसरा भाग, सं० रामनरेश त्रिपाठी; तीसरा संस्करण, सं० १९८३, पृ० २३३
३. कविता कौमुदी, दूसरा भाग, सं० रामनरेश त्रिपाठी, तीसरा संस्करण, सं० १९८३, पृ० २३३

विश्वेश्वरी जननि सो जग आदि माया,
राखै निरोग सब काल हमारि काया ॥"[१]

## संयुक्त मुक्तक

वे गीत जिनमें एक से अधिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं संयुक्त मुक्तक हैं। आत्मपरक संयुक्त मुक्तक के अन्तर्गत वह प्रगीत काव्य में स्थान पाता है, जिसमें सम्बोधन गीति, शोकगीति, पत्रगीति, गीति आदि विधाएँ रची जाती हैं। द्विवेदी युग में रूपनारायण पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, बदरीनाथ भट्ट, प्रसाद, निराला, पन्त, शंकर, कामता प्रसाद गुरु, लाला भगवानदीन, श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, 'पूर्ण' आदि कवियों ने अनेकानेक विषयों पर आत्मपरक संयुक्त मुक्तक रचे थे।

**सम्बोधन गीतियाँ** : रूपनारायण पाण्डेय की 'कल्पवृक्ष के प्रति' रचना सम्बोधन गीति है। प्रसाद के 'चित्राधार' में संग्रहीत रचनाओं में किरण, वसन्त, विषाद, दीप तथा रूप और निराला की 'जुही की कली' सम्बोधन गीतियाँ हैं। १७ मई, १९०० ई० के 'अवध पंच' में 'उर्दू की अपील' छपी थी। 'भारत-मित्र' में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने उसका जो उत्तर छपवाया था, वह एक सम्बोधन गीति था। यह कविता इस प्रकार है :

"न बीबी बहुत जी में घबराइये।
सम्हलिये जरा होश में आइये।
कहो क्या पड़ी तुम पै उफ़्ताद है।
सुनाओ मुझे कैसी फरियाद है।
किसी ने तुम्हारा बिगाड़ा है क्या
सुनूँ हाल मैं भी तो उसका जरा ॥"[२]

यहाँ कवि ने उर्दू को लक्ष्य करके हिन्दी के पक्ष का समर्थन किया है। सैयद अमीरअली 'मीर' का 'भारतीय छात्रों से नम्र निवेदन' देखिए :

"ब्रह्मचर्य जाने नहिं पावे इसका रखना भाई ध्यान।
दम्पति पद पा जाने पर भी, करना इस व्रत का सम्मान ॥"[३]

---

१. द्विवेदी काव्य माला, देवी स्तुति शतक, म० प्र० द्विवेदी, पृ० १४३
२. सं० रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, दूसरा भाग, पृ० २०९
३. वही, पृ० २१४

कामताप्रसाद गुरु की 'बेटी की बिदा' में नयी माता को इस प्रकार सम्बोधित किया गया है :

> "प्यारी बहिन सौंपती हूँ मैं अपना तुम्हें खजाना।
> आत्मा ही यह आज हमारी हमसे बिछुड़ रही है।
> समझाता हूँ जी को तो भी धरता धीर नहीं है॥
> × × ×
> अपना मांस पिंड देती हूँ मैं तन से कर न्यारा।
> है यह जीवन मेरे जी का, आँखों का है तारा।
> × × ×
> जाकर वहाँ दूर हे बेटी, मुझे भूल मत जाना।"[१]

निराला की 'जुही की कली' देखिए :

> "विजन-वन-वल्लरी पर
> सोती थी सुहाग भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न,
> अमल कोमल तनु तरुणी, जुही की कली,
> दृग बन्द किये, शिथिल पत्रांक में।"

पन्त की 'छाया' का उदाहरण देखिए :

> "कहो कौन हो दमयन्ती-सी तुम तरु के नीचे सोई?"
> हाय, तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई?'

गोपालशरण सिंह की 'ग्रन्थ' रचना भी इसी प्रकार की है :

> "हे ग्रन्थ सदा तुम धन्य-धन्य,
> है तुम-सा जग में कौन अन्य?
> उपकार करे जो यों अनेक।
> चाहे नहीं प्रत्युपकार एक॥"[२]

मन्नन द्विवेदी गजपुरी की 'चमेली' रचना है :

> "सुन्दरता की रूपराशि तुम दयालुता की खान चमेली।
> तुम-सी कन्याएँ भारत को कब देगा भगवान चमेली।"[३]

---

१. सं० रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, भाग २, पृ० ३२३

२. संग्रहकर्ता किशोरीलाल गुप्त-गोपालशरण सिंह, ग्रन्थ, काव्य वाटिका, पृ० २५६

३. चमेली, पृ० २९९

मुकुटधर पाण्डेय की 'कुररी के प्रति' रचना भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। जैसे :

> "बता मुझे ऐ विहग विदेशी, अपने जी की बात
> × × ×
> अन्तरिक्ष में करता है तू क्यों अनवरत विलाप ?
> ऐसी दारुण व्यथा तुझे क्या है किसका परिताप ?
> किसी गुप्त दुष्कृति की स्मृति क्या उठी हृदय में जाग ?
> जला रही है तुझको अथवा प्रिय-वियोग की आग ?"[१]

द्विवेदीजी की 'हे कविते' और 'बलावर्द' रचनाएँ भी सम्बोधन गीतियाँ हैं।

**शोकगीति** : गोखले की मृत्यु पर 'प्रभा' में गिरधर शर्मा ने शोकगीति लिखी थी :

> "सारा विश्व मान गया परतन्त्र दशा में भी,
> भारत में पैदा होते हैं गोखले-से ग्लैडस्टोन,
> स्वार्थ त्यागी महामति परिश्रमी ब्रह्म ऋषि,
> लोकहितकारी दीर्घदर्शी राजप्रीति मौन।"

भीकाजी विल्लौरे ने 'हाय गोखले' (मार्च १९१५ ई०), बदरीनाथ भट्ट ने 'दीप निर्वाण', (मार्च, १९१५ ई०), पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'गोखले' (माघ सं० १९७२, पृ० ५८२), राष्ट्रीय पथिक ने 'शोकाश्रु' (सितम्बर, १९२० ई०), भगवन्त गणपति गोयलीय ने 'शोक सान्त्वना' (सितम्बर, १९२० ई०) और सियारामशरण गुप्त ने 'तिलक-वियोग' (सितम्बर, १९२०) रचनाएँ प्रभा में प्रकाशित करायी थीं।

रूपनारायण पाण्डेय की किसी अबोध बालक की मृत्यु पर लिखित 'दलित-कुसुम' रचना द्रष्टव्य है :

> "अहह, अधम आँधी आ गयी तू कहाँ से ?
> प्रलय घन घटा-सी छा गयी तू कहाँ से ?
> पर दुख सुख तू ने हा, न देखा न भाला।
> कुसुम अधखिला ही हाय यों तोड़ डाला ॥"

---

१. सं० रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, भाग २, पृ० ५६१, तीसरा संस्करण

उनकी शोकसूचक तिलांजलि रचना स्त्री-वियोग के अवसर पर लिखी गयी थी, जैसे :

> "कहता है कौन वियोग हुआ, तुम तो हो मुझमें बसी हुई।
> यह हृदय तुम्हारे सूक्ष्म चित्र को रक्खेगा अति श्रद्धा में ॥"

उन्हीं की 'तिलक-तिरोधान' रचना का यह उदाहरण देखिए :

> "हाय हाय, हा हन्त, हरे, यह क्या दिखलाया ?
> ये असमय में कठिन शोक का वज्र गिराया।
> अरे निर्दयी कठिन काल, कुछ तरस न खाया।
> भारत का सौभाग्य तिलक, इस तरह मिटाया।
> इस दीन देश का पक्ष ले लड़ने वाला उठ गया;
> हा हा, अत्याचारों से निडर भिड़ने वाला उठ गया ॥"

कवि 'शंकर' ने अपने 'शंकर-सर्वस्व' में 'हाय मिस्टर गोखले' शोकगीत (पृ० २४६), चित्रकार के सम्पादक पं० कुन्दनलाल शर्मा के निधन पर 'वियोग वज्रपात' (पृ० १८५), पं० अम्बिकादत्त व्यास के निधन पर 'वियोग-वज्राघात' (पृ० १८६) और गणपति के निधन पर 'गणपति प्रयाण' (पृ० १८४) शोक-गीत लिखे थे। इन तीनों शोकगीतियों के उदाहरण इस प्रकार हैं :

वियोग वज्रपात :

> "सादर मान बढ़ाय दया कर देते रहे उपहार घनेरे,
> वर्ष छत्तीस बसे वसुधा पर ईश भये अब देवन केरे
> 'शंकर' जाय जहाँ सुख सों प्रिय, पंडित कुन्दनलाल बसे रे
> ले चल, काल, तहाँ हमको यह चाहत हैं कवि और चितेरे ॥"[1]

वियोग वज्राघात :

> "काशी विश्वनाथ की पुरी में तन त्याग कर,
> व्यास बड़भागी ध्रुवधाम को सिधाये हैं।
> शोक ने संगीतन के उर अवनीतल पै
> संकट के अंकुर अनेक उपजाये हैं।"

---

१. शंकर सर्वस्व, सं० हरीशंकर शर्मा, पृ० १८८

ढार-ढार आँसू दुःख रोकत हैं बार-बार
बावरे वियोगी विधि बाम के सताये हैं।
भारत अभागे तोंहि वारिधि में बोरन को
मानो तन धारी घन गरजन आये हैं ।।[१]

गणपति प्रयाण—

"आपदा की आग ने उबाले शोक सागर में,
हाय रे अनभ्र वज्रपात का प्रमाण है।
छेद रहा सैकड़ों वियोगियों की छातियों को
एक ही वियोग-जन्य-वेदना का वाण है।
काल विकराल ने कुचाल की कृपाण गही
क्यों न प्रेम कातर कटेंगे कहाँ त्राण है।
शंकर मिलावेगा मिलेंगे परलोक ही में
प्राणहारी प्यारे गणपति का प्रयाण है।"[२]

**पत्रगीति**

मैथिलीशरण गुप्त की पत्रावली में (१) महाराजा प्रतापसिंह के प्रति पृथ्वीराज का पत्र, (२) पृथ्वीराज के प्रति महाराना प्रतापसिंह का पत्र, (३) औरंगजेब के प्रति छत्रपति शिवाजी का पत्र, (४) पुत्र के नाम औरंगजेब का पत्र, (५) महाराज जसवन्तसिंह के नाम महारानी सीसौदिया का पत्र, (६) राघोबा के नाम महारानी अहिल्या बाई का पत्र, और (७) महाराना राजसिंह के नाम रूपवती का पत्र संकलित हैं। ये सातों पत्र माइकेल मधुसूदन दत्त की 'वीरांगना' की पत्रगीति शैली को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। पत्रावली सन् १९१६ में प्रकाशित हुई थी। इन रचनाओं में गीति-सौन्दर्य की अपेक्षा भावों की सशक्त व्यंजना अधिक सुन्दर दिखाई पड़ती है।

प्रताप के प्रति पृथ्वीराज की यह व्यंग्योक्ति है—

"छोड़ो स्वाधीनता को मृगपति, वन में दुःख होता बड़ा है।
लोहे के पींजड़े में तुम मत रहना यहाँ स्वर्ण का पींजड़ा है।।" (पृ० ६)

वे आगे कहते हैं :

१. शंकर सर्वस्व, पृ० १९२,
२ वही, पृ० १९४

"शूरों के आप स्वामी यदि अकबर की वश्यता मान लेंगे।
तो दाता दान तजकर उलटा आप ही दान लेंगे।।" (पृ० ६)

महाराणा ने अपने उत्तर में यह लिखा था—

"अहो पृथ्वीराज प्रियवर, कृपा पत्र पहुँचा।
बचाली बप्पा के विमल कुल की लाज तुमने।
× × ×
सहूँगा दुःखों को सतत फिर स्वातन्त्र्य सुख से।
सुनोगे तुर्कों को न तनु रहते शाह हम से।।" (पृ० १०, १४)

पत्र रूप में रूपवती का करुण-कथन राजसिंह के पास पहुँचाया गया है :

"पापात्मा शिशुपाल-सा यवन है, मैं रुक्मिणी सी फँसी
मेरे कृष्ण, तुम्हीं, सवेग सुध लो, होने न पावे हँसी।।"

अन्य पत्रों की भाषा भी सजीव और प्रसंगानुकूल है।

## गीत

**भक्ति सम्बन्धी गीत** : द्विवेदी युग की कविता में भक्ति भावना भी अभिव्यंजित हुई है। कई कवियों ने भक्ति सम्बन्धी गीत लिखे हैं। ये चाहे सायास ही हों, पर हैं भगवान के सम्बन्ध में ही। 'पूर्ण' द्वारा 'पूर्ण संग्रह' (पृ० ७८) पर 'तुम्हारे अद्भुत चरित मुरारि' और पृ० १८३ पर :

"तू अब भज मन प्रभु सुखदायी,
नर तन धरि हरि सुमिर दिवस निसि,
गत अवसर चलि जाई।।

रचनाएँ भक्ति गीत की ही उदाहरण है। 'भक्त की अभिलाषा' रचना में सनेहीजी ने यह प्रार्थना की है :

"तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूँ।
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ,
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ।।[1]

---

१. काव्य वाटिका, संग्रहकर्ता बाबू किशोरीलाल गुप्त, भक्त की अभिलाषा, पृ० १८.

शंकर की भक्ति विषयक रचना के उदाहरण देखिये :

"विधाता तू हमारा है, तुही विज्ञान-दाता है
बिना तेरी दया कोई, नहीं आनन्द पाता है ॥"[१]

× × ×

"सुखदाता तू प्रभु मेरा है।
तेरी परम शुद्ध सत्ता में, सबका विशद बसेरा है ॥"[२]

रूपनारायण पाण्डेय की रचना इस प्रकार है :

"जय प्रभु प्रेम पारावार ।
मिटत तीनों ताप सेवत, छुटत विषय विकार ।"[३]

और 'कृष्ण वन्दना' में उन्होंने लिखा है :

जय, जय, जय, कृष्णचन्द, सुन्दर आनन्दकन्द,
गिरधर, गो, गोप-वृन्द, ब्रज के रखवारे ॥"[४]

पं० बदरीनाथ भट्ट के 'प्रार्थना' गीत में कहा गया है :

"अशरण-शरण, शरण हम तेरी ।
भूले हैं मग विपिन सघन है, छाई गहन अँधेरी ।"[५]

मुकुटधर पाण्डेय का 'स्वागत-गीत' इस प्रकार है :

"स्वागत है सुन्दर सुकुमार ।
आओ हृदय मार्ग से मेरे प्रियतम प्राणाधार ।[६]

वियोगी हरि की रचना है :

"जय गोविन्द हरे
बोल हरे जय बोल हरे ॥"[७]

**राष्ट्रीय गीत** : द्विवेदी युग में सर्वाधिक प्रसार राष्ट्रीय गीतों का हुआ है। यह राष्ट्रीय चेतना का युग था। द्विवेदीजी की प्रेरणा से 'भारत-भारती' जैसी

---

१. 'शंकर सर्वस्व', पृ० १२
२. वही, पृ० ७
३. रूपनारायण पाण्डेय, पराग, पृ० २
४. वही
५. कविता कौमुदी, भाग २, पृ० ५४२
६. वही, पृ० ५६२
७. वही, पृ० ५७१

रचना लिखी गयी थीं। उनके युग के सभी कवियों ने स्वदेश, मातृभूमि, राष्ट्र, आदि को लक्ष्य करके सुन्दर गीत लिखे थे। रामनरेश त्रिपाठी की वन्दे मातरम् रचना देखिए :

"मातु, जीवन-पुष्प यह मम
है समर्पित चरण पर तव ॥
वीर-जननि प्रसन्न हो तुम।
सदय भूतल-भरणि,
मंगल करणि, संकट हरणि ॥"[1]

जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का राष्ट्रीय गीत :

"वन्दौं भारत भूमि सुहावनि
सजल, सफल, श्यामल थल सुन्दर
मलय समीर चलै मनभावनि।
सुखदा, वरदा, अतुला, अमला—
वानी विद्यादायिनि तारिनि ॥"[2]

अम्बिका प्रसाद त्रिपाठी का 'प्रिय स्वदेश' इस प्रकार है :

"जिस देश की मिट्टी से बनी जाति हमारी
अरु नाम से जिस देश के जाती हो पुकारी ॥
जिस देश के पंचत्व से हम पैदा हुए हों।
अरु जिसकी सुखद गोद में नित फूले-फले हों।
वह देश हमारा है, प्रिय स्वदेश हमारा।
है तन भी वही, मन भी वही प्राण हमारा ॥"[3]

कामता प्रसाद गुरु रचित जन्मभूमि का उदाहरण देखिये :

"जहाँ जन्म देता हमें है विधाता, उसी ठौर में चित्त है मोद पाता।
जहाँ हैं हमारे पिता-बन्धु-माता, उसी भूमि से है हमें सत्य नाता ॥"[4]

रामचरित उपाध्याय का 'भारतवर्ष' (का० वाटिका, पृ० ३३) और सियाराम

---

१. काव्य वाटिका, सं० बाबू किशोरी लाल गुप्त, पृ० २२,
२. वही, पृ० २७
३. वही, पृ० २९
४. वही, पृ० ३१

शरण गुप्त का 'हमारा देश' (का० वा०, पृ० ३८) रचनाएँ द्रष्टव्य हैं। रूप-नारायण पाण्डेय के राष्ट्रीय गीत हैं--(१) वन्दे मातरम्, (२) 'जय-जय भारत भूमि भली', (३) जय-जय जन्मभूमि जननी, (४) प्रिय भारत के हम गुण गाये जायेंगे, (५) जय प्यारा देश हमारा, सारी दुनिया से न्यारा, (६) जय-जय जन्म-भूमि, नमो नमो पुण्यभूमि, (७) आओ करें देश उद्धार, आदि। इन सुन्दर गीतों में उत्कट देश-भक्ति के निश्छल स्वर सुनायी पड़ते हैं। रूपनारायणजी का 'यह प्यारा देश हमारा' गीत द्रष्टव्य है :

> "यह प्यारा देश हमारा, सारी दुनिया से न्यारा।
> है प्रकृति विचित्र यहाँ की,
> गिरि-नदी वनों में बाँकी,
> मन हरे हरेक नजारा।
> छः ऋतुएँ रुचिर यहाँ हैं।
> ऐसे फल-फूल कहाँ हैं ?
> गंगा यमुना की धारा...।"[1]

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के 'स्वदेशी बारामासी' रचना पर लोकगीतों की शैली का प्रभाव है :

> छा गया अनुराग देश का, भाई 'स्वदेशी'
> है बैसाख महीना पुनीत, देश हितैषी बनो सब मीत,
> चलो हिलमिल के वीरों की चाल, कर दो भारत को मालामाल।
> कमाई है जस की। अजी छा गया० ॥"[2]

रूपनारायण पाण्डेय की 'होली' (पराग, पृ० ९६) और शंकर की 'हत्यारी-होली' रचना की भिन्न भाव-भूमि है। एक में "फागु ऐसी सुखदाई, खेलिये सब मिलि भाई" है और दूसरे में रोलेट ऐक्ट से दुखी कवि 'शंकर' ने लिखा :

> "दुःख देखे दिवाली बिताई,
> हँसो मत रोते रहो, होली आई।"[3]

---

१. रूपनारायण पाण्डेय, पराग, पृ० ४१

२. पूर्ण संग्रह, पृ० २०१

३. शंकर सर्वस्व, पृ० ४६९

'शंकर' ने 'शंकर सर्वस्व' (पृ० ३०) में समस्या-पूर्ति के अन्तर्गत 'होली है' पर इस प्रकार लिखा है :

> "शंकर त्रिशूल रुद्र रोप का चलाती हुई ।
> चण्डी मारकाट करती न कहाँ डोली है ।
> पालती प्रजा को लाद-लाद कर भार भारी,
> लोभी लीला लूट की तुला पै धर तोली है ।
> ठूँसी ठोस नीति भूखे शासन की तोंद भरी,
> पेट फाड़ न्याय ढोल की न पोल खोली है ।
> गोरी सरकार काला भारत न भूले तुझे ।
> छोड़ दिये गाँधीजी हया की हद होली है ॥[१]

द्विवेदीजी की 'सरगौ नरक ठिकाना नाहिं' 'आल्हा' की लय पर लिखी गयी रचना है :

> "आठौ पहर भकाभक निकलै धुआ जहाँ अक्कास उड़ाय ।
> कौनी तना बताओ तुमही अविकल लहै लहुरवा भाय ।
> ऐसे बुरे सहर माँ रहिके पाकि उठा सब मगजु हमार ।
> नीक नकारा हमें न सूझै मुँहुँ ह्वैगा भुँजवा का भार ॥"[२]

कामागाटामारू जहाज से गये हुए बाबा गुरुदत्त सिंह को जब कनाडा से लौटा दिया गया तब पं० सत्यनारायण कविरत्न ने प्रताप में यह कविता लिखी थी :

> "हे हतभागी भारत देश ।
> कितना अधिक बाकी है सहना तुझे कलेश ॥"

(सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी, ले० पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पृ० ७२)

**सानेट या चतुर्दशपदियाँ** : रूपनारायण पाण्डेय को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने खड़ी बोली में सबसे पहले चतुर्दशपदी लिखी । उनकी 'सर्प और खल' रचना देखिये :

---

१. शंकर सर्वस्व, पृ० ३?०

२. द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ?८६

"सर्प और खल इन दोनों में किसको आप अधिक जानें
मेरा मत तो यही, सर्प से खल को आप बड़ा मानें ।।"[१]

और 'आँसू' इस प्रकार है :

"दुखियों का धन, लड़ी मोतियों की, जिसका है मोल नहीं ।
सच्ची सीपी से निकली यह सदा सुलभ है सभी कहीं ।।"[२]

प्रसाद की 'प्रियतम', 'दीप', 'महाकवि तुलसीदास', 'पाईं बाग' आदि रचनाएँ भी चतुर्दशपदियाँ हैं। रूपनारायण की 'पराग' में संकलित (पृ० ९२) 'वसंत का आगमन' रचना भिन्न तुकान्त चतुर्दशपदी है :

"छोड़ पुराने पत्र, नई पोशाक से
फूल पत्तों की लिए डालियाँ हाथ में,
सफल जान कर जन्म, अदब से सब झुके,
अगवानी के लिए वृक्ष तैयार हैं।"

द्विवेदी युग में प्रभूत परिमाण में गीतों की रचना हुई। श्रीधर पाठक के 'भारत गीत' की विषय-सूची में प्रार्थना, देश-भक्ति, देश-गीत, भारत-वन्दना, प्रेम-संगीत, स्वराज्य-स्वागत, भ्रमर-गीत, चर-गीत आदि कई प्रकार के गीतों का समावेश हुआ है। 'त्रिशूल' के 'राष्ट्रीय-मन्त्र' संग्रह का एक राष्ट्रीय गींत देखिये :

"जयति भारत जय हिन्दुस्तान ।
सुरसरि सलिल सुधा से सिंचित, मंजुल मलय समीर संचरित ।
सुषमा सब सुरपुर की संचित, करते सुरगण गान ।
जयति भारत जय हिन्दुस्तान ।
पुण्य पुंज पावन पृथ्वी पर, धीर वीर वर कर्म धुरन्धर ।
सत्य, अहिंसा, दया सरोवर, भुक्ति मुक्ति की खान ।
जयति भारत जय हिन्दुस्तान ।।[३]

---

१. पराग, पृ० ११२
२. वही, पृ० ११७
३. राष्ट्रीय-मन्त्र, त्रिशूल, प्रकाशक रमाशंकर अवस्थी, प्रथम संस्करण १९२१, पृ० १

इसी ग्रन्थ में 'सत्याग्रह' शीर्षक एक लम्बी रचना छपी है। जिसमें गोखले के मार्ग-दर्शन को महत्त्व दिया गया है—

"सत्याग्रह प्रेमास्त्र मनों को हरने वाला।

× × ×

कहते थे श्री गोखले सत्याग्रह तलवार है :
जिसमें चारों ही तरफ धरी तीव्रतर धार है।"[1]

साम्यवाद—त्रिशूल ने आज से ५० वर्ष पूर्व साम्यवाद पर इतनी सटीक रचना लिखी थी कि उनकी सूक्ष्म और भविष्यदर्शी दृष्टि को देख कर दंग रह जाना पड़ता है, जैसे :

"कुछ भूखों मर रहे महा तनु शीर्ण हुआ है।
कुछ इतना खा गये कि घोर अजीर्ण हुआ है।
कैसा यह वैपम्य-भाव अवतीर्ण हुआ है।
जीर्ण हुआ मस्तिष्क, हृदय संकीर्ण हुआ है।
कुछ मधु पीकर मत्त हों, आँसू पीकर कुछ रहें।
कुछ लूटें संसार सुख, मरते जीकर कुछ रहें।।"[2]

× × ×

प्रलय धार सी बढ़ी विषमता विष सी धाई। (पृ० १४)

× ×

श्रम किसका है मगर मौज हैं कौन उड़ाते।
हैं खाने को कौन, कौन उपजा कर लाते। (पृ० १५)

× ×

यह दारुण वैषम्य काल की यह निठुराई।
रावण की क्रूरता कंस की-सी कुटिलाई॥ (पृ० १६)

× ×

सुख-दुख सम सबके लिए हों इस नये समाज में।
सबका हाथ समान हो लगा तखत में ताज में।।"[3]

---

१. राष्ट्रीय-मन्त्र, त्रिशूल, प्रकाशक रमाशंकर अवस्थी, प्रथम संस्करण, १९२१ ई०, पृ०, ५

२. वही, पृ० १३

३. वही, पृ० १८

इसी 'राष्ट्रीय-मन्त्र' में 'असहयोग' पर भी एक लम्बी कविता दी गयी है, यथा :

"नहीं याद क्या बागे जलियानवाला,
गये भूल क्या दागे जलियानवाला,
असहयोग कर दो, असहयोग कर दो।"[1]

'त्रिशूल-तरंग' त्रिशूलजी की १९१८ तक की कविताओं का संग्रह है। इसमें 'हाय हम कैसे वसंत मनावें', (पृ० १००) 'छिड़ी है देश राग की तान', राष्ट्रीय होली (पृ० १०१), 'सुनहु विनय यह मोरी हिलमिल मनावहु होरी' होली (पृ० १०२), 'नये रंग की होली' (पृ० १०३), 'होली है' (पृ० १०४) आदि सुन्दर गीत हैं। कवि ने 'सुदामा का संकोच' (पृ० २४) शीर्षक सुन्दर गीत लिखा है :

"सुदामा मन ही मन सकुचात।
कैसे दीनबन्धु सों कहिए निज दुर्दिन की बात।।"

**जातीय गीत**—'भजसि मन हिन्दी, हिन्दू हिन्द' (पृ० ३५) एक सुन्दर गीत है। 'किसान का आर्तनाद' (पृ० ४८), 'बनाया क्यों प्रभु हमको दीन', आदि किसानों की दुर्दशा को व्यक्त करने वाले गीत हैं।

यही कहना पर्याप्त होगा कि द्विवेदी युग में लगभग सभी काव्य-विधाओं में या काव्य के सभी रूप-विधानों में रचनाएँ प्रस्तुत की गयीं थीं। द्विवेदी युग में महाकाव्य, खण्ड काव्य, लघु प्रबन्ध, मुक्तक और गीतों की ऐसी विपुल रचना हुई कि जीवन के सभी पक्षों को अभिव्यक्ति करने में खड़ी बोली पद्य की शक्ति प्रमाणित हो गयी। भाषा की कसावट, भावों की गहराई, शिल्प का सौन्दर्य शैली की विभिन्नताएँ तथा आत्मानुभूति की तरलता हिन्दी कविता में प्रत्यक्ष हुई। विषयों के विस्तृत मैदान और भावों के उन्मुक्त गगन में कूदती-फाँदती, तैरती-उछलती हुई खड़ी बोली की कविता तेजी से आगे बढ़ती गयी।

बँगला और अँग्रेजी के साहित्य-संसर्ग से नूतन प्रगीत कविता का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं प्रगीतों को छायावादी कवियों ने अपनाया और उसे नया शिल्प-सौन्दर्य प्रदान किया। बदरीनाथ भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के गीत १९१२ ई० में रचे जाने आरम्भ हुए, जो १९१५-१६ ई० के आस-पास उत्कर्ष को प्राप्त कर सके। रहस्यात्मकता का पुट भी इन गीतों में पाया जाता है। गुप्तजी ने १९१८ में 'स्वयं आगत' रचना में लिखा था :

---

१. त्रिशूल, राष्ट्रीय-मन्त्र, पृ० ३६

"निकल रही है डर से आह, ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी।।"

मुकुटधर पाण्डेय का आँसू (१६१७ ई०) तथा उद्‌गार (१६२० ई०) छायावाद युग के उन्मेषकालिक गीत हैं। प्रसाद की शृंगारपरक, पन्त की प्रकृतिपरक और निराला की दार्शनिक गीतियों की रचना का आरम्भ द्विवेदी युग के उत्तर काल में ही हुआ।

**'प्रभा' और 'प्रताप' के कवि** : सरस्वती के अतिरिक्त 'प्रभा' और 'प्रताप' में भी द्विवेदी युग के कतिपय कवि अपनी रचनाएँ प्रकाशित करा रहे थे। 'प्रभा' के ७ अप्रैल, १६१३, भाग १, संख्या १, पृ० ५६, पर तत्कालीन कवियों के विषय में यह विचार प्रकट किया गया था—"कितने प्रतिभाशाली लेखक या कवि हमारे साहित्य के मुख को उज्ज्वल कर रहे हैं। अन्य लेखकों के प्रति हमारा निरादर का भाव नहीं है, किन्तु हमारी सम्मति में वर्तमान हिन्दी कवियों में प्रतिभाशाली पं० मैथिलीशरण गुप्त और लेखकों में प्रतिभाशाली ठाकुर गदाधर सिंह हैं।"[1] 'प्रभा' की १६२० ई० की मार्च, अप्रैल और मई की प्रतियों को देखने से ज्ञात होता है कि गुप्तजी के 'वक-संहार' के ५४ छन्द उसमें छप चुके थे। यह रचना बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इसी प्रकार की कई आख्यानक रचनाएँ, जैसे, हरिपालसिंह कृत—'श्री समर्थ रामदास स्वामी और छत्रपति' (३० अक्टूबर १६१३ ई०), लोचनप्रसाद पाण्डेय रचित 'स्वामी-भक्त मन्त्री' (५ जून १६१६ ई०) आदि रचनाएँ इसी पत्रिका द्वारा प्रकाश में आ रहीं थी। 'नीति निवेदन' शीर्षक (मई १६१३ ई० 'प्रभा', पृ० १०७) माखनलाल जी की एक सुन्दर उद्‌बोधन विषयक रचना भी छपी थी :

"मन सरलता, प्रण अटलता, सद्‌भाव, शुचिता, नीति,
करुणाधिपति विश्वेश के पदपद्म में दृढ़ प्रीति।
हों इन गुणों से पूर्ण जो देवोपमान यथेष्ट।
मानो उन्हें प्रिय, पूज्य, अनुकरणीय, मानव श्रेष्ठ।"

महेश्वर प्रसाद मिश्र ने (प्रभा १० दिसम्बर १६१३ ई०, पृ० ५३४) 'विचार स्वातन्त्र्य' शीर्षक रचना में कहा था कि :

---

१. डॉ० लक्ष्मी नारायण दुबे, हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य धारा, पृ० १६०

"अब स्वातन्त्र्य विचारकार्य में अपने तुम लग सकते हो ।
इस भारत-जननी को उन्नति-पथ पर पहुँचा सकते हो ।।
क्यों निर्वीर्य बने बैठे हो, उठकर देशोद्धार करो ।
करो न कुछ कर्त्तव्य-मूर्खता, शुद्ध स्वतंत्र विचार करो ।।"

१९२३ ई० के पूर्व ही प्रभा में शुकलाल प्रसाद पाण्डेय, महेश्वर प्रसाद मिश्र, हेमचन्द्र जोशी, श्याम सुन्दर खत्री, गिरधर शर्मा, भीकाजी विल्लौरे, श्रीमती कमला कुमारी आदि कवियों की रचनाएँ छपी थीं । इस समय सभी प्रकार के विषयों पर लिखा जा रहा था । यश, उत्साह, त्याग, परोपकार, एकत्व आदि इन रचनाओं के विषय थे । पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'त्याग' विषयक एक कविता 'प्रभा' में (फाल्गुन, सं० १९७२, पृ० ६००) लिखी थी :

"पुष्प से तो मान था उद्यान का ।
पुष्प ही तो प्राण था उद्यान का ।
किन्तु उसने पुष्प जग को दे दिया ।
और काँटों को हृदय में रख लिया ।।"

प्रेम को भी काव्य का वर्ण्य विषय बनाया गया । रामदहिन मिश्र की 'रति या रामा' (दिसम्बर, १९१३ ई०), सनेही की 'आँसू' (जून, १९२० ई०) तथा प्रकृति विषयक रचनाएँ अनेक कवियों ने रची थीं। रूपनारायण पाँडेय का 'वन विहंगम' (सितम्बर, १९१३ ई०), रामचरित उपाध्याय का 'प्रभात' (जुलाई, १९१३ ई०), हृदय का 'प्रभात' (मई, १९२० ई०), आदि सुन्दर रचनाएँ थीं । कुछ सुन्दर अनुवादों के अन्तर्गत पण्डितराज जगन्नाथ के 'भामिनी-विलास' के तृतीय अंश का 'वामा वियोग' शीर्षक अनुवाद न०प० मिश्र और रामदयाल तिवारी ने प्रस्तुत किया था यथा :

"कनक-प्रभा-सी कान्ति और निर्मलता तुझमें ।
देव-अग्नि की शिखा हुई लज्जित अति मन में ।।
इसीलिये कर रोष तुझे उसने दाहा है ।
कमलनयनि, तव घात अनल ने आज किया है ।।"

कृष्ण चैतन्य गोस्वामी की 'कृष्ण की कोपोक्तियाँ' (प्रभा, १९१५ ई०), गुप्तजी की 'रानी भवानी की वक्तृता (जनवरी १९२० ई०), उन्हीं की 'दशरथ के प्रति कैकेयी' और 'लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा' (प्रभा, सितम्बर एवं नवम्बर १९२०ई०) शीर्षक पत्र-गीतियाँ छपी थीं । उपर्युक्त सभी कवि 'प्रताप' में भी अपनी

रचनाएँ छपवाते थे। इनके अतिरिक्त अन्य कवि भी 'प्रताप' में लिखा करते थे। 'प्रताप' राष्ट्रीय धारा का एकमात्र पोषक पत्र था। उसके विषय में सामान्यतया यह माना गया है कि :

> "हिन्दू वीरवरी में लक्ष्मी, जैसे राणा हुए प्रताप।
> साप्ताहिक पत्रों में हमने, देखा ऐसा सिर्फ प्रताप॥"[१]

'प्रताप' में महिपाल बहादुरसिंह ने (१० दिसम्बर, १९१७ ई०, पृ० ६) जाति-विषयक उद्बोधन गीत लिखा था :

> "चूड़ियाँ पहन, निकाल के घूँघट न टर रहो।
> मर्दानगी के साथ जियो या कि मर रहो॥"

शम्भूदयाल श्रीवास्तव का 'महाराणा प्रताप और स्वतंत्रता' (प्रताप-१२ जून, १९१६ ई०, पृ० ६), माधव शुक्ल का 'जातीय गीत' (२४ दिसम्बर १९१७ ई० पृ० ६), सत्यनारायण कविरत्न की 'मातृभूमि', त्रिशूल का 'वन्दे मातरम्' (१९१८ ई० राष्ट्रीय अंक) आदि राष्ट्रीय गीत प्रताप में छपे थे। वर्तमान पर क्षोभ, आक्रोश, वीर-पूजा और प्रशस्ति विषयक अनेक सुन्दर रचनाएँ 'प्रभा' और 'प्रताप' के माध्यम से प्रकाशित हुईं।

● ●

---

१. डॉ० ल० ना० दुबे, हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा, पृ० २७२, (प्रभा, मई १९१३)

सप्तम अध्याय

# आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीजी : व्यक्तित्व और कार्य

"यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदीजी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। कुछ लेखक ऐसे होते हैं, जिनकी रचना पर ही महत्ता निर्भर रहती है। कुछ ऐसे होते हैं, जिनकी महत्ता उनकी रचनाओं से नहीं जानी जा सकती। द्विवेदीजी की साहित्य-सेवा उनकी रचनाओं से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समग्र साहित्य पर पड़ा है। मेघ की तरह उन्होंने विश्व से ज्ञान-राशि संचित कर और उसकी वर्षा कर समस्त साहित्योद्यान को हरा-भरा कर दिया। वर्तमान साहित्य उन्हीं की साधना का सुफल है।"

(श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी)

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी उद्भट लेखक, धुरन्धर समालोचक, दिग्गज सम्पादकाचार्य, साहित्य-निर्माता, मार्गदर्शक कवि और युगप्रवर्तक साहित्यकार थे। हिन्दी को परिष्कृत, परिमार्जित, प्रौढ़, परिपुष्ट और प्राञ्जल बना कर खड़ी बोली को काव्य की अनिन्द्य और सुसंस्कृत टकसाली भाषा बना देने का सम्पूर्ण श्रेय द्विवेदीजी को ही है। तत्कालीन राजनीति में जो स्थान गाँधी जी का था वही स्थान हिन्दी में द्विवेदीजी का है। डॉ० श्यामसुन्दर दास का यह मत उचित ही है कि—"द्विवेदीजी ने किसी संस्था की स्थापना नहीं की, परन्तु सरस्वती की सहायता से उन्होंने—भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक—तीन-तीन संस्थाओं का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया।" हिन्दी खड़ी बोली को व्याकरण-सम्बन्धी अराजकता से मुक्त करके उसे गद्य और पद्य की भाषा बनाने का श्रेय द्विवेदीजी को ही है। यह तो उनका भाषा-प्रेम ही था कि वे सारे हिन्दी संसार को

ललकार कर कह सके—"सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपने निज का साहित्य नहीं रखती, तो वह रूपवती भिखारिणी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। अपनी माँ को निस्सहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-सुश्रूषा में रत रहता है, उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका, निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।" इस मानसिक दृढ़ता से मातृभाषा की सेवा करने वाले आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व का हिन्दी के अध्येताओं को सम्यक् परिचय अवश्य होना चाहिए।

**जन्म** : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी का जन्म संवत् १९२१ वैशाख शुक्ल ४ को कान्यकुब्ज द्विवेदी ब्राह्मण श्री रामसहायजी के यहाँ दौलतपुर ग्राम, जिला रायबरेली में हुआ था। दौलतपुर वही ग्राम है जहा जाकर १७वीं शताब्दी में प्रसिद्ध कविराज सुखदेव मिश्र बस गये थे। द्विवेदीजी के पितामह हनुमन्त द्विवेदी संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् थे। उनके तीन पुत्र हुए, (१) पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, (२) पं० रामसहाय द्विवेदी और (३) पं० रामभजन द्विवेदी। पितामह की अकाल मृत्यु के कारण पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध न हो सका। रामभजन भी स्वर्गवासी हो गये। महावीरप्रसादजी के पिता पं० रामसहाय ने सेना में नौकरी कर ली और दुर्गाप्रसाद ने बैसवाड़े में गौरा के ताल्लुकेदार के यहाँ कहानी सुनाने का काम अपना लिया। सन् १८५७ ई० में पं० रामसहाय द्विवेदी स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों से मिल गये और विद्रोही हो गये। पराजित होने पर वे सबके साथ भागे। उन्होंने सतलज में कूदकर अंग्रेजों से अपनी जान बचायी। कई मील तक बह जाने के बाद वे चेतना प्राप्त करके किनारे लगे। घास के डण्ठलों को चूस-चूस कर उन्होंने अपनी प्राण-रक्षा की। साधु वेश में वे घर पहुँचे और बाद में बम्बई जाकर बल्लभकुल के गोसाइयों के यहाँ नौकर हो गये। उन्हें महावीर का इष्ट था। १८९६ ई० में उनका देहावसान हुआ।

**शिक्षा** : हनुमान का इष्ट होने के कारण रामसहायजी ने अपने पुत्र का नाम 'महावीर सहाय' रखा था। जन्म के आधे घण्टे के पश्चात् ही एक ज्योतिषी द्वारा सरस्वती का बीज मन्त्र "ओम्-ह्रीं-ओम्" उनकी जिह्वा पर अंकित किया गया। महावीरप्रसादजी की दृढ़ता, जिद्द, अध्ययन, विद्वत्ता आदि को देखकर मन्त्र वाली घटना का सत्य होना सिद्ध होता है। उनका विद्याध्ययन संस्कृत से प्रारम्भ

हुआ । दौलतपुर में उन्हें चाचा ने शीघ्रबोध, अमरकोष, दुर्गा सप्तशती, विष्णु सहस्रनाम और मुहूर्त चिन्तामणि के महत्वपूर्ण अंश कण्ठस्थ करा दिये । ग्राम की उर्दू पाठशाला में हिन्दी, उर्दू और गणित की शिक्षा दिलायी गयी । पाठशाला की पढ़ाई की समाप्ति पर, इन्हें जो प्रमाणपत्र मिला, उसमें 'सहाय' के स्थान पर 'प्रसाद' लिखा हुआ था । यही उनके नाम के साथ जुड़ गया और वे 'महावीरप्रसाद' हो गये । प्रायमरी परीक्षा उत्तीर्ण होने पर उन्हें तीन रुपये मासिक वजीफा मिलने लगा । अंग्रेजी के अध्ययन के लिये रायबरेली के जिला स्कूल में जब प्रविष्ट हुए तब १३ वर्ष की उस अल्पायु में भी वे आटा-दाल अपनी पीठ पर लादकर १८ कोस पैदल-यात्रा करते हुए पढ़ने के लिये आने जाने का कष्ट झेलते रहे । रायबरेली, रनजीत पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव में वे पढ़ाई के लिये मारे-मारे फिरे, परन्तु उनकी अंग्रेजी स्कूल की पढ़ाई पूरी न हो सकी ।

**नौकरी** : उन्नाव की पढ़ाई छोड़कर वे बम्बई गये और वहाँ संस्कृत, गुजराती और मराठी की पढ़ाई के साथ-साथ टेलीग्राफी सीखने लगे । बाद में उन्होंने रेलवे में नौकरी कर ली । बम्बई और नागपुर के बाद १८ वर्ष की आयु में वे अजमेर में १५ रु० मासिक पर रेलवे में नौकरी करने लगे । अल्पायु में उनका विवाह हो गया था । ५ रुपये घर भेजकर और ५ रुपये में जीवन-निर्वाह करते हुए वे ५ रुपये अध्यापक को देकर विद्याभ्यास करने लगे ।

अजमेर से पुनः बम्बई आकर उन्होंने जी० आय० पी० रेलवे में २५ रुपये मासिक की नौकरी कर ली । वे सिग्नलर हो गये । तब वे २० वर्ष के थे । काम में लगन, समय की पाबन्दी, कर्तव्य-परायणता और कठोर अध्यवसाय आदि उनके चारित्रिक गुणों का यहाँ विकास हुआ । तारबाबू, टिकिटबाबू, स्टेशन-मास्टर और प्लेटियर के पदों पर उन्होंने काम किया । इण्डियन मिडलैण्ड रेलवे के खुलने पर वे झाँसी में टेलीग्राफ इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त हुए और वहाँ रेट्स के प्रधान निर्देशक के पद तक उन्नति करते गये । वे बम्बई और पुनः झाँसी में चीफ क्लर्क भी रहे । कठिन परिश्रम के साथ ईमानदारी से वे काम करते रहे । अन्त में अपने साहब महोदय के व्यवहार से अप्रसन्न होकर उन्होंने १५० रुपये मासिक की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया । जब लोगों ने बहुत समझाया तब द्विवेदी जी ने अपनी पत्नी से परामर्श लिया । वे बोलीं—'थूक कर क्या कोई चाटता है ?' हिन्दी के सौभाग्य-सूर्य का उदय इसी घटना के कारण हुआ ।

यह एक संयोग की बात है कि जब वे सन् १८८५ ई० में होशंगाबाद में रेलवे की नौकरी में थे, तब भारतेन्दु की 'कवि-वचन-सुधा' से प्रेरणा पाकर वे हिन्दी में कविता लिखने की ओर प्रवृत्त हुए थे। उन्होंने पिंगल पढ़ा तथा शिव-महिम्न स्तोत्र का हिन्दी गद्य और पद्य में सफल अनुवाद किया। भर्तृहरि के दो शतक, गीत-गोविन्द और गंगा-लहरी का उन्होंने अनुवाद किया तथा 'ऋतु-तरंगिणी' और 'देवी-शतक' की रचना की। उन्होंने गणवृत्तों का हिन्दी में सर्वप्रथम प्रयोग इन्हीं रचनाओं में किया। उस समय लोग अपने-अपने क्षेत्रीय शब्द-समूह वाली बोली को ही हिन्दी समझ रहे थे। इसे कुछ लोग 'स्टूपिड हिन्दी'[1] भी कहते थे। वे हिन्दी से चिढ़ते थे। बँगला, मराठी और गुजराती का साहित्य उस समय हिन्दी की अपेक्षा उच्चतर दशा में था। हिन्दी के विकलांग रूप, शब्दों के अकाल, हिन्दी-उर्दू और हिन्दी-ब्रजभाषा के विवाद, लेखकों की उदण्डता और पारस्परिक वैमनस्य को देखकर द्विवेदीजी बहुत दुखी थे। उन्होंने १८६१ ई० तक कविता की छोटी-छोटी छह पुस्तकें प्रकाशित करायीं थीं। सन् १८६६ ई० और १८६७ ई० में लाला सीताराम के अनुवादों पर द्विवेदीजी ने 'कुमार सम्भव की भाषा' (१८६६ ई०), 'ऋतुसंहार भाषा' (१८६७ ई०) और फिर 'मेघदूत' तथा 'रघुवंश' की समालोचनाएँ कड़े शब्दों में प्रकाशित करायीं। १६०१ ई० में 'हिन्दी कालीदास की समालोचना' ने उन्हें कीर्ति के शिखर पर ला खड़ा किया। सन् १६०० ई० में 'नैषध चरित चर्चा' के प्रकाशन पर द्विवेदीजी की आलोचना हुई। उन्होंने इसका विद्वत्तापूर्ण उत्तर सरस्वती के १६०० ई० के दो अंकों में दिया। सरस्वती के सम्पादक होने के पहले उनकी ख्याति एक आलोचक और सुकवि के रूप में फैल चुकी थी। सन् १६०३ ई० के आस-पास उनकी कविताओं का 'काव्य-मंजूषा' संग्रह और 'कुमार सम्भव सार' (अनुवाद) प्रकाशित हुए। उन्होंने 'बेकन विचार रत्नावली' और 'भामिनी विलास' शीर्षक अनुवाद किये और 'दार्शनिक परिषा' नामक एक मौलिक छोटी पुस्तक भी लिखी। १६ जुलाई, १८६३ ई० को नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, की स्थापना हुई। १६०० ई० मे उत्तर प्रदेश के न्यायालयों में हिन्दी के प्रवेश और उर्दू के साथ समानाधिकार विषयक आन्दोलन में द्विवेदीजी ने बड़ा सहयोग दिया। 'शिक्षा सोपान' रीडर लिखने के सिलसिले में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, के व्यवस्थापक बाबू चिन्तामणि घोष के निकट सम्पर्क में आये। सन् १६०० ई० में कार्तिकप्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथदास

---

१. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृ० २३

रत्नाकर, राधाकृष्णदाभ और बाबू श्यामसुन्दर दास के सम्पादकत्व में सचित्र मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन शुरू हुआ। इस समय द्विवेदीजी की साहित्यिक ख्याति थी ही। सन् १९०३ ई० में २५ रुपये मासिक वृत्ति पर वे 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में सादर और आग्रहपूर्वक नियुक्त किये गये।

**सरस्वती का सम्पादन** : सरस्वती के सम्पादन (१ जनवरी १९०३ ई०) के साथ-साथ हिन्दी साहित्य का नेतृत्व भी द्विवेदीजी के हाथ में आ गया। नयी सम्पादन-कला का प्रारम्भ हुआ। इससे पुरानी शैली के लोग चौकन्ने हो उठे पर नये लोगों का मार्ग-दर्शन होने लगा। हिन्दी की उस विषम परिस्थिति में महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसा अडिग, दृढ़, साहसी, एकनिष्ठ, बहुभाषाविज्ञ, आलोचक, अनुशासक, मार्गदर्शक, शिक्षक और युग-निर्माता सूत्रधार मिला, जिसने गद्य-पद्य की भाषा को एक करने की तथा अनेक विषयों पर नवीन शैलियों में शुद्ध खड़ी बोली में काव्य-रचना करने की बुनियाद रखी, दीवारें उठायीं, चूना-गारा लगाया, महल खड़ा किया और स्वयं मजदूर बना। 'सरस्वती का यह महल खड़ा करने में सरस्वती के वरद पुत्रों का उसने कठोर अनुशासन भी किया। नयी काव्य-भाषा के निर्माण का श्रेय द्विवेदीजी को ही है। वे पैंतालीस वर्ष तक (१८८५-१९३० ई०) साहित्य-सृजन करते रहे और उन्होंने १७ वर्ष तक 'सरस्वती' का सम्पादन किया। १९२१ ई० में सरस्वती के सम्पादन से उन्होंने अवकाश ग्रहण किया। अगस्त १९२० ई० से दिसम्बर १९२० ई० तक द्विवेदीजी के नाम के साथ-साथ पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का नाम भी सरस्वती के सम्पादक के रूप में छपता रहा। इसके बाद १८ वर्ष तक अपने गाँव में वे मुन्सिफ और सरपञ्च रहे। अपने अन्तिम दिनों में वे रोगों से ग्रस्त हो गये थे। रायबरेली में चिकित्सा कराते हुए २१ दिसम्बर, १९३८ ई० को प्रात: काल ५ बजे सरस्वती का दृढ़व्रती पुत्र सांसारिक बन्धनों को छोड़कर दिवंगत हुआ।

**व्यक्तित्व** : यह द्विवेदीजी का व्यक्तित्व ही था जो पूरे हिन्दी साहित्य पर बीस वर्ष तक छाया रहा। मन, वचन और कर्म से एकव्रत, निडर, स्पष्टवादी, दृढ़, सदाचारी, न्यायप्रिय, स्वाभिमानी, लोभहीन, अतिथि-सेवी और ईमानदार द्विवेदीजी स्वस्थ, सुन्दर और गौरवर्ण थे। उनकी बड़ी-बड़ी घनी मूँछें, उन्नत ललाट, घनी भौहें, मर्मभेदी दृष्टि, चश्मे की तिरछी कमानी, विशाल देह, गुरु गम्भीर वाणी, क्रोधी और अनुशासनप्रिय मुख-मुद्रा दर्शनीय थी। उनकी भाषा में सरलता, स्पष्टता तथा निर्मलता थी। उनका रहन-सहन सादा था। नियमित पूजापाठ

या सन्ध्यावन्दन आदि वे कुछ नहीं करते थे। केवल दो-चार बार भगवान का नाम प्रतिदिन ले लिया करते थे। ईश्वर में वे दृढ़ विश्वास रखते थे, पर नास्तिक होने का भ्रम भी पैदा कर देते थे। पं० यज्ञदत्त शुक्ल ने एक संस्मरण में उन्हें एक ग्रामीण द्वारा "महावीर बाबू अंग्रेज"[1] कहते हुए सुना था। किसानों, अछूतों, रोगियों और दीन-दुखियों की सेवा करने में उनकी विशेष रुचि थी। उनके स्वभाव की विचित्र बनावट थी। शादी और शुभ घड़ियों में कर्मकाण्ड का विचार रखते हुए भी वे न ईश्वर-भजन, न पूजापाठ और न साधु-समागम करते थे और न देव-प्रतिमाओं को सिर झुकाते थे। गंगा-तट पर घूमने तो जाते थे, पर गंगा में स्नान नहीं करते थे। अवश्य ही वे साधुओं का आदर करते थे और देव-प्रतिमाओं पर श्रद्धा रखते थे। वे बाह्य आडम्बर के विरोधी थे। ठीक रामभक्त महावीर जैसी सेवा-भावना, शक्ति, साहस और लगन वाले अभिमान शून्य द्विवेदीजी जितने विनम्र थे उतने ही कड़े भी थे। अपने शरीर को उन्होंने लोहे जैसा बना लिया था, परन्तु मन सुकुमार ही था। उनका हृदय और शरीर अलग-अलग वृत्ति रखते हुए भी एक-दूसरे के पूरक थे। न उन्हें उच्छृंखलता पसन्द थी और न उथला ज्ञान। मैकडानल्ड ने १९०६ ई० में रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल के एक लेख में भारतीयों की आलोचना करते हुए लिखा था कि "इस देश के पंडित इस योग्य नहीं, भारतवर्ष के नालायक पण्डितों से संस्कृत पढ़ने से विशेष लाभ नहीं, क्योंकि वे गुण-दोष परीक्षा पूर्वक संस्कृत पढ़ाना नहीं जानते।" द्विवेदीजी ने मेकडानल्ड की दलीलों का जोरदार खण्डन किया। वे ऊपर से तो कड़े थे, पर मन में बड़े कोमल थे। वे लेखक से बढ़कर मनुष्य थे। वे महापुरुष थे। उनकी कार्य-क्षमता का आधार था, संयम। 'सरस्वती' के सम्पादन की सफलता का श्रेय भी उनके संयम को ही है। वे महान भाषाविद्, प्रकाण्ड विद्वान, मौलिक चिन्तक, भावुक रचयिता तथा प्रौढ़ आलोचक थे। बालमुकुंद गुप्त का यह कथन उचित ही है—"द्विवेदी जी के व्यक्तित्व से सम्बद्ध उनकी धारणाओं, विचारों, भावों, अनुभूतियों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों एवं अन्यान्य संस्कारों का प्रभाव उनके आचार-विचार, रहन-सहन, वेष-भूषा, जीवन-दर्शन एवं अन्ततोगत्वा उनकी भाषा-शैली पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'व्यक्तित्व ही शैली है,' इस सत्य का प्रतिपादन उनके

---

१. यज्ञदत्त शुक्ल, व्यक्तित्व दर्शन—आचार्य प्रवर महावीर प्रसाद द्विवेदी, त्रिपथगा, दिसम्बर १९५५, पृ० ११३ (द्विवेदी युग की गद्य शैलियों का अध्ययन, पृ० १४४ से उद्धृत)

व्यक्तित्व एवं शैली के गम्भीर अध्ययन से हो जाता है। पं० हरीभाऊ उपाध्याय ने भी ठीक ही कहा है कि "वह यदि युद्ध के क्षेत्र में होते तो सेनाओं का संचालन करते। हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में आये, तो उन्होंने बीस वर्ष तक उसकी डिक्टेटरशिप अपने हाथ में रक्खी।"[१] कोट-पतलून में उनकी विशाल देह जाएन्ट जैसी दिखायी देती थी। अन्तिम दिनों में श्रीमद्‌भागवत का पाठ करते थे। मुन्सिफ के रूप में वे मुकद्दमों के फैसले भी हिन्दी में लिखते थे। घर की सभी वस्तुएँ साफ और करीने से लगी हुई उन्हें पसन्द आती थीं। उनकी बँधी हुई दिनचर्या थी, निश्चित कार्यक्रम था। १९०५ ई० की जनवरी की सरस्वती के पृष्ठ पर "नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित" वाक्य न छपने के कारण पं० केदारनाथ पाठक प्रतिवाद करने आये और बोले कि क्या 'विषस्य विषमौषधम्' की नीति का पालन करना होगा ? तो द्विवेदीजी ने उत्तर दिया—"देवता, ठहर जाओ, ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ; और एक तश्तरी में मिठाई के साथ एक लोटा जल उनके सामने लाकर रख दिया तथा एक मोटी लाठी भी साथ लेते आये। तत्पश्चात् उन्होंने कहा कि सुदूर प्रवास से आप थके-माँदे आ रहे हो, पहिले हाथ-मुँह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ, तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है। यह सुनते ही पाठकजी पिघल गये और श्रद्धानत होकर लौट गये।

शिष्टाचार के वे इतने कायल थे कि पत्रों के उत्तर लौटती डाक से भेज दिया करते थे। बातचीत में वे अनुशासन-प्रिय थे। अनधिकारी व्यक्ति को कभी भी मुँह नहीं लगाते थे। उनके यहाँ जाने पर दो पान और बात की समाप्ति के सूचक दो पान देने का उनका दस्तूर था। उनका एक घंटा प्रतिदिन लिखने का प्रण था। 'सरस्वती' के सम्पादन के समय तो लिखने का अपार बोझ ही उन पर आ पड़ा था।

'सरस्वती' के सम्पादन-काल में कोट-पैंट छोड़कर वे धोती, कुरता और टोपी धारण किया करते थे। धोती छोटी और साफ कसकर बाँधी गयी होती थी तथा वे चमरौधा जूता पहिनते थे। लकड़ी के तख्त पर उनकी बैठक थी। एक बड़े तकिया से टिक कर मोटी दफ्ती पर कागज रखकर लिखने के आदी थे। मामूली कागज, रैपर या फटे लिफाफों के हिस्सों पर लिखा करते थे। अपनी पुस्तकों की वे रोज सफाई करते थे। अपनी सब चीजें यथास्थान और व्यवस्था से रखने के वे आदी थे। समय पर ही पुस्तकें लेना-देना तथा अपने

१ द्विवेदी मीमांसा, प्रेमनारायण टंडन, पृ० २१७

विशाल पुस्तकालय का पूरी-पूरी तरतीब से रखरखाव करना, उनकी व्यवस्था-प्रियता के कारण ही सम्भव होता था। खाने की थाली में भोज्य पदार्थों का एक खास सिलसिले में रखे जाना ही उन्हें पसन्द था। पं० लक्ष्मीधर बाजपेयी का यह मार्मिक संस्मरण अवश्य ध्यातव्य है—"आचार्य छोटा-सा भाड़न लिये सर भुकाये किताबें भाड़ रहे थे। मैं एकदम गया और पैर छुए।... पांच-सात मिनट बाद आया तब देखता हूँ कि मेरे पादत्राण जो कमरे के बाहर दरवाजे के पास चबूतरे पर सामने ही धूल-धूसरित रक्खे हुए थे, बिलकुल साफ लकदक। मैं देखकर एकदम भौंचक्का रह गया।"[१]

द्विवेदीजी सत्यनिष्ठ और विनोदी भी बहुत थे। 'द्विवेदी-मीमांसा' में नवीनजी और पद्मसिंह शर्मा से सम्बन्धित उनके सुन्दर विनोद सम्बन्धी संस्मरण दिये हैं। जब वे नवीनजी से मिले तो पूछने लगे ' काहे हो बालकृष्ण, है तुम्हार सजनी, सखी, सलौनी, प्राण को आँय ? तुमार कविता माँ इनका बड़ा जिकर रहत है।"[२]

धर्मपत्नी के साथ तो इन्होंने जैसा प्रेम निबाहा, उसकी दूसरी मिसाल नहीं है। उनकी पत्नी की मृत्यु गंगास्नान करते समय मिरगी के दौरे के कारण डूब जाने से हुई थी। द्विवेदीजी ने मन्दिर बनवाकर उसमें लक्ष्मी और सरस्वती की मूर्ति के बीच में अपनी पत्नी की मूर्ति स्थापित करके एक अमर स्मृति-मन्दिर बनवा दिया। लोगों ने व्यंग्य किये कि "दुबौना कलयुगी है। द्याखौ ना, मेहरिया के मूरति बनवाय के पधराइस हइ। यहौ कोनिऊ वेद-पुरान के मरजाद आय।"[३] द्विवेदीजी सन्तानहीन थे। इसका उन्हें सदा दुख रहा। पारिवारिक सुख, पत्नी-पुत्र का सुख और अन्य किसी भी प्रकार के भोगों से अलिप्त द्विवेदी जी अपनी माता के बड़े भक्त थे। उन्होंने छात्र-वृत्तियों के लिये हिन्दू विश्व-विद्यालय को ६४०० रुपये दिये थे और अपना ग्रंथभण्डार 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को दे दिया था। यही सामग्री दस आलमारियों में भरी हुई है। एक साहित्यिक विचार छिड़ जाने पर 'आर्य शब्द की व्युत्पत्ति' लेख द्विवेदीजी ने सितम्बर, १९०८ की सरस्वती में लिखा था। इस लेख को लेकर मथुरा के बी० एन० शर्मा ने द्विवेदीजी को 'ऐंग्लो वर्नाकूलर पंडित' कहकर अपमानित करना

---

१. द्विवेदी मीमांसा, प्रेमनारायण टण्डन, पृ० २३२
२. वही, पृ० २३४
३. सरस्वती, भाग ४०, सं० २, पृ० २२९

चाहा था । इस पर द्विवेदीजी ने उसे अदालती कार्रवाई का नोटिस दिया और शर्मा ने उनसे क्षमा माँगी ।

वे मितव्ययी थे । 'सम्पत्तिशास्त्र' नामक पुस्तक भी उन्होंने लिखी थी । वे अपमान नहीं सह सकते थे । एक अंग्रेजी अफसर को अपने मोटे डंडे से रेलवे के द्वितीय श्रेणी डिब्बे में ही उन्होंने पीटा था । वे झूठा आदर्श अपने पर नहीं ओढ़ते थे । सबके साथ पक्षपातरहित व्यवहार रखते थे । कामताप्रसाद गुरू ने जब उनके व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध शब्दों की आलोचना की, तब वे प्रसन्न ही हुए । गुप्त जी के 'साकेत' की आलोचना के सिलसिले में तुलसीदास की कविता से अपनी कविता की तुलना करने पर उन्होंने नाराजी प्रकट की थी । द्विवेदी जी प्रतिभावान लेखकों, कवियों और आलोचकों पर अंकुश रखकर उनसे काम लेने में सिद्धहस्त थे ।

द्विवेदीजी असाधारण पुरुष थे । वे विद्वान, बहुज्ञ, प्रतिभाशाली, क्षमावान और स्वाभिमानी थे । उन्होंने गद्य और पद्य की भाषा को एक कर हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर पहुँचाने का जो श्रेयस्कर कार्य किया उससे न केवल हिन्दी की सेवा हुई, बल्कि संस्कृति का समुत्थान भी सम्भव हुआ । उनके अध्ययन कक्ष में तलवार, बन्दूक और खंजर रखे रहते थे । गुलाम जाति का साहित्य शक्ति-सम्पन्न होना चाहिए, तभी स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकेगी, यही इसका सन्देश था ।

मान-सम्मान के आयोजनों से वे सदा दूर भागते थे । चौथे और छठे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पदों को उन्होंने बहाने बना कर टाल दिया था । द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ ( मई २, १९३३ ई० ) के प्रति भी उन्होंने उदासीनता दिखायी थी ।

हिन्दी भाषा के परिष्कार, परिमार्जन और उन्नयन का जितना काम अकेले द्विवेदीजी ने किया, उतना काम एक अकेले व्यक्ति द्वारा संसार की किसी भाषा में किसी ने नहीं किया । उन्होंने अकेले 'कल्लू अल्हइत', 'गजानन गणेश गर्वखंडे', 'पर्यालोचक', 'कमल किशोर त्रिपाठी' आदि छद्म नामों से लिखा । चिन्तामणि घोष उनका बड़ा आदर करते थे और कभी-कभी तो उनकी गठरी को स्वयं उठाकर उनके साथ प्रेस से बाहर तक आया करते थे । मालिक होकर भी इतना आदर देने वाले चिन्तामणि घोष के प्रति द्विवेदीजी सदा बड़े विनम्र और स्नेहशील रहे ।

कृतित्व :

पं० रूपनारायण पाण्डेय ने द्विवेदीजी के विषय में एक छोटी-सी कविता लिखी थी :

"शिल्पी परम प्रवीण मातृ-मन्दिर-निर्माता।
अभिनव लेखन-कला लोक के विज्ञ विधाता॥
उपयोगी साहित्य आपने लिखा, लिखाया।
सेवा में ही सरस्वती की जन्म बिताया॥
हिन्दी भाषा के सदा लगे रहे उद्धार में।
ऋषि दधीचि सम अस्थियाँ दे दीं पर उपकार में॥"

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी की समृद्धि के लिए, पाठकों की ज्ञान-वृद्धि हेतु तथा लोक-कल्याण के लिए अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया था। उनके इस योगदान का ऐतिहासिक महत्व है। वे युगान्तरकारी व्यक्ति थे और उनके प्रयास से खड़ी बोली में युगान्तर हुआ भी।

द्विवेदी युग की काल-सीमा (१९००-१९२० ई०) में द्विवेदीजी की रचित मौलिक और अनूदित कुल ८१ कृतियाँ हैं, जिनमें से काव्य-कृतियों की एक सूची पिछले अध्याय में दे दी गयी है। डॉ० उदयभानु सिंह के अनुसार द्विवेदीजी की गद्य रचनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) भामिनी-विलास—१८९१ ई०, संस्कृत कवि पण्डितराज जगन्नाथ की संस्कृत पुस्तक 'भामिनी विलास' का अनुवाद। यह द्विवेदीजी की प्रारम्भिक गद्यभाषा का एक सुन्दर उदाहरण है।

(२) अमृत लहरी—१८९६ ई०, पण्डितराज जगन्नाथ के यमुनास्तोत्र का समूल भावानुवाद।

(३) बेकन विचार-रत्नावली—१८९९ ई० में लिखित और १९०१ ई० में प्रकाशित, अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्धकार बेकन के निबन्धों का अनुवाद।

(४) शिक्षा—१९०६ ई०, प्रसिद्ध तत्ववेत्ता हर्बट स्पेन्सर की 'एज्यूकेशन' नामक पुस्तक का अनुवाद।

(५) स्वाधीनता—१९०७ ई०, जान स्टुअर्ट मिल के 'आन लिबर्टी' निबन्ध का अनुवाद।

(६) जल-चिकित्सा—१९०७ ई०, जर्मन लेखक लुई कूने की जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर।

(७) हिन्दी महाभारत— १६०८ ई०, 'महाभारत' की कथा का संस्कृत से हिन्दी में रूपान्तर।

(८) रघुवंश—१६१२ ई०, कालिदास के रघुवंश महाकाव्य का हिन्दी गद्य में भावार्थ-प्रकाश।

(६) वेणी-संहार—१६१३ ई०, संस्कृत के कवि भट्ट नारायण के 'वेणी संहार' नाटक का आख्यायिका के रूप में अनुवाद।

(१०) कुमार सम्भव—१६१५ ई०, कालिदास के 'कुमार सम्भव' का गद्यानुवाद।

(११) मेघदूत—१६१७ ई०, कालिदास के 'मेघदूतम्' का गद्यानुवाद।

(१२) किरातार्जुनीय—१६१७ ई०, भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का गद्यानुवाद।

उपर्युक्त श्रेष्ठ काव्यों के गद्यानुवाद करने का उद्देश्य था पाठकों की पतनोन्मुख रुचि का परिष्कार करना।...साथ ही साथ भारत की प्राचीन सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था से भी उन्हें परिचित कराना चाहते हैं। ये अनुवाद मनोरंजक और ज्ञानप्रद हैं।

(१३) प्राचीन पण्डित और कवि—१६१८ ई०, अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर भवभूति आदि प्राचीन कवियों और पण्डितों का परिचय।

(१४) आख्यायिका सप्तक—१६२७ ई०, अन्य भाषाओं की आख्यायिकाओं के आधार पर लिखित सात आख्यायिकाओं का संग्रह।

**मौलिक :**

(१) तरुणोपदेश—१८६४ ई०, अप्रकाशित और दौलतपुर में रचित कामशास्त्र पर उपदेशात्मक ग्रन्थ।

(२) हिन्दी शिक्षावली—तृतीय भाग की समालोचना (१८६६ ई०)

(३) नैषध चरित चर्चा—१६०० ई०, श्री हर्ष लिखित "नैषधीय चरितम्" नामक संस्कृत काव्य की परिचयात्मक आलोचना।

(४) हिन्दी कालिदास की आलोचना—१६०१ ई०, लाला सीताराम कृत 'कुमार संभव भाषा,' 'मेघदूत भाषा' और 'रघुवंश भाषा' की तीखी आलोचना।

(५) वैज्ञानिक कोष—१६०१ ई०।

(६) नाट्यशास्त्र—१६०३ ई० में लिखित, किन्तु १६१० ई० में प्रकाशित पुस्तिका।

(७) विक्रमांकदेव चरितम् चर्चा—१६०७ ई०। संस्कृत कवि बिल्हण के 'विक्रमांकदेव चरितम' की परिचयात्मक आलोचना।

(८) हिन्दी भाषा की उत्पत्ति—१६०७ ई०।

(९) सम्पत्ति शास्त्र—१६०७ ई०। इस ग्रन्थ में सम्पत्ति के स्वरूप, वृद्धि, विनिमय, वितरण और उपयोग एवं व्यावसायिक बातों, खासकर बैंकिंग, बीमा, व्यापार, कर तथा देशान्तर गमन की विस्तृत व्याख्या और समीक्षा है।

(१०) कौटिल्य कुठार—१६०७ ई०, अप्रकाशित और काशी के कला-भवन में रक्षित।

(११) कालिदास की निरंकुशता—१६११ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित।

(१२) हिन्दी की पहिली किताब—१६११ ई०, बालोपयोगी स्कूली रीडर।

(१३) लोअर प्राइमरी रीडर— ,,

(१४) अपर प्राइमरी रीडर— ,,

(१५) शिक्षा सरोज— ,,

(१६) बालबोध या वर्णबोध— ,,

(१७) जिला कानपुर का भूगोल— ,,

(१८) अवध के किसानों की बरबादी

(१९) वनिता-विलास—१६१८ ई०, 'सरस्वती में समय-समय पर प्रकाशित विदेशी और भारतीय नारियों के जीवन-चरित्रों का संग्रह।

(२०) औद्योगिकी—१६२० ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

(२१) रसज्ञ-रंजन—१६२० ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित साहित्य सम्बन्धी लेखों का संग्रह। इस संग्रह का केवल दूसरा लेख विद्यानाथ (कामताप्रसाद गुरु) का लिखा हुआ है। शेष लेख द्विवेदी जी के लिखे हुए हैं।

(२२) कालिदास और उनकी कविता—१६२० ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

(२३) सुकवि संकीर्तन—१६२२ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित कवियों और विद्वानों के जीवन-चरित।

(२४) तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन (कानपुर अधिवेशन) के स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण, १६२३ ई०।

(२५) अतीत-स्मृति—१९२३-२४ ई०, सरस्वती में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

(२६) साहित्य-सन्दर्भ—१९२४ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

(२७) अद्भुत आलाप— ,, ,,

(२८) महिला मोद—१९२५ ई०, स्त्रियोपयोगी लेखों का संग्रह ।

(२९) आध्यात्मिकी—१९२६ ई०, सरस्वती में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

(३०) वैचित्र्य चित्रण— ,, ,,

(३१) साहित्यालाप— ,, ,,

(३२) विज्ञ-विनोद— ,, ,,

(३३) कोविद-कीर्तन—१९२७ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित विद्वानों के संक्षिप्त जीवन-चरितों का संग्रह ।

(३४) विदेशी विद्वान—१९२७ ई०, सरस्वती में प्रकाशित विद्वानों के संक्षिप्त जीवन-चरितों का संग्रह ।

(३५) प्राचीन चिह्न—'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

(३६) चरितचर्या—१९२७ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित जीवन-चरितों का संग्रह ।

(३७) पुरावृत्त— ,, ,, लेखों का संग्रह ।

(३८) दृश्य दर्शन—१९२८ ई०, ,, ,,

(३९) आलोचनांजलि— ,, ,, ,,

(४०) समालोचना समुच्चय— ,, ,, ,,

(४१) लेखांजलि— ,, ,, ,,

(४२) चरित चित्रण—१९१२ ई०, ,, जीवन-चरितों का संग्रह ।

(४३) पुरातत्व संग्रह— ,, ,, लेखों का संग्रह ।

(४४) साहित्य सीकर— ,, ,, ,,

(४५) विज्ञान वार्ता—१९३० ई०, ,, ,,

(४६) वाग्विलास—१९३० ई०, ,, ,,

(४७) संकलन—१९३१ ई०, ,, ,,

(४८) विचार-विमर्श—१९३१ ई०, सरस्वती में प्रकाशित लेखों और टिप्पणियों का संग्रह ।

(४९) आत्मनिवेदन--१९३३ ई०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किये गये अभिनन्दन के अवसर पर।

(५०) भाषण--१९३३ ई०, प्रयाग में आयोजित द्विवेदी मेले के अवसर पर।

उपर्युक्त पुस्तकों की सूची से ज्ञात होता है कि द्विवेदीजी ने लगभग बीस हजार पृष्ठों का साहित्य लिखा और सचमुच ही महावीर जैसा कार्य किया। उन्होंने गद्य अधिक लिखा है, पद्य कम। पाठकों की सुरुचि-वृद्धि का उन्होंने सदैव ध्यान रखा। गद्य और पद्य में नवीन शैलियों के निर्माण की दृष्टि से उन्होंने उचित मार्ग-दर्शन किया। विविध विषयों पर लिखकर उन्होंने ज्ञान-विज्ञान को खड़ी बोली के माध्यम से व्यक्त कर सकने की भाषा-क्षमता का उदाहरण भी प्रस्तुत किया।

उन्होंने २१ वर्ष की आयु में 'महिम्नस्तोत्र' का ब्रजभाषा में अनुवाद किया था। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"जा फेन सम तारा निकर निकसी सुनभ ते सुरसरी।
धारा अपार अखण्ड सब जग द्वीप आकृति जिहि करी।
शिव शीशधारी बिन्दु इव तिहि लहत सो शोभा महा।
इमि दिव्यरूप अनूप भासत पार नहिं काहू लहा।"[1]

उन्होंने 'विनय विनोद' शीर्षक भर्तृहरि के 'वैराग्य शतक' का दोहा छन्द में अनुवाद इस प्रकार किया था :

"काल गयो नहिं वय गई, शिथिल परत सब गात।
तृष्णा नहिं जीरण भई, वय जीरण ह्वै जात॥"

'स्नेहमाला' में संकलित 'शृंगार शतक' का अनुवाद भी दोहा छन्द में किया गया—

"नील कमल छवि हरण ये, युगल नयन तरवारि।
ताकि ताकि नित प्रति कत करत प्रबल प्रहार सँभारि॥"

'ऋतु-तरंगिणी' को गणवृत्त में अनूदित किया गया। 'हेमन्त वर्णनम्' की चार पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"विभावरी शीत हिमाम्बु पात।
महान् सौंदर्य सनो प्रभात॥

---

१. द्विवेदी-काव्य माला, पृ० ६४, श्लोक १७, हिन्दी पद ३१

विलोकियो पातन माँहि कैसे ।
मनोज मुक्ता अनमोल जैसे ।।"

'गंगा लहरी' का अनुवाद सवैया छन्द में हुआ है :

"श्रुति इन्द्रिय लोचन हीन महाजड़ भूकमलीन औ जे पगभंगा।
अनिवारक पाप हजारक बार करे जिन जे ग्रहपीड़ित अंगा ।
जिनको नहिं जोवत देव सुने जिन रोवत रौव सोचि प्रसंगा।
तिन तारन कों तू सजीवनि मूरि सी पूरि रही जननी जग गंगा।"

द्विवेदीजी की पहिली गद्य-पुस्तक 'भामिनी विलास' है। द्विवेदीजी की भाषा के अध्ययनार्थ इस पुस्तक का विशेष महत्व है। इसमें व्याकरण दोष, वर्ण विन्यास की त्रुटियाँ जैसे– उस्के झुरोखे, दृष्टी, ध्वनी, आदि और मराठी का प्रभाव विद्यमान है। यह अनुवाद ही तो था । इसके बाद द्विवेदीजी का प्रथम मौलिक काव्य 'देवी स्तुति शतक' (जनवरी, १८९२) वसंततिलका छन्दो-रचना है। यह 'परमेश्वर शतक', 'सूर्य शतक' और 'चण्डी शतक' की पद्धति पर दैहिक तापों से मुक्ति पाने के उद्देश्य को लिए हुए है । 'तरुणोपदेश' की भाषा शैली मँजी हुई नहीं है और 'अमृत-लहरी' की भाषा में पण्डिताऊपन है। ११ मार्च, १८९७ के 'हिन्दुस्तान' में कवि की 'भारत दुर्भिक्ष' रचना प्रकाशित हुई थी। इसमें दुर्भिक्ष का सशक्त और यथार्थ चित्रण किया गया था :

"मरे मरे अब अवशि आजु, इमि बोतल लाखन प्रानी
वस्त्रविहीन दीन दुख रोवत जानत सूम न दानी ।
सुतहि फेंकि माता जठरानल जरी भगै अकुलानी ।
माँ, माँ, माँ पुकार शिशु केरी नेकुन मन में आनी ।।"

१८९८ ई० में 'नागरी तेरी यह दशा' रचना प्रकाशित हुई थी :

"श्रीयुक्त नागरि, निहारि दशा तिहारी,
होवे विषाद मन माँहि अतीव भारी ।
हा, हन्त ! लोग कत मातु तुम्हें बिसारी,
सेवें अजान उर्दू उर माँहि धारी ।।"

'गर्दभ काव्य' हिन्दी बंगवासी के २९ अगस्त १८९८ अंक में प्रकाशित हुआ था :

"बड़े-बड़े कवि पंडित ज्ञानी जग जिन ते उजियारा है,
तेऊ लहैं उपाधि हमारी जब तक अस सत्कारा है।

"मलिन, मन्द, अपवित्र, इते पर जिन हम काहिं विचारा है,
हियो कपार दुऊ में तिनके उपज्यो चक्षु विकारा है।"

बेकन के निवन्धों का अनुवाद १८९९ ई० में समाप्त हुआ था। द्विवेदी जी ने प्रत्येक निबन्ध के अन्त में संस्कृत का एक श्लोक निष्कर्ष रूप में दे दिया है। जनवरी ८, १९०० ई० में पुत्रविहीन द्विवेदीजी की 'सुत पंचाशिका' रचना उनकी मनोदशा को स्पष्ट करने में सहायक है :

"व्रत बचे कौन जो हमन कीन ? ग्रह दान कौन जो हमन दीन ?
उपदेश कौन जो मनन लीन ? हा हन्त, तऊ सुत सुत-विहीन।"

'सोहागरात' को द्विवेदीजी ने अपनी पत्नी के कहने से प्रकाशित नहीं किया। इस रचना में पचीस पद्यों में सोहागरात का वर्णन किया गया है :

"देखो दो वेदों का पढ़ने वाला भी यह कहता है।
सुख भोगो, दुनिया में आकर कौन बहुत दिन रहता है।"

'अयोध्या का विलाप' में अयोध्या की दयनीय दशा का वर्णन हुआ है।

१९ अक्टूबर, १९०० ई० में श्री बेंकटेश्वर समाचार में उनकी प्रथम खड़ी बोली की कविता 'बलीवर्द' प्रकाशित हुई थी। 'द्रौपदी वचन वाणावली' (नवम्वर १९०० ई०), 'विधिविडम्बना' (मई ९९०१ ई०), 'हे कविते' (जून १९०१ ई०), 'ग्रन्थकार लक्षण' (अगस्त १९०१ ई०), 'कोकिल' (सितम्बर १९०१ ई०), आदि रचनाएँ खड़ी बोली में रची गयी हैं। 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना' (फरवरी १९०२), 'सेवावृत्ति की विगर्हणा' (७ सितम्बर १९०२), 'सरस्वती की विनय' (फरवरी-मार्च १९०३ ई०) और १८९७ ई० से १९०२ ई० के बीच रची गयी ३३ कविताओं का 'काव्य-मंजूषा' संग्रह १९०३ ई० में प्रकाशित हुआ था। सन् १९०५ ई० में ग्रन्थकारों से विनय, रम्भा, कुमुद-सुन्दरी, महाश्वेता आदि लिखी गयीं। ऊषा, स्वप्न, सरगौ नरक ठिकाना नाहि, प्यारा वतन, जम्बुकी न्याय, गौरी, आर्यभूमि, शहर और गाँव का वार्तालाप, शरीर-रक्षा, गंगा-भीष्म, कान्यकुब्ज अबला-विलाप, कवि और स्वतन्त्रता, कर्तव्य, पंचदशी, टेसू की टाँग, ठहरौनी और प्रियंवदा आदि रचनाएँ १९०६ ई० में लिखी गयीं। हर्बर्ट स्पेंसर के एजुकेशन का अनुवाद १९०६ ई० में किया गया। १९०७ ई० में जल-चिकित्सा, स्वाधीनता (अनुवाद), विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, कौटिल्य-कुठार, सम्पत्ति शास्त्र तथा इन्दिरा की रचना हुई। कौटिल्य-कुठार अप्रकाशित है, पर इसमें द्विवेदीजी के क्रोध, उग्रता, व्यंग्य आदि द्वारा उनके व्यक्तित्व के परुष पक्ष का उद्घाटन

किया जा सकता है। यह रचना काशी नागरी प्रचारिणी सभा में अब भी सुरक्षित है। सन् १९०९ ई० में प्रकाशित 'कविता कलाप' द्विवेदीयुगीन काव्य के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना है। 'सरस्वती' के लेख भी क्रमशः पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। द्विवेदीजी ने लगभग ७ ग्रन्थों का पद्यानुवाद ८ ग्रन्थों का गद्यानुवाद, अंग्रेजी की ४ पुस्तकों का गद्य में और १ का पद्य में भावानुवाद तथा मौलिक काव्यों में ७ और गद्य में लगभग ५० पुस्तकें लिखी हैं। इण्डियन प्रेस के अतिरिक्त, खेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई, मर्चेन्ट प्रेस कानपुर, कमर्शियल प्रेस कानपुर, राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर जबलपुर, साहित्य सदन चिरगाँव-झाँसी, गंगा पुस्तक-माला, लखनऊ, भारती भण्डार, बनारस और हिन्दी प्रेस इलाहाबाद से द्विवेदीजी की पुस्तकें प्रकाशित हुई। द्विवेदीजी की रचनाएँ सरस्वती के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भारत-मित्र, हिन्दी-बंगवासी, हिन्दोस्थान, भारत-जीवन, सुदर्शन और बेंकटेश्वर समाचार में छपीं। डॉ० श्यामसुन्दरदास का कथन है कि "सामयिक साहित्य में कविता की जो द्विवेदी जी की विरासत है, वह अधिकांश में शब्दों का स्वच्छ वसन धारण करके खड़ी हुई सतोगुणी सन्यासिनी की प्रतिमा है—उसमें काव्य-कला का वास्तविक जीवन-स्पन्दन कहीं-कहीं ही मिलता है। खड़ी बोली को छन्दों के साँचे में ढाल देना एक अनभ्यस्त कार्य कर दिखाना जब सध गया, तब द्विवेदी जी ने छन्द की मशीनरी को भी अपने उसी प्रचार-कार्य में लगाया। उस काल की कविता का अलंकार उसकी सरलता और सामयिकता है। हृदय के निष्कपट उद्‌गार चाहे वे रूखे उद्‌गार ही हों, उसमें भरे हैं...कविता का चोला बदल गया।"[१]

**सम्पादन, मार्गदर्शन एवं प्रेरणा :** द्विवेदीयुगीन पत्र पत्रिकाओं की सूची पहले दी गयी है। द्विवेदीजी के सरस्वती-सम्पादन के समय में भारतमित्र (कलकत्ता), हिन्दी बंगवासी तथा हितवार्ता (कलकत्ता), बेंकटेश्वर समाचार (बम्बई), बिहार बन्धु (पटना), भारत जीवन (बनारस) आदि साहित्यिक पत्रिकाएँ साप्ताहिक के रूप में निकल रहीं थीं। हिन्दुस्थान (कालाकांकर) दैनिक था और हिन्दी प्रदीप (प्रयाग), छत्तीसगढ़-मित्र (बिलासपुर) तथा इन्दु (बनारस) मासिक पत्रिकाएँ थीं। जब द्विवेदीजी ने १ जनवरी, १९०० ई० को सरस्वती का सम्पादन अपने हाथ में लिया, तब पं० गिरिजादत्त

१. आचार्य द्विवेदी, निर्मल तलवार, पृ० ८४

बाजपेयी के अतिरिक्त स्वयं द्विवेदीजी को ही अधिकांश लेख लिखने पड़े थे। द्विवेदीजी ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' लेख लिख कर कवियों लेखकों और साहित्यकारों का आह्वान किया। द्विवेदीजी ने अपने सम्पादन के प्रथम वर्ष में ही सरस्वती में व्यंग्य-चित्र छापे और उस समय के साहित्य की कड़ी आलोचना की। 'साहित्य सभा', 'शूर समालोचक', 'कला सर्वत्र सम्पादक', 'मातृ-भाषा का सत्कार' आदि समीक्षाएँ व्यंग्य-चित्रों के साथ प्रकाशित करके उन्होंने हिन्दी के प्रति देशवासियों का ध्यान आकर्षित किया। सरस्वती में प्रकाशनार्थ स्वामी सत्यदेव, भोलानाथ पाण्डे, राजकुमार खेमका, सन्त निहालसिंह, सुन्दरलाल, कृष्णकुमार माथुर, बेनीप्रसाद शुक्ल अमेरिका, इंग्लैण्ड या फ्रान्स से अपनी रचनाएँ भेजने लगे। उन्होंने रामचन्द्र शुक्ल, कामताप्रसाद गुरु, केशवप्रसाद मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, विश्वम्भरनाथ शर्मा, गंगानाथ झा, लक्ष्मीधर बाजपेयी आदि को हिन्दी में लिखने के लिए बराबर प्रोत्साहित किया। मैथिली शरण गुप्त ज्योतिप्रसाद निर्मल, राजबहादुर लमगोड़ा आदि को बारम्बार साहित्य-रचना की प्रेरणा देते रहे। देखते ही देखते हिन्दी में लिखने-वालों की एक लम्बी कतार तत्पर दिखायी पड़ी। द्विवेदीजी विद्वानों को स्वयं लिखते, उनके अभाव बताते, व्याकरण की भूलों के लिए उन्हें टोकते, 'पाई गईं' लिखें या 'पायी गयीं' लिखें की विवेचना करते, मातृभाषा हिन्दी के उद्धार की देशभक्तिपूर्ण समीक्षा करते और अपने मिशन में सदा जुटे रहते थे। हिन्दी भाषा को शुद्ध और परिष्कृत तथा सुगठित तथा व्याकरण-सम्मत रूप देने के लिए एवम् नये लेखकों की बाढ़ को संयत सक्रिय और संगठित करने के लिए उन्हें भाषा का संस्कार और लेखकों का मार्ग-दर्शन भी करना पड़ा। "यह निश्चय है कि उनके अथक परिश्रम के बिना हिन्दी के लिए जन-सुलभ सामान्य जातीय शैली का विकास करना असम्भव था।"[१] सम्पादन के विषय में किसी की कोई शर्त उन्होंने कभी भी स्वीकार नहीं की। द्विवेदीजी ने सम्पादक के रूप में अपने लिए ये चार आदर्श निश्चित किये थे—(१) पाठकों के हानि-लाभ का ध्यान, (२) न्यायपथ से विचलित न होना, (३) मालिक का विश्वास-भाजन होना और (४) समय की पाबन्दी रखना।[२] अपनी व्यक्तिगत साधना द्वारा हिन्दी को समुन्नत बना देने का श्रेय द्विवेदीजी को है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, काशी

---

१. डॉ० रामरतन भटनागर, हिन्दी साहित्य की कहानी

२. साहित्य सन्देश, आत्मनिवेदन, अप्रैल १९३९

प्रसाद जायसवाल, श्यामसुन्दरदास और लक्ष्मीधर बाजपेयी जैसे विद्वानों के साथ सतत संघर्ष करते हुए उन्होंने अपना मार्ग प्रशस्त किया । सन् १९०५ की सरस्वती में जब उन्होंने भाषा और व्याकरण विषयक लेख में भारतेन्दु से लेकर तत्कालीन लेखकों तक की भूलें बतायीं और हिन्दी में इन्हीं व्याकरण की भूलों के कारण' 'अनस्थिरता' की चर्चा की तब इस 'अनस्थिरता 'प्रयोग' को लेकर बड़ा विवाद चला । बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने काफी बुरा-भला लिखकर द्विवेदीजी का उपहास करना चाहा था । इसी सन्दर्भ में द्विवेदीजी ने 'सरगौ नरक ठिकाना नाहिं' और 'टेसू की टाँग' रचनाएँ लिखी ।' 'टेसू की टाँग' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

> ''कुन्द, मुकुन्द और मुचुकन्द
> भण्ड भेष तुम चौपटचन्द ।
> चौपटचन्दी हाल सुनाऊँ ।
> टेसू का सब मजा चखाऊँ ।''

(हिन्दी काव्य माला, पृ० ४२९)

उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा की भी हिन्दी पुस्तकों की खोज रिपोर्ट के सम्बन्ध में आलोचना की थी । सभा से और खासकर बाबू श्यामसुन्दरदास से उनका जो विवाद छिड़ा, वह पत्रों में प्रकाशित हुआ था । 'कौटिल्य-कुठार' निबन्ध इसी प्रेरणा से रचा गया । भाषा, व्याकरण, छन्द, अलंकार, प्रत्यय, लिंगभेद, विभक्ति आदि के सम्बन्ध में भाषा की शुद्धि के लिए छोटे-छोटे विवाद लगातार चलते रहे । विभक्तियों को सर्वनामों और संज्ञाओं से सटाकर या हटाकर लिखने पर बड़ा विवाद चला । अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, गोविन्द नारायण मिश्र और जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी मूल शब्द से विभक्ति को सटाकर लिखने के पक्षपाती थे । पं० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन और भगवानदास हालना चाहते थे कि विभक्तियाँ मूल शब्द से हटाकर लिखी जायें । द्विवेदीजी का मत था कि सुविधानुसार विभक्तियों को मूल शब्द से सटाकर या हटाकर लिखना चाहिए । सर्वनामों से सटाकर और संज्ञाओं से हटाकर लिखने के पक्ष में नागरी प्रचारिणा सभा ने अपनी सम्मति प्रकट की । द्विवेदीजी ने अकेले ही इस संघर्ष को विनय और दृढ़ता के साथ विद्वत्तापूर्ण तर्कों द्वारा लड़ा कि भाषा की अस्थिरता दूर हुई । हिन्दी के सामयिक लेखन पर इसके कारण व्याकरणिक शुद्धता की छाप पड़ी और प्रयोगों की साधुता तथा निय-

मितता पर ध्यान दिया जाने लगा। हिन्दी के प्रथम शब्द-कोष की रचना करने का १९०७ ई० में निश्चय किया गया। द्विवेदीजी कहते थे कि "आहार-विहार के परिणाम को परिमित रखने और आरोग्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन न करने से आदमी अधिक समय तक जीता रहता है, अल्पायु नहीं होता, इसी तरह व्याकरण के नियमों से भाषा के कलेवर को दृढ़ करने से उसका भी आयुबल बढ़ जाता है।"[१] एक बार तो 'दीन' जी ने अपनी एक रचना के 'सरस्वती' द्वारा अस्वीकृत किये जाने पर द्विवेदीजी को जिन शब्दों में पत्र लिखा है, उसे पढ़कर तत्कालीन साहित्यकारों की चों-चों का पर्दाफास हो जाता है। श्री शंकर दयाल चौऋषि ने "द्विवेदीयुग की हिन्दी गद्य शैलियों का अध्ययन" पृ० १५५ पर दीनजी का वह पत्रांश उद्धृत किया है—"यथोचित पहुँचे। नवम्बर मास की 'सरस्वती' आप ही ने सम्पादित की है कि किसी दूसरे से भाड़े पर सम्पादित करायी है। इसी विद्वत्ता के घमण्ड में आकर हमारी काव्य दूषित कहकर लौटा दी थी। जिन श्रीधर पाठक की आपने 'श्रीधर-सप्तक' में बड़ी ही तारीफ हाँकी है और श्री जयदेव को किन्नरेश का अवतार बताया है, यदि यह उन्हीं श्रीधर का काव्य है तो मालूम हो गया कि आपने और पाठक जी ने हिन्दी को हलाल करने का बीड़ा उठाया है।"[२]

**संशोधन** : द्विवेदी जी ने मैथिलीशरणजी के कतिपय पद्य को इतने सुधारे थे कि उनका रूप हा बदल गया था। द्विवेदीजी जब संशोधन करते थे, उनका यह ध्यान रहता था कि लेख की भाषा को अधिकांश लोग समझ सकें। फिर चाहे उसमें अरबी, फ़ारसी या अन्य किसी भी भाषा के शब्द क्यों न आ जायें, पर वह पाठक को सुलभ और समझ में आने लायक होनी चाहिए। 'सरस्वती' और द्विवेदीजी धीरे-धीरे पर्यायवाची हो गये। द्विवेदीजी के अनुशासन को ध्यान में रख कर ही साहित्यकार लिखने लगे। द्विवेदीजी एक स्कूल या संस्था बन गये। द्विवेदीजी की हिन्दी ने टकसाली बनकर हिन्दी संसार पर अपनी छाप जमा दी। इस समय विविध विषय प्रस्तुत हुए और विविध रचना शैलियाँ पनपीं। लोकरुचि के अनुरूप भाषा के गठन ने विस्तृत क्षेत्र ग्रहण कर लिया। इस भाषागत क्रान्ति का श्रेय भी द्विवेदीजी को ही है। सन् १९१७ ई० के आसपास 'सरस्वती' का स्वरूप लोकोपयोगी बनाया गया।

---

१. वाग्विलास (भाषा व्याकरण) (फरवरी १९०६ ई०), पृ० ८१

२. लाला भगवानदीन, पत्र, २४ नवम्बर १९०३ ई० (हस्तलिखित, काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित)

उन्होंने 'गृह' के स्थान पर 'घर', 'लेखनी' की जगह 'कलम', 'उच्च' के स्थान पर 'ऊंचा' लिखना अधिक उपयुक्त और उपयोगी माना। वे संस्कृत के तत्सम शब्दों के जबर्दस्ती प्रयोग के पक्ष में नहीं थे। वे हिन्दी को संस्कृत की पराधीनता से मुक्त रखना और उसको जन-समाज की प्रवाहमयी भाषा बनाना चाहते थे। अरबी, फारसी, संस्कृत आदि के अस्वाभाविक शब्दों के सायास प्रयोग का वे विरोध करते थे। जो स्वयं आ जायें तो आयें, पर जबर्दस्ती लाये गये अवांछित शब्दों को वे पसन्द नहीं करते थे। दिवेदीजी मानते थे कि "हिन्दी में संस्कृत शब्दों की भरमार अभी कल से ही शुरू हुई है।"[१] ग्रियर्सन का अभिमत था कि हिन्दी आदि भारतीय भाषाएँ सीधी संस्कृत से उत्पन्न नहीं हुई। वे अपभ्रंश से उत्पन्न हुई हैं। इसीलिए द्विवेदीजी 'गृह' के स्थान पर 'घर', 'मार्दव' की जगह 'मृदुता' और 'नोकवती' की जगह 'नोकदार' प्रयोग पसन्द करते थे। वाक्य में कहाँ कौन सा शब्द किस बल या आग्रह का अधिकारी है, उसी आधार पर वह शब्दों को वाक्यों में विन्यस्त किया करते थे। द्विवेदीजी जटिल भाषा को 'गुण न मानकर दोष'[२] ही मानते थे।

द्विवेदीजी को हिन्दी के लेखकों का मार्ग-दर्शन भी करना था। नये लेखकों, कवियों, आलोचकों आदि को उन्होंने हिन्दी के निर्माण की राह पर आगे बढ़ाया था। वे कठोर मर्यादावादी और संयत आलोचक थे। सबल तर्कों से अपने प्रतिवादी के मतों का खण्डन करके और अधकचरे लेखकों और कवियों को या तो सुधार कर या पूरी तरह से रचना-क्षेत्र से हटाकर ही वे सन्तुष्ट होते थे। सूक्ष्म दृष्टि, निर्भीकता और विद्वत्ता तथा विनय ने द्विवेदीजी को हिन्दी का बेताज का बादशाह बना दिया था। उनके कारण ही प्रौढ़ तथा प्रखर समालोचना का नया विकास हुआ। विवेचनात्मक और विश्लेषणात्मक आलोचना-शैलियों का उन्होंने सूत्रपात किया। वे कवि से अधिक आलोचक थे। उनके व्यंग्यों में व्यावहारिकता और स्पष्टता के साथ-साथ सरलता भी रहती थी।

द्विवेदीजी की उदारता और दूरदृष्टि का परिचय उनकी इसी उक्ति से मिल जाता है—"दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों के ग्रहण कर लेने की शक्ति रहना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव

---

१. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५४-५५

२. महावीर प्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ रंजन, पृ० १७-१८

प्रयत्न करने पर भी परित्यक्त नहीं हो सकता।"[१] इसीलिए कद्र, बेखबर, पस्तहिम्मती के साथ-साथ अंग्रेजी के नेचरल, पोयट्री, वर्स, इमेजिनेशन आदि शब्दों का भी प्रयोग उन्होंने सहज रूप में किया है। उक्तियाँ, मुहावरे, कहावतें आदि भाषा को सजीव और सशक्त बनाने में सहायक होती हैं। द्विवेदीजी की भाषा में न उर्दू की चंचलता और नाज-नखरे हैं और न संस्कृत की बोझिल आलंकारिकता है। उसमें सधा हुआ, संयमित, स्वस्थ, स्वाभाविक और निष्कपट ओज ही सर्वत्र दिखायी देता है। प्रेमचन्दजी का मत है कि "जहाँ व्यक्तित्व है, वहाँ शैली भी है। शैली भीतर की आत्मा का बाह्य रूप है। उस (द्विवेदीजी की) शैली में कितना संयम है, कितना प्रसाद है, कितना ओज है, कितना सुलझाव है। उसमें रसिकों का बाँकपन नहीं, पण्डितों का गाम्भीर्य नहीं, ज्ञानियों की शुष्कता नहीं, एक सीधे-सादे उदार व्यक्ति की सजीवता है।"[२] यह भी सत्य है कि स्वयं द्विवेदीजी की प्रारम्भिक रचनाओं में संस्कृत शब्दों की विशुद्धता, अनुप्रास, यमक और अशुद्ध व्याकरणच्युत शब्दों का दोषपूर्ण प्रयोग मिलता है। ७ अक्टूबर, १८९८ ई० के 'भारतमित्र' में प्रकाशित उनकी 'बाल-विधवा-विलाप' की चार पंक्तियों में संस्कृत की तत्समता का मोह द्रष्टव्य है :

"विद्युत्प्रकाश अनलोद्भवभास भारी,
नाना नयी विमल दीपशिखा सुखारी।
तेजोमयी शुचि महामणिमूर्ति सारी,
रत्नादिराशि महि माँहि घनी निहारी॥"[३]

इसी प्रकार :

"ताही महामहिमराशि-[illegible] धारी,
सर्वोच्च तत्प्रतिनिधि-प्रतिभानुकारी।"[४]

'शरत्सायंकाल' में :

"चेतो हारी सुभग नवला नारि वक्षोज रूपा॥"[५]

---

१. सरस्वती, भाग १६, संख्या १, पृ० ५१

२. द्विवेदी मीमांसा, प्रेमनारायण टंडन, पृ० १७२

३. द्विवेदी काव्य माला, पृ० २१०

४. वही, पृ० २४२, 'नागरी का विनय-पत्र' (मई १८९९ ई०)

५. वही, पृ० २५९, शरत्सायंकाल (१८९९ ई०)

उनके आरम्भिक लेखन में उन्हैं, चाहैं, करेंगे, बातैं, कर दैवे, आदि प्रयोग हुए हैं।

**संघर्ष** : हिन्दी को न केवल 'उर्दू' या 'हिन्दुस्तानी' से संघर्ष करना पड़ा, बल्कि उसे अपनी अन्तर्प्रान्तीय बोलियों—ब्रज, अवधी, बुंदेली, छत्तीसगढ़ी, बघेली, भोजपुरी आदि से भी जूझकर ऊपर आना पड़ा। यह द्विवेदीजी का ही श्रम था कि १९१८ ई० तक हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर लगभग हर प्रान्त में स्थान पाने लगी थी। काका कालेलकर ने ठीक ही कहा है कि "द्विवेदीजी सचमुच आधुनिक हिन्दी साहित्य के महावीर थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भले ही वर्तमान हिन्दी के जनक हों, किन्तु टकसाली हिन्दी का, जिसका कि आज सब जगह प्रचलन है, स्वरूप का निर्णय और प्रचार करने में महावीरप्रसाद द्विवेदीजी का बहुत बड़ा हिस्सा है।" शुक्लजी ने द्विवेदीजी को व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई का प्रवर्तक माना है और घोषित किया है कि हिन्दी साहित्य पं० द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा।

**लिपि-विचार** : द्विवेदीजी ने अगस्त १९०५ ई० की 'सरस्वती' में 'देश व्यापक लिपि' शीर्षक एक महत्वपूर्ण लेख लिखा था। उन्होंने नवम्बर १९०५ ई० की 'सरस्वती' में कैथी लिपि की त्रुटियाँ भी बतायी थीं।

**रसवादी द्विवेदीजी** : द्विवेदीजी का यह मत है कि "अन्तःकरण की वृत्तियों का नाम कविता है।"[१] वे भाववादी रचनाकार थे और रस को कविता का प्राण मानते थे। कविता में सादगी, असलियत और जोश का होना वे आवश्यक मानते थे। उनका कथन है कि "महाकवि वस्तुतः है भी वही, जिसने उच्च भावों का उद्बोधन किया हो। उसे भी आचार्यों के नियमों का न्यूनाधिक अनुशासन मानना ही पड़ता है। महाकवि का काव्य उच्च, पवित्र एवं मंगलकारी होता है।"[२] उपर्युक्त कथन की सार्थकता उन्हीं की 'हे कविते !' रचना में देखी जा सकती है :

"सुरम्य रूपे ! रस राशि रंजिते ! विचित्र वर्णाभरणे ! कहाँ गयी ?
अलौकिकानन्द विधायिनी महाकवीन्द्र कान्ते कविते, अहो कहाँ ?
सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है, अमूल्य आत्म रस है मनोहरे !
शरीर तेरा सब शब्द मात्र है, नितान्त निष्कर्ष यही यही।"[३]

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ रंजन, पृ० ६२

२. समालोचना समुच्चय, हिन्दी नवरत्न, पृ० २८८

३. द्विवेदी काव्य माला, पृ २९१

समालोचक को वे न्यायाधीश मानते हैं। उनका मत है कि समालोचक के व्यक्तित्व में समाज के भय की चिन्ता न करके विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक उपस्थित करने का गुण होना चाहिए।

समग्रतः द्विवेदीजी साहित्य-निर्माता के साथ-साथ साहित्य-शिक्षक भी थे, जो अपना अनुशासन स्थिर रखते हुए सरस्वती के लेखक मण्डल पर हावी रहे। सन् १६०० से १६२० ई० तक का युग इन्हीं सब कारणों से द्विवेदी युग कहलाता है। कवि, आलोचक, निबन्धकार, सम्पादक, पत्रकार, खड़ी बोली के व्यवस्थापक, अनुवादक, नेता, युग-निर्माता या अन्य किसी भी दृष्टि से देखें, वे एक महान व्यक्तित्व सम्पन्न और असाधारण मेधा वाले आत्मजयी भीष्म थे। उन्हीं के सद्प्रयत्नों से हिन्दी को उसका वर्तमान रूप सुलभ हो पाया। वे कवि, देशभक्त, मार्गदर्शक, साहित्य-निर्माता, समाज-सुधारक और सफल आलोचक थे। उनके ही तपः तेज की रश्मियाँ भारती के गगन में चमकती रहीं। उन्होंने कीर्ति की अपेक्षा कर्तव्य को ही महत्व दिया था। स्तुति और निन्दा की उन्होंने कभी परवाह नहीं की। उनकी एकनिष्ठ हिन्दी सेवा, एकान्त साधना, साहित्य-मनीषा, त्याग वृत्ति, पाण्डित्य आदि अनुकरणीय हैं। वे युग-प्रवर्तक आचार्य थे। हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में द्विवेदीजी का गौरवपूर्ण स्थानहै।

उन्होंने छन्द को कविता का अनिवार्य लक्षण नहीं माना। छन्दों की नवीनता पर उन्होंने जोर दिया। संस्कृत वृत्तों और उर्दू के छन्दों के प्रयोग के वे पक्ष में थे। शब्द-चयन विषयक उनका यह मत हैं कि "विषय के अनुकूल शब्द-स्थापन होना चाहिए"। अर्थ-सौरस्य को वे कविता का प्राण मानते थे। वे चाहते थे कि कवि जिस विषय का वर्णन करे, उस विषय के साथ उसका भाव-तादात्म्य हो जाना चाहिये। वे प्रसाद गुण के पक्षपाती थे। स्वाभाविक अभिव्यक्ति को सही मानते थे। अश्लीलता और ग्राम्यता—दोनों से ही वे कविता को बचाना चाहते थे। कविता को शृंगारमयी, अश्लील या मात्र नारी-केन्द्रित बना देने के पक्ष में वे कदापि नहीं थे। उनका तो कहना था कि "चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है। फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़ कर कोई-कोई कवि केवल स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते हैं ? केवल अभिचार और अन्य परम्परा।" उनका आशय यही था कि कविता को नारी या नारीगत चेष्टाओं से ही सम्बद्ध न रखा जाये, बल्कि उसका सम्बन्ध व्यापक जीवन के साथ जोड़ दिया जाये।

द्विवेदीजी ने साहित्य-सृष्टि ही नहीं की वरन् साहित्यकार भी बनाये। अपने युग के साहित्य और उसकी भाषा को उन्होंने अपने हाथों से गढ़ा। वे 'सरस्वती' की कर्मशाला के शिल्पी थे। वे वर्तमान हिन्दी भाषा के निर्माता थे। वे साहित्य-परीक्षक थे। उन्होंने उस युग में हिन्दी की सेवा की है, जिस युग में हिन्दी को कोई पूछने वाला न था और हिन्दी की प्रकाशित पुस्तकें बिकती न थीं। निश्चय ही परवर्ती हिन्दी साहित्य आचार्य द्विवेदीजी की तपस्या का सुदृढ़ पृष्ठाधार लिये हुए है।

**विदाई :** सरस्वती के सम्पादन-कार्य से विदाई अवकाश ग्रहण करते समय द्विवेदी जी ने जो अन्तिम अग्रलेख लिखा था उसका द्रष्टव्य अंश इस प्रकार है :

"मुझे आशीर्वाद दें

"मेरे सम्पादन समय में यदि पूर्वोक्त जनों का सरस्वती से कुछ भी मनोरंजन हुआ हो, यदि उनकी समझ में मुझसे हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषा को कुछ भी लाभ पहुँचा हो, यदि सम्पादक की हैसियत से मैंने अपने कर्तव्य का निर्वाह अल्पांश में भी किया हो और यदि वे मुझे कल्याण-कामना के दान का पात्र समझते हों, तो हृदय के अन्तस्तल से वे यह आर्शीवाद दें कि पूर्व निर्दिष्ट (विपत्ति दुख की) घटनाएँ भाग्यवश से तितर-बितर हो जायें। मेरा अवशिष्ट जीवन शान्ति-पूर्वक बीते। शारीरिक, मानसिक और आर्थिक कष्टों की विभीषिका को सामने उपस्थित देखकर मेरी धैर्यच्युति न हो, 'चना-चबैनी' को मैं मधुर मोदक समझूँ और सबसे बड़ी बात यह हो कि दुर्धर प्रसंग आने पर सत्पथ से मेरा भ्रंश न हो। मेरा विश्वास है कि जन-समुदाय की हित-चिन्तना से मेरा भला हो सकता है और परमात्मा मुझे अपनी दया का पात्र बना सकता है, क्योंकि आत्म-रूप में वही घट-घट में, प्रत्येक प्राणी के हृदय में—विराज रहा है। बस मेरी यही अन्तिम प्रार्थना है। अच्छा तो अब मैं विदा होता हूँ।

"अत : पर व्यधिशतक्षतस्य मे
मनो मनोहारिणि जाह्नवी तटे ॥

महावीर प्रसाद द्विवेदी"[1]

यह निश्छल प्रार्थना है और 'सरस्वती' से ली गयी भावभीनी बिदाई है।

---

१. सं० काशीनाथ उपाध्याय भ्रमर, त्रिपथगा, वर्ष ६, अंक ७, मई १९६४ (मासिक पत्रिका, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश) पृ० ८

कविवर पंत की श्रद्धांजलि प्रस्तुत प्रबन्ध का सर्वोत्तम उपसंहार है, यथा :

"भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर-संधान,
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार।
पंख हीन थी अहा, कल्पना, मूक कंठगत गान।
शब्द शून्य थे, भावरुद्ध, प्राणों से वंचित प्राण।
सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न, बन्दी थे हृदयोद्गार,
एक देश था सही एक था क्या वाणी व्यापार ?
वाग्मि, आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
रूप-रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र कंकाल।
शतकंठों से फूट आपके शतमुख गौरव गान,
शत-शत युग स्तम्भों में तानें स्वर्णिम कीर्ति-वितान।
चिर स्मारक-सा उठ युग-युग में भारत का साहित्य-
आर्य, आपके यशः काय को करे सुरक्षित नित्य।"[१]

१. त्रिपथगा, वर्ष ९, अंक ७, पृ० २

# परिशिष्ट

## उपस्कारक ग्रन्थों तथा पत्रिकाओं, आदि की नामानुक्रमणिका
### (अकारादि क्रम से)

**(क) ग्रन्थ**

(१) अद्भुत आलाप—आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी
(२) अनघ—मैथिलीशरण गुप्त
(३) अनाथ—सियाराम शरण गुप्त
(४) अपरा—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
(५) अयोध्याप्रसाद खत्री स्मारक ग्रन्थ, संपादक—शिवपूजनसहाय
(६) अष्टम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर, कार्य-विवरण—दूसरा भाग
(७) आचार्य द्विवेदी, सम्पादिका—निर्मल तलवार
(८) आधुनिक कवि, भाग २—सुमित्रानन्दन पंत
(९) आधुनिक काव्य-धारा—डॉ० केसरी नारायण शुक्ल
(१०) आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत—डॉ० केसरी नारायण शुक्ल
(११) आधुनिक काव्य : रचना और विचार—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
(१२) आधुनिक महाकाव्य—डॉ० वीणा शर्मा
(१३) आधुनिक साहित्य— आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
(१४) आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा—डॉ० त्रिभुवनसिंह
(१५) आधुनिक हिन्दी कविता में अलंकार-विधान—डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी
(१६) आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य—डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल
(१७) आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त—डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त
(१८) आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना—डॉ० पुत्तूलाल

(१९) आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद—डॉ० शम्भूनाथ पाण्डेय
(२०) आधुनिक हिन्दी साहित्य—डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
(२१) आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० कृष्णशंकर शुक्ल
(२२) आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, (१९००-१९२५)—डॉ० श्री कृष्णलाल
(२३) आलोचनांजलि—महावीर प्रसाद द्विवेदी
(२४) इतिहास और आलोचना—डॉ० नामवरसिंह
(२५) उद्धव-शतक—जगन्नाथदास रत्नाकर
(२६) उद्धव-शतक परिशीलन—प्रो० अशोक कुमार सिंह वेदालंकार
(२७) एकान्तवासी योगी—श्रीधर पाठक
(२८) करुणालय—प्रसाद
(२९) कल्याण का भक्ति अंक
(३०) कल्याण का मानवता अंक
(३१) कविता-कलाप, संग्रहकर्ता—आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी
(३२) कविता-कुसुम—लोचन प्रसाद पाण्डेय
(३३) कविता कौमुदी, दूसरा और तीसरा भाग—सं० रामनरेश त्रिपाठी
(३४) कविरत्न सत्यनारायण की जीवनी—बनारसीदास चतुर्वेदी
(३५) कविवर रत्नाकर—पं० कृष्ण शंकर शुक्ल एम० ए०
(३६) कवि सुमित्रानन्दन पंत और उनका प्रतिनिधि काव्य—प्रो० शिव नन्दन प्रसाद
(३७) काँग्रेस के प्रस्ताव—सं० श्री कन्हैयालाल
(३८) कानन-कुसुम—प्रसाद
(३९) काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध—प्रसाद
(४०) काव्य के रूप—गुलाबराय
(४१) काव्य-वाटिका, संग्रहकर्ता—बाबू किशोरीलाल गुप्त
(४२) काव्यांग-कौमुदी, प्रथम संस्करण—सं० रामनरेश त्रिपाठी
(४३) काव्यालोचन विशेषांक
(४४) किसान—मैथिलीशरण गुप्त
(४५) कृष्ण-काव्य में भ्रमर गीत—केशवनारायण सिंह
(४६) खड़ी बोली का आन्दोलन—सं० भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र
(४७) खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना—डॉ० आशा गुप्ता

(४८) गद्य-पथ—सुमित्रानन्दन पन्त
(४९) गीतिका—निराला
(५०) श्रीमद् भगवद्गीता
(५१) गीतावली—गोस्वामी तुलसीदास
(५२) गुप्तजी की कला—डॉ० नगेन्द्र
(५३) ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पन्त
(५४) [illegible]—सुमित्रानन्दन पंत
(५५) घनानन्द और स्वछन्द काव्य-धारा—मनोहरलाल गौड़
(५६) चारण-श्रीवर
(५७) चुभते चौपदे—हरिऔध
(५८) छायावाद—डॉ० नामवरसिंह
(५९) छायावाद का पतन—डॉ० देवराज
(६०) छायावाद का सौन्दर्य, शास्त्रीय अध्ययन—डॉ० कुमार विमल
(६१) छायावाद-युग—डॉ० शम्भूनाथसिंह
(६२) जयद्रथ-वध—मैथिलीशरण गुप्त
(६३) झरना—जयशंकर प्रसाद
(६४) त्रिशूल-तरंग, प्रकाशक—शिवनारायण वैद्य
(६५) दि मेकिंग ऑफ लिटरेचर—जेम्स स्काट
(६६) देशभक्त होरेशस—सत्यनारायण कविरत्न
(६७) द्विवेदी काव्य-माला, संग्रहकार—देवीदत्त शुक्ल
(६८) द्विवेदी-मीमांसा—प्रेमनारायण टंडन
(६९) द्विवेदीयुग का हिन्दी काव्य—डॉ० रामसकलराय शर्मा
(७०) द्विवेदीयुग की हिन्दी गद्य-शैलियों का अध्ययन—शंकरदयाल चौऋषि
(७१) ध्वन्यालोक—आनन्दवर्द्धन
(७२) नवम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बम्बई, कार्य विवरण, दूसरा भाग
(७३) नूरजहाँ—गुरुभक्तसिंह
(७४) पंचदश हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य-विवरण
(७५) पंचवटी—मैथिलीशरण गुप्त
(७६) पत्रावली—मैथिलीशरण गुप्त
(७७) पथिक—रामनरेश त्रिपाठी
(७८) पद्य प्रमोद—अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध

(७९) पराग—रूपनारायण पाण्डेय

(८०) परिमल—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

(८१) पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत

(८२) पूर्ण-पराग—हरदयालुसिंह

(८३) पूर्ण-संग्रह—डॉ० लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी

(८४) प्रसाद की कविताएँ—सुधाकर पाण्डेय

(८५) प्रसाद-संगीत—जयशंकर प्रसाद

(८६) प्रिय-प्रवास—हरिऔध

(८७) प्रेमधन सर्वस्व, प्रथम भाग—सं० प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय एव दिनेशनारायण उपाध्याय

(८८) प्रेम-पथिक—जयशंकर प्रसाद

(८९) प्रेम-विजय—सेठ गोविन्द दास

(९०) प्लासी युद्ध—मैथिलीशरण गुप्त

(९१) बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ—सं० झावरमल्ल शर्मा एवं बनारसी दास चतुर्वेदी

(९२) बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य—डॉ० पृथ्वीपालसिंह

(९३) बुद्ध-चरित, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—सं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

(९४) ब्रजभाषा और खड़ी बोली के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन—गेंदालाल शर्मा

(९५) ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली—डॉ० कपिलदेवसिंह

(९६) ब्रज-माधुरी-सार—वियोगी हरि

(९७) ब्रजरज—राय कृष्णदास

(९८) भारत-गीत—श्रीधर पाठक

(९९) भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त

(१००) भारतीय स्वाधीनता का आन्दोलन—भगवानदास केला

(१०१) भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि—किशोरीलाल गुप्त

(१०२) भारतेन्दु ग्रन्थावली—संकलन कर्ता तथा सम्पादक ब्रजरत्नदास

(१०३) भारतेन्दु युग—रामविलास शर्मा

(१०४) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—रामविलास शर्मा

(१०५) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—डॉ० रामरतन भटनागर

(१०६) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—बाबू श्यामसुन्दरदास
(१०७) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, एक अध्ययन—रामरतन भटनागर
(१०८) भावुक—रायकृष्णदास
(१०९) मंगलघट—मैथिलीशरण गुप्त
(११०) मनुस्मृति
(१११) मरण-ज्वार—माखनलाल चतुर्वेदी, सं० श्रीकान्त जोशी
(११२) महाराणा का महत्व—जयशंकर प्रसाद
(११३) महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डॉ० उदयभानुसिंह
(११४) माखनलाल चतुर्वेदी—ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ
(११५) मिलन—रामनरेश त्रिपाठी
(११६) मिश्रबन्धु-विनोद
(११७) मुकुटधर पाण्डेय—नन्द किशोर तिवारी
(११८) मुसलमानों की हिन्दी सेवा—डॉ० कमलधारीसिंह 'कमलेश'
(११९) मैथिलीशरण गुप्त—रामरतन भटनागर
(१२०) मैथिलीशरण गुप्त (कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता)—डॉ० उमाकान्त
(१२१) यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त
(१२२) रंग में भंग— ,,
(१२३) रत्नाकर काव्य—लल्लनराय
(१२४) रत्नाकर का सम्पूर्ण काव्य-संग्रह—काशी नागरी प्रचारिणी सभा
(१२५) रसिकप्रिया की टीका—समरथ कृत
(१२६) राधाकृष्ण ग्रन्थावली
(१२७) रामचरित चिन्तामणि—रामचरित उपाध्याय
(१२८) रसज्ञ रंजन—महावीर प्रसाद द्विवेदी
(१२९) राष्ट्रीय मंत्र—त्रिशूल
(१३०) राष्ट्रीय वाणी—गयाप्रसाद शुक्ल सनेही
(१३१) राष्ट्रीय विकास तथा भारतीय संविधान—डॉ० बी० पी० एस० रघुवंशी
(१३२) राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध—आ० नन्द दुलारे वाजपेयी
(१३३) रोमाण्टिक साहित्य शास्त्र की भूमिका—डॉ० देवराज
(१३४) विकट भट—मैथिली शरण गुप्त

(१३५) विचार-दर्शन—डॉ० रामकुमार वर्मा
(१३६) विचार-विमर्श—आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी
(१३७) विहरिणी ब्रजांगना—मैथिलीशरण गुप्त
(१३८) वीणा—सुमित्रानन्दन पन्त
(१३९) वीरांगना—मैथिली शरण गुप्त
(१४०) वैतालिक—मैथिली शरण गुप्त
(१४१) वैदेही-वनवास—हरिऔध
(१४२) शंकर सर्वस्व—सं० हरीशंकर शर्मा
(१४३) शकुन्तला—मैथिलीशरण गुप्त
(१४४) शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पन्त
(१४५) शिवपूजन रत्नावली
(१४६) श्यामा-सरोजिनी—डॉ० जगमोहनसिंह
(१४७) श्यामा स्वप्न—डॉ० जगमोहनसिंह
(१४८) श्रान्त पथिक—श्रीधर पाठक
(१४९) सचित्र काव्य-वाटिका, संग्रहकर्ता—बाबू किशोरीलाल गुप्त
(१५०) सप्तम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जबलपुर—कार्य विवरण, दूसरा भाग
(१५१) सरस सुमन—ठा० गुरुभक्तसिंह
(१५२) साकेत—मैथिलीशरण गुप्त
(१५३) साठ वर्ष एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पन्त
(१५४) साहित्य-सन्दर्भ—महावीर प्रसाद द्विवेदी
(१५५) साहित्य-सन्देश—भाग २
(१५६) सिद्धराज—मैथिली शरण गुप्त
(१५७) सुकवि संकीर्तन—आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी
(१५८) सुकवि-सतसई—अम्बिकादत्त व्यास
(१५९) सुमित्रानन्दन पन्त—डॉ० नगेन्द्र
(१६०) स्त्री कवि-कौमुदी—ज्योतिप्रसाद मिश्र
(१६१) स्वदेश-संगीत—मैथिलीशरण गुप्त
(१६२) स्वप्न—रामनरेश त्रिपाठी
(१६३) हरिऔध अभिनन्दन ग्रन्थ
(१६४) हिन्दी कविता का क्रान्तियुग—प्रो० सुधीन्द्र
(१६५) हिन्दी कविता में युगान्तर—डॉ० सुधीन्द्र
(१६६) हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका—डॉ० शम्भूनाथ सिंह

(१६७) हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव—डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा
(१६८) हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण—डॉ० शिवकुमार
(१६९) हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डॉ० भगीरथ मिश्र
(१७०) हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा—डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे
(१७१) हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा—डॉ० रामाधार शर्मा
(१७२) हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—हरिऔध
(१७३) हिन्दी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी प्रभाव—डॉ० विश्वनाथ मिश्र
(१७४) हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन—डॉ० देवीप्रसाद गुप्त
(१७५) हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(१७६) हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ० रामरतन भटनागर
(१७७) हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
(१७८) हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
(१७९) हिन्दी साहित्य की कहानी—डॉ० रामरतन भटनागर
(१८०) हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी—आ० नन्ददुलारे वाजपेयी
(१८१) हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य- डॉ० के० के० शर्मा
(१८२) हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ—प्रो० शिव कुमार शर्मा
(१८३) हिन्दू—मैथिलीशरण गुप्त
(१८४) हिम-किरीटिनी—माखनलाल चतुर्वेदी

## (ख) पत्र एवं पत्रिकाएँ

(१) अवन्तिका
(२) कल्पना
(३) कर्मवीर
(४) नागरी प्रचारिणी पत्रिका
(५) प्रताप
(६) मर्यादा
(७) माधुरी
(८) माध्यम
(९) राष्ट्रीय वीणा
(१०) सरस्वती

(११) साहित्य सन्देश
(१२) श्री शारदा
(१३) कल्याण
(१४) त्रिपथगा
(१५) आलोचना, विशेषांक ९, त्रैमासिक, अक्टूबर १९५३, वर्ष ३, अंक १

● ●